प्रेमचंद

एक

प्रेमचंद

कहानी रचनावली

H 281
Sh Stories
KAM

संपादन

...ार गोयनका

आधुनिक हिंदी के साहित्यकारों में **प्रेमचंद** (1880-1936) एक वैश्विक साहित्यकार हैं। उन्होंने यथार्थवादी चेतना के साथ देश-प्रेम के युगीन आदर्श को जोड़कर आगे चलकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की नई कसौटी की स्थापना की और इस प्रकार हिंदी कहानी में यथार्थ के साथ आदर्शवाद को जोड़कर अपने युग की पूरी सच्चाई को उसकी श्रेष्ठता का आधार बना दिया।

बारह वर्षों तक उर्दू में कथा-लेखन के पश्चात् प्रेमचंद के हिंदी में आने की घटना ने हिंदी कहानी के इतिहास में युगांतर उपस्थित कर दिया। हिंदी में प्रवेश के पूर्व वे 46 कहानियाँ उर्दू में लिख चुके थे, लेकिन हिंदी में प्रवेश के बाद भी उन्होंने उर्दू में लिखना छोड़ा नहीं। हिंदी में पहले लिखी गई कहानियों की संख्या उर्दू में पहले लिखी गई कहानियों की संख्या से अधिक है। इसकी संख्या 188 है। इनमें 67 ऐसी कहानियाँ हैं, जो केवल हिंदी में प्रकाशित हुईं और प्रेमचंद ने उनका उर्दूकरण नहीं किया और उर्दू पाठक उनसे वंचित रहा। हिंदी में पहले प्रकाशित इन कहानियों में 121 ऐसी कहानियाँ हैं, जिनका बाद में प्रेमचंद ने उर्दूकरण किया तथा अधिकांशतः पहले उर्दू पत्रिकाओं में छपीं और बाद में उर्दू कहानी-संग्रहों में आईं।

अभी तक की खोजों और प्रमाणों के अनुसार हिंदी-उर्दू में प्रेमचंद की कुल 301 कहानियों की जानकारी मिलती है, जिनमें से उपलब्ध 298 कहानियों को *प्रेमचंद कहानी रचनावली* के छह खंडों में प्रस्तुत किया गया है। इस रचनावली का वैशिष्ट्य यह है कि संपूर्ण उपलब्ध कहानियों को कालक्रमानुसार रखकर इन खंडों में संकलित किया गया है तथा उनका पहला पाठ देने की भी भरपूर चेष्टा की गई है। ऐसा करते हुए कहानी के प्रथम प्रकाशन को उसका प्रकाशन-समय माना गया है, चाहे वह उर्दू में पहले छपी हो या हिंदी में।

प्रेमचंद कहानी रचनावली के प्रत्येक खंड में इसके संपादक डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा एक लंबी भूमिका लिखी गई है, तथा परिशिष्ट में प्रेमचंद की कहानियों की कालक्रमानुसार सूची और कहानी-अनुक्रमणिका दी गई है। विद्वान संपादक ने अपनी भूमिकाओं में अपनी संपादन-दृष्टि स्पष्ट करते हुए प्रेमचंदकालीन परिस्थितियों के संदर्भ में उनके विकास को रेखांकित करते हुए उनकी कहानियों के मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन के क्रम में अनेक नई प्रस्थापनाएँ भी की हैं।

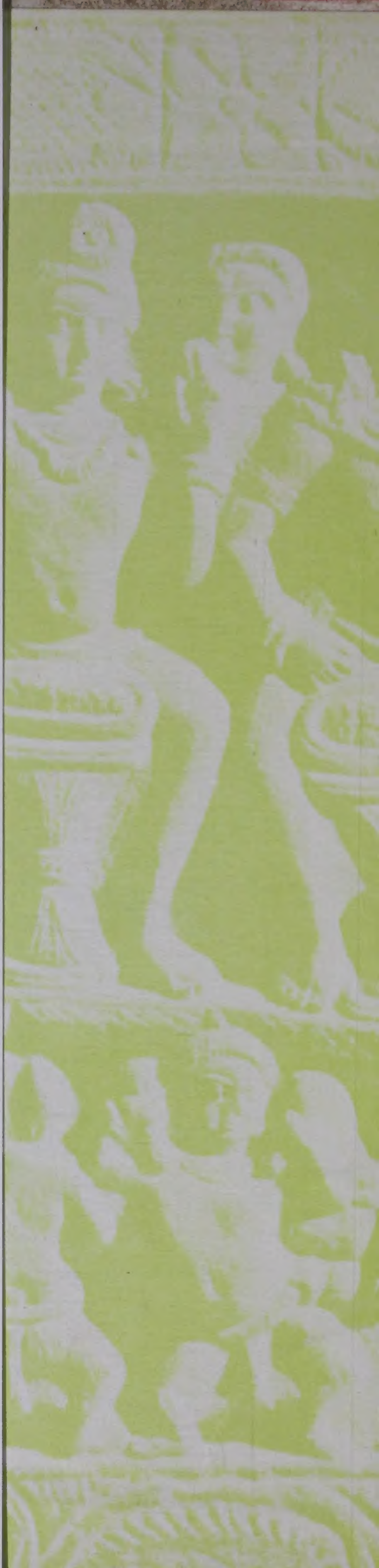

L : B01 - R03 (Dov.A)
0024281
00PR
1

प्रेमचंद कहानी रचनावली

खंड एक

प्रेमचंद (1907)

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

प्रेमचंद कहानी रचनावली

खंड एक

संकलन एवं संपादन

कमल किशोर गोयनका

D KONK II CENTRE
कोंकणी पुस्तकालय

साहित्य

साहित्य अकादेमी

Premchand Kahani Rachnavali (Volume I) : A complete collection of Premchand's short stories in Hindi, compiled and edited by Kamal Kishore Goyanka, Sahitya Akademi, New Delhi (2010), Rs. 300 (Complete set of six volumes Rs. 1500)

© साहित्य अकादेमी
प्रथम संस्करण : 2010 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001

वेबसाइट: www.sahitya-akademi.gov.in

ई-मेल: sahityaakademisales@vsnl.net

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014

4, डी.एल. ख़ान मार्ग, कोलकाता-700025

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगळूरु-560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN : 978-81-260-2942-6

मूल्य : तीन सौ रुपए
छह खंडों के सेट का मूल्य : पंद्रह सौ रुपए

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

	भूमिका : कमल किशोर गोयनका	7
1.	सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम	61
2.	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	70
3.	शेख़ मख़मूर	77
4.	यही मेरी मातृभूमि है	90
5.	शोक का पुरस्कार	96
6.	पाप का अग्निकुंड	107
7.	शाप	116
8.	शिकार	143
9.	रानी सारंधा	154
10.	नेकी	169
11.	बड़े घर की बेटी	177
12.	विक्रमादित्य का तेग़ा	187
13.	करिश्मा-ए-इंतिकाम (अद्‌भुत प्रतिशोध)	205
14.	दोनों तरफ़ से	212
15.	राजा हरदौल	225
16.	बड़ी बहन	236
17.	आख़िरी मंज़िल	245
18.	ख़ौफ़े-रुसवाई (बदनामी का डर)	250
19.	ग़रीब की हाय	261
20.	आल्हा	275
21.	ममता	286
22.	नसीहतों का दफ्तर	298
23.	क़ैफ़रे-कर्दार (कर्म-दंड)	306
24.	मनावन	313

25. धोखे की टट्टी 322
26. राजहठ 330
27. त्रिया-चरित्र 341
28. अमृत 355
29. अमावस्या की रात्रि 362
30. सगे-लैला (लैला का कुत्ता) 370
31. धर्म-संकट 380
32. शंखनाद 387
33. मिलाप 393
34. आबे-हयात (सुधा-रस) 399
35. दारू-ए-तल्ख़ (कड़वी सचाई) 408
36. अँधेर 412
37. सिर्फ़ एक आवाज़ 418
38. बाँका ज़मींदार 425
39. नमक का दारोग़ा 433
40. अनाथ लड़की 443
41. ख़ून सफ़ेद 450
42. शिकारी राजकुमार 459
43. अपनी करनी 466
44. परीक्षा 475
45. पछतावा 480
46. विस्मृति 493
47. ग़ैरत की कटार 512
48. कर्मों का फल 518
49. बेटी का धन 524
50. सौत 532

परिशिष्ट

(क) प्रेमचंद की कहानियों की कालक्रमानुसार सूची
खंड एक : 1908-1915 545

(ख) कहानी-अनुक्रमणिका 555

Accn No: 004281

भूमिका

आधुनिक हिंदी के साहित्यकारों में प्रेमचंद एक वैश्विक साहित्यकार हैं। भारत की स्वतंत्रता के उपरांत प्रेमचंद के कथा साहित्य की व्यापकता का विस्तार हुआ और विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में उनकी कहानियों एवं उपन्यासों के अनुवाद हुए और उन भाषाओं के असंख्य पाठकों को पराधीन भारत के इस स्वाधीनताकामी प्रतिभाशील एवं ऊर्जावान कथाकार की ऐसी कथात्मक रचनाओं से साक्षात्कार हुआ जिनमें दासता की ज़ंजीरों में जकड़े तथा सोए भारत के जागरण की जीवंत कहानियाँ कही गई थीं तथा भारत की आत्मा का अन्वेषण करने के साथ नए स्वाधीन भारत का स्वप्न देखा गया था। प्रेमचंद वैसे अपने जीवन-काल में ही देश की सीमाओं को पार करके जर्मनी तथा जापान के पाठकों तक पहुँच गए थे। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने 28 मई, 1928 के पत्र में प्रेमचंद को लिखा कि मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब कि किसी हिंदी गल्प-लेखक की कहानियों का अनुवाद रशियन, जर्मन, फ्रेंच इत्यादि भाषाओं में होगा और यदि आपको यह गौरव प्राप्त हो तब तो बात ही क्या है।[1] पं. चतुर्वेदी ने स्वयं प्रेमचंद की एक कहानी का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया और एण्ड्रूज़ ने उसकी भाषा का संस्कार किया तथा यह अंग्रेज़ी अनूदित कहानी *मॉडर्न रिव्यू* के जून, 1928 के अंक में छपी। राजेंद्रप्रसाद सिंह ने भी लगभग इसी समय उनकी 'तारा' कहानी को 'ऐक्ट्रेस' शीर्षक से अंग्रेज़ी में अनुवाद करके *लीडर* में छपवाया। जर्मनी के प्रो. ताराचंद राय ने (1928-29) प्रेमचंद से कहानी-संग्रह मँगवाए और कुछ कहानियों का जर्मन में अनुवाद किया। इसी प्रकार जापान में रहनेवाले केशोराम सब्बरवाल ने उनकी 'मर्यादा की वेदी', 'मुक्ति-मार्ग', 'मंत्र' आदि कहानियों का जापानी में अनुवाद भी 1928-29 के वर्षों में किया और जापानी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराए। प्रेमचंद ने अपना लेखकीय जीवन उर्दू में लेख तथा उपन्यास लिखने से आरंभ किया था और कहानियाँ तो उन्होंने इसके लगभग पाँच वर्ष के बाद

---

1. *प्रेमचंद के नाम पत्र*, संपादक : कमलकिशोर गोयनका, प्रथम सं. 2002, पृष्ठ 140

लिखीं, परंतु देश की सीमा को पार करके जर्मनी-जापान के पाठकों तक पहुँचने का श्रेय उनके कहानीकार को ही है और वह भी उनके हिंदी कहानीकार को। इस प्रकार प्रेमचंद के हिंदी कहानीकार ने उन्हें विश्व की भाषाओं तक पहुँचाकर विश्व का एक प्रमुख कहानीकार बना दिया।

प्रेमचंद के कथाकार के रूप में अपना लेखकीय जीवन आरंभ करने पर कुछ प्रमुख तथ्य हमारे सामने रहने चाहिएँ, क्योंकि ये तथ्य उनकी रचनात्मकता के ऐसे सूत्र हैं जिनकी उपेक्षा से हम प्रेमचंद के कथा-संसार की सही मूर्ति निर्मित नहीं कर सकते। प्रेमचंद ने अपने कथाकार का जीवन उर्दू भाषा में उपन्यास, कहानी और लेखादि लिखकर आरंभ किया। इस संबंध में हिंदी एवं उर्दू भाषा के प्रेमचंद आलोचकों तथा विद्वानों में अतिवादी विचार मिलते हैं। इधर हिंदी के आलोचकों ने इसका उल्लेख करना ही बंद कर दिया है कि प्रेमचंद की आरंभिक रचनाएँ उर्दू भाषा में लिखी गई थीं, और उधर उर्दू भाषा में प्रेमचंद के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. जाफर रज़ा एक समय यह मानते थे कि प्रेमचंद मूलतः उर्दू के लेखक थे तथा उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ उर्दू भाषा में लिखी थीं तथा इनका हिंदी में अनुवाद प्रेमचंद ने दूसरों से कराया।[1] ऐसी स्थिति में प्रेमचंद का अधिकांश हिंदी कथा साहित्य मौलिक न होकर अनूदित साहित्य है। आज हमारे पास प्रेमचंद के जो पत्र, पांडुलिपियाँ तथा अन्य साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनसे ये दोनों ही विचार असत्य ठहरते हैं। इन साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि प्रेमचंद ने *रंगभूमि* (1925) उपन्यास तक के सभी उपन्यास पहले उर्दू भाषा में लिखे थे और बाद में उनका हिंदीकरण किया। *रंगभूमि* उपन्यास जब उर्दू भाषा में *चौगाने हस्ती* के नाम से सितंबर, 1928 में प्रकाशित हुआ तो प्रेमचंद ने इसकी भूमिका में ऐसे ही तथ्यों की जानकारी देते हुए लिखा, "अगर्चे *रंगभूमि* पहले उर्दू में ही लिखी गई थी, मगर उसका उर्दू एडीशन हिंदी एडीशन हो जाने के तीसरे साल साया हो रहा है। हिंदी एडीशन तैयार करते वक़्त उर्दू मसविदे में इतनी तरमीम हो गई कि वह उस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबबाब (अध्याय) हिंदी में और बढ़ा दिए गए। उन्हें दोबारा उर्दू मसविदे में शामिल करना ज़रूरी था। इसलिए सारा उर्दू मसविदा हिंदी मसविदे के मुताबिक़ करके दोबारा लिखना पड़ा।"[2] प्रेमचंद के इस वक्तव्य से *रंगभूमि* (1925) के हिंदी-उर्दू रूप की लेखन-प्रक्रिया के कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि *रंगभूमि* यद्यपि मूलतः उर्दू भाषा में लिखा गया था, परंतु उसके हिंदीकरण में प्रेमचंद ने कुछ नए अध्याय हिंदी में लिखे और इस प्रकार हिंदी रूप में

---

1. *प्रेमचंद : उर्दू-हिंदी कथाकार*, पृष्ठ 9
2. *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-2*, संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृष्ठ 351

काफ़ी नया जोड़ा गया तथा उर्दू भाषा में भी उसके मूल रूप का प्रकाशन नहीं हुआ, बल्कि हिंदी में प्रकाशित *रंगभूमि* के पाठ का उर्दूकरण हुआ और इसे मुंशी इक़बाल वर्मा 'सेहर' हतगामी ने किया और प्रेमचंद ने इस कार्य के लिए उन्हें कुछ धनराशि का भुगतान किया। इस उपन्यास के बाद *कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, ग़बन, कर्मभूमि, गोदान* तथा *मंगलसूत्र* (अपूर्ण) सभी हिंदी भाषा में लिखे गए। इनमें से कुछ की आधी-अधूरी जो पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं, वे सब हिंदी में उपलब्ध हैं। *गोदान* के दो मूल हिंदी ड्राफ़्ट कला भवन, वाराणसी में मौजूद हैं, जिनकी फ़ोटो कॉपी मेरे संग्रहालय में रखी हैं।

प्रेमचंद की कहानियों के संबंध में हिंदी तथा उर्दू रूप का प्रश्न बहुत ही जटिल एवं उलझा हुआ है। इसके अनेक कारण हैं जो इतनी मज़बूती से उलझे हैं कि वास्तविक सत्य तक पहुँचना संभव प्रतीत नहीं होता। उपन्यास की तुलना में कहानियों की संख्या बहुत अधिक है तथा दो-चार कहानियों को छोड़कर उनकी पांडुलिपियाँ भी उपलब्ध नहीं हैं, जिसके कारण कहानी के हिंदी या उर्दू में लिखने तथा प्रथम प्रकाशन की समस्या का हल नहीं हो सकता। इस संबंध में प्रेमचंद के पत्रों तथा उनके अन्य दस्तावेज़ों से जो सूचनाएँ मिलती हैं, वे इतनी अल्प तथा अपर्याप्त हैं कि उनसे बहुत ही कम कहानियों की हिंदी या उर्दू में प्रथम प्रकाशन की समस्या हल हो पाती है। प्रमुख रूप से उर्दू मासिक पत्रिका *ज़माना* के संपादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखे प्रेमचंद के पत्रों में ऐसी कुछ जानकारियाँ मिलती हैं। प्रेमचंद ने पहली बार 4 सितंबर, 1914 के पत्र में लिखा कि उन्होंने हिंदी-पत्र *प्रताप* के इसरार पर एक मुख़्तसर-सा क़िस्सा हिंदी में उसके विजयदशमी नंबर के लिए लिखा है। हिंदी लिखनी तो आती नहीं, मगर कुछ क़लम तोड़-मोड़ दिया है।[1] इससे उनकी पहली हिंदी में लिखी कहानी का ज्ञान होता है, परंतु अमृतराय प्रेमचंद की जीवनी लिखते समय तथा प्रेमचंद पर शोध-करने वाले हिंदी-उर्दू के विद्वान इस कहानी का पता नहीं लगा पाए और आलोचकों ने हिंदी मासिक पत्रिका *सरस्वती* के दिसंबर, 1915 में प्रकाशित हिंदी कहानी 'सौत' तथा 'पंच परमेश्वर' (*सरस्वती* जून, 1916) को प्रेमचंद की हिंदी में छपी पहली कहानी मान लिया, लेकिन *प्रताप* के उस अंक के मिलने से यह प्रमाणित हुआ कि 'सौत' एवं 'पंच परमेश्वर' कहानी से पहले जो हिंदी कहानी *प्रताप* को प्रेमचंद ने प्रकाशनार्थ भेजी थी वह 'परीक्षा; कहानी थी। प्रेमचंद ने इसे अपने प्रथम हिंदी कहानी-संग्रह *सप्त-सरोज* (1917) में संकलित किया तथा जो *हुस्ने इंतिख़ाब* शीर्षक से उर्दू पत्रिका *अलअस्र* के दिसंबर, 1914 के अंक में प्रकाशित हुई। इस प्रकार प्रेमचंद के कथन के कारण उनकी पहली हिंदी कहानी की खोज हो सकी, परंतु उन्होंने अपने हिंदी के अल्प-ज्ञान (क़लम कुछ तोड़-मोड़ दी) के संबंध में जो वक्तव्य

---

1. *प्रेमचंद : पत्रकोश*, संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृष्ठ 160

दिया, वह सही नहीं था और उससे कई गलतफ़हमियाँ पैदा हुईं जिनकी यथास्थान चर्चा होगी।

प्रेमचंद के पत्रों में कहानियों के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। प्रेमचंद ने 1 सितंबर, 1915 के पत्र में लिखा, "हिंदी तर्जुमे के लिए कई जगह से इसरार हुआ है और मैं ख़ुद ही इस काम को हाथ में लूँगा। अब हिंदी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ।"[1] इसके बाद 2 अक्टूबर, 1915 को पत्र में लिखा, "मैं हिंदी में भी लिख रहा हूँ। *सरस्वती* को एक मज़मून दिया। *प्रताप* के लिए लिखा। 'प्रेम पचीसी' (उर्दू) को हिंदी में भी लिख रहा हूँ।"[2] फिर उन्होंने 24 नवंबर, 1915 को पत्र में लिखा, "यह क़िस्से पहले-पहल हिंदी में निकलेंगे। इसके बाद उर्दू में भी। अभी इन्हें छाप देने से (उर्दू में) इनका नयापन जाता रहेगा। कोशिश कर रहा हूँ कि अपनी और कहानियाँ भी तर्जुमा करके छापूँ।"[3] प्रेमचंद ने 17 फ़रवरी, 1924 को लिखा, "अब मैं कहानियाँ उर्दू में नहीं हिंदी ही में लिखकर भेज दिया करता हूँ।"[4] और 'मंत्र' कहानी (डॉ. चड्ढा एवं भगत की) के संबंध में उन्होंने एक नई बात केशोराम सब्बरवाल को लिखे 31 अगस्त, 1928 के पत्र में लिखी कि कहानी यद्यपि मूलतः हिंदी में लिखी गई थी, और उर्दू रूप बाद में लिखा गया, किंतु कहानी एक महीने पहले उर्दू में छपी।[5] लेखक के इन पत्रांशों से यह सरलता से समझा जा सकता है कि कहानियों का रचना एवं प्रकाशन काल तथा उनके हिंदी अथवा उर्दू में प्रथम प्रकाशन के समय के निर्धारण में लेखक के अपने कथनों का कितना महत्त्व है, लेकिन प्रेमचंद के सभी वक्तव्यों को एकदम सही मान लेना उचित नहीं होगा। उन्होंने अपने 'जीवन-सार' लेख में अपनी पहली उर्दू कहानी एवं पहले उर्दू कहानी-संग्रह के संबंध में जो लिखा है, वह सत्य नहीं है। प्रेमचंद ने लिखा कि मेरी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' थी, जो 1907 में छपी थी, जबकि पहली उर्दू कहानी 'इश्क़े दुनिया और हुब्बे वतन' (हिंदी रूप—'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम') थी जो *ज़माना* उर्दू मासिक पत्रिका के अप्रैल, 1908 के अंक में छपी थी। इसी प्रकार प्रेमचंद ने लिखा कि पहला उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़ेवतन* सन् 1909 में प्रकाशित हुआ; जबकि वह जून, 1908 में निकाला था। उनका यह वक्तव्य भी सही नहीं है कि मेरी 'उर्दू कृतियाँ मेरी हिंदी कृतियों का मात्र उर्दू रूपांतर हैं।'[6] यह आश्चर्यजनक है कि उन्होंने यह पूर्णतः असत्य बात केशोराम सब्बरवाल को 18 मई, 1928 के पत्र में कैसे लिखी, जिसे वे जानते थे कि यह सत्य नहीं है। उनका उर्दू के प्रति प्रेम तथा

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 169
2. वही, पृष्ठ 169
3. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 172
4. वही, पृष्ठ 251
5. वही, पृष्ठ 79
6. वही, पृष्ठ 78

उसमें पहले लिखने की प्रवृत्ति अंत तक बनी रही। उनकी विश्व-प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' की रचना उर्दू में ही हुई और उर्दू में ही पहले छपी। हिंदी में वह चार महीने बाद *चाँद* पत्रिका में अप्रैल, 1936 को प्रकाशित हुई।

कहानियों के उर्दू से हिंदीकरण के प्रश्न पर उर्दू के कुछ आलोचकों ने प्रेमचंद के हिंदी-ज्ञान तथा हिंदीकरण की क्षमता पर कई सवाल उठाए हैं। एक तो यह कि सितंबर, 1914 तक उन्होंने अच्छी तरह हिंदी लिखना सीखा ही नहीं था; दूसरा यह है कि उनकी उर्दू कहानियों का हिंदीकरण प्रायः दूसरों ने किया था। डॉ. जाफ़र रज़ा का यही मत है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ उर्दू में ही लिखी गई और उनके हिंदी अनुवाद या रूपांतर दूसरे व्यक्तियों ने किए थे। असल में ये दोनों ही प्रश्न इस धारणा से उत्पन्न हुए हैं कि प्रेमचंद को हिंदी का ज्ञान नहीं था, और यदि कुछ हुआ भी तो सन् 1914 के बाद हुआ। इस धारणा का मूलाधार प्रेमचंद का वह कथन है जो उन्होंने 1 सितंबर, 1915 के पत्र में मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था कि हिंदी तर्जुमे के लिए कई जगह से इसरार हुआ है और मैं ख़ुद ही इस काम को हाथ में लूँगा। अब हिंदी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ।[1] वे इससे लगभग एक वर्ष पहले यह लिख चुके थे कि हिंदी लिखनी तो आती नहीं, मगर कुछ क़लम तोड़-मोड़ दिया है। प्रेमचंद के इन कथनों का सत्यासत्य जाने बिना ही प्रेमचंद के जीवनीकार पुत्र अमृतराय तथा कुछ उर्दू-हिंदी आलोचकों ने यह धारणा बना ली कि वे सन् 1914 से पहले हिंदी का पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते थे, लेकिन प्राप्त साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि यह भ्रामक धारणा है। प्रेमचंद के लेख 'जीवन-सार' के अनुसार, उन्होंने वर्ष 1898-99 में हिंदी में छपे उपन्यास *चंद्रकांता संतति* के 24 खंड पढ़े थे और सन् 1900 के आसपास शहर का एक बेलदार उनसे हिंदी पढ़ने आता था। इसका अर्थ है कि वे अध्यापक बनने एवं उर्दू में लेखन आरंभ करने से पूर्व ही हिंदी के शिक्षण की क्षमता रखते थे। उन्होंने सन् 1904 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उर्दू तथा हिंदी की 'स्पेशल वर्नाकुलर परीक्षा' उत्तीर्ण की, जिसका अर्थ है कि इस समय तक उन्हें हिंदी का लिखना-पढ़ना पूरी तौर पर आ गया था। प्रेमचंद ने सन् 1907 में अपने उर्दू उपन्यास *हमख़ुर्मा व हमसवाब* का हिंदी अनुवाद *प्रेमा* तथा मुंशी देवीप्रसाद जोधपुरी का हिंदी उपन्यास *रूठी रानी* का उर्दू अनुवाद करके *ज़माना* में इसी नाम से धारावाहिक रूप में प्रकाशित कराया, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रेमचंद ने उस समय तक उर्दू से हिंदी तथा हिंदी से उर्दू में अनुवाद करने की क्षमता अर्जित कर ली थी। इसके साथ ही उनका संपर्क हिंदी पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य-संसार से स्थापित हो चुका था। उन्होंने इसी कारण उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़ेवतन* (जून, 1908) के प्रकाशित होने पर उसकी एक प्रति हिंदी में समीक्षा के लिए *सरस्वती* संपादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को भेजी और द्विवेदी जी

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 169

ने उसकी समीक्षा *सरस्वती* के दिसंबर, 1908 के अंक में प्रकाशित की। सन् 1910 में लिखे पत्रों से ज्ञात होता है कि वे *सरस्वती* पत्रिका के पाठक थे और मुंशी दयानारायण निगम को हिंदी में लेख लिखकर भेजने तथा हिंदी लिखने की आदत डालने की सूचना दे रहे थे। वे चूँकि उर्दू में लिखते थे और उसी में लिखने की उन्हें आदत थी, इस कारण से वे हिंदी में लिखने की आदत डालने की बात लिखते हैं, जिसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि उन्हें हिंदी नहीं आती थी। बस, उन्हें हिंदी लिखने का अभ्यास नहीं था। सन् 1913 (4 फ़रवरी) के पत्र से ज़ाहिर है कि वे *सरस्वती*, *मर्यादा* आदि के पाठक हैं; और निगम से 'हिंदी डिपार्टमेंट का एडीटर' समझने का आग्रह करते हुए लिखते हैं कि वे हिंदी पत्रिकाओं की आलोचना, उनसे दिलचस्प रचनाओं का उर्दू अनुवाद तथा हिंदी लेखकों की जीवनियाँ लिखने को तैयार हैं। इतना बड़ा संकल्प वही उर्दू लेखक ले सकता था जो हिंदी भाषा का पूर्णतः ज्ञाता हो। इसके बाद 3 मई, 1914 को वे हिंदी लेख 'भरत' का उर्दू अनुवाद करने तथा 4 सितंबर, 1914 के *प्रताप* साप्ताहिक-पत्र को हिंदी में एक कहानी (जो 'परीक्षा' थी) भेजने का उल्लेख करते हैं, और इसके उपरांत वे 1 सितंबर, 1915 को मुंशी दयानारायण निगम को पत्र में उर्दू संसार से हुई घोर निराशा तथा हिंदी लेखन में जीवन को अर्पित करने के संकल्प की चर्चा में लिखते हैं, "अब हिंदी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुज़र नहीं है। यह मालूम होता है कि बालमुकुंद गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिंदी लिखने में ज़िंदगी सर्फ़ कर दूँगा। उर्दूनवीसी में किस हिंदू को फैज़ (लाभ) हुआ है जो मुझे हो जाएगा।"[1] इन सारे साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि प्रेमचंद को अपने आरंभिक उर्दू लेखन के समय से ही हिंदी भाषा का ज्ञान था, वे हिंदी पढ़ाने, हिंदी-उर्दू में परस्पर अनुवाद करने की क्षमता रखते थे तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के अंत तक वे हिंदी पत्र-पत्रिकाओं तथा हिंदी साहित्य के नियमित संपर्क में आ चुके थे और सन् 1912-13 तक वे उर्दू पत्रिका *ज़माना* के लिए 'हिंदी डिपार्टमेंट का एडीटर' तक बनने को तैयार थे। अतः वे जब लिखते हैं कि मैं हिंदी लिखने की मश्क़ कर रहा हूँ तो इसका अर्थ यही है कि उन्हें उर्दू लिखने का जैसा अभ्यास था तथा जिस प्रकार वे प्रायः प्रतिदिन उर्दू लिखते थे, वैसी आदत तथा अभ्यास उन्हें हिंदी लिखने का नहीं था। इसका यह अभिप्रायः क़तई नहीं है कि उन्हें हिंदी भाषा के लिखने-पढ़ने का ज्ञान नहीं था, बस उन्हें फ़ारसी लिपि के समान देवनागरी लिपि में लिखने का अभ्यास एवं पारंगतता नहीं थी और इसी के लिए मश्क़ करने की बात कह रहे थे।

प्रेमचंद की हिंदी तथा उर्दू की कहानियों के प्रथम प्रकाशन के निर्धारण में कुछ दूसरी भी बाधाएँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों (चाहे वे हिंदी में हों या उर्दू में) को प्रकाशित कराते समय कहीं भी यह सूचना नहीं दी कि वे पहले किस भाषा—हिंदी या उर्दू—में, रची गई थीं, हिंदी या उर्दू में पहली बार वे कब प्रकाशित हुई

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 169

थीं, प्रथम प्रकाशन के बाद जब वे दूसरी भाषा में छपीं तो वे किस मूल कहानी का रूपांतर या अनुवाद थीं तथा पहली भाषा एवं दूसरी भाषा में उसका क्या शीर्षक था? प्रेमचंद ने उर्दू कहानी को हिंदी में तथा हिंदी कहानी को उर्दू में रूपांतरित करते समय उनके शीर्षक रखने में कोई एक नीति नहीं रखी–उनकी अनेक उर्दू में प्रथम प्रकाशित कहानियों के हिंदी शीर्षकों में एकरूपता है, जैसे 'शिकार' (1910), 'रानी सारंधा' (1910), 'बड़े घर की बेटी' (1910), 'राजा हरदौल' (1911), 'राजहठ' (1912), 'नमक का दारोग़ा' (1913), 'बेटी का धन' (1915), 'दफ़्तरी' (1919), 'बूढ़ी काकी' (1920), 'सवा सेर गेहूँ' (1924), 'लैला' (1926), 'रामलीला' (1926), 'सुजान भगत' (1927), 'जिहाद' (1929), 'कफ़न' (1935) आदि; परंतु यह एकरूपता इसलिए है कि दोनों ही भाषाओं के पाठक इन्हें सहज रूप से समझ सकते हैं, क्योंकि दोनों ही प्रकार के पाठक इन्हें इसी रूप में बोलते हैं। इसके विपरीत हिंदी तथा उर्दू कहानियों के अधिकतर शीर्षक ऐसे हैं, जिनका दूसरी भाषा में आने पर रूप बदलता है और लेखक इसका ध्यान रखता है कि जब वे शीर्षक बदले जाएँ तो भाषा की प्रकृति के अनुरूप हों। ऐसे कुछ शीर्षक हैं–'शाप' (1910) हिंदी का उर्दू में 'सैरे दरवेश, नेकी' (1910) हिंदी का उर्दू में 'बेगर्ज़ मोहसिन, आख़िरी मंज़िल' (1911) हिंदी का उर्दू में 'मंज़िले मक्सूद, परीक्षा' (1914) हिंदी का उर्दू में 'हुस्ने इंतिख़ाब, घमंड का पुतला' (1916) हिंदी का उर्दू में 'सरे पुरगुरूर, महातीर्थ' (1917) हिंदी का उर्दू में 'हज्जे अकबर, प्रारब्ध' (1921) हिंदी का उर्दू में 'दस्तेग़ैब, स्वत्व-रक्षा' (1922) हिंदी का उर्दू में 'तफ़्फ़ुज़े हुक़ूक' आदि। ये उर्दू शीर्षक अधिकांश रूप से हिंदी के अनुवाद हैं या उर्दू से हिंदी में अनुवाद। प्रेमचंद अपने दोनों भाषाओं के पाठकों की भिन्नता को समझते हैं, इसलिए वे हिंदी हो या उर्दू, कहानी का शीर्षक चुनने में उस भाषा के पाठक के भाषा-संस्कार का पूरा ध्यान रखते हैं और यह भी एक बड़ा कारण है कि वे हिंदी-उर्दू दोनों में समादृत होते हैं। लेकिन इससे कहानियों की पहचान, प्रथम प्रकाशन की स्थिति, संख्या आदि के निर्धारण में बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रेमचंद के इस रचना-व्यवहार से भी कठिनाई उत्पन्न होती है कि उन्होंने एक ही शीर्षक से दो-दो भिन्न कहानियाँ लिखी हैं, यथा–'परीक्षा' (1914 व 1923), 'सौत' (1915 व 1931), 'शांति' (1918 व 1926), 'धिक्कार' (1925 व 1930), 'मंत्र' (1926 व 1928), 'लांछन' (1926 व 1931), 'सती' (1927 व 1932) तथा 'देवी' (1930 व 1935)। इसके कारण पाठक और अध्येता दोनों ही भ्रमित होते हैं तथा दोनों कहानियों को एक ही मान लेते हैं। इसी प्रकार दो कहानियाँ ऐसी भी हैं, जो भिन्न-भिन्न नामों से छपीं और वे दो कहानियाँ चार कहानियाँ मान ली गईं। 'विषम-समस्या' कहानी पहली बार *प्रभा* (जनवरी, 1921) में प्रकाशित हुई, परंतु वह 'समस्या' शीर्षक से *मानसरोवर-4* (1939) में तथा 'नबी का नीति-निर्वाह' कहानी *सरस्वती* (मार्च, 1924) में छपी, परंतु बाद में 'न्याय' शीर्षक से *माधुरी* (मार्च, 1929)

में पुनः प्रकाशित हुई। अमृतराय ने तो 'हज़रत अली' (*प्रभा*, जुलाई, 1923) लेख को ही कहानी मानकर अपनी 224 कहानियों की सूची में शामिल कर लिया और 'बंबूक' के नाम से प्रकाशित दो रचनाएँ 'ताँगेवाले की बड़' (*ज़माना*, सितंबर, 1926) और 'शादी की वजह' (*ज़माना*, मार्च, 1927) भी अपनी कहानी-सूची में जोड़ दीं और इसके औचित्य में *गुप्तधन*-1 की भूमिका में लिखा कि सन् 1905 के आसपास कानपुर में उनके क़रीबी दोस्तों की महफ़िल में उन्हें 'बंबूक' का नाम मिल चुका था और प्रेमचंद अपनी हलकी-फुलकी चीज़ों के लिए कभी-कभी इस नाम का इस्तेमाल करते थे।[1] प्रेमचंद के दूसरे जीवनीकार मदन गोपाल ने भी यह स्वीकार करते हुए *मुंशी प्रेमचंद* शीर्षक अंग्रेज़ी जीवनी में लिखा है कि उनका एक लाफ़िंग क्लब था और इसमें जब प्रेमचंद हँसते थे तो ग़ज़ब का हँसते थे, जिसके कारण उनके मित्र उन्हें 'बंबूक' कहने लगे थे। मुंशी दयानारायण निगम ने अपने संस्मरण में प्रेमचंद की अंतिम दशा का वर्णन 'बंबूक' के नाम से ही किया है। अतः मुझे भी अमृतराय का मत ठीक प्रतीत हुआ कि ये दो कहानियाँ प्रेमचंद की ही हैं। इधर डॉ. प्रदीप जैन नाम के एक नए खोजी ने 'बंबूक' के नाम से प्रकाशित एक-दो कहानियाँ खोजी हैं, परंतु उनकी खोज की परीक्षा अभी शेष है। इन दो कहानियों के संबंध में उर्दू आलोचक डॉ. जाफ़र रज़ा का विचार है कि ये प्रेमचंद की कहानियाँ नहीं हैं, क्योंकि इस नाम से लिखने की चर्चा प्रेमचंद ने नहीं की है,[2] परंतु *सोज़ेवतन* (जून, 1908) पर सरकारी अंकुश के बाद उन्होंने कुछ उर्दू कहानियाँ 'अफ़साना-ए-कुहन' तथा 'दाल रे' के नाम से लिखीं और *ज़माना* के सन् 1910 के कुछ अंकों में छपीं। प्रेमचंद ने इन नामों से भी कहानियाँ लिखने की चर्चा कभी नहीं की, तो क्या यह माना जाए कि ये कहानियाँ (पाप का अग्निकुंड, शाप, शिकार, नेकी, रानी सारंधा आदि) प्रेमचंद की नहीं हैं? अमृतराय ने इसके विपरीत प्रेमचंद की दो उर्दू कहानियाँ 'बारात' और 'क़ातिल की माँ' को प्रेमचंद की न मानकर अपनी माँ शिवरानी देवी की मानी हैं, जो तर्कसंगत नहीं है। अमृतराय का यह कथन सत्य है कि ये दोनों कहानियाँ स्वयं प्रेमचंद ने *हंस* में शिवरानी देवी के नाम से छापी थीं, जिनके शीर्षक थे 'वर-यात्रा' और 'हत्यारा', तथा ये दोनों शिवरानी देवी के कहानी-संग्रह में भी संकलित हैं, परंतु ये दोनों उर्दू कहानियाँ—'बारात' और 'क़ातिल की माँ', प्रेमचंद के उर्दू कहानी-संग्रह *आख़िरी तोहफ़ा* (1934) तथा *वारदात* (1934) में शामिल हैं तथा इनका संकलन स्वयं प्रेमचंद ने ही किया था। हमें यह तो मानना होगा कि प्रेमचंद इतने कमज़ोर लेखक न थे कि पत्नी की कहानियाँ अपने नाम से छपवाते। अतः ये दोनों कहानियाँ प्रेमचंद की ही मानी जानी चाहिए।

इस प्रकार इन बाधाओं और अराजक स्थिति के कारण प्रेमचंद साहित्य के गंभीर अध्येताओं एवं शोधकर्ताओं पर यह दायित्व आया कि वे प्रेमचंद की कहानियों

---

1. *गुप्त-धन-1*, पृष्ठ 7
2. *प्रेमचंद : उर्दू-हिंदी कथाकार*, पृष्ठ 106

तथा अन्य रचनाओं के हिंदी-उर्दू रूप, उनके शीर्षक तथा प्रथम प्रकाशन-काल का निर्धारण करके उनके साहित्य का कालक्रमानुसार विवरण तैयार करें, क्योंकि इसके अभाव में किसी भी प्रकार का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता।

प्रेमचंद की कहानियों को कालक्रम में तथा समग्र रूप में रखने के औचित्य तथा उसके महत्त्व के विवेचन से पूर्व इन दो बातों का हल ढूँढ़ना यहाँ उचित होगा कि प्रेमचंद ने उर्दू में कहानियाँ लिखते-लिखते (लगभग 46 उर्दू कहानियों के प्रकाशन के बाद) क्यों हिंदी कहानी में प्रवेश किया तथा कहानीकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि में उनकी कहानियों ने किस प्रकार योगदान किया। प्रेमचंद के कथाकार जीवन में उर्दू में लगभग बारह वर्षों तक लेखन-कार्य करने के उपरांत हिंदी कथा-साहित्य में आगमन की घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिंदी कहानी के अध्ययन-विवेचन में यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे लगभग 46 उर्दू कहानियों की रचना के बाद हिंदी कहानी के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे, जो उर्दू की अंतरंगता, आत्मीयता एवं अपनत्व की तुलना में बहुत जाना-पहचाना भी नहीं था और यह भी ज्ञात नहीं था कि हिंदी संसार उनका कैसा स्वागत एवं कैसा व्यवहार करेगा। प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'परीक्षा', जो बाद में *सप्त-सरोज* (1917) में संकलित हुई, अक्टूबर, 1914 (विजयदशमी अंक) में प्रकाशित हुई थी, और हिंदी में लिखने के लिए *प्रताप* के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी तथा डुमरियागंज के तहसीलदार तथा साहित्य-प्रेमी पं. मन्नन द्विवेदी का प्रबल आग्रह था। असल में, हिंदी में कहानी लिखने का आग्रह प्रमुखतः पं. गणेशशंकर विद्यार्थी का ही था, जैसा कि प्रेमचंद ने अपने 4 सितंबर, 1914 के पत्र में लिखा है कि *प्रताप* के इसरार से मजबूर होकर एक मुख़्तसर-सा क़िस्सा हिंदी में उसके विजयदशमी नंबर के लिए लिखा है। इस प्रकार प्रेमचंद को हिंदी कहानी में लाने का श्रेय पं. गणेशशंकर विद्यार्थी को है, यद्यपि प्रेमचंद की कथा-सामग्री, कथा-दृष्टि तथा कथागत सरोकार तत्कालीन हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों के अधिक समरूप थे और उन्हें एक-न-एक दिन हिंदी कथा-संसार में प्रविष्ट होना ही था। पं. गणेशशंकर विद्यार्थी के कारण यह ऐतिहासिक निर्णय हुआ और प्रेमचंद का हिंदी समाज ने ऐसा स्वागत और अभिनंदन किया, जिसकी उन्हें कल्पना भी न थी। इस एकमात्र हिंदी कहानी 'परीक्षा' (अक्टूबर, 1914) ने उन्हें एक-दूसरे बहुत बड़े निर्णय तक पहुँचा दिया कि अब उर्दू में गुज़र नहीं है, अतः यह मालूम होता है कि बालमुकुंद गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिंदी लिखने में ज़िंदगी सर्फ़ कर दूँगा। उर्दूनवीसी में किस हिंदू को फ़ैज़ हुआ है जो मुझे हो जाएगा।[1] ध्यान रहे, यह 1 सितंबर, 1915 के पत्र का अंश है तथा अब तक उनकी एक ही हिंदी कहानी 'परीक्षा' छपी है, लेकिन हिंदी-संसार के अभूतपूर्व अपनत्व ने

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 169

उनके सम्मुख हिंदी का एक राष्ट्र-व्यापी परिदृश्य खोल दिया और प्रेमचंद ने उमंग और उल्लास में भरकर तीन ऐतिहासिक निर्णय किए—एक, अब हिंदी में लिखने का अभ्यास करूँगा; दो, उर्दू में जीवन चलाना संभव नहीं, क्योंकि वह उर्दू के हिंदू लेखक के लिए लाभकारी नहीं है; तथा तीसरा, अब मैं जीवन-भर हिंदी-लेखन करूँगा। हिंदी में प्रकाशित इस एक ही कहानी ने प्रेमचंद को हिंदी तथा उर्दू की साहित्यिक एवं पाठकीय प्रतिक्रियाओं की तुलना करने को विवश कर दिया। हिंदी पाठकों को 'परीक्षा' कहानी ने ऐसे कथा-रस का आस्वादन कराया जो उन्हें इससे पूर्व प्रकाशित हिंदी कहानियों ('इंदुमती', 1900; 'एक टोकरी भर मिट्टी', 1901; 'विश्वास का फल', 1902; 'प्लेग की चुड़ैल', 1902; 'ग्यारह वर्ष का समय', 1903; 'दुलाईवाली', 1907; 'राखी-बंद भाई', 1909; 'ग्राम', 1911, आदि) में नहीं मिला था। इस चार पृष्ठों की कहानी ने हिंदी पाठकों के सम्मुख युग के सांस्कृतिक जागरण का एक चित्र प्रस्तुत किया कि अंग्रेज़ी कॉलेजों से निकलने वाले असंख्य हिंदुस्तानी ग्रेजुएट कितने फ़ैशनेबुल, कितने स्वार्थी तथा कितने दोहरे चरित्र वाले हो गए हैं। ये सब रियासत का दीवान जैसा उच्च पद चाहते हैं, परंतु नीति, लोक-सेवा, उदारता, साहस तथा आत्म-बल जैसे मानवीय गुणों से शून्य हैं। इस भीड़ में केवल एक उम्मीदवार ही इन गुणों से संपन्न है और वही ज़ख़्मी होने पर भी एक किसान की अनाज से भरी बैलगाड़ी को कीचड़ से निकलवाता है। कहानी का निष्कर्ष है कि ऐसा व्यक्ति ग़रीबों को कभी न सताएगा। वह चाहे धोखा खा जाए, परंतु दया और धर्म से कभी न हटेगा। यह दृष्टि पुराने बूढ़े दीवान के साथ युवा प्रेमचंद की भी है, जिसमें दया, धर्म, आत्म-बल, उदारता आदि भारतीय जीवन-मूल्यों को आत्मसात् करने वाला एक युवक सैकड़ों हिंदुस्तानी अंग्रेज़ों को परीक्षा में पराजित करता है जो अंग्रेज़ों की नक़ल करके तथा स्वार्थांध, विलासी एवं कर्त्तव्यहीन बनकर दीवान जैसा उच्च पद प्राप्त करना चाहते हैं। पाठकों ने पहली बार पढ़ा कि कैसे भारतीय जीवन-दृष्टि पश्चिमी सभ्यता को पराजित करती है तथा उसकी श्रेष्ठ मानवीयता कैसे ग़रीब किसान का सहारा बनती है। कहानी के इस भारतीय बिम्ब का आधार युग का सांस्कृतिक जागरण ही था, किंतु हिंदी पाठकों को कहानी में इसका रसास्वादन करने का अवसर पहली बार मिला था। हिंदी समाज ने प्रेमचंद को हृदय से लगा लिया और प्रेमचंद भी सदैव के लिए हिंदी के हो गए। अमृतलाल नागर ने अपने लेख 'हिंदी की कथा-यात्रा' में ठीक ही लिखा है कि प्रेमचंद द्वारा हिंदी अपनाते ही उनकी ख्याति पंख लगाकर दिग्दिगंत तक उड़ चली और वे कहानियों के बेताज के बादशाह बन गए।[1]

प्रेमचंद के उर्दू से हिंदी में आने की घटना से हिंदी कहानी का परिदृश्य ही बदल गया, लेकिन यह प्रेमचंद का उर्दू प्रेम ही था जिसके कारण वे जीवन के अंत तक उर्दू

---

1. *अमृतलाल नागर रचनावली-9*, पृष्ठ 11-12

कहानी से अपना रिश्ता क़ायम रख सके। प्रेमचंद के उर्दू से हिंदी में आने के लिए पीछे कुछ ऐसे कारण थे, जो उन्हें एक उर्दू लेखक के रूप में बराबर आहत कर रहे थे। प्रेमचंद ने 1 सितंबर, 1915 को मुंशी दयानारायण निगम को पत्र में लिखा कि किस हिंदू को उर्दू में फ़ैज़ (लाभ) हुआ है जो मुझे होगा। यह पत्रांश हमें चौंकाता है और इसके लिए विवश करता है कि उस युग की सांप्रदायिक परिस्थितियों और प्रेमचंद के अनुभवों के बीच इसके सत्यासत्य की परीक्षा की जाए, क्योंकि यदि प्रेमचंद हिंदी में न आए होते तो हिंदी कहानी का ऐसा स्वर्णिम इतिहास नहीं होता। अमृतराय ने प्रेमचंद के उपरोक्त कथन पर विचार करते हुए लिखा है कि एक बात जो नज़र में आती है कि उर्दू में सर्दबाज़ारी थी और हिंदी में गर्मबाज़ारी। उर्दू में प्रेमचंद ने अपने कहानी-संग्रह अपने पैसों से प्रकाशित कराए, लेकिन हिंदी के प्रकाशक उन्हें घेरे रहते थे और घर आकर पैसे दे जाते थे। ज़ाहिर है कि आदमी उसी तरफ़ जाएगा जहाँ उसके चाहने वाले ज़्यादा हों।[1] इस प्रकार अमृतराय की दृष्टि में प्रेमचंद की पीड़ा का मूल कारण आर्थिक था, किंतु प्रेमचंद की पीड़ा केवल आर्थिक नहीं थी। उनके कथन में स्पष्टतः उर्दू के हिंदू लेखक होने के कारण लाभ से वंचित रहने की पीड़ा थी। अमृतराय ने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक *ए डिवाइडिड हाउस* में उर्दू के फ़ारसीकरण तथा उसके सांप्रदायि किरण की विस्तार से आलोचना की है, लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि महात्मा गाँधी और प्रेमचंद दोनों ने ही हिंदी-उर्दू की एकता के लिए भरसक प्रयत्न किए। उनका दृढ़ विश्वास था कि इससे हिंदू-मुसलमानों में एकता हो सकेगी और तब स्वराज्य मिलना आसान होगा। प्रेमचंद ने इसके लिए *कर्बला* (1924) नाटक लिखा इस मंशा के साथ कि एक हिंदू नक़्क़ाद इस मज़हबी पेशवा या इमाम के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर सके, परंतु उर्दू अदीब ख़्वाजा हसन निज़ामी ने यह कहकर इसकी आलोचना की कि एक हिंदू नक़्क़ाद को उनके पैग़ंबर पर लिखने का हक़ नहीं है। प्रेमचंद इससे आहत हुए और उन्होंने मुंशी दयानारायण निगम को लिखे 22 जुलाई, 1924 के पत्र में अपनी पीड़ा व्यक्त की।[2] इलाहाबाद में वर्ष 1925-26 में साहित्य एकेडेमी की स्थापना पर मुंशी दयानारायण निगम को उर्दू लेखक के रूप में सदस्य बनाने और गाल्सवर्दी के तीन अंग्रेज़ी नाटकों का उर्दू अनुवाद का कार्य उन्हें सौंपने पर कुछ मुस्लिम अदीबों ने सांप्रदायिक आधार पर विरोध किया तो प्रेमचंद ने *ज़माना* के दिसंबर, 1930 के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'उर्दू में फ़िरऔनियत' (अर्थात् उर्दू में मिस्त्र के बादशाह फ़िरौन जैसा घमंड और तानाशाही) में उर्दू के मुस्लिम लेखकों द्वारा उर्दू भाषा को मज़हबी रंग देने, उर्दू के हिंदू लेखकों के प्रति हीनता-दृष्टि रखने की भर्त्सना करते हुए लिखा, "उर्दू न मुसलमानों की बपौती है, न हिंदू की। उसके

---

1. *प्रेमचंद की प्रासंगिकता*, पृष्ठ 179
2. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 256

लिखने-पढ़ने का हक़ दोनों को हासिल है। हिंदुओं का उस पर हक़ पहला है, क्योंकि वह हिंदी की एक शाखा है। हिंदी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ़ कुछ थोड़े से अरबी और फ़ारसी शब्दों के दाख़िल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती।"[1] प्रेमचंद ने इसमें लिखा कि मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिंदू शायरों और लिखने वालों का कभी सम्मान नहीं किया, लेकिन प्रेमचंद ने उर्दू की इस सांप्रदायिकता और अलगाववाद का उत्तर अपने उर्दू-प्रेम और उसकी सर्जनात्मकता के प्रति समर्पित होकर दिया। दिल्ली से प्रकाशित उर्दू पत्रिका *साक़ी* ने वर्ष 1935 के अपने एक अंक में लिखा कि प्रेमचंद उर्दू के लिए मरहूम हो गए हैं, परंतु इसमें कोई सत्यता नहीं थी। उन्होंने अपनी विश्व प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' (दिसंबर, 1935) उर्दू में ही लिखी और उनकी अंतिम कहानी 'क्रिकेट मैच' जो उनके देहांत के बाद *ज़माना*, जुलाई, 1937 में छपी, वह भी उर्दू में ही प्रकाशित हुई। प्रेमचंद का उर्दू प्रेम उनके संस्कारों तथा आत्मिक अभिव्यक्ति से जुड़ा था, इस कारण उनका हिंदी-प्रेम एवं समर्पण उनके उर्दू-प्रेम को खंडित नहीं कर सका। *साक़ी* को प्रेमचंद ने उत्तर देते हुए लिखा कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ ज़िंदा हूँ, बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ। मेरे तमाम नाविल और बेशतर कहानियाँ उर्दू और हिंदी दोनों ज़ुबानों में शाया हो चुकी हैं। कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ और उसका हिंदी में अनुवाद करता हूँ और कभी हिंदी में लिखता हूँ और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया कराता हूँ। उनका कहना था कि हिंदू-मुसलमानों के ये सब मतभेद और वैमनस्य बनावटी और झूठे हैं, दरअसल दोनों एक हैं।[2] हिंदुस्तान में आमतौर पर ऐसी हिंदुस्तानी ज़ुबान बोली जाती है जो सहल क़िस्म की उर्दू और सहल क़िस्म की हिंदी है जिसमें न मौलवियतपन है और न पंडिताईपन। प्रेमचंद ने लाहौर के 'आर्य भाषा सम्मेलन' (11 अप्रैल, 1936) में कहा था, "साहित्य में हम हिंदू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है।"[3] इन्हीं विचारों के कारण प्रेमचंद का उर्दू-प्रेम अंत तक बना रहा और हिंदी में मिली 'उपन्यास सम्राट', 'कहानी-सम्राट' आदि की ख्याति भी इस प्रेम को भंग नहीं कर सकी। वे जीवन-भर महात्मा गाँधी के समान हिंदी-उर्दू की एकता और सद्भाव के लिए काम करते रहे।

प्रेमचंद की हिंदी तथा उर्दू कहानियों के संदर्भ में यह जानना भी महत्त्वपूर्ण होगा कि इन दोनों भाषाओं के साहित्यिक संसार ने उनकी हिंदी-उर्दू कहानियों को किस दृष्टिकोण से ग्रहण किया। क्या उर्दू में रचित और प्रकाशित कहानी हिंदी में आने पर मौलिक अथवा अनूदित या रूपांतरित कहानी मानी गई? उर्दू में यही स्थिति होने पर

---

1. *प्रेमचंद : विविध-प्रसंग-2*, पृष्ठ 359-62
2. *प्रेमचंद : विश्वकोश*, खंड-एक, कमल किशोर गोयनका, पृष्ठ 213
3. *साहित्य का उद्देश्य*, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ 203

उर्दू आलोचकों की क्या प्रतिक्रिया थी? साहित्य की इस मान्यता से हम सभी परिचित हैं कि किसी रचना का जब दूसरी भाषा में अनुवाद होता है तो वह अनूदित रचना कहलाती है। इसी आधार पर उर्दू के कुछ आलोचकों ने प्रेमचंद की उन्हीं रचनाओं को उर्दू की मौलिक रचनाएँ माना जो मूलतः उर्दू में लिखी गई और उर्दू में पहले प्रकाशित हुई थीं। हिंदी *गोदान* का उर्दू रूप *गऊदान* को उर्दू के कुछ आलोचक उर्दू का मौलिक उपन्यास न मान कर अनूदित उपन्यास मानते हैं, परंतु ये आलोचक यह भी मानते हैं कि हिंदी तथा उर्दू एक ही भाषा हैं और उनमें केवल लिपि का अंतर है और लिपि से किसी भाषा की अलग सत्ता नहीं बनती। प्रेमचंद का भी स्पष्ट मत है कि हिंदी और उर्दू एक ज़बान हैं। वे लिखते हैं कि क्रिया और कर्त्ता, फ़ेल और फ़ाइल जब एक हैं तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। उसे हिंदी कहिए, हिंदुस्तानी कहिए या उर्दू कहिए, चीज़ एक है, परंतु 'हिंदी' शब्द अधिक स्वाभाविक है। हिंदीवाले क्यों न हिंदी बोलें? उर्दू तो न काफ़िये में आती है, न रदीफ़ में, न बहर में, न वचन में। हाँ, हिंदुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाए, तो बेशक यहाँ की क़ौमी भाषा उर्दू होगी। वे मानते हैं कि हिंदी दो लिपियों—देवनागरी एवं फ़ारसी लिपि—में लिखी जाती है, परंतु दोनों भाषा-रूप (संस्कृत शब्दों की बहुलता वाली हिंदी तथा अरबी-फ़ारसी शब्दों की प्रचुरता वाली उर्दू) हिंदी के ही हैं।[1] प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण हिंदी के अन्य लेखकों तथा भाषाविदों का भी दृष्टिकोण है और इस प्रकार हिंदी-उर्दू की अभेदता को बराबर स्वीकार किया जाता रहा है। यदि हिंदी और उर्दू में कोई ऐसा भेद नहीं है जो उन्हें भिन्न-भिन्न भाषाएँ बनाता हो, तो कहानियों के हिंदी से उर्दू में तथा उर्दू से हिंदी में आने पर मौलिक अथवा अनूदित कहानी का प्रश्न ही क्यों खड़ा होना चाहिए? हिंदी में इस स्थिति को काफ़ी मात्रा में स्वीकार कर लिया गया है, परंतु पूर्ण रूप से इस अभेद को स्वीकार करने की तत्परता तथा उसके अनुसार हिंदी कहानी का इतिहास लिखने का कोई प्रयास नहीं हुआ है। हिंदी में प्रेमचंद की उर्दू कहानियों के हिंदी अनुवाद, रूपांतर अथवा लिप्यंतर होने पर, चाहे वे प्रेमचंद के द्वारा किए गए हों अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा, कभी उनकी मौलिकता अथवा अनुवाद का प्रश्न नहीं उठाया गया। प्रेमचंद ने 'कफ़न' (दिसंबर, 1935) को उर्दू में लिखा और उर्दू में ही पहले छपी, और जब वह चार महीने बाद हिंदी में प्रकाशित हुई तो हिंदी में उसे मौलिक कहानी ही माना गया। अमृतराय ने वर्ष 1962 में प्रेमचंद की 56 अप्राप्त हिंदी-उर्दू कहानियों को *गुप्त-धन* के दो खंडों में प्रकाशित किया था। इनमें 43 कहानियाँ उर्दू से हिंदी में प्रस्तुत की गई थीं और अमृतराय ने न केवल उनके शीर्षक बदले, अपितु उनकी उर्दू भाषा में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किया, और फिर भी किसी आलोचक ने इस पर आपत्ति नहीं की और उनकी मौलिकता पर कभी संदेह नहीं

1. *साहित्य का उद्देश्य,* प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ 109-124

हुआ। इसी प्रकार कमल किशोर गोयनका ने उर्दू से ही प्रेमचंद की 20 और ऐसी कहानियाँ खोजीं, जो हिंदी में कभी छपी न थीं। गोयनका ने अमृतराय के समान कहानी में परिवर्तन नहीं किया और वे हिंदी लिप्यंतर तथा उर्दू के कठिन शब्दों के हिदो अर्थों के साथ वर्ष 1988 में *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य* में प्रकाशित हुईं। इस प्रकार प्रेमचंद की ये 63 उर्दू कहानियाँ, उनके देहांत के वर्षों बाद हिंदी में आईं, जिन्हें कोई अनुवाद, रूपांतर अथवा लिप्यंतर कहे, पर वे हिंदी की ही कहानियाँ मानी गईं। उनके पहले उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़ेवतन* (जून, 1908) की चर्चा हिंदी में प्रायः ऐसे होती है कि वह हिंदी का कहानी-संग्रह है, लेकिन हिंदी कहानी के इतिहास में जब हिंदी की पहली आधुनिक कहानी की चर्चा होती है तो प्रेमचंद की सन् 1908-11 के बीच छपी 20 कहानियों का कोई उल्लेख तक नहीं होता, उन्हें श्रेय देने का तो सवाल ही नहीं है। अमृतराय ने इस प्रश्न को उठाया है कि हिंदी की आधुनिक कहानी का इतिहास चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' से शुरू मानना गलत है, क्योंकि प्रेमचंद की कहानियाँ—'रानी सारंधा' (अगस्त-सितंबर, 1910), 'बड़े घर की बेटी' (दिसंबर, 1910), 'राजा हरदौल' (अप्रैल, 1911), 'आल्हा' (जनवरी, 1912), 'अमावस्या की रात' (अप्रैल, 1913), 'नमक का दारोग़ा' (अक्टूबर, 1913) आदि अनेक कहानियाँ उससे पहले प्रकाशित हो चुकी थीं।[1] निश्चय ही, ये कहानियाँ जयशंकर प्रसद की पहली कहानी 'ग्राम' तथा गुलेरी की पहली कहानी 'सुखमय जीवन' की तुलना में विषय, उद्देश्य, प्रभाव तथा प्रस्तुतीकरण में बहुत आगे की कहानियाँ हैं और यदि प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू कहानियों के भेद को तिलांजलि देकर उनके प्रथम प्रकाशन को ही हिंदी-उर्दू में कहानियों का प्रकाशन-काल मान लिया जाए, तो हिंदी में आधुनिक कहानी का श्रीगणेश करने का श्रेय प्रेमचंद को ही देना होगा। प्रेमचंद की उर्दू कहानियों को हिंदी की कहानियाँ मान लेने पर हमें उनके प्रकाशन-समय को भी यथावत स्वीकार करके उन्हें कालक्रम में रखकर ही देखना होगा, अन्यथा उनकी संपूर्ण कहानियों को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने तथा तदनुरूप पढ़ने का वैज्ञानिक आधार ही ध्वस्त हो जाएगा।

साहित्यकार एवं साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वमान्य आधार यह है कि उन्हें कालक्रम तथा विकास-क्रम में रखकर देखा जाए और उसके समग्र रचना-परिदृश्य को दृष्टि-पथ में रखकर ही किया जाए। दुर्भाग्यवश प्रेमचंद की कहानियों को लेकर इन दोनों ही अनिवार्य शर्तों की उपेक्षा हुई और बड़े-से-बड़े प्रेमचंद के आलोचकों ने भी इनकी गंभीरता को समझने का प्रयत्न नहीं किया। यही कारण था कि *वरदान* उपन्यास (1912) को *सेवासदन* (1919) के बाद रचा मानकर उसकी व्याख्या की गई

---

1. *सह-चिंतन*, पृष्ठ 116

और *प्रतिज्ञा* उपन्यास (1927) तो सन् 1907 में प्रकाशित मान लिया गया। डॉ. गोपालराय पहले आलोचक थे, जिन्होंने *साप्ताहिक हिंदुस्तान* के 17 फ़रवरी, 1963 के अंक में अपने लेख के द्वारा प्रेमचंद के उपन्यासों के रचना-काल एवं प्रकाशन तिथियों तथा उनके क्रम को निर्धारित किया और प्रेमचंद साहित्य की इस बड़ी समस्या की ओर हिंदी साहित्य का ध्यान आकर्षित किया। प्रेमचंद के उपन्यासों की संख्या केवल चौदह थी, फिर भी अनेक प्रकार के साक्ष्यों को एकत्र करके उनके विश्लेषण से निष्कर्ष निकाले गए। उपन्यासों की तुलना में कहानियों की संख्या बहुत अधिक है और उनकी समस्याएँ उपन्यासों से भिन्न एवं विविध प्रकार की हैं। यह अत्यन्त दुःखद स्थिति है कि प्रेमचंद से लेकर उनके दोनों पुत्र प्रकाशकों, प्रेमचंद के आलोचकों एवं शोधकर्ताओं में से किसी ने भी कहानियों को कालक्रमानुसार रखने के महत्त्व को नहीं समझा और यह समस्या निरंतर जटिल होती गई। प्रेमचंद के देहांत के तत्काल बाद यदि किसी ने इस कार्य को उठा लिया होता तो हिंदी-उर्दू की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध हो जातीं, जो अब अत्यंत दुर्लभ हैं। अमृतराय को *गुप्त-धन* (1962) को प्रकाशित कराते समय *प्रताप* का वह अंक नहीं मिला, जिसमें उनकी पहली हिंदी कहानी 'परीक्षा' छपी थी और इस प्रकार हिंदी में प्रेमचंद का प्रस्थान-बिंदु अज्ञात बना रहा। प्रेमचंद के आलोचकों ने उनके कहानी रचना-काल (1908-1936) को तीन कालों में विभक्त किया है—एक आरंभिक काल (1908-1920), दूसरा विकास काल (1920-1930) तथा तीसरा उत्कर्ष काल (1930-1936), परंतु इन काल-खंडों में जिन कहानियों को सम्मिलित किया गया है, उनके हिंदी या उर्दू में प्रथम प्रकाशन तथा प्रकाशन के सही समय को खोजने का प्रयत्न नहीं किया गया, जिसके परिणामस्वरूप 'पूस की रात' (1930) तथा 'कफ़न' (1935) एक ही समय की कहानियाँ मानकर निष्कर्ष निकाले गए। वैसे भी यह काल-विभाजन पूर्णतः अवैज्ञानिक तथा तथ्यों के विपरीत है। अतः कहानियों की कालक्रमानुसार सूची के अभाव में कहानी-यात्रा का यह विभाजन निरर्थक हो जाता है और इन काल-खंडों की कहानियों के संबंध में निकाले गए निष्कर्ष भी भ्रामक और विवादास्पद बन जाते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों को कालक्रम में रखने, पढ़ने और उनका विवेचन करने की समस्या का जन्म उनके जीवन-काल में ही हो गया था, यद्यपि उस समय के किसी आलोचक ने इस समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि प्रेमचंद ने अपने जीवन-काल में जो भी कहानी-संग्रह निकाले, उनमें भी कालगत संगति का अभाव है। उन्होंने हिंदी में, अपने जीवन-काल में, लगभग 22 कहानी-संग्रह प्रकाशित कराए, जिनके प्रकाशन-वर्ष की जानकारी न तो प्रेमचंद से मिलती है और न उनके जीवनीकार अमृतराय की जीवनी *प्रेमचंद : कलम का सिपाही* से। अमृतराय ने जीवनी में उनके उपन्यासों के ही प्रकाशन-काल की जानकारी दी है, कहानी-संग्रहों की तो

सूची भी नहीं दी। मदन गोपाल की अंग्रेज़ी जीवनी *मुंशी प्रेमचंद* (1964) तथा हिंदी जीवनी *क़लम का मज़दूर : प्रेमचंद* (1965) में भी कहानी-संग्रहों की कोई सूची नहीं है। कमल किशोर गोयनका द्वारा लिखित-संपादित *प्रेमचंद विश्वकोश* (1981) में पहली बार कहानी-संग्रहों के नाम, प्रकाशन वर्ष, प्रकाशक तथा संकलित कहानियों की सूची दी गई, लेकिन प्रेमचंद द्वारा प्रकाशित इन कहानी-संग्रहों में इसकी कोई जानकारी नहीं दी गई थी कि उनमें संकलित कहानियाँ कहाँ तथा कब प्रकाशित हुई थीं। प्रेमचंद की कहानियों के बारे में यह एक बड़ा सत्य है कि कहानी-संग्रहों में आने से पहले वे किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका में छप चुकी थीं। अतः ऐसी सब कहानियों का प्रकाशन-काल वही हो सकता है, जो पत्र-पत्रिकाओं में छपने का समय है, न कि कहानी-संग्रह के प्रकाशित होने का। यहाँ हमें सिद्धांततः यह मानना उचित होगा कि कहानी जिस भाषा में भी पहले छपी हो, हिंदी में या उर्दू में, मूलतः वही तिथि उसके प्रकाशन की तिथि मानी जाएगी और वह तिथि समान रूप से हिंदी तथा उर्दू कहानियों की चर्चा में स्वीकार की जाएगी। इससे हिंदी तथा उर्दू कहानी का भेद मिटेगा तथा कहानी-यात्रा के विकास क्रम को वैज्ञानिक आधार मिल सकेगा और साथ ही हम अवैज्ञानिक निष्कर्षों से बच सकेंगे। जहाँ तक प्रेमचंद की समग्र कहानियों को प्रकाशित करने का प्रश्न है, यह अत्यंत श्रम-साध्य तथा शोधपरक काम था, इस कारण किसी शोधकर्मी ने इस समुद्र में कूदने का साहस नहीं किया। अमृतराय ने इस ओर प्रयत्न अवश्य किया और उन्होंने 56 नई हिंदी-उर्दू कहानियाँ खोजकर उपलब्ध कहानियों की संख्या में अभिवृद्धि की। हिंदी तथा उर्दू में मदन गोपाल तथा जाफ़र रज़ा ने इसके बाद भी कुछ कहानियाँ खोजीं, परंतु कॉपीराइट के कारण उनके प्रकाशक-पुत्रों ने प्रकाशन की अनुमति नहीं दी। प्रेमचंद के कॉपीराइट समाप्त होने के बाद कमल किशोर गोयनका ने ऐसी खोजी अप्राप्य 30 कहानियाँ *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य* पुस्तक में प्रकाशित कराईं, लेकिन प्रेमचंद के देहांत के बाद, उनकी समग्र कहानियों के प्रकाशन का जो कार्य हो जाना चाहिए था, वह प्रेमचंद की कहानियों की, रमेश उपाध्याय के अनुसार, 'तीन-तेरह' वाली आलोचना की प्रवृत्ति के कारण उनकी अनेक कहानियाँ उपेक्षा की शिकार बनीं तथा आलोचकों की दृष्टि उनकी कुछ चुनी कहानियों तक ही सीमित हो गई। आलोचक तथा शोधार्थी उनकी बहुसंख्यक उपलब्ध कहानियों को ही जब अपने आलोचनात्मक परिदृश्य में रखने को तैयार नहीं थे, तब उनकी समग्र कहानियों को एक स्थान पर प्रस्तुत करने की कौन चिंता एवं श्रम करता? इस स्थिति को बढ़ाने में *प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, प्रेमचंद की चुनी हुई कहानियाँ, पचास कहानियाँ, नारी जीवन की कहानियाँ* आदि कहानी-संग्रहों ने भी बड़ा योगदान किया। इस प्रवृत्ति का यह दुष्परिणाम हुआ कि 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'कफ़न' आदि कहानियों तक ही आलोचना

सिमट गई, लेकिन प्रचारित यह किया गया कि ये ही कहानियाँ प्रेमचंद की कहानी-चेतना एवं कहानी-कला की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं और ये उनकी कहानी-यात्रा की महान उपलब्धियाँ हैं। इससे उनकी लगभग 290 कहानियाँ भावुकतापूर्ण तथा आदर्शवाद के कारण अवास्तविक तथा निष्प्राण घोषित हो गईं। इस दुराग्रह को समाप्त करने के लिए उनकी समग्र कहानियों को रचनावली के रूप में एक स्थान पर प्रस्तुत करना और भी आवश्यक हो जाता है। किसी भी लेखक की चुनी हुई रचनाएँ उसका पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करतीं। प्रेमचंद वैसे भी अभिजात कथाकार नहीं थे, जो अपनी श्रेष्ठ रचनाएँ ही छपने देते हैं। प्रेमचंद एक देहाती लेखक हैं—उनके पास श्रेष्ठ तथा कमज़ोर दोनों प्रकार की कहानियाँ हैं, अतः सबल-दुर्बल मिलकर ही प्रेमचंद बनते हैं। संभवतः इसी कारण उन्होंने अपनी दुर्बल कहानियों का बहिष्कार नहीं किया। उनकी समग्र कहानियों से उनके कहानीकार का पूर्ण रूप सामने आएगा और श्रेष्ठ एवं सामान्य कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकेगा।

प्रेमचंद के कहानी-संग्रहों में संकलित कहानियों की कालगत विसंगतियों को पहचानना अभी शेष है। इन विसंगतियों ने कहानियों को कालक्रमानुसार रखने तथा सही विकास-यात्रा का चित्र बनाने में बड़ी बाधाएँ उत्पन्न की हैं। उनके उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़ेवतन* (जून, 1908) में वर्ष 1908 की कहानियाँ संगृहीत हैं, अतः इसमें कोई विसंगति नहीं है और पाठक इसकी पाँच कहानियों को प्रकाशन-वर्ष के आसपास की कहानियाँ मानकर पढ़ता है, परंतु *प्रेम-पूर्णिमा* में, जिसका प्रकाशन 1919 में हुआ, 1911 से 1918 तक की 15 कहानियाँ दी गई हैं, जबकि इससे पूर्व प्रकाशित दो कहानी-संग्रहों—*सप्त-सरोज* (1917, इसमें वर्ष 1910 से 1917 तक की सात कहानियाँ हैं) एवं *नव-निधि* (1917, इसमें भी 1910 से 1917 तक की नौ कहानियाँ हैं) में भी वर्ष 1911 से 1917 तक की कहानियाँ दी गई हैं। इसका अर्थ यह है कि इन तीन कहानी-संग्रहों की कहानियाँ प्रायः एक ही काल-खंड की रचनाएँ हैं। तब ऐसी स्थिति में *प्रेम-पूर्णिमा* (1919) को पूर्व प्रकाशित दो कहानी-संग्रहों की अगली कड़ी के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? प्रेमचंद ने यदि थोड़ी-सी भी सावधानी बरती होती तो ये तीन कहानी-संग्रह—*सप्त-सरोज* 1910 से 1913, *नव-निधि* 1914 से 1915 तथा *प्रेम-पूर्णिमा* 1916 से 1918 के बीच प्रकाशित कहानियों के संग्रह बन सकते थे और इस प्रकार पाठक तथा आलोचक इस क्रम से उनकी विकास-यात्रा को समझ सकते थे। उनके कहानी-संग्रह *प्रेम-प्रसून* में, जो 1924 में छपा था, 1908 की कहानी 'यही मेरी मातृभूमि है' भी संकलित है, जिसके कारण कोई यह सोच भी नहीं सकता कि यह प्रेमचंद की आरंभिक कहानी है। प्रेमचंद के प्रसिद्ध कहानी-संग्रह *मानसरोवर* की, इस दृष्टि से, तो और भी बुरी स्थिति है। *मानसरोवर* आठ खंडों में प्रकाशित हुआ, इसमें आरंभिक दो खंड स्वयं प्रेमचंद ने

प्रकाशित किए तथा शेष छह उनके बड़े पुत्र-प्रकाशक श्रीपतराय ने छापे, किंतु सब की दशा एक जैसी है। *मानसरोवर* के आठ खंडों में कुल 203 कहानियाँ हैं, परंतु इन्हें खंडों में संकलित करने का कोई कालगत आधार नहीं है। प्रेमचंद और उनके पुत्र-प्रकाशक दोनों ने ही एक जैसा व्यवहार किया और जो कहानी हाथ में आई या कहानियाँ मिलीं उन्हें एकत्र करके एक खंड में प्रकाशित कर दिया, और जब कुछ और कहानियाँ इकट्ठा हो गईं तो वे *मानसरोवर* के अगले खंड में छाप दी गईं। प्रेमचंद ने *मानसरोवर* खंड एक तथा दो को अपने जीवन-काल में प्रकाशित करा लिया था, लेकिन इसके पहले खंड में वर्ष 1910 से 1934 के बीच प्रकाशित 27 कहानियों को संगृहीत किया, जो किसी भी दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं है। जब पाठक तथा अध्येता उनकी आरंभिक एवं अंतिम समय की कहानियों को एक साथ पढ़ेगा तो उसके मन पर प्रेमचंद की रचनात्मकता तथा विकास-यात्रा का क्या बिम्ब बनेगा तथा कहानियों के संबंध में वे सही निष्कर्षों तक कैसे पहुँचेंगे? *मानसरोवर* के सभी खंडों की ऐसी ही स्थिति है। *मानसरोवर* के आठ खंडों में प्रकाशित 203 कहानियों को संकलित करने का आधार यही होना चाहिए था कि पाठक कहानियों के प्रकाशन-क्रमानुसार उन्हें खंडों के क्रम में पढ़ सके, न कि यह कि किसी भी वर्ष में प्रकाशित कहानी किसी भी खंड में संकलित कर पाठक को भ्रमित किया जाए और कहानी के प्रकाशन-सत्य को लुप्त कर दिया जाए। *मानसरोवर* में एक तो लगभग सौ कहानियाँ नहीं हैं और जो 203 हैं, वे भी प्रेमचंद की कहानी-यात्रा का असली चेहरा नहीं दिखातीं। अतः यह अत्यावश्यक है कि प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियों को एक साथ रखा जाए, बल्कि उन्हें कालक्रमानुसार भी रखा जाए। यह एक रास्ता है जिससे प्रेमचंद के कहानीकार को समग्र रूप में वैज्ञानिकता के साथ पढ़ा और समझा जा सकता है।

प्रेमचंद की कुल कहानियों की संख्या का निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। इस संबंध में कोई एक संख्या तय नहीं की जा सकती, क्योंकि उनकी उपलब्ध कुछ कहानियों की संख्या पर भारी मतभेद है और यह भी लगता है कि उनकी लुप्त एवं अप्राप्य कहानियों के मिलने की संभावना भविष्य में भी बनी रहेगी। अभी तक प्रेमचंद के लुप्त तथा अप्राप्य साहित्य की खोज का काम अमृतराय, मदन गोपाल, कमल किशोर गोयनका आदि ने किया है, और ऐसे खोजी काम में निश्चय ही व्यक्तियों की सीमाएँ होती हैं। हिंदी एवं उर्दू की अनेक ऐसी पत्रिकाएँ बची हैं, जिनके वर्ष 1907 से 1940 तक के सभी अंकों की छानबीन नहीं हुई है। प्रेमचंद के पत्रों में ऐसी ही कुछ उर्दू पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें उनकी उर्दू कहानियाँ तथा लेखादि छपे हैं, परंतु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इन अनुपलब्ध उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में कुछ कहानियों के मिलने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः अज्ञात तथा अप्राप्य कहानियों को खोजने के लिए सामूहिक प्रयास करना होगा तथा देश के पुराने पुस्तकालयों में बैठकर उर्दू-हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फ़ाइलें

देखनी होंगी। हमारी जानकारी में उर्दू में प्रकाशित ये पाँच कहानियाँ ऐसी हैं, जिनके छपने की जानकारी है, परंतु वे अनुपलब्ध-सूची में आती हैं–'दारा शिकोह का दरबार' (*आज़ाद*, सितंबर, 1908), 'सौदाएख़ाम' (*हमदर्द*, अगस्त, 1914), 'जंजाल' (*तहज़ीबे निस्वाँ*, अगस्त, 1918), 'अश्के नदामत' (*कहकशाँ*, जनवरी, 1920, यह चार्ल्स डिकेंस की अँग्रेज़ी कहानी 'द स्टोरी ऑफ़ रिचर्ड डबलडिक' का उर्दू अनुवाद है) तथा 'वतन की क़ीमत' (*नैरंग*, जनवरी, 1931)। इनमें 'दारा शिकोह का दरबार' मिल गई है, जो कहानी नहीं लेख है, और 'अश्के नदामत' डॉ. प्रदीप जैन के प्रयास से उपलब्ध हो गई है।

प्रेमचंद तथा उनके आलोचकों एवं शोधकर्ताओं ने उनकी कुल कहानियों की जो संख्या बताई है, उनमें एकरूपता नहीं है। असल में इस दृष्टि से कोई गंभीर सार्थक प्रयास नहीं हुआ तथा अधिकांश आलोचकों ने या तो प्रेमचंद के भ्रामक वक्तव्य पर विश्वास किया अथवा कल्पना से काम लेकर जो संख्या ठीक लगी, उसका उल्लेख कर दिया। इनमें से किसी ने भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों तथा कहानी-संग्रहों में संगृहीत कहानियों की ठीक-ठीक गणना नहीं की, जिसके कारण यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न असुलझा ही रह गया। प्रेमचंद ने 26 दिसंबर, 1934 के पत्र में इंद्रनाथ मदान को अपनी कहानियों की संख्या 250 बताई थी, जबकि उस समय तक उनकी 287 हिंदी-उर्दू की कहानियाँ छप चुकी थीं। रामरतन भटनागर, इंद्रनाथ मदान, केदारनाथ अग्रवाल आदि ने 250 की संख्या का समर्थन किया है, परंतु नंददुलारे वाजपेयी के मत में हिंदी कहानियों की संख्या लगभग 300 तथा उर्दू कहानियों की संख्या सौ से ऊपर थी। इस संबंध में प्रेमचंद के जीवनीकार अमृतराय से यह आशा थी कि वे कुल कहानियों की संख्या की लगभग सही जानकारी देंगे, परंतु *प्रेमचंद : क़लम का सिपाही* शीर्षक जीवनी में उन्होंने केवल 224 कहानियों की सूची दी और उसमें भी 'हज़रतअली' (*प्रभा*, जुलाई, 1923) नामक लेख को इस सूची में डाल दिया। यह सूची भी अधूरी और अपर्याप्त है और घोर लापरवाही से तैयार की गई है। इस सूची में वे कहानियाँ भी नहीं हैं, जो अमृतराय ने हिंदी-उर्दू पत्रिकाओं से खोजकर *गुप्तधन* के दो खंडों में प्रकाशित की थीं। अमृतराय ने प्रेमचंद की अज्ञात एवं अप्राप्य 56 कहानियाँ खोजी थीं जो *गुप्तधन* के दो खंडों में प्रकाशित हुईं, परंतु कहानी-सूची में उन्होंने 14 कहानियों का (*गुप्तधन*-1 से चार तथा *गुप्तधन*-2 से 10) उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार अमृतराय के अनुसार कहानियों की जो संख्या 238 (224 + 14 = 238) हो सकती थी, वह 224 ही रह गई और उनकी जीवनी पढ़नेवाले पाठक ने यह मान लिया कि प्रेमचंद ने इतनी ही कहानियाँ लिखी होंगी।

अमृतराय ने डॉ. गोपाल राय के लेख 'प्रेमचंद के उपन्यासों की प्रकाशन तिथियाँ' (*साप्ताहिक हिंदुस्तान*, 17 फ़रवरी, 1963) के उत्तर में इसी शीर्षक से *साप्ताहिक हिंदुस्तान* में ही लेख लिखा था और आलोचकों एवं शोधकर्ताओं द्वारा

प्रेमचंद की रचनाओं के काल-निर्णय और कालक्रमानुसार सूची तैयार न करने से उत्पन्न अराजकरता एवं इस उपेक्षा-भाव पर अफ़सोस व्यक्त किया था। इस ओर सबसे पहले *ज़माना* के संपादक मुंशी दयानारायण निगम ने प्रयास किया और *ज़माना* के 'प्रेमचंद नंबर' (1937) में *ज़माना* में 1908-37 के बीच प्रकाशित उर्दू कहानियों की सूची प्रकाशित की, परंतु इसमें कुछ कहानियाँ छूट गईं और केवल *ज़माना* तक ही सीमित थी। इसके बाद हिंदी में डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. रामरतन भटनागर, श्रीपत शर्मा, मन्मथनाथ गुप्त, नंददुलारे वाजपेयी, इंद्रनाथ मदान, राजेश्वर गुरु आदि ने प्रेमचंद पर पुस्तकें लिखीं, परंतु किसी ने भी कहानियों का काल-निर्णय नहीं किया और न संपूर्ण कहानियों की सूची ही दी। अमृतराय पहले जीवनीकार थे, जिन्होंने पहली बार प्रेमचंद की 223 कहानियों का काल-निर्णय किया था। इसी समय मदन गोपाल की अंग्रेज़ी जीवनी *मुंशी प्रेमचंद* (1964) भी छपी थी, परंतु उसमें किसी भी विधागत रचनाओं की कोई सूची नहीं है। इसके बाद कमल किशोर गोयनका का *प्रेमचंद विश्वकोश* (दो खंड) वर्ष 1981 में प्रकाशित हुए और पहली बार प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू रचनाओं (कहानियाँ भी) का कालक्रमानुसार विस्तृत विवरण दिया गया और उनकी अधिकांश कहानियों का हिंदी-उर्दू रूप, प्रथम प्रकाशन, संकलन का नाम आदि विभिन्न सूचनाएँ व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक पद्धति से दी गई। इस बड़े काम में कुछ ग़लतियाँ रह गई थीं, कुछ की जानकारियाँ उपलब्ध न थीं, अतः डॉ. जाफ़र रज़ा की पुस्तक *प्रेमचंद : उर्दू-हिंदी कथाकार* (1983) में दी गई कहानी-सूची तथा उनके काल-निर्णय से कुछ ग़लतियाँ ठीक हुई, परंतु डॉ. जाफ़र रज़ा के काल-निर्णय तथा अन्य सूचनाओं में भी अनेक ग़लतियाँ रह गईं। यदि उन्होंने *प्रेमचंद विश्वकोश* के दोनों खंड देखे होते तो वे अनेक ग़लतियों से बच सकते थे। अब यहाँ जो कहानियों की सूची, उनका काल-निर्णय तथा जो अन्य विवरण दिए गए हैं, उनमें कुछ और भी नई जानकारियाँ दी गई हैं, कुछ के ग़लत पुराने विवरण ठीक किए गए हैं, परंतु इस निरंतर शोध के बाद भी यहाँ दी गई कहानी-सूची में संशोधन-परिवर्द्धन की संभावना सदैव बनी रहेगी। अमृतराय एवं डॉ. गोपाल राय के इस मत से मेरी पूरी सहमति है कि इस कार्य को सुसंपन्न करने तथा संपूर्ण रचनाओं की कालक्रमानुसार सूची बनाने के लिए हिंदी-उर्दू के प्रेमचंद अध्येताओं को संगठित होकर प्रयास करना चाहिए। *प्रेमचंद विश्वकोश* तथा *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य* में जिन रचनाओं के विवरण छूट गए हैं, उन्हें इन भाषाओं के विद्वानों को ही पूरा करना चाहिए।

प्रेमचंद की कुल कहानियों की संख्या का जो भ्रम-जाल है, उसे हम पीछे देख चुके हैं, परंतु कई दशकों तक निरंतर कार्य करने पर यह दावा किया जा सकता है कि हम उनकी कहानियों की कुल संख्या के काफ़ी क़रीब पहुँच चुके हैं, यद्यपि दो-चार और कहानियों के मिलने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। अभी तक की खोजों और उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार प्रेमचंद की 301 कहानियों की जानकारी

मिलती है, जिसमें 298 कहानियाँ उपलब्ध हैं तथा 3 कहानियाँ (जो उर्दू में प्रकाशित हुई थीं) अभी तक अप्राप्य हैं। ये तीन अप्राप्य उर्दू कहानियाँ हैं—*सौदाएख़ाम* (*हमदर्द*, अगस्त, 1914), *जंजाल* (*तहज़ीबे निस्वाँ*, अगस्त, 1918) तथा *वतन की क़ीमत* (*नैरंग*, जनवरी, 1931)। प्रेमचंद ने इन्हें अपने किसी उर्दू कहानी-संग्रह में न संकलित किया और न हिंदी में अनुवाद। इससे पूर्व 'दारा शिकोह का दरबार' (*आज़ाद*, सितंबर, 1908), 'अश्के-नदामत' (*कहकशाँ*, जनवरी, 1920), 'साँप की माशूक़ा' (*हज़ार-दास्ताँ*, जुलाई, 1922) तथा 'वफ़ा की देवी' (*आख़िरी तोहफ़ा*, मार्च, 1934) उर्दू कहानियाँ अनुपलब्ध सूची में थीं, लेकिन अब वे उस कोटि में नहीं हैं। 'दारा शिकोह का दरबार' कहानी न होकर लेख है और वह उपलब्ध हो गया है; *अश्के नदामत* उर्दू कहानी मिल गई है, लेकिन वह डिकेंस की कहानी 'दि स्टोरी ऑफ़ चार्ल्स डबल डिक' का उर्दू अनुवाद होने के कारण यहाँ नहीं दी गई है; 'साँप की माशूक़ा' तो 'नागपूजा' शीर्षक से *प्रेम पचीसी* (1923) में छप चुकी थी और 'वफ़ा की देवी' भी यहाँ हिंदी में लिप्यंतर करके संकलित की गई है। डॉ. प्रदीप जैन ने इसका हिंदी अनुवाद करके *भाषा* के मई-जून, 2009 के अंक में प्रकाशित कराया है, परंतु मेरा हिंदी लिप्यंतर दो वर्ष पूर्व ही हो चुका था; वैसे भी प्रेमचंद की भाषा को अनुवाद में बदलना उचित नहीं है। इधर डॉ. प्रदीप जैन ने ही *बंदूक* नाम से प्रकाशित दो उर्दू कहानियों को खोजने का दावा किया है। ये कहानियाँ हैं—'इश्तिहारी शहीद' (*ज़माना*, अप्रैल-मई, संयुक्तांक, 1915) तथा 'महरी' (*ज़माना*, नवंबर, 1926)। उन्होंने इन्हें *आजकल* (जुलाई, 2007) तथा *कादंबिनी* (जून, 2007) में प्रकाशित भी कराया है, किंतु इनके मूल उर्दू पाठ को देखे बिना कोई अंतिम निर्णय नहीं किया जा सकता। डॉ. प्रदीप जैन ने *गगनांचल* (जुलाई-सितंबर, 2008) में अप्राप्य एवं दुर्लभ कहानी के रूप में 'आसमान की परी' कहानी प्रकाशित कराई थी, परंतु यह कहानी 'स्वर्ग की देवी' के नाम से हिंदी में *चाँद* के सितंबर, 1925 के अंक में तथा *प्रेम-प्रमोद* (1926) एवं *मानसरोवर*-3 (1938) में छप चुकी थी।

प्रेमचंद की कुल उपलब्ध 298 कहानियाँ अब हिंदी में उपलब्ध हैं, लेकिन ये हिंदी कहानियाँ सीधे प्रेमचंद की क़लम से नहीं निकली हैं, अर्थात् ये रची गई तो प्रेमचंद की ही हैं, परंतु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनका उर्दू से हिंदीकरण प्रेमचंद ने नहीं किया और ऐसी जो कहानियाँ उर्दू पत्रिकाओं तथा उर्दू कहानी-संग्रहों से खोज करते हुए मिलीं, उनका हिंदीकरण अमृतराय और कमल किशोर गोयनका ने किया और पहली बार उन्हें हिंदी में प्रस्तुत किया। हिंदी में अनुपलब्ध ऐसी उर्दू कहानियों में 45 ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें अमृतराय ने उर्दू से खोजा और हिंदी में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार कमल किशोर गोयनका ने 20 उर्दू कहानियों को उर्दू पत्रिकाओं से खोजकर निकाला और उनका हिंदी में लिप्यंतरण करके वर्ष 1988 में *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य* में संकलित किया। प्रेमचंद की पहले उर्दू में छपने वाली कहानियों की

कुल संख्या 114 है, जिनमें तीन अप्राप्य हैं। इसमें 49 उर्दू कहानियों का हिंदीकरण प्रेमचंद ने किया, जो न तो अनुवाद हैं, न हिंदी लिप्यंतर, बल्कि प्रेमचंद ने यत्र-तत्र छुट-पुट परिवर्तन एवं संशोधन करके उन्हें हिंदी में प्रकाशित कराया। अमृतराय ने 45 उर्दू कहानियों को हिंदी में प्रस्तुत करने पर कुछ के शीर्षक बदले और उनकी भाषा में भी यत्र-तत्र परिवर्तन किया और *गुप्त-धन* की भूमिका में यह स्वीकार किया कि इन उर्दू कहानियों को हिंदी का जामा पहनाया है, अर्थात् मुंशी जी की हिंदी का, किंतु कहानी की आत्मा, भाषा और शैली की रक्षा की है, लेकिन रचना के मूल पाठ में इस प्रकार का कोई भी परिवर्तन-संशोधन वांछनीय नहीं है। कमल किशोर गोयनका ने उनकी 20 उर्दू कहानियों का केवल हिंदी में लिप्यंतर किया है तथा कठिन उर्दू शब्दों के हिंदी अर्थ कोष्ठक में दे दिए हैं। ऐसी उर्दू रचनाओं को हिंदी में लाने पर यही उचित नीति है कि मूल उर्दू पाठ में छेड़ख़ानी न की जाए और उसे मूल रूप में ही हिंदी लिपि में प्रस्तुत कर दिया जाए। हिंदी में पहले लिखी गई कहानियों की संख्या उर्दू में पहले लिखी गई कहानियों की संख्या से अधिक है। इनकी संख्या 188 है। इनमें 67 ऐसे कहानियाँ हैं, जो केवल हिंदी में प्रकाशित हुई और प्रेमचंद ने उनका उर्दूकरण नहीं किया और उर्दू पाठक इनसे वंचित रहा। हिंदी में पहले प्रकाशित इन कहानियों में 121 कहानियाँ ऐसी हैं, जिनका बाद में प्रेमचंद ने उर्दूकरण किया तथा अधिकांशतः पहले उर्दू पत्रिकाओं में छपीं और बाद में उर्दू कहानी-संग्रहों में आईं। प्रेमचंद की कहानियों के संबंध में यह एक रोचक सत्य है कि वे जब हिंदी-संसार में आती हैं तो कई दिशाओं तथा कई रूपों में आती हैं, किंतु हिंदी में आते ही उनका वैभिन्नय मिट जाता है और वे हिंदी की हो जाती हैं। इस संबंध में दूसरा सत्य यह है कि हिंदी में आते ही सब भेद समाप्त हो जाते हैं, जबकि उर्दू में उनकी मौलिकता पर प्रश्न उठते हैं। हिंदी तथा उर्दू जब एक भाषा के दो रूप हैं तो हिंदी-उर्दू कहानियों में भेद का प्रश्न क्यों उठना चाहिए? तीसरा सत्य यह है कि हिंदी में प्रेमचंद की समग्र कहानियों को लाने का प्रयत्न हुआ और वह निरंतर चलता रहा, जो उर्दू में नहीं हुआ। अमृतराय ने वर्ष 1962 में *गुप्त-धन* के दो खंडों में प्रेमचंद की 56 अप्राप्य-अज्ञात हिंदी-उर्दू कहानियाँ खोजकर हिंदी संसार के सम्मुख रखीं तथा कमल किशोर गोयनका ने वर्ष 1988 में *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य* (प्रथम खंड) में ऐसी ही 20 अप्राप्य-अज्ञात हिंदी-उर्दू कहानियाँ तलाश करके हिंदी पाठकों के सम्मुख पहली बार रखीं। इस प्रकार 76 कहानियाँ खोजकर हिंदी के साहित्य-संसार के सम्मुख प्रस्तुत की गईं, और निश्चय ही ऐसा कार्य उर्दू क्या किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। प्रेमचंद के कहानीकार को हिंदी में समग्र रूप में प्रस्तुत करने के संकल्प का ही यह प्रतिफल था।

प्रेमचंद के उर्दू कहानीकार का हिंदी कहानी के संसार में प्रवेश करना भारत के आधुनिक साहित्य की एक अनोखी घटना है, जिसने हिंदी कहानी के इतिहास में युगांतर उपस्थित किया और उसके वर्तमान एवं भविष्य दोनों को भिन्न दिशाओं की

ओर मोड़ दिया। आज हम यह कह सकते हैं कि यदि प्रेमचंद हिंदी में नहीं आते और उर्दू तक ही सीमित रहते तो हिंदी कहानी एवं उपन्यास का ऐसा कायाकल्प, ऐसा विस्तार एवं कीर्ति तथा हिंदी की ऐसी प्रतिष्ठा एवं वैश्विकता नहीं होती, लेकिन उनकी सर्जनात्मक मनोभूमि और वैचारिक यात्रा को देखकर यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उन्हें एक-न-एक दिन हिंदी के नागरी-संसार में आना ही था। उनके प्रथम कहानी-संग्रह *सप्त-सरोज* (1917) की भूमिका में पं. मन्नन द्विवेदी ने लिखा कि 'उर्दू संसार के हिंदू महारथी' प्रेमचंद ने पूजनार्थ नागरी-मंदिर में प्रवेश किया है और माता ने अपने इस यशशाली प्रेम-पुत्र को हृदय से अपना लिया है।[1] द्विवेदी का यह उल्लास तथा यह अभिनंदन वास्तव में हिंदी नवजागरण का था जो हिंदी-भाषी प्रांतों के साथ लगभग सारे देश में व्यापक हो गया था। प्रेमचंद का जन्म उस काल-खंड (31 जुलाई, 1880) में हुआ था, जब कुछ वर्ष पूर्व ही काँग्रेस की स्थापना हुई और आर्यसमाज की स्थापना के साथ *सत्यार्थ प्रकाश* का प्रकाशन हुआ, परंतु हिंदी नवजागरण का आरंभ तो 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम से हो चुका था और उससे ही बहुत पहले राजा राममोहन राय (1772-1833) ने आधुनिक भारत का बीजांकुर कर दिया था। उन्होंने पूर्व और पश्चिम का मिलन किया तथा आधुनिक भारत के जनक कहलाए। उन्होंने हिंदू धर्म की जड़ताओं, अंधविश्वासों, धार्मिक कट्टरताओं, मूर्ति-पूजा एवं सती-प्रथा की कटु आलोचना करते हुए एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, वेदांत तथा सार्वभौम धर्म एवं मानवता का समर्थन किया और इस प्रकार भारत को गहरे आत्म-बोध से नया जीवन देते हुए आधुनिक बनने की बुनियाद रख दी। यह सांस्कृतिक नवजागरण था जो हिंदू धर्म के मूलभूत सुधारों तथा नई जीवन-दृष्टि के साथ नए युग के उपयुक्त बनने की प्रबल आकांक्षा से हुआ था। इसके उपरांत 1857 में प्रमुख रूप से हिंदी क्षेत्र में स्वाधीनता की पहली लड़ाई लड़ी गई, जो प्रकट में अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के विरुद्ध थी, परंतु उसके मूल में अंग्रेजों की भारत को असभ्य तथा हीन मानने, व्यापारिक शोषण, ईसाई धर्मान्तरण, अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा एवं उससे उत्पन्न मानसिक दासत्व आदि के प्रति भी गहरे आक्रोश का भाव था। अंग्रेज़ों का भारत को गुलाम बनाने में व्यापार उनका उद्देश्य था, परंतु वे कथित रूप में असभ्य भारत को सभ्य बनाने तथा भारतीयों के चित्त पर विजय के उद्देश्य से भी आए थे। उनका तर्क था कि भारत जैसे असभ्य और बर्बर राष्ट्रों को पराजित किया जाए, जिससे वे उससे मुक्त हो सकें। वे मानते थे कि भारत सांस्कृतिक रूप में स्वाधीनता, लोकतंत्र और राष्ट्रीयता पाने के योग्य नहीं है। इस भौगोलिक एवं मानसिक दासता को 1857 की क्रांति ने चुनौती दी, परंतु वह असफल हुई और अंग्रेज़ों की श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इस असफलता के बड़े दुष्परिणाम निकले—हज़ारों भारतीयों को फाँसी पर

1. *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-2*, पृष्ठ 628

चढ़ा दिया गया, दमन और हिंसा का चक्र चला और देश में भय का वातावरण बना और भारतेंदु हरिश्चंद्र को लिखना पड़ा—'जेहि भय सिर न हिलाय सकत कहूँ भारतवासी', परंतु यह क्रांति हिंदी नवजागरण की पहली मंज़िल बनी। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदु युग को नवजागरण की दूसरी मंज़िल तथा पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी युग को तीसरी मंज़िल कहा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र पर 1857 की क्रांति का प्रभाव था और उनमें राज-भक्ति से अधिक देश-भक्ति की भावना थी। उनमें देश की पराधीनता के लिए गहरी पीड़ा थी और इसी कारण वे सुसुप्त देश को जगाना चाहते थे जिससे भारत अपना स्वत्व पुनः प्राप्त कर सके—'स्वत्व निज भारत गहै'। कुछ आलोचकों ने इस नवजागरण में हिंदू धर्म की उपस्थिति देखी है, जिसमें काफ़ी सत्यता है। यह नवजागरण देश की सांस्कृतिक चेतना की रक्षा और औपनिवेशिक मानसिकता तथा मानसिक दासता के विरुद्ध था। अंग्रेज़ धर्म, संस्कृति तथा चेतना सभी में भारत की ग़ुलामी को स्थायी बनाने के लिए प्रयत्नशील थे और उसके लिए धर्मांतरण एक बड़ा शस्त्र था। डॉ. नामवर सिंह ने *आलोचना*-79 में लिखा कि नवजागरण का धार्मिक रूप लेने का भी कारण था, क्योंकि ईसाई धर्म का प्रचार ज़ोरों पर था और उपनिवेशवादी राजसत्ता का दमन धार्मिक रूप ले रहा था तो प्रतिरोध का धार्मिक रूप में प्रकट होना अनिवार्य था। मैक्समूलर के अनुसार वर्ष 1885 तक भारत में 38 ईसाई मिशनरियाँ काम कर रही थीं, जिनमें विदेशी सदस्यों की संख्या 887 थी तथा देशी प्रचारक 751 एवं ग़ैर ईसाई सहायकों की संख्या 2856 थी। ये ईसाई मिशन अन्य साधनों के अतिरिक्त स्कूलों और अस्पतालों के माध्यम से भी धर्म-परिवर्तन करवा रहे थे। ऐसे वातावरण में 'स्वत्व' रक्षा का प्रश्न धर्म का प्रश्न बन गया था।[1] प्रेमचंद ने भी 'सर सैयद अहमद ख़ाँ' शीर्षक लेख में लिखा कि ईसाई पादरियों के धर्म-प्रचार तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण अनेक शिक्षित हिंदू ईसाई हो गए थे और पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा से समाज इतना भयभीत था कि कहीं हमारा धर्म ही न चला जाए और हम कहीं के न रहें। प्रेमचंद ने यह भी लिखा कि सैयद अहमद ख़ाँ की अंग्रेज़-भक्ति और हिंदू विरोध ने देश को हिंदू-मुसलमान के दो विरोधी भागों में बाँट दिया और संयुक्त राष्ट्रीयता एवं एकता तथा मेलजोल असंभव हो गया। मुग़ल साम्राज्य की समाप्ति तथा अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना ने हिंदू-मुसलमानों के ऐतिहासिक एवं धर्मगत विलगाव को कम करना शुरू कर दिया था, परंतु सैयद अहमद ख़ाँ के प्रयासों ने संयुक्त राष्ट्रीयता का लक्ष्य ओझल कर दिया। उन्हें शासित हिंदुओं की अपेक्षा शासक अंग्रेज़ों से मेलजोल अधिक लाभप्रद लगा और उन्होंने अंग्रेज़ भक्ति और हिंदू विरोध की नीति बनाई।[2] भारतेंदु हरिश्चंद्र ने प्रमुख रूप से हिंदू समाज के जागरण का प्रयत्न किया, परंतु उनमें हिंदू धर्म

---

1. *आलोचना*-79, पृष्ठ 4
2. *प्रेमचंद : बाल साहित्य समग्र,* संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृष्ठ 289-94

की कट्टरता न थी। कुछ आलोचकों ने भारतेंदु में हिंदू नवजागरण देखा है, परंतु उनका नवजागरण सांप्रदायिक नहीं है, अन्यथा वे यह नहीं कहते—'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिंदू वारिए', तथा यह भी नहीं कहते कि हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए और बंगाली, मरहट्टा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का एक हाथ पकड़ो। भारतेंदु ने हज़रत मुहम्मद, बीवी फ़ातिमा, अली, इमाम हुसैन आदि पर रचनाएँ लिखीं जो इसका प्रमाण है कि इस्लाम धर्म के प्रति आदर का भाव था, परंतु मुग़ल साम्राज्य में हिंदुओं पर हुए अत्याचार वे भूले नहीं थे। इसी कारण भारतेंदु ने *बादशाह दर्पण* (1884) की भूमिका में अंग्रेज़ों के बारे में लिखा कि उन्होंने मुसलमानों की भाँति हमारी आँख के सामने हमारी देवमूर्तियाँ नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भाँति सिर काटे गए। अभागे भारत को यही बहुत है, विशेषकर अंग्रेज़ों से हमको जैसी शुभ शिक्षा मिली, उससे हम उनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्न नहीं है। वह सदा मुक्तकंठ से स्वीकार करेगा कि अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के कठिन दंड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गए किंतु पेट भरने को भीख माँगने की विद्या भी सिखा गए।[1] इन विचारों में अंग्रेज़ों की मुसलमानों के अत्याचारों से हिंदू समाज को मुक्ति दिलाने की प्रशंसा है, इसमें न राज-भक्ति है और न इस्लाम धर्म की आलोचना है। इतना ही नहीं, भारतेंदु ने राष्ट्रीय असंतोष के साथ मध्ययुगीन सामंती एवं दरबारी संस्कृति, धार्मिक एवं सामाजिक कुसंस्कारों को चुनौती दी तथा सांस्कृतिक नवजागरण का द्वार खोला। भारतेंदु ने लेखकों के लिए नए विषयों का प्रस्ताव किया जो धर्म, संस्कृति, समाज, शिक्षा, सुधार आदि से संबंधित थे और उनमें पश्चिम की फ़ैशनेबल दुनिया का भी विरोध था। इस प्रकार भारतेंदु अपने अभिनव नवजागरण में पश्चिमी सभ्यता के बिना ही भारत को आधुनिक बनाना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि भारत की दुर्दशा समाप्त हो, सामाजिक-सांस्कृतिक जागृति हो, जिससे राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो, समाज का सुधार और परिष्कार हो और भारत नया देश बने। इस नवजागरण में पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और श्रेष्ठता के विरुद्ध पुरातन भारत का गौरव-गर्व था तथा आत्म-मूल्यांकन करते हुए भारत के नए आत्म-बिम्ब की खोज एवं स्वत्व तथा अस्मिता की रक्षा का संकल्प था। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी युग (1903-1925) एक प्रकार से इसी नवजागरण का विस्तार था, यद्यपि इसमें रीतिकालीनता एवं राज-भक्ति का निषेध, खड़ी बोली का वर्चस्व एवं भाषा-परिष्कार, सुधार आंदोलन एवं नैतिकता, पुरातनता के साथ नवीनता का स्वागत, स्वदेशी-स्वराज्य-स्वभाषा की लोकांक्षा, परहितकारता एवं लोक-संग्रह

1. *आलोचना*-79, (अक्तूबर-दिसंबर, 1986) में डॉ. बच्चन सिंह के लेख में उद्धृत, पृष्ठ 18-19; *भारतेंदु समग्र*, संपादक : हेमंत शर्मा, पृष्ठ 732

आदि कुछ नई प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हुईं। इस युग में जापान की रूस पर विजय, बंग-भंग (1905), प्रथम विश्वयुद्ध (1915), गाँधी के भारत आगमन (1915) तथा सक्रिय राजनीति में पदार्पण तथा असहयोग आंदोलन आदि ने, संपूर्ण भारत में सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक नवजागरण के साथ राजनीतिक नवजागरण की संपूर्ण राष्ट्र में स्वाधीनता एवं दासता से मुक्ति की प्रबल कामना उत्पन्न कर दी और वह गाँधी के नेतृत्व में स्वराज्य का राष्ट्र-व्यापी आंदोलन बन गया।

प्रेमचंद का साहित्य में पदार्पण नवजागरण के इसी राष्ट्रीय परिदृश्य में हुआ। उनका जन्म और शिक्षा भारतेंदु युग में हुई और उपन्यास एवं कहानी के क्षेत्र में प्रवेश द्विवेदी युग में हुआ और इस प्रकार दोनों ही युग उनके व्यक्तित्व एवं सर्जनात्मकता के अंग बने। प्रेमचंद के उर्दू मासिक पत्रिका *ज़माना* में 1903 से 1919 तक जो 28 लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें इन दोनों ही युगों की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जो इसकी प्रमाण हैं कि उनकी लेखकीय चेतना में हिंदी नवजागरण का स्वरूप ही समाया था। इन उर्दू लेखों में व्यक्त विचारानुसार उन्नीसवीं सदी में योरप में आज़ादी की हवा चली और अब एशिया में भी जनता के विचारों को महत्त्व मिलने लगा है। अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीयों को पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान तथा नई सभ्यता से परिचित कराया और इससे उनके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। इससे भारत में 'राष्ट्रीय जागृति' हुई और हमने अपने प्राचीन उद्योग-धंधों, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य पर गौरव करना सीखा। यह स्वाभिमान प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई दिया। इसके साथ हममें विवेक का दीपक प्रज्वलित हुआ और अपने देश के अनिष्टकारी तत्त्वों को तथा युग-चेतना को पहचाना। इससे देश में पश्चिम की नई सभ्यता और पूर्व की पुरानी सभ्यता में संघर्ष छिड़ा हुआ है। जीवन और विचार के हर क्षेत्र में उलट-पुलट हो रही है और जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो रहे हैं। देश में 'पोलिटिकल आज़ादी' और 'अधिकारों की माँग' निरंतर बढ़ रही है और स्वदेशी जैसा देशभक्तिपूर्ण आंदोलन उठ खड़ा हुआ है। प्रेमचंद 'राष्ट्रीयता' और 'धार्मिक-सांस्कृतिक एवं भाव-विचार' में एकत्व चाहते हैं, क्योंकि यही सच्ची राष्ट्रीयता है और ये ही 'सच्ची जातीयता' के चिह्न हैं। इस राष्ट्रीयता में वे सदाचार, आस्तिकता, देश-प्रेम, स्वतंत्रता-प्रेम, सहानुभूति, कर्तव्यपरायणता, हमदर्दी आदि जीवन-मूल्य चाहते हैं और इसी कारण वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' को 'उच्चतम मानवता के उदाहरण' घोषित करते हैं। इसके साथ वे हिंदू-मुस्लिम एकता पर भी बल देते हैं। वे मौलवी जकाउल्ला देहलवी की अंग्रेज़-भक्ति और चाटुकारिता तथा सैयद अहमद ख़ाँ का मुसलमान क़ौम के रहनुमाओं के अंधानुकरण की आलोचना करते हैं और दोनों क़ौमों के बेगानेपन की भर्त्सना करके उनमें एकता चाहते हैं। वे आर्यसमाज के देश-प्रेम और क़ौमी जोश की प्रशंसा करते हुए उनके राष्ट्रीय-सांस्कृतिक सुधारों के साथ 'व्यापारिक जागरण' में भी उनका योगदान चाहते हैं। प्रेमचंद का मत है कि अंग्रेज़ों ने भारतीय व्यापार की हत्या की तथा 1857 की

क्रांति 'हिंदोस्तान का विद्रोह' था, किंतु वे महारानी विक्टोरिया के निजी गुणों की प्रशंसा करते हैं और उन्हें दयावान, रहमदिल, हमदर्द तथा श्रेष्ठ पत्नी मानते हैं। इसमें उनकी राजभक्ति को देखना उचित नहीं होगा, क्योंकि उन्होंने अंग्रेज़ी शासन एवं उनकी उपनिवेशवादी नीति की कहीं भी तारीफ़ नहीं की है।

प्रेमचंद भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की इसी नई चेतना के साथ कथा-संसार में प्रविष्ट हुए। उनके आरंभिक उपन्यासों—*असरारे मआबिद* (1903-05) तथा *प्रेमा* (1907) में आर्यसमाज का प्रभाव है और इनमें हिंदू मंदिरों के महंतों के भ्रष्टाचार, नारी-शोषण, विलासिता और पाखंड को निरावृत्त करने के साथ हिंदू विधवा का पुनर्विवाह दिखाकर सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक सुधार को प्रशस्त किया है। उर्दू कहानी में उनका प्रवेश द्विवेदी युग में हुआ, जबकि हिंदी में भी कहानी का आरंभ इसी युग में हुआ। बंग-भंग (1905) की घटना ने उन्हें कहानी-रचना की ओर मोड़ा और समाज एवं धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति ने देश-भक्ति तथा राष्ट्रीयता का नया रूप धारण किया। लार्ड कर्जन द्वारा बंग-भंग (1905) करने से पूरे भारत में देश-प्रेम की एक अद्भुत चेतना उत्पन्न हुई, जिसने देश में ही नहीं दक्षिण अफ्रीका में बैठे गाँधी के मन में भी हलचल उत्पन्न कर दी। गाँधी ने अपने अख़बार *इंडियन ओपिनियन* के 19 अगस्त एवं 7 अक्टूबर, 1905 के अंक में बंग-भंग का विरोध किया और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न स्वदेशी आंदोलन तथा राष्ट्रीय भावना का समर्थन किया और विश्वास दिलाया कि जनता द्वारा अपने अधिकार माँगने तथा उसके लिए हानि उठाने की तत्परता से भारत के दासता के बंधन आज ही टूट सकते हैं। उन्होंने *हिंद स्वराज* (1909) में भी लिखा कि बंग-भंग ने देश में सच्ची जागृति पैदा की है और अंग्रेज़ी जहाज़ में स्थायी दरार डाल दी है। दक्षिण अफ्रीका में बैठे गाँधी बंग-भंग से उत्पन्न देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के जिस विस्फोट का ताप एवं ध्वनि सुन रहे थे, उसकी स्थिति बंगाल और देश के अन्य क्षेत्रों में क्या होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। प्रेमचंद पर भी देश-भक्ति की इस सुनामी लहर का प्रभाव पड़ा और उन्होंने धर्म एवं समाज के प्रसंगों को छोड़कर देश-प्रेम की कहानियाँ उर्दू में लिखीं और उनका संकलन *सोज़ेवतन* (जून, 1908) शीर्षक से प्रकाशित कराया। उन्होंने 'जीवन-सार' (1932) लेख में इसे स्वीकार करते हुए लिखा, "उस समय बंग-भंग का आंदोलन हो रहा था। कॉंग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँच कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई है।"[1] उर्दू कहानी में उस समय, प्रेमचंद के अनुसार, हुस्नो-इश्क़, वस्लो-फ़िराक़, अय्यारी-व-मक्कारी, जंगो-जदल वग़ैरहा की बहुत-सी दास्तानें मौजूद थीं, मगर ऐसे क़िस्से नहीं थे जिनमें सोज़ेवतन (देश-प्रेम) की चाशनी और हुब्बेवतन (स्वदेश-प्रेम) का एक-एक हर्फ़ टपके। उर्दू कहानी के लिए यह अनोखी घटना थी,

1. *कफ़न*, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 62

परंतु हिंदी नवजागरण तथा बंग-भंग की राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के रूप में देश-प्रेम की कहानियों की रचना अत्यंत स्वाभाविक तथा आवश्यक कर्म था। प्रेमचंद ने *सोज़ेवतन* की भूमिका में इसी ओर संकेत करते हुए रीतिकालीन अश्लील प्रेम की प्रवृत्तियों, सांस्कृतिक सुधार के दौर में सुधार की नवीन प्रवृत्ति तथा नए युग की देश-प्रेमपूर्ण कहानियों के तीन युगों की चर्चा की और साहित्य की नई परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा कि 'इल्म-ओ-अदब' (साहित्य) अपने ज़माने की सच्ची तस्वीर होता है। जो विचार एवं भावनाएँ क़ौम के दिमाग़ में गूँजती हैं और सक्रिय होती हैं, वे गद्य-पद्य में 'आइने में सूरत' की तरह साफ़ नज़र आती हैं।[1] यह नए युग की नई साहित्य चेतना की बुनियाद थी, जो प्रेमचंद ने वर्ष 1908 में रख दी थी। यह उनके साहित्य का भी मूलाधार था, जिस पर उनकी आस्था अंत तक बनी रही। उन्होंने लगभग 28 वर्ष के बाद 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन (10 अप्रैल, 1936) में अपने व्याख्यान में यही बात कही। उन्होंने कहा, "साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाप डालते हैं।" प्रेमचंद ने इस यथार्थवादी चेतना के साथ देश-प्रेम के युगीन आदर्श को जोड़कर आगे चलकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की नई कसौटी की स्थापना की और इस प्रकार हिंदी कहानी में यथार्थता के साथ आदर्शवाद को जोड़कर अपने युग की पूरी सचाई को उसकी श्रेष्ठता का आधार बना दिया। इस प्रकार प्रेमचंद ने कहानी का कायाकल्प किया, मध्ययुगीनता से नाता तोड़कर युग के यथार्थ जीवन और आदर्श से जोड़ा और कहानी-रचना के साथ कहानी के नए शास्त्र की रचना की। प्रेमचंद कहानीकार के रूप में युग-प्रवर्तक हैं ही, उन्हें कहानी के शास्त्रकार के रूप में भी आज भी चुनौती देना संभव नहीं है।

प्रेमचंद की 298 उपलब्ध कहानियों को यहाँ छह खंडों में प्रस्तुत किया गया है। इस कहानी रचनावली का यह वैशिष्ट्य है कि संपूर्ण उपलब्ध कहानियों को कालक्रमानुसार रखकर खंडों में संकलित किया गया है तथा उनका पहला पाठ देने की भी पूरी चेष्टा की गई है। यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचंद की कहानियों के संग्रह, *मानसरोवर* के आठों खंड आदि सभी में कालगत अराजकता फैली पड़ी है, अतः सबसे महत्त्वपूर्ण यह था कि उनकी संपूर्ण उपलब्ध कहानियों के प्रकाशन समयानुसार क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसके लिए कहानी के प्रथम प्रकाशन को उसका प्रकाशन समय माना गया है, चाहे वह उर्दू में छपी हो या हिंदी में पहले छपी हो। यही एक मात्र ऐसा सिद्धांत हो सकता था, जिससे उनकी कहानियों का एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित तथा त्रुटिरहित ढाँचा बनाया जा सकता था और प्रत्येक कहानी को उसके

1. *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-2, पृष्ठ 329

सही काल-खंड में रखा जा सकता था। कहानियों के कालक्रमानुसार संयोजन से प्रेमचंद की कहानी-यात्रा का सही चित्र बनेगा, उनकी कहानी-कला के विकासात्मक रूप की सचाई सामने आएगी और प्रत्येक कहानी की पूर्वापर कहानियों से उसके संबंधों की पहचान भी हो सकेगी। इस कहानी रचनावली का एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि इसमें कहानियों के पहले पाठ को प्रस्तुत करके उन्हें सदैव के लिए सुरक्षित कर दिया गया है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य में पाठ-भेद की विकट समस्या उत्पन्न हो गई है और विद्वानों ने अभी तक उसका समाधान करने की कोई चिंता नहीं की है। असल में, प्रेमचंद के उपन्यासों तथा कहानी-संग्रहों के इतने संस्करण हो गए हैं कि उनके प्रथम संस्करणों में प्रकाशित पाठ में बराबर कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता गया है और उसकी ओर किसी ने कभी ध्यान नहीं दिया। संभवतः इसका यह कारण रहा हो कि गद्य में ऐसे कुछ परिवर्तन महत्त्वहीन मान लिए जाते हैं, जब तक कि गद्य-रचना अर्थात् कहानी की मूल संवेदना को ही आघात न लगा हो, जबकि पद्य में एक-दो शब्दों के पाठ-भेद पर भी विद्वान लोग विचार करते रहे हैं, लेकिन गद्यकार प्रेमचंद की स्थिति अब एक क्लासिकल कथाकार की है, अतः उनके मूल पाठ को सुरक्षित रखना भी एक अन्यावश्यक साहित्यिक दायित्व है। डॉ. गोपाल राय संभवतः अकेले आलोचक हैं, जिन्होंने प्रेमचंद की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की बात उठाई और रचनावली में शुद्ध पाठ की आवश्यकता अनुभव की। *जनसत्ता* के 31 जुलाई, 2005 के अंक में उन्होंने विस्तार से इस समस्या पर प्रकाश डाला। इसी विचार के अनुरूप उनकी जो हिंदी कहानियाँ *प्रताप, मर्यादा, सरस्वती, आज, माधुरी, चाँद, विशाल भारत, श्रीशारदा, मतवाला, प्रभा, जागरण, हंस* आदि पत्रिकाओं तथा उनके हिंदी कहानी-संग्रहों (प्रथम संस्करण) में पहली बार प्रकाशित हुई, वहाँ से उनके पाठ को लेकर इन खंडों में यथास्थान प्रस्तुत किया गया है। यह कार्य वर्षों तक चलता रहा, पत्र-पत्रिका मिलती तो उसकी फ़ोटोकॉपी कराकर फ़ाइल में रखी जाती और इस तरह कहानियों के प्रथम पाठ को सुरक्षित करने का यह कार्य लगभग पूरा हुआ। लगभग इसलिए कि दो-तीन प्रतिशत कहानियों के मूल स्रोत या तो ज्ञात नहीं हो पाए या पत्रिकाएँ ही उपलब्ध नहीं हो पाईं, किंतु मुझे इतना संतोष है कि प्रेमचंद ही नहीं किसी भी हिंदी लेखक की इतनी विपुल रचनाओं के मूल पाठ को प्राप्त करने तथा उसे सदैव के लिए सुरक्षित करने का ऐसा प्रयास पहली बार हुआ है।

प्रेमचंद की 298 उपलब्ध कहानियों को खंडों में विभाजित करने की नीति पर कई बार साहित्य अकादेमी के उपसचिव श्री ब्रजेन्द्र त्रिपाठी तथा कुछ अन्य मित्रों से विचार-विमर्श हुआ। मेरा आरंभ में यह विचार था कि खंडों के विभाजन का आधार कोई महत्त्वपूर्ण प्रसंग तथा कोई ऐतिहासिक एवं राजनीतिक घटना होनी चाहिए, जैसे पहला खंड उनकी आरंभिक उर्दू कहानियों का हो, दूसरे खंड का आरंभ उनकी पहली हिंदी कहानी से, तीसरा खंड गाँधी के असहयोग आंदोलन के आरंभ से हो, चौथा खंड

वर्ष 1924-25 के सांप्रदायिक दंगों से, पाँचवाँ गाँधी इर्विन पैक्ट से, छठा पूना-समझौते से, सातवाँ प्रेमचंद के बंबई से लौटने से और आठवाँ प्रेमचंद और गाँधी के संयुक्त सहयोग से *हंस* के प्रकाशन से; परंतु इस विचार की अव्यावहारिकता, तथा खंडों की असंभव एकरूपता के कारण इस विचार को छोड़ देना पड़ा। प्रेमचंद की कहानियाँ विभिन्न भाव-बोध एवं संवेदनाओं की कहानियाँ हैं तथा युग की घटनाओं तथा समस्याओं ने भी कहानी-रचना को प्रभावित किया है, अतः खंडों को विभाजित करने का कोई एक ही आधार नहीं हो सकता। अतः यही एक आधार उचित प्रतीत हुआ कि संपूर्ण कहानियों को छह खंडों में विभाजित किया जाए और आकार-प्रकार में लगभग एकरूपता रखी जाए, परंतु इसका ध्यान रखा जाए कि किसी एक वर्ष की कहानियाँ दो खंडों में न चली जाएँ। अंत में, साहित्य अकादेमी की स्वीकृति से 298 उपलब्ध कहानियों को निम्नलिखित छह खंडों में विभक्त करके यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

1.	खंड : एक	=	1908 से 1915 तक (50 कहानियाँ)
2.	खंड : दो	=	1916 से 1921 तक (49 कहानियाँ)
3.	खंड : तीन	=	1922 से 1925 तक (52 कहानियाँ)
4.	खंड : चार	=	1926 से 1928 तक (44 कहानियाँ)
5.	खंड : पाँच	=	1929 से 1931 तक (44 कहानियाँ)
6.	खंड : छह	=	1932 से 1936 तक (59 कहानियाँ)

इस प्रथम खंड में वर्ष 1908 से 1915 तक की 50 कहानियाँ दी जा रही हैं, जिनके संबंध में कुछ तथ्यों के साथ इन आरंभिक कहानियों की प्रेरणाओं, संवेदनाओं, सरोकारों आदि के संबंध में चर्चा करना उचित होगा। इसके बाद जो शेष पाँच खंडों में संकलित कहानियाँ हैं, उनके संबंध में कुछ ऐसा ही विवेचन उन खंडों की भूमिकाओं में किया जाएगा। *प्रेमचंद : कहानी रचनावली* के इस प्रथम खंड की 50 कहानियों में 48 कहानियाँ उर्दू में तथा 2 कहानियाँ हिंदी में प्रकाशित हुईं, जिनमें अक्टूबर, 1914 से पहले की सभी 43 कहानियों की रचना उर्दू में हुई और वे उर्दू में ही पहली बार प्रकाशित हुईं। इन 43 आरंभिक उर्दू कहानियों में से केवल 15 कहानियों को प्रेमचंद ने हिंदी में भी प्रस्तुत किया और शेष 28 उर्दू कहानियों में 17 अमृतराय ने तथा 11 कमल किशोर गोयनका ने हिंदी लिपि में प्रकाशित कराया। इस काल-खंड की एक उर्दू कहानी 'सौदा-ए-ख़ाम' (*हमदर्द*, अगस्त, 1914) अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इन कहानियों का एक बड़ा सत्य यह भी है कि 50 में से 46 कहानियाँ उर्दू-हिंदी पत्रिकाओं में छपीं; *ज़माना* उर्दू मासिक में 33, *अदीब* उर्दू मासिक में 6, *हमदर्द* में 4 तथा 1 *ख़तीब* में एवं हिंदी में प्रकाशित दो कहानियाँ–'परीक्षा' *प्रताप* साप्ताहिक एवं 'सौत' *सरस्वती* हिंदी मासिक में छपीं। *सोज़ेवतन* (जून, 1908) उर्दू कहानी-संग्रह से चार ऐसी कहानियाँ इस काल-खंड में आई हैं, जिनके संबंध में

ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते कि वे किसी उर्दू पत्र-पत्रिका में छपी थीं, किंतु इन आरंभिक कहानियों के संबंध में यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद इसके महत्त्व को जानते थे कि कहानी पहले पत्र-पत्रिका में छपनी चाहिए तथा उसके बाद कहानी-संग्रह में आनी चाहिए। कहानी का जो रिश्ता पाठक से बनता है, उसकी शुरुआत पत्र-पत्रिकाओं से ही होती है और पाठकों के व्यापक वर्ग तक पहुँचने का रास्ता भी पत्र-पत्रिकाओं से ही जाता है। इस काल-खंड (1908-15) में *ज़माना* उर्दू मासिक पत्रिका में 66% कहानियाँ छपी हैं, जिससे उसके योगदान को आसानी से समझा जा सकता है। *ज़माना* प्रेमचंद की पहली पसंद थी और वे अपनी उर्दू कहानी, लेख तथा पुस्तक-समीक्षाएँ उसे ही भेजते थे। उन्होंने एक बार लिखा भी था कि उर्दू अफ़सानों पर पहला हक़ *ज़माना* का है। इस प्रकार प्रेमचंद की उर्दू में पहचान बनाने तथा उन्हें ख्याति दिलाने में पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

प्रेमचंद : कहानी रचनावली के इस प्रथम खंड में उनके आरंभिक आठ वर्षों में प्रकाशित पचास कहानियाँ संगृहीत हैं। ये आरंभिक काल की कहानियाँ हैं, इस कारण इनका महत्त्व इसलिए कम नहीं होता कि इनमें नौसिखिए एवं अनाड़ी कहानीकार की दुर्बलताएँ होंगी, बल्कि उन दुर्बलताओं और कमज़ोरियों के बावजूद इनकी रचना एवं लेखकीय दृष्टि में एक प्रौढ़ कहानीकार का शिल्प-कौशल दिखाई देता है। इसका मूल कारण यह है कि प्रेमचंद के कहानीकार की बुनियाद व्यापक अध्ययन और अनुभव पर स्थित थी। उन्होंने उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेज़ी भाषाओं के माध्यम से अरबी-फ़ारसी, संस्कृत तथा योरोपीय कथा-संसार का व्यापकता से अध्ययन किया था और वे फ़ारसी, संस्कृत तथा योरोपीय कहानी-परंपराओं के गुणावगुणों से परिचित हो चुके थे। इससे उन्हें भारतीय और पश्चिम तथा नई और पुरानी कहानी का अंतर ज्ञात हुआ और इससे उन्हें अपनी कहानी-कला को आविष्कृत करना आसान हो गया। वह नवजागरण का समय था और जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में पूर्व-पश्चिम का द्वंद्व था और देश पश्चिमीकरण के विरोध में था। प्रेमचंद की दृष्टि भी इससे भिन्न नहीं थी, किंतु उनका विश्वास था कि कहानी का वर्तमान रूप पश्चिम से ही आया है। उनके विचार में, नवीनता की भूख एक ओर साहित्य की प्राचीन मर्यादाओं को निषिद्ध एवं वर्जित करके उनकी बेड़ियों को तोड़ रही थी और दूसरी ओर वह साहित्य में क्रांति ला रही थी। प्रेमचंद की दृष्टि साफ़ थी कि यह क्रांति भारतीय परिवेश तथा भारतीयता के ताने-बाने में ही हो सकती थी। उन्होंने *प्रेम-द्वादशी* (1926) की भूमिका में लिखा था कि योरप की दृष्टि सुंदर, मनोरंजन और यथार्थ पर है, क्योंकि वह संपन्न है; भारत की दृष्टि सत्य, नीति और धर्म पर है, क्योंकि भारत पराधीन है और हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से ऊँची है। योरप जीवन-संग्राम में हम आदर्शवादियों से भले ही बाज़ी ले जाएँ, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। अतः साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी होगी। हमने उपन्यास और गल्प

का कलेवर योरप से लिया है, परंतु उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहनी चाहिए।[1] प्रेमचंद ने आरंभ से ही अपनी कहानी-यात्रा में नवजागरण के इस मूल मंत्र को समझ लिया था कि विदेशी दवाब और प्रभाव के बावजूद कहानी में भी भारतीय आत्मा सुरक्षित रहना अत्यावश्यक है और इसी को ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी कहानी-कला को रूप दिया और अपनी आरंभिक कहानियों में दुर्वलताओं के बावजूद भारतीय जीवन और चेतना के विविध चित्र अंकित किए।

इस प्रथम खंड की आरंभिक पचास कहानियों में इसी कारण जीवन का वैविध्यपूर्ण रूप मिलता है, जो उनकी संवेदनाओं, सरोकारों तथा जीवन-दृष्टि को व्यापक बनाते हुए जीवन को समग्रता से जोड़ता है। प्रेमचंद के कहानी आलोचकों ने प्रायः इस काल-खंड की चर्चा में उनकी देश-प्रेम एवं ऐतिहासिक कहानियों का ही विवेचन किया है, जिसके कारण उनकी आरंभिक कहानियों का वास्तविक बिम्ब उभर नहीं पाता और लेखक की जीवन को व्यापकता के साथ चित्रित करने की क्षमता अज्ञात बनी रहती है। प्रेमचंद इन कहानियों में देश-भक्ति, इतिहास के साथ शताब्दियों से पीड़ित स्त्री, किसान एवं दलितों के जीवन में झाँकते हैं, नैतिक मूल्यों एवं आदर्श जीवन के चित्र अंकित करते हैं, घर-परिवार की कहानी कहते हैं, पश्चिमी शिक्षा के दुष्परिणामों से सावधान करते हैं तथा हिंदू समाज की बुराइयों एवं अच्छाइयों का चित्रण करते हैं। युग का नवजागरण उन्हें व्यक्ति, समाज एवं देश के अधिकांश क्षेत्रों में ले जा रहा था और वे अपनी कहानियों से पाठकों को राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना तथा नैतिक एवं भारतीय सरोकारों का संस्कार दे रहे थे। प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (10 अप्रैल, 1936) के अधिवेशन में दिए व्याख्यान में पीड़ित-शोषित-दमित वर्गों की वकालत करने, जीवन की सचाइयों के उद्घाटन से भावों-विचारों में गति उत्पन्न करने, मन का संस्कार करने, ऊँचे आदर्शों एवं हृदय-परिवर्तन से प्रतिबद्ध होने, धर्म एवं नीतिशास्त्र के कार्यों को साहित्य में सौंदर्य-प्रेम से करने, पाठक की दृष्टि एवं सामाजिक परिधि का विस्तार करने तथा आध्यात्मिक अनुभूति पर जो बल दिया था, उसका आरंभिक रूप इन पचास कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद की कहानी-यात्रा में जीवन, सरोकार तथा लेखन-दृष्टि की इस निरंतरता का अवलोकन एवं मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण होगा।

प्रेमचंद की कथा-यात्रा का आरंभ उपन्यास-रचना से होता है और कहानी में आने से पूर्व उनके चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे, जिनका संबंध प्रमुख रूप से मंदिरों में महंतों के भ्रष्टाचार तथा हिंदू विधवा के पुनर्विवाह से था। इस प्रकार वे धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं तक सीमित थे, परंतु कहानीकार के रूप में वे देश

---

1. *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-2, पृष्ठ 349

के व्यापक परिदृश्य को लेकर प्रकट हुए। उनका पहला उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़ेवतन* (जून, 1908) देश-प्रेम की कहानियों को लेकर आया, जो उस काल-खंड में उर्दू एवं हिंदी दोनों में ही एक नई चेतना का आविर्भाव था। वह समय ऐसा था जब देश में देश-भक्ति, अस्मिता-बोध तथा स्वाधीनता एवं स्वदेशी का महामंत्र गूँज रहा था। स्वामी विवेकानंद ने अमेरिका में भारत-भूमि को पवित्र तीर्थ की संज्ञा दी थी। *आनंद मठ* और बंग-भंग के कारण 'वंदेमातरम्' तथा 'भारत माता की जय' का उद्घोष सर्वत्र सुनाई देने लगा था और तिलक की स्वतंत्रता की कामना ने पूरे देश में इसकी आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी। प्रेमचंद ने लिखा कि 1904-05 में रूस पर जापान की जीत ने हिंदुस्तानियों के मन में आज़ादी की नई इच्छा उत्पन्न कर दी तथा बंगाल के विभाजन ने उन्हें देश-प्रेम की कहानियाँ लिखने को प्रेरित किया। *सोज़ेवतन* कहानी-संग्रह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के इसी देश-प्रेम, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की तीव्र कामना का विस्फोट था। महात्मा गाँधी ने ऐसा ही विस्फोट *हिंद स्वराज* (1909) तथा मैथिलीशरण गुप्त ने *भारत-दुर्दशा* (1912) की रचना करके किया था। *सोज़ेवतन* (जून, 1908) की देश-प्रेम की कहानियों के कारण कई ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाएँ घटीं—*सोज़ेवतन* को राजद्रोहात्मक मानकर सरकार ने उसे ज़ब्त करके अग्नि को अर्पित किया, धनपतराय ने 'प्रेमचंद' नाम ग्रहण किया, *सरस्वती* (दिसंबर, 1908) में समीक्षा के प्रकाशन से इसकी उर्दू कहानियाँ हिंदी पाठकों तक पहुँचीं और उर्दू-हिंदी का मिलन-बिन्दु बना, कहानी को युग सत्य से जोड़कर उसे आधुनिक बनाते हुए एक नई संवेदना, नई रचना-दृष्टि और नए रचना-शिल्प का उद्भावक बना तथा कहानी के आधुनिक शास्त्र को रूप दिया। इस कहानी-संग्रह में 'सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम', 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'शेख़ मख़मूर' तथा 'यही मेरी मातृभूमि' ऐसी चार कहानियाँ हैं, जिनमें देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, स्वराज्य-आकांक्षा तथा भारत-गौरव की प्रबल चेतना है। कुछ आलोचकों के विचार में इन कहानियों में रोमानीपन तथा भावुकता एवं कल्पना का प्राधान्य हैं, परंतु ये युग-चेतना का प्रतिफल हैं और भारत राष्ट्र की आकांक्षा की प्रतिबिंब हैं और वैसे भी कोई रचना भावनाशून्य तथा कल्पनाहीन कैसे हो सकती है? इस कहानी-संग्रह की तीन कहानियाँ तो विदेशी पात्रों के देश-प्रेम तथा राष्ट्र-गौरव पर हैं, जिसके मूल में लेखक का यही उद्देश्य है कि पाठकों को विश्वास हो सके कि देश-प्रेम और स्वाधीनता की कामना करना कोई नई बात नहीं है और न भयभीत होने की आवश्यकता है, क्योंकि भारत से पहले अन्य देशों में देश-प्रेम की ज्वाला जल चुकी थी। ये विदेशी पात्र यह संदेश देते हैं कि देश की हिफ़ाजत में बहने वाले ख़ून की आख़िरी बूँद ही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है तथा देश के लिए प्राणों का बलिदान करने वाला ही सच्चा देश-भक्त है।

प्रेमचंद तथा उनके समकालीन लेखक देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय जागरण के लिए इतिहास-पुराण तथा महाकाव्यों के राष्ट्र नायकों एवं इतिहास-पुरुषों की गौरवपूर्ण

गाथाओं तथा उनके उच्च कोटि के मानवीय गुणों की साहित्य में अभिव्यक्ति कर रहे थे। पराधीनता और पराभव के काल में ऐसे ही शौर्य, वीरता, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग आदि प्रसंगोंवाले चरित्र ही लोकमानस से हीनता-ग्रंथि को निकालकर देश की स्वाधीनता के लिए सन्नद्ध कर सकते थे। देश के सुपुष्ट जन-मानस में जातीय स्मृति को जगाने की आवश्यकता थी, जो दासता की बर्बरता, क्रूरता तथा शोषण के कारण धुँधलके से ढक गई थी। इसी कारण प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास *रूठी रानी* (1907) का उर्दू में अनुवाद किया और 'राणा प्रताप' (नवंबर, 1906), 'राजा टोडरमल' (अक्टूबर, 1905), 'स्वामी विवेकानंद' (मई-जून, 1908) जैसे लेख लिखे। उन्होंने 'राणा प्रताप' शीर्षक लेख में प्रताप के स्वदेश-प्रेम तथा स्वाधीनता-संघर्ष की भरपूर प्रशंसा के बाद लिखा कि इस राजपूत की जीवन-कथा से सच्ची आज़ादी का सबक़ सीखा जा सकता है।[1] उन्होंने इसी राष्ट्रीय उद्देश्य के निमित्त बुंदेलखंड के राजपूतों के शौर्य, वीरता, बलिदान, शरणागत की रक्षा, प्रण-प्रतिज्ञा, सतीत्व-रक्षा आदि आदर्शों से पूर्ण कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'रानी सारंधा' (अगस्त-सितंबर, 1910) 'राजा हरदौल' (अप्रैल, 1911) तथा 'आल्हा' (जनवरी, 1912) पाठकों में बहुत लोकप्रिय हुईं। इन कहानियों ने भारतीयों के मन में अपने अतीत के प्रति गौरव और आदर्शों के प्रति आस्था का भाव उत्पन्न किया तथा कहानियों के पात्रों के स्वदेश-भक्ति, स्वाधीनता एवं सिद्धान्त-प्रेम, आत्म-बल और आत्मोत्सर्ग से उन्हें विश्वास जगा कि वे भी इन गुणों से भारत माता की दासता की ज़ंजीरों को तोड़ सकते हैं। इस काल-खंड की कुछ कहानियों में राम, कृष्ण, शिव, इंद्र, ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सीता, द्रौपदी, चैतन्य, गोविन्द, सुदामा आदि अन्य पात्रों का उल्लेख है जो अतीत के गौरव के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए है। यह प्रेमचंद का विवेक-सम्मत इतिहास-बोध है, जो किसी धार्मिक पुनरुत्थान के लिए न होकर स्वाभिमान एवं स्वतंत्रता की कामना के लिए है। अतः इन कहानियों में 'हिंदू पुनरुत्थानवाद', 'अंध राष्ट्रवाद' तथा 'परंपरा मोह' देखना प्रेमचंद के स्वराज्य-दर्शन के प्रति अज्ञानता का सूचक है तथा उनका अवमूल्यन करना है। वे अतीत का उपयोग वर्तमान के लिए करते हैं। देश के स्वाधीनता-संघर्ष में वर्तमान की जागृति आवश्यक है। उनके इतिहास-रस की यही आधार-भूमि और सार्थकता है।

इन आरंभिक कहानियों में नारी-चेतना तथा नारी-विमर्श एक प्रबल प्रवृत्ति के रूप में उभरते हैं। प्रेमचंद को अपने इस जीवन में अपनी पहली पत्नी एवं विमाता से काफ़ी कष्ट सहने पड़े थे और स्वामी दयानंद के प्रभाव से देश में नारी-जागृति का वातावरण बन ही चुका था। कहानी के क्षेत्र में प्रवेश से पहले प्रेमचंद का दूसरा विवाह हुआ था और यह उनका यौवन-काल भी था, अतः स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंधों तथा

---

1. *प्रेमचंद : बाल साहित्य समग्र,* संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृष्ठ 211-19

घर-परिवार की विभिन्न कथाओं का आना अत्यंत स्वाभाविक था। आज का कोई लेखक होता तो रोमांस की कहानियाँ लिखता और यौन संबंधों के दृश्य उपस्थित करता, परंतु प्रेमचंद इस काल-खंड में युवक-युवती को प्रेमालाप एवं प्रेमानुभूतियों में निमग्न न दिखाकर उन्हें देश-प्रेम पर न्यौछावर कर रहे थे। 'सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम' (1908) कहानी में देश-प्रेम पर सांसारिक प्रेम अपना उत्सर्ग कर देता है और प्रेमी मैज़िनी देश के लिए अपनी प्रेमिका मैग्डलीन को अपनी 'हमदर्द बहन' बना लेता है और 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' (1908) की प्रेमिका दिलफ़रेब ऐसे प्रेमी को आत्म-समर्पण करती है, जो दुनिया के सबसे अनमोल रतन के रूप में देश पर बलिदान होने वाले ख़ून के आख़िरी क़तरे को लेकर आता है। यदि उसका प्रेमी दिलफिग़ार इसमें सफल नहीं होता तो उसकी प्रेमिका दिलफ़रेब उसे सूली पर चढ़ा देती। यह देश की जागृति, स्वत्व एवं दासता से मुक्ति के लिए था, जिसमें प्रेमी-प्रेमिका की निजी प्रेमानुभूतियों तथा मिलन-विरह के लिए कोई स्थान नहीं था। तब देश के लिए सब कुछ अर्पित करने का अवसर था। 'वरदान' (1912–तब इसका शीर्षक 'जलवए ईसार' था) की सुवामा 'कुबेर का धन', 'इंद्र का बल', 'सरस्वती की विद्या', 'माता-पिता का सेवक, विद्वान एवं बलवान' पुत्र न चाहकर 'देश का उपकार' करनेवाला सपूत बेटा चाहती है। यह उस युग का राष्ट्र-धर्म था और देश के उत्थान और जागृति की अनिवार्य शर्त थी, और लगभग इसी राष्ट्रीय नैतिकता को ध्यान में रखकर प्रेमचंद पति-पत्नी, स्त्री-पुरुष, प्रेमी-प्रेमिका को स्वच्छंद एवं नैतिकताविहीन संबंधों से बचाने के लिए प्रयत्नशील थे। प्रेमचंद की इन आरंभिक कहानियों में प्रेम के कई रूप मिलते हैं—एक तो यही कि देश-प्रेम पर सांसारिक प्रेम समर्पित है, विवाहित स्त्री-पुरुष का अन्य स्त्री-पुरुष से प्रेम 'घृणा और पाप' है ('धर्म-संकट', 1913), पुरुष का स्त्री को प्रेम-जाल में फँसाना अपराध है और उसमें प्रेमी की हत्या भी उचित है ('अपनी करनी', 1914 एवं 'विस्मृति', 1915) और इसी कारण 'विक्रमादित्य का तेगा' (1911) कहानी में सीता और द्रौपदी के सतीत्व की रक्षा में युद्ध होने का उल्लेख है तथा 'राजा हरदौल' (1911) में भाभी के सतीत्व को निष्कलंक सिद्ध करने के लिए छत्रसाल द्वारा विष-भरा पान खाने का प्रसंग है, प्रेम के त्रिकोण में विवाहित पुरुष की प्रेमिका अपने प्रेम का बलिदान करके अपने प्रेमी को उसकी पत्नी से मिलाने की घटना है (शोक का पुरस्कार, 1908), पत्नी ही प्रेमिका बनकर पति को जीतती है (नसीहतों का दफ़्तर, 1912 तथा त्रिया-चरित्र, 1913) तथा वेश्या-प्रेम पतन का कारण है (ग़ैरत की कटार, 1915)। यह प्रेमचंद का प्रेम-दर्शन है, जिसमें प्रेम 'अमृत की बूँद' है, 'रूह की ख़ुराक' है और 'आत्मिक वरदान' है (अमृत, 1913)। इसलिए प्रेमचंद स्त्री की पवित्रता, लज्जा, सेवा-भाव आदि की रक्षा करते हैं। 'धर्म-संकट' (1913) में प्रेमी रूपचंद अपनी प्रेमिका कामिनी के झूठे बयान के बावजूद उसकी लाज की रक्षा के लिए दंडित होना स्वीकार करता है। प्रेमचंद इसी कारण

'विस्मृति' (1915) कहानी में स्त्री की मर्यादा, लज्जा, पवित्रता की रक्षा का दायित्व पुरुष को सौंपते हुए कहते हैं, "स्त्रियाँ ही कुल की मर्यादा की संपत्ति होती हैं। मर्द उसके रक्षक होते हैं। जब इस संपत्ति पर कपट का हाथ उठे तो मर्दों का धर्म है कि रक्षा करें। इस पूँजी को अदालत का क़ानून, परमात्मा का भय या सद्विचार नहीं बचा सकता।" उस युग की 'अबला' स्त्री की रक्षा के निमित्त यह मध्ययुगीन विचार ही उपयुक्त था कि पुरुष पर स्त्री की मर्यादा को सुरक्षित रखने का भार हो। प्रेमचंद के इस नारी-दर्शन में पति-पत्नी, सास-बहू, देवर-भाभी, भाई-बहन, सौत-सौत आदि के परस्पर संबंधों और उनमें होने वाले तनावों का भी बड़े वास्तविक रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ है। इनमें सतीत्व और सेवा सर्वोपरि है, संयुक्त परिवार प्रणाली की रक्षा है, सुखी परिवार के लिए पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति समर्पण है, पति के पर-स्त्री से प्रेम पर पत्नी में क्षमा-भाव है तथा एक अनाथ लड़की का अपने संकल्प, कर्मशीलता और उत्साह से एक सेठ की पुत्र-वधू बनने की यात्रा है और एक अशिक्षित नौकरानी मुनिया के शब्दों में पति-परमेश्वर की सत्ता को चुनौती है, "मैं पति की लौंडी नहीं हूँ, वह मेरा गुलाम है तो मैं उसकी लौंडी हूँ। वह मर्द का बच्चा है, मेहनत करता है तो उसे पहले खिलाती है, परंतु उसकी धौंस क्यों सहूँ? जो बैठकर खाए, वह धौंस सहे। यहाँ तो बराबर की कमाई करती हूँ, मर्द काम करता है तो रात को छुट्टी मिल जाती है, पर औरत को तो रात में भी छुट्टी नहीं मिलती।" इस तरह प्रेमचंद स्त्री का एक रूप गढ़ते हैं, जिसमें परंपरागत स्त्री का चरित्र प्रमुख है और वह पति एवं परिवार से बँधी है और पति की उच्छृंखलताओं और पर-स्त्री प्रेम पर विद्रोहिणी नहीं बनती, इसलिए कि वह परिवार को तोड़ना नहीं जोड़ना चाहती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्त्री के इसी युग-धर्म के संबंध में बलिया वाले भाषण (1889) में कहा था, "लड़कियों को भी पढ़ाइए, किंतु इस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देय और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें, और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"[1] प्रेमचंद घर-परिवार की रक्षा करते हैं, क्योंकि वही संस्कृति का केंद्र है, इसलिए प्रेमिकाएँ भी अपने प्रेमी की पत्नी के रास्ते से हट जाती हैं। 'शिकार' कहानी की मुनिया नए युग की नई स्त्री की आवाज़ है। वह आर्थिक रूप से पति पर आश्रित नहीं है, अतः वह पति को परमेश्वर नहीं मानती। कुछ स्त्रियाँ शिक्षित हैं और घर से बाहर निकलती हैं और प्रेम करती हैं। यह नए युग का प्रभाव है। उसने कुछ क़दम आगे बढ़ाए हैं और समय स्त्री को बदल रहा है।

इन कहानियों में पुरुष-सत्ता का स्पष्ट वर्चस्व है और स्त्री पुरुष की अनुगामिनी है और वह प्रेम, सेवा, त्याग तथा समर्पण से घर-परिवार में अपना स्थान बनाए रखती

---

1. *भारतेंदु हरिश्चंद्र : प्रतिनिधि संकलन*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पृष्ठ 107

है। वह अभी इतनी शक्ति-संपन्न एवं स्वतंत्र नहीं हो पाई है कि पुरुष से मुक्त होकर अपना रास्ता बना ले, परंतु इन प्रवृत्तियों का बीजीकरण होने लगा है। किसान और दलित की दुर्दशा स्त्री से अधिक भयानक है। स्त्री के पास घर-परिवार, पति आदि का कुछ तो सहारा है, लेकिन किसान और दलित के पास ऐसा कोई अवलंब नहीं है। प्रेमचंद गाँव में जन्मे थे और गाँव के सुख-दुःख तथा किसान की ज़िंदगी की सही तस्वीर उनकी आँखों के सामने थी। उनका गाँव के प्रति एक अनुराग था और शहरी जीवन उन्हें रुचिकर नहीं था। प्रेमचंद ने 9 जुलाई, 1936 को उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को पत्र में लिखा था, "अगर आदमी का क़ाबू हो तो किसी देहात में जा बैठे। दो जानवर पाल ले, कुछ खेती कर ले और ज़िंदगी गाँव वालों की ख़िदमत में गुज़ार दे।"[1] यह अनुभूति उनकी आरंभ से ही थी और उनकी आत्मा में गाँव बसता था। यही कारण है कि उनकी आरंभिक कहानियों से ही उनकी ग्राम-चेतना के दर्शन होते हैं। उनकी ऐसी दस कहानियाँ इस आरंभिक काल-खंड (1908-1915) में मिलती हैं—'नेकी' (1910), 'दोनों तरफ़ से' (1911), 'ग़रीब की हाय' (1911), 'शंखनाद' (1912), 'अंधेर' (1913), 'सिर्फ़ एक आवाज़' (1913), 'बाँका ज़मींदार' (1913), 'ख़ून सफ़ेद' (1914), 'पछतावा' (1914) तथा 'परीक्षा' (1914)। इन कहानियों में गाँव और किसान की दुर्दशा, किसान का मुखिया-पुलिस द्वारा शोषण, गाँवों की परस्पर प्रतिद्वंद्विता, किसान का स्वाभिमान और अकाल पीड़ित होने पर मज़दूर बनना, मुंशी-मुख़्तारों द्वारा दुर्बलों का धन हड़पना, शहर के शिक्षितों तथा समाज-सुधारकों द्वारा दलित किसानों के उत्थान के प्रयास तथा ज़मींदार के हिंसक गुंडों का किसानों द्वारा सामना करने जैसी वास्तविक घटनाएँ मिलती हैं, जो गाँव की ज़िंदगी का एक जीवंत दृश्य निर्मित करती हैं। इन कहानियों में किसान का चरित्र अनेक गुणों से संपन्न है। 'नेकी' (1910) में ठाकुर तख़्तसिंह प्राण त्यागकर भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करता है, *अंधेर* में गोपाल का शोषण मुखिया और पुलिस करती है तो वह विरोध करता है और इस प्रकार *प्रेमाश्रम* के बलराज और *गोदान* के गोबर का पूर्वज बनता है, 'सिर्फ़ एक आवाज़' में गाँव का किसान ही दलितोद्धार की प्रतिज्ञा करके समाज-सुधार में अग्रणी बनता है, 'पछतावा' में किसान सद्भाव, दयालुता तथा मेलजोल पर स्वेच्छा से माल-गुजारी देने लगते हैं और 'बेटी का धन' में बेटी के धन को लेना पाप समझते हैं। 'बाँका ज़मींदार' (1913) में किसान ज़मींदार के सशस्त्र 'गुंडों', शोहदों तथा लठैतों का सीधा सामना करते हैं और उन्हें पराजित करते हैं। किसान पहली बार किसी कहानी में ज़मींदार के अन्याय, अपमान आदि के विरुद्ध संघर्ष करते हैं और अधिकारों की रक्षा के लिए सीधी मुठभेड़ करते हैं और ज़मींदार ऐसे मर्द किसानों को ज़मीन का मालिक बना देता है। इस कहानी से पहले 'दोनों

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 67

तरफ़ से' (1911) में शिक्षित ज़मींदार दलितों के गाँव में जाकर सुधार के कार्य शुरू कर चुका है। ये दोनों स्थितियाँ रूस की बोलशेविक क्रांति (1917) तथा गाँधी के अछूतोद्धार आंदोलन से पूर्व की हैं, जिससे स्पष्ट है कि प्रेमचंद मार्क्स तथा गाँधी से प्रेरित होकर इस ओर नहीं बढ़े थे, बल्कि उनके संस्कार, सोच एवं सरोकार के कारण उनकी सहज प्रवृत्ति गाँव और किसान की ओर थी। गाँधी के किसान आंदोलन—'चंपारन किसान आंदोलन' (1917) तथा 'खेड़ा सत्याग्रह' (1918) तो काफ़ी बाद की घटनाएँ हैं। वे वास्तव में, कहानी में गाँव और किसान की दुर्दशा, उसकी सुधाराकांक्षा, अन्याय के प्रतिकार तथा उसके मानवीय गुणों को प्रकाशित करके भारतीय आत्मा से पाठकों का साक्षात्कार करा रहे थे। प्रेमचंद ने राम, कृष्ण आदि को कहानी का नायक न बनाकर गाँव के अपढ़, दुर्बल एवं पीड़ित किसान को केंद्र में लाकर कहानी की दिशा बदल दी और इस प्रकार देवी-देवताओं के स्थान पर साधारण व्यक्ति को लाकर कहानी को देश की ज़मीन से जोड़कर एक नए प्रकार की साहित्यिक क्रांति की। स्वामी विवेकानंद की दलित-चेतना का प्रभाव उनकी 'दोनों तरफ़ से' (1911) तथा 'सिर्फ़ एक आवाज़' (1913) में मिलता है। विवेकानंद ने दलितोद्धार का शंखनाद करते हुए ब्राह्मण-पुरोहितवाद के नाश की घोषणा की और कहा कि उच्च जाति के लोग गाँवों में जाकर किसान, श्रमिक तथा निम्न जातियों के साथ घुलमिलकर उनकी अज्ञानता, दरिद्रता आदि को दूर करें और उनके मनुष्यत्व को जागृत करें।[1] ये दोनों कहानियाँ इसी दलित चेतना का प्रतिफल हैं। प्रेमचंद इस प्रकार दलित चेतना के नए आयाम को खोलते हैं और युग-चेतना के अनुरूप उनमें उत्थान की इच्छा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार वे स्त्री, किसान और दलित के पक्षधर होकर उन्हें मुख्यधारा का अंग बनाते हैं और उनमें नए जीवन की आकांक्षा उत्पन्न करते हैं और मानवता के इन आहत, पीड़ित तथा शोषित वर्गों का कहानी में पहली बार उद्घाटन करके हिंदी कहानी के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने का श्रेय प्राप्त करते हैं।

प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अपने भाषण (10 अप्रैल, 1936) में समाज के पीड़ित, शोषित तथा दमित वर्गों की वकालत करने का जो दावा किया था, वह उनके आरंभिक काल की कहानियों से ही शुरू हो जाता है। समाज के सबसे अधिक दुर्बल और असहाय लोगों के प्रति उनकी लेखकीय संवेदना इन कहानियों में दो प्रकार से व्यक्त हुई है—एक, समाज के पीड़ित वर्गों को वाणी देकर और उन्हें उनकी दुःखद परिस्थितियों से निकालकर नवजागरण की चेतना से जोड़कर; दो, समाज के इन साधारण-जनों के जो अपराधी हैं उनका संहार कर। यह दूसरा पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि ऐसे अपराधियों के नाश के बिना सामान्य मनुष्यों का

---

1. *विवेकानंद रचनावली*-खंड-5, पृष्ठ 118-90 तथा *जाति, संस्कृति और समाजवाद*, पृष्ठ 22, 42, 86-87

शोषण तथा दमन कभी समाप्त नहीं हो सकता। इसके लिए प्रेमचंद 'शिकारी राजकुमार' (1914) जैसी कहानी की रचना करते हैं, जिस पर बंकिम के *आनंदमठ* का प्रभाव दिखाई देता है। कहानी में एक राजकुमार शिकार करते समय जंगल में भटक जाता है और उसकी भेंट एक संन्यासी से होती है। संन्यासी राजकुमार से मूक पशुओं के स्थान पर हिंसक मनुष्यों का आखेट करने को कहता है और वह इसके लिए डाकू-लुटेरों, विलासप्रिय महंत तथा रिश्वतख़ोर सूबेदार की काली-करतूतें राजकुमार को दिखाता है। वास्तविक अपराधी ये हैं और इनके नाश से ही 'दीनों की रक्षा' हो सकती है। संन्यासी राजकुमार से कहता है, "सच्चा साहस और सच्ची बहादुरी दीनों की रक्षा और उनकी सहायता करने में है। निःशब्द पशुओं का वध न करके तुमको उन हिंसकों के पीछे दौड़ना चाहिए जो धोखाधड़ी से दूसरों का वध करते हैं। ऐसे आखेट करो जिससे तुम्हारी आत्मा को शांति मिले।" इस कहानी में जो तीन अपराधी हैं, उनमें दो का संबंध अंग्रेज़ी शासन व्यवस्था से तथा एक का संबंध हिंदू धर्म-स्थल से है। अंग्रेज़ी शासन डाकू-लुटेरों से दीन-दुःखियों की रक्षा नहीं कर पाता, सूबेदार रिश्वत के बिना कोई काम नहीं करता और मंदिरों के महंत तो विलास में डूबे हैं। प्रेमचंद की यह एकमात्र ऐसी कहानी है, जिसमें वे समाज के ऐसे अपराधियों का वध करने की प्रेरणा देते हैं। इस कहानी को कोई फ़ैंटेसी ही कहे, परंतु इसमें प्रेमचंद साधारण जनता के अपराधियों के समूल नाश का आह्वान करते हैं। यह कार्य तो कोई राजा, राजकुमार या शासक ही कर सकता है और इसी कारण वे एक राजकुमार को इनके आखेट के लिए चुनते हैं। इस कहानी के बाद प्रेमचंद ऐसी कोई दूसरी कहानी नहीं लिख पाए, संभवतः इसलिए कि वे दक्षिण अफ़्रीका से गाँधी के आगमन के बाद उनकी अहिंसा-सत्याग्रह वाली नीति के अनुयायी बन गए थे। फिर भी, यह कहानी उनकी वैचारिक यात्रा में एक ऐसा स्थल है जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इन आरंभिक कहानियों में लेखक की नैतिक दृष्टि, जीवन-मूल्य, आदर्शवाद तथा पात्रों का हृदय-परिवर्तन बड़े सहज और शक्ति के रूप में जन्म लेता है। यह इतना स्वायत्त है कि कहानी का अंग बनकर आता है और कहीं आरोपण अथवा कृत्रिमता का आभास नहीं होता। लेखक की मनोरचना तथा लेखकीय दृष्टि युग की आदर्श चेतना से ही हुई थी कि भारत के प्राचीन जीवन-मूल्य, सांस्कृतिक अवधारणाएँ तथा परमार्थ दृष्टि पश्चिमी सभ्यता से श्रेष्ठ है। युग की यह नवजागरण चेतना प्रेमचंद के अंतस् में समायी थी, इसलिए उन्होंने इस समय में दो कार्य किए—एक, रीतिकालीन भोग-विलास, कामुकता, अश्लीलता एवं पतनशील प्रवृत्तियों को युग चेतना के विपरीत घोषित किया; दूसरे, उन्होंने अंग्रेज़ों की रीति-नीति, शिक्षा-दीक्षा तथा श्रेष्ठता के अहंकार को ध्वस्त करते हुए भारत की परंपरागत नैतिकता, जीवन-मूल्य और आदर्शवाद की कहानियाँ रचकर नवजागरण को पुष्ट किया तथा भारतीयों के मन में हीनता-बोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि

'स्व' का त्याग, निःस्वार्थता, परोपकार, दूसरों की मंगल-साधना में सुख की खोज के विचार नैतिक हैं तथा स्वार्थपरता, दूसरों की संपत्ति के प्रति लोलुपता तथा दूसरों की सुख-सुविधा की बलि देकर अपना अभ्युदय करना अनैतिक है। उनका मंत्र था—"भला करो, भले बनो।" युग के नवजागरण में ग्रहणशीलता एवं वर्जनशीलता दोनों ही प्रवृत्ति थीं। वर्जनशीलता के मूल में भी ग्रहणशील आदर्श तथा जीवन-मूल्य की श्रेष्ठता दिखाने का भाव था। संभवतः इसी कारण इस काल की अधिकांश कहानियों में ग्रहणशील और वर्जनशील तत्त्वों का संघर्ष है—एक ओर देश-प्रेम है तो दूसरी ओर सांसारिक प्रेम; एक ओर अमेरिका का विलासी जीवन है तो दूसरी ओर गंगा माता का सान्निध्य है; एक ओर संयुक्त परिवार है तो दूसरी ओर एकल परिवार; एक ओर धर्म और न्याय है तो दूसरी ओर धन और अन्याय है; एक ओर दासता है तो दूसरी ओर प्रतिरोध एवं स्वाभिमान-रक्षा; एक ओर सेवा है तो दूसरी ओर स्वार्थपरता; एक ओर प्रेम है तो दूसरी ओर बिरादरी का भय और इन विपरीत भावों, विचारों, परिस्थितियों और मूल्यों के द्वंद्व में लेखक देश-प्रेम, संयुक्त परिवार, धर्म, न्याय, प्रतिरोध, सेवा आदि ग्रहणशील तत्त्वों के साथ अपने पात्रों और प्रतिपाद्य को जोड़ देता है। इस प्रकार प्रेमचंद इस काल में इन दोनों प्रवृत्तियों को कहानियों की आधार-भूमि बनाते हैं और उसमें जीवन के सार्थक पक्षों को खोजते और जीवन में ग्रहण करने योग्य जीवन-मूल्यों तथा उदात्त तत्त्वों को स्थापित करते हैं। उनकी देश-भक्तिपूर्ण एवं इतिहास की गौरवपूर्ण कहानियों के मूल में भी देश-भक्ति और अतीत के शौर्य, बलिदान, त्याग, साहस आदि श्रेष्ठ जीवन-तत्त्वों को आत्मसात् करने का ही भाव है। देश के लिए आत्मोत्सर्ग आदि का मूल्य सार्वकालिक और सार्वदेशिक है और दासत्व से मुक्ति के लिए तो ऐसे आदर्शों के बिना कुछ भी संभव नहीं है। समाज का मानसिक उत्थान, उसका परिष्कार तथा हीनता-ग्रंथि से मुक्ति परंपरागत सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से ही हो सकती थी। इस दृष्टि से उनकी 'नेकी' (1910), 'ग़रीब की हाय' (1911), 'कैफ़रे कर्दार' (1912), 'अमावस्या की रात्रि' (1913), 'धर्म-संकट' (1913), 'नमक का दारोग़ा' (1913), 'मिलाप' (1913), 'अपनी करनी' (1914), 'परीक्षा' (1914), 'पछतावा' (1914), 'कर्मों का फल' (1915), 'बेटी का धन' (1915) आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। 'नेकी' कहानी का किसान ठाकुर तख़्तसिंह ज़मींदार के अत्याचार एवं अनीति से अपने स्वाभिमान की रक्षा करता है, *ग़रीब की हाय* में दूसरे के धन को हड़पने का दंड है, *अमावस्या की रात्रि* में पुरखों के ऋण को चुकाने का अद्भुत उदाहरण है, 'धर्म-संकट' में एक प्रेमी प्रेमिका की लाज की रक्षा के लिए स्वयं दंडित होता है और 'नमक का दारोग़ा' में धर्म और धन अर्थात् नैतिकता और अनैतिकता में आमने-सामने का द्वंद्व है, जिसमें पहले धन जीतता है लेकिन अंत में विजय नैतिक मूल्यों अर्थात् धर्म की होती है। प्रेमचंद ने धन की अनैतिकता को 'धन की दुश्मनी' के रूप में व्याख्यापित किया था। 'नेकी' में वे कह चुके थे कि सब नशों

से ज़्यादा घातक धन का नशा है। 'पछतावा' कहानी का दुर्गानाथ सत्यवादी और ईमानदार है और वह दीन किसानों की सेवा के लिए ही कम वेतन की नौकरी करता है और धर्म एवं सत्य पर चलकर किसानों के साथ ज़मींदार को भी बदल देता है। इस प्रकार प्रेमचंद कहीं सपाट रूप में और कहीं द्वंद्वात्मक रूप में जीवन के नैतिक मूल्यों की स्थापना करते हैं और इसके लिए वे पात्रों के व्यवहार, आचरण, सोच तथा मान्यताओं का सहारा लेते हैं। इस नैतिकता-बोध, मूल्य-बोध तथा हृदय-परिवर्तन में उनका 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' ही है जिसकी उन्होंने सिद्धांत के रूप में स्थापना काफ़ी बाद में की। अज्ञेय ने इसे प्रेमचंद का 'नैतिक यथार्थवाद' कहा है। इस काल-खंड की प्रायः वही कहानियाँ लोकप्रिय हुई जो नैतिक सरोकार तथा आदर्श चेतना से पूर्ण थीं और पाठकों को कोई-न-कोई संदेश दे सकीं। यह कहानीकार प्रेमचंद की शक्ति बनी, कहानी-कला की विशिष्टता बनी और लोकप्रियता का कारण बनी।

प्रेमचंद नवजागरण काल की उस पीढ़ी में जन्मे थे जिसने अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त की, लेकिन वह इस शिक्षा व्यवस्था में भारत की मानसिक और सांस्कृतिक गुलामी देख रही थी। यह दृष्टि देश के अधिकांश सुधारकों, धर्म-गुरुओं, विचारकों, नेताओं, पत्रकारों, लेखकों के साथ आम जनता की भी थी कि अंग्रेज़ अपनी शिक्षा-पद्धति से भारत को सदैव के लिए गुलाम बनाना चाहते हैं। गाँधी ने *हिंद स्वराज* (1909) में लिखा कि मेकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी और हमारा राष्ट्र गुलाम बन गया है। इस अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ पश्चिमी सभ्यता भारतीयों को अपने पाश में फाँस रही थी। गाँधी ने इस सभ्यता को 'शैतानी' और 'चांडाल' सभ्यता कहा और *हिंद स्वराज* में ही लिखा कि हिंदुस्तान अंग्रेज़ बनकर हिंदुस्तान नहीं रहेगा और उसका पतन हो जाएगा। प्रेमचंद लगभग दो दशकों तक शिक्षक रहे और उन्होंने स्वयं देखा कि अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा वर्ग किस तेज़ी से अंग्रेज़ी सभ्यता का दास होता जा रहा है और स्वराज्य आंदोलन के लिए बाधक बन रहा है। प्रेमचंद ने 'स्वदेशी आंदोलन' (16 नवंबर, 1905) शीर्षक लेख में लिखा कि देश का शिक्षित समाज ही विदेशी वस्तुओं के प्रचार के लिए दोषी है तथा 'बदुद्दीन तैयब जी' लेख में विस्तार देते हुए लिखा कि समाज में जातीय आचार-विचार, शिष्टाचार, वेशभूषा, वार्तालाप आदि का विरोध तथा अंग्रेज़ों की नक़ल की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जातीय पहनावा तो पुराण-पूजा समझा जाता है और अंग्रेज़ी फ़ैशन, वेशभूषा से लोग सोचते हैं कि हम इस तरीक़े से अंग्रेज़ों के बराबर हो गए। इस संक्रमण-काल पर प्रेमचंद की गहरी दृष्टि थी कि कैसे अंग्रेज़ों द्वारा निर्मित नया भारत पुराने भारत को, गाँधी के शब्दों में, 'आधे अंग्रेज़' के रूप में बदल रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा से देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, विचार और अवधारणाओं में पश्चिम की पूर्व की तुलना में श्रेष्ठता की स्थापना हो रही थी और जैसा कि प्रेमचंद

ने 'नमक का दारोग़ा' (1913) में लिखा कि यह वह समय था जब अंग्रेज़ी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। 'शोक का पुरस्कार' (1908) कहानी में एम.ए. पास विवाहित युवक हिंदुस्तानी शिक्षित ईसाई युवती से विवाह के लिए ईसा मसीह की शरण में जाने को तैयार है। प्रेमचंद की दृष्टि स्पष्ट थी कि भारत को यदि आधुनिक राष्ट्र बनाना है तो वह पश्चिम के अनुकरण से नहीं, बल्कि पश्चिम के अस्वीकार तथा भारतीय चैतन्य को आत्मसात् करके ही बन सकता है। प्रेमचंद की 'यही मेरी मातृभूमि है' (1908), 'धोखे की टट्टी' (1912), 'धर्म-संकट' (1913), 'दारू-ए-तल्ख़' (1913), 'सिर्फ़ एक आवाज़' (1913), 'नमक का दारोगा' (1913), 'परीक्षा' (1914) आदि कहानियों में अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त युवकों के ऐसे ही अनेक चेहरे सामने आते हैं। *यही मेरी मातृभूमि है* का कथानायक जब अमेरिका से बंबई बंदरगाह पर उतरता है तो वह काले-काले कोट-पतलून पहने तथा टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलते मल्लाहों के साथ अंग्रेज़ी दुकान, ट्राम, मोटरगाड़ी और मुँह में चुरट दाबे हुए हिंदुस्तानियों को देखता है तो कह उठता है कि यह अमेरिका या इंग्लैंड हो सकता है, परंतु मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कहानी पूर्व और पश्चिम के अंतर को स्पष्ट कर देती है। 'धोखे की टट्टी' (1912) कहानी तो कॉलेज के छात्र सुरेंद्र की लंपटता, विषय-लोलुपता, उपद्रवीपन, नक़लचीपन, आवारागर्दी, शराबीपन, यूनियनबाज़ी, अध्यापिकाओं को प्रेम-जाल में फँसाने आदि दुर्गुणों को प्रकाशित करने के लिए ही लिखी गई है। ये अंग्रेज़ी शिक्षालय वास्तव में धोखे की टट्टी ही हैं और नई पीढ़ी को घोर पतन के मार्ग पर धकेल रहे हैं। 'धर्म-संकट' (1913) में उच्च शिक्षा प्राप्त विवाहित स्त्री-पुरुष अपने पति एवं पत्नी को धोखा देकर प्रेम में मग्न हो उठते हैं और कथानायक बैरिस्टर पं. कैलाशनाथ तो 'हिंदू जाति, हिंदी सभ्यता और भाषा' के कट्टर विरोधी भी हैं। 'परीक्षा' (1914) कहानी में देवगढ़ रियासत के दीवान के चयन में ग्रेजुएटों की भीड़ एकत्र होती है, किंतु केवल एक प्रत्याशी में ही स्वार्थ एवं अभिमान नहीं है, उसमें आत्मबल है और किसान को विपत्ति से निकालने का सेवा-भाव है। यही व्यक्ति दीवान चुना जाता है, क्योंकि भारत को अंग्रेज़ों के नक़लची युवकों की नहीं, परदुःखकातरता, परमार्थ, सेवा-भाव, आत्म-बल आदि गुणों से सम्पन्न युवकों की आवश्यकता है। अतः भारत का पश्चिमीकरण आधुनिक राष्ट्र बनने की शर्त नहीं हो सकता। जैनेन्द्र कुमार ने *संचयिता* के एक लेख में लिखा है कि प्रेमचंद, युग की पश्चिमी प्रवृत्ति से आशंकित थे। उनके जीवन में, उनके साहित्य में, उस आशंका के लक्षण अति प्रकट हैं और उनके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है।[1]

---

1. *संचयिता*, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 466

उस युग के अनेक शिक्षित व्यक्तियों ने अंग्रेज़ी शिक्षा तो प्राप्त की तथा उसके वातावरण में भी रहे, परंतु उसके साथ आने वाले पश्चिमीकरण तथा दुर्गुणों से स्वयं को मुक्त रखा और ऐसे ही लोग नवजागरण के अभियान और स्वाधीनता आंदोलन को अग्रसर करने में सबसे आगे रहे। गाँधी ने तो *हिंद स्वराज* (1909) में लिखा भी कि उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त की तथा अनेक अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आए, किंतु उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा के दुर्गुणों से स्वयं को मुक्त कर लिया। प्रेमचंद लगभग बीस वर्ष तक अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ाते रहे, लेकिन आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि सभी में एक देहाती जैसा जीवन जीते रहे। कहानीकार के रूप में प्रेमचंद ने स्वामी विवेकानंद, गोखले, तिलक, गाँधी, जैसे शिक्षितों में तो कुछ ऐसे पात्रों को समाज से चुना जो या तो बैरिस्टर थे, प्रोफ़ेसर थे, शिक्षित ज़मींदार और समाज-सुधारक थे तथा शिक्षागत पश्चिमी संस्कारों को त्याग कर देश की सोयी जनता को जागृत करने में लगे थे। प्रेमचंद की ऐसे पात्रों की खोज और उन्हें कहानी का अंग बनाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसे ही लोग साधारण जनता के संपर्क में थे और उन पर नवजागरण की राष्ट्रव्यापी चेतना का दबाव था कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में जाकर जनता के सोये स्वाभिमान, जड़ताओं से मुक्ति, सुधार की आकांक्षा और देश-प्रेम को पुनर्जीवित कर सकें। 'दोनों तरफ़ से' (1911) कहानी के कथानायक वकील पं. श्याम नारायण सभ्य सोसाइटी का अंग होने पर भी चमारों-डोमों के गाँव में जाकर उनके बीच बैठने-उठते हैं, मेल-जोल करते हैं और उनके सुधार के कार्य करते और उनमें उत्थान की नई उमंग उत्पन्न करते हैं। 'सिर्फ़ एक आवाज़' (1913) का संन्यासी भी दलितोद्धार में जनता को जोड़ना चाहता है और 'पछतावा' (1914) का ग्रेजुएट दुर्गानाथ दीन-खेतिहरों की सेवा के लिए ही कम वेतन की नौकरी करता है, लेकिन प्रेमचंद 'ममता' (1912) कहानी में बाबू रामरक्षा दास के माध्यम से 'बनावटी, सहृदयता-शून्य तथा फ़ैशनेबुल जातीय प्रेम' का खाक़ा खींचते हैं और उस पर गहरा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि सोसाइटी में रेज्यूलेशन पास कराना और होली पर फाग गानेवाले दलितों को जेल भिजवाना उनकी 'उच्च और निस्पृह समाज-सेवा' के अंग थे। प्रेमचंद इस प्रकार वास्तविक तथा छद्म दोनों तरह के समाज-सुधारकों को देख रहे थे और दोनों की ही वास्तविकता कहानी में चित्रित कर रहे थे। वे देख रहे थे कि अधिकांश शिक्षित समाज स्वार्थी, भोग-विलास तथा देश-विमुख है और बहुत कम लोग हैं जो यश की आकांक्षा के बिना समाज-सेवा में लगे हैं। उनकी पीड़ा रही कि शिक्षितों ने देश के प्रति अपने धर्म का पालन नहीं किया। प्रेमचंद ने मुंशी दयानारायण निगम को 23 अप्रैल, 1930 को पत्र में लिखा था कि देश के दो फ़ीसदी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग क़ौम के नहीं सरकार के आदमी हैं। अगर इन अंग्रेज़ी तालीमयाफ्ता

आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद क़यामत तक उसे आज़ादी नसीब न होगी।[1]

गाँधी का चिंतन भी यही था। गाँधी ने 5 जुलाई, 1928 को *यंग इंडिया* में लिखा कि अंग्रेज़ी शिक्षा और अँगरेजियत के रंग में रँगे लोग अपने राष्ट्र-धर्म से च्युत हो जाते हैं और राष्ट्र की आत्मा का हनन करते हैं।[2]

प्रेमचंद की इन आरंभिक कहानियों की रचना-प्रेरणा तथा संवेदनाओं को ध्यान में रखकर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का नवजागरण हिंदू धर्म की कुप्रथाओं, कुसंस्कारों, जड़ताओं तथा विसंगतियों को दूर करने तथा उसे नए ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर कसकर आधुनिक बनाने के लिए हुआ था। आधुनिक भारत के जनक राजा राममोहन राय की इस नव-क्रांति में 'विज्ञान की मशाल' थी तो 'उपनिषदों का गूढ़ सत्य' भी था और इनके सम्मिलन से वे नए भारत की संकल्पना कर रहे थे। उनके लिए हिंदू धर्म नवजागरण का प्रमुख अंग था। इसके उपरांत स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद आदि ने बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टि से हिंदू धर्म की परीक्षा की और उसका सांस्कृतिक परिष्कार किया। प्रेमचंद के आरंभिक विकास और संस्कार में इस तात्कालिक हिंदू चेतना का गहरा योगदान था। उनके लिए स्वामी विवेकानंद मानव-जाति के कल्याण-हेतु अवतार लेनेवालों की परंपरा में थे। प्रेमचंद आर्यसमाज के सदस्य तो थे ही, उन्होंने उर्दू में पुराणों के अनुवाद पढ़े और 'रामायण', 'महाभारत', कालिदास आदि के संस्कृत साहित्य की भी उन्हें पूरी जानकारी थी और वह उनके लेखकीय संसार में आने लगी थी। उनके उर्दू लेख–'चित्रकला' (मार्च, 1907), *हिंदू* 'सभ्यता और लोकहित' (मार्च, 1912), 'रामायण और महाभारत' (मई-जून, 1912) तथा 'कालिदास की कविता' (अगस्त, 1914) आदि इसके प्रमाण हैं तथा *वरदान* (1912) के समर्पण में पौराणिक कथा राजा हरिश्चंद्र और उनकी पत्नी शैव्या का उल्लेख तथा 'धर्मवीर हरिश्चंद्र' के नाम पर रचना का आरंभ करना, उनकी पौराणिक आस्था का प्रतीक है,[3] परंतु इसमें उनका पौराणिकता के प्रति उत्कट मोह अथवा 'हिंदू पुनरुत्थान' को देखना उनकी मानसिक रचना के प्रति घोर अन्याय होगा। यह तो सच है कि वे हिंदू परिवार में जन्मे थे, उन्हें हिंदू संस्कार मिले थे और हिंदू समाज का संपूर्ण शहरी एवं ग्रामीण परिवेश उनके सामने था और वे जिन पात्रों एवं परिवारों की कहानियाँ लिख रहे थे, वे अधिकांश हिंदू समाज के ही अंग थे। अमृतराय ने उर्दू लेखक अली अहमद फ़ातमी की प्रेमचंद की हिंदू चेतना पर पूछे गए प्रश्न के उत्तर में कहा था कि "प्रेमचंद एक हिंदू परिवार में पैदा हुए तथा हिंदू सांस्कृतिक परिवेश में

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 283
2. *संपूर्ण गाँधी वाङ्मय*, खंड : 37, पृष्ठ 21-23
3. *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-2*, पृष्ठ 331

पले-बढ़े तो इसमें क्या ताज़्जुब है कि उनके लेखन में हिंदू तत्त्व पाए जाते हैं, उसी तरह जैसे एक मुसलमान लेखक में मुस्लिम संस्कारों की गंध मिलेगी। अतः ऐसा होना स्वाभाविक है और इसमें न कोई बुराई है और न गुनाह। यदि उनमें मुस्लिम-द्वेष होता तथा सांप्रदायिकता से समझौता किया होता तो मुंशी जी से जवाब-तलब किया जा सकता था।"[1] अमृतलाल नागर की दृष्टि में भी प्रेमचंद हिंदू थे, लेकिन वे भारतीय और महामानव भी थे और उनका हिंदूपन अपने अन्य हिंदू लेखकों के समान हिंदू धर्म या हिंदू ढंग के सामाजिक रीति-रिवाजों की कटु आलोचना तक सीमित था।[2] डॉ. रामविलास शर्मा ने नागर जी के मत का उल्लेख करते हुए *समालोचना* (नवंबर, 1959) में लिखा कि हिंदू हो या मुसलमान लेखक समाज-सुधार के लिए सबसे अधिक ध्यान अपने धर्मावलंबियों पर ही देगा, लेकिन प्रेमचंद ने मुसलमानों के संबंध में भी बहुत कुछ खुलकर लिखा है, क्योंकि वे सभी धर्मों के आलोचक होने के साथ सभी के प्रति सहानुभूतिशील भी थे।[3] प्रेमचंद ने *ज़माना*, फ़रवरी, 1908 में कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशी' के उर्दू अनुवाद की चर्चा में लिखा कि जो लोग दोनों क़ौमों के ज्ञान-विज्ञान और साहित्य से एक-दूसरे को परिचित कराकर एकता और समझौते की प्रेरणा दे रहे हैं, वे सच्ची क़ौमी हमदर्दी रखते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा का मत पूर्णतः सत्य है, बस इसमें इतना जोड़ना है कि हिंदू धर्म को उन्होंने जिस व्यापकता एवं गहराई से अपने आलोचनात्मक विवेक से देखा, वैसा विस्तार अन्य धर्मों को नहीं दे पाए और यही कारण है कि अपनी पहली कथात्मक रचना 'असरारे मआविद उर्फ़ देवस्थान-रहस्य' से लेकर 'कफ़न' और 'गोदान' तक वे हिंदू समाज की जड़ताओं, कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा अमानवीय प्रवृत्तियों से निरंतर रचनात्मक एवं वैचारिक युद्ध करते रहे। प्रेमचंद में हिंदू पुनरुत्थान का वैसा भाव नहीं था, जैसा स्वामी दयानंद में वैदिक धर्म के प्रति था तथा वैसा दुराग्रह भी नहीं था, जैसा हिंदूवादियों का हिंदू राष्ट्र के संबंध में था, लेकिन उनमें हिंदू धर्म-संस्कृति की उच्चतम आध्यात्मिकता, नैतिकता, आचार-विचार, लोकमंगल और परमार्थता, राम और कृष्ण की पूर्ण मनुष्यता तथा सीता-द्रौपदी-दमयंती आदि की पतिव्रतता, मातृभूमि-प्रेम आदि के प्रति गहरी आस्था थी और उनकी यह सांस्कृतिक प्रतिबद्धता उनकी सर्जनात्मकता को स्वरूप देने में महत्त्वपूर्ण योगदान करती रही। उनकी इन आरंभिक कहानियों में उनकी पौराणिकता की वह प्रवृत्ति, जिसमें वे हिंदू विधवा स्त्री के सती होने पर प्रशंसा एवं स्तुति-भाव (पाप का अग्निकुंड, 1910) रखते हैं, आधुनिक चेतना तथा नवजागरण की प्रवृत्तियों के एकदम प्रतिकूल तो है ही, उनकी कुछ हद तक तर्कहीन पौराणिकता एवं अंतर्विरोध

---

1. *प्रेमचंद की प्रासंगिकता*, पृष्ठ 181
2. *समालोचक*, आगरा, नवंबर, 1959, पृष्ठ 21; *अमृतलाल नागर रचनावली*-9, पृष्ठ 30-31
3. वही, पृष्ठ 1-9

का भी प्रतीक है। संभवतः प्रेमचंद हिंदू स्त्री के पातिव्रत्य एवं सतीत्व को भारत की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते हैं। 'शाप' (1910) कहानी में कथावाचक कहता है कि जर्मनी को अपनी सेना पर, फ्रांस को अपनी विलासिता पर और इंग्लैंड को अपने वाणिज्य पर गर्व है तो भारतवर्ष को अपने पातिव्रत्य पर घमंड है। क्या योरपवासियों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि होमर और वर्जिल, डेंटे और गेटे, शेक्सपियर और ह्यूगो जैसे उच्चकोटि के कवि एक भी सीता या सावित्री की रचना न कर सके। वास्तव में, योरोपीय समाज ऐसे आदर्शों से वंचित है। प्रेमचंद पर इस सतीत्व अथवा पतिव्रतता का इतना गहरा प्रभाव है कि नई वैज्ञानिक दृष्टि और आर्यसमाजी संस्कार भी निष्फल हो जाते हैं, परंतु अन्य क्षेत्रों में तथा हिंदू धर्म के निरर्थक कर्मकाण्डों, पंडित-पुरोहितों के हथकंडों, भेदभाव, शोषण तथा अन्य अमानवीय स्थितियों की पुरज़ोर आलोचना करते हैं। वे अपने समय के संभवतः अकेले कहानीकार हैं जिन्होंने हिंदू धर्म में आई विकृतियों, विसंगतियों और वीभत्स प्रसंगों को कहानी में स्थान दिया और उनकी कटु आलोचना की। डॉ. नामवर सिंह ने इसी कारण प्रेमचंद को 'लोक समीक्षक' कहा है।[1]

इन आरंभिक कहानियों में अधिकांश हिंदू परिवारों एवं हिंदू पात्रों की कहानियाँ हैं, जो परंपरागत विश्वासों और आस्थाओं से जीते हैं और हिंदू देवी-देवता, मंदिर एवं ठाकुरद्वारे, त्यौहार, पर्व तथा कर्मकांड उनके जीवन के अनिवार्य अंग हैं। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में इन पात्रों-परिवारों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्रण इस दृष्टि से किया है कि वे जीवन को वास्तविक रूप में चित्रित कर सकें और बता सकें कि हिंदू समाज में, आधुनिक जीवन-दृष्टि तथा नवजागरण के बावजूद, वेद, रामायण, महाभारत तथा पुराणों के देवी-देवताओं, तीर्थ-स्थलों तथा पूजा-स्थलों तथा धार्मिक आस्थाओं के प्रति अटूट विश्वास बना हुआ है। 'यही मेरी मातृभूमि है' में राजपूत योद्धा 'भारत माता की जय' कहकर प्राण त्यागता है, 'शाप' में पतिव्रता स्त्री अपने शाप से कामुक व्यक्ति को शेर बना देती है, 'पाप का अग्निकुंड' में गाय की हत्या का प्रतिफल है तथा सती होने का दृश्य है, 'नेकी' में मृत स्त्री की हड्डियों और सुहाग-सिंदूर का गंगा में विसर्जन है, 'बड़े घर की बेटी' में रामलीला और प्राचीन हिंदू सभ्यता की प्रशंसा है, 'दोनों तरफ़ से' में गंगा-स्नान और सोमवती अमावस्या का उल्लेख है, 'ग़रीब की हाय' में गो-हत्या का पाप है, 'आल्हा', 'बाँका ज़मींदार' तथा 'ख़ून सफ़ेद' में इंद्रदेव हैं, 'ममता' में होली, यमुना स्नान, गाय-सेवा तथा अयोध्या (देवताओं की पुरी) का उल्लेख है, 'अमावस्या की रात्रि' में दिवाली, लक्ष्मी-पूजा, सत्यनारायण की कथा और शालिग्राम की पूजा है, 'सिर्फ़ एक आवाज़' में राम, कृष्ण,

---

1. *प्रेमचंद : प्रतिनिधि संकलन*, प्रधान संपादक : नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पृष्ठ 8

गोविंद और चैतन्य का गुणगान है, 'बाँका ज़मींदार' में भगवान कृष्ण और सुदामा हैं, 'ख़ून सफ़ेद' में राम-राज्य, ठाकुरद्वारा और देवी का उल्लेख है, 'पछतावा' में गीता और विष्णु पुराण हैं, 'बेटी का धन' में नवरात्र में दुर्गापाठ, भागवत पाठ और श्राद्ध करने के प्रसंग हैं तथा 'सौत' में जन्माष्टमी का व्रत है। इस समय की दो कहानियों में हिंदू समाज के धार्मिक विश्वास और जड़ता पर चोट की गई है। 'अंधेर' कहानी में गोपाल पुलिस के चंगुल से बचने का श्रेय सत्यनारायण की कथा को नहीं देता और पुलिस के अत्याचार को अंधेर कहता है और 'ख़ून सफ़ेद' कहानी में अनजाने में ईसाई बने साधो को जब बिरादरी स्वीकार करने को तैयार नहीं तो प्रेमचंद इसकी भर्त्सना में हिंदुओं का ख़ून सफ़ेद होने के रूप में अपनी टिप्पणी करते हैं। इस प्रकार पौराणिकता के साथ हिंदू धर्म को नए आलोचनात्मक विवेक से देखने की प्रवृत्ति भी जन्म ले चुकी है और इसलिए वे अंधविश्वास और जड़ता पर चोट करते हैं और उसमें सुधार तथा परिष्कार का रास्ता खोलते हुए आधुनिक बनाते हैं।

प्रेमचंद के कहानीकार की आरंभिक काल की इन पचास कहानियों ने, किसी भी अन्य लेखक की आरंभिक रचनाओं की तुलना में, कहानी के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। हिंदी तथा उर्दू भाषा के कहानी के इतिहास में इन आरंभिक कहानियों ने एक नए युग का आरंभ किया और कहानी को आधुनिक चेतना का प्रतिबिम्ब बनाया। ये कहानियाँ फ़ारसी लिपि में लिखी गई थीं, लेकिन भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय के हिंदी नवजागरण की मूल वृत्तियाँ प्रेरणा-स्रोत थीं और प्रेमचंद उर्दू में लिखते हुए भी भारतेंदु-द्विवेदी युग की व्यापक राष्ट्रीय चेतना को आत्मसात् करके देश की भूली-भटकी-सोयी जनता को कहानी रच-रचकर जागृत कर रहे थे। नवजागरण के राष्ट्र-व्यापी वातावरण तथा चिंतन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक नई हलचल, एक नई सोच तथा एक नए जीवन-दर्शन के साथ आत्म-मूल्यांकन और आत्म-बिम्ब की खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी और युग की इन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों के द्वंद्व और दबाव में हिंदी और उर्दू कहानी का नवजागरण हुआ। प्रेमचंद के उर्दू से हिंदी में आने के कारणों में एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वे देश की बहुसंख्यक हिंदी-भाषी जनता तक पहुँचें और उनके मन में, अपनी कहानियों एवं उपन्यासों के द्वारा नवजागरण से उत्पन्न राष्ट्रीय आकांक्षाओं को उत्पन्न करें और उन्हें राष्ट्र-व्यापी बनाएँ। प्रेमचंद का हिंदी कहानी में आगमन हिंदी कहानी का नवजागरण ही था। नवजागरण ने देश का कायाकल्प किया और प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को नया रूप, नई दिशा, नया चिंतन, नया सरोकार तथा नया शास्त्र दिया, जो उससे पूर्व कोई भी कहानीकार नहीं दे पाया था। प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को नई कथावस्तु, पात्र और परिवेश के साथ कहानी का नया शिल्प दिया। डॉ. रामविलास शर्मा, अमृतलाल नागर जैसे हिंदी लेखकों का मत है कि प्रेमचंद ने कहानी-कला

पश्चिम से नहीं ली और न उसकी नक़ल की, बल्कि यहाँ के *हितोपदेश, कथा-सरित्सागर, बैताल-पच्चीसी* और *सिंहासन बत्तीसी* आदि से तथा 'एक था राजा, एक थी रानी' की परंपरा से कहानी लिखना सीखा। इसके विपरीत प्रेमचंद ने आगे चलकर लिखा कि कहानी का कलेवर योरप से लिया, परंतु उसकी आत्मा भारतीय थी। इन मतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचंद ने अपने आरंभिक काल में फ़ारसी शैली, योरोपीय कहानी-कला तथा भारत की कथा कहने की परंपरागत पद्धति के मिश्रण से अपनी कहानी-कला की उद्‌भावना की तथा वे इस काल-खंड में भारतीय एवं विदेशी कथाकारों की कथा-शैलियों का अनुकरण करके नए-नए प्रयोग भी करते रहे। उन्होंने 4 मार्च, 1914 को मुंशी दयानारायण निगम को इसी संबंध में अपने पत्र में लिखा, "मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन-सा तर्जे-तहरीद अख़्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नक़ल करता हूँ, कभी आज़ाद (सैय्यद मोहम्मद आज़ाद) के पीछे चलता हूँ। आजकल काउंट टाल्स्टाय के क़िस्से पढ़ चुका हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ़ तबीयत माइल है। यह कमज़ोरी है और क्या?"[1] प्रत्येक नए लेखक को ऐसी वैविध्यपूर्ण प्रयोगधर्मिता से गुज़रना पड़ता है और ऐसे ही प्रयोगों से वह अपनी कहानी-कला तथा कला-चेतना को आविष्कृत एवं परिष्कृत करता है। अतः प्रेमचंद भी आरंभिक काल में एक ही ढर्रे पर नहीं चल सकते थे; एक ही दिशा तथा एक ही पथ पर एक ही चाल से चलना नवजागरण के अनुकूल न था। नवजागरण ने प्रेमचंद के सम्मुख जीवन के अनेक झरोखे तथा अनेक दरवाज़े खोल दिए थे, इस कारण वे जीवन के किसी एक परिदृश्य तक सिमट कर नहीं रह सकते थे। नवजागरण उन्हें जीवन के उन प्रसंगों, दृश्यों तथा संवेदनाओं तक ले जा रहा था जहाँ कभी कोई कहानीकार पहुँचा नहीं था। प्रेमचंद की रचना-दृष्टि 'कोउ नृप होय हमहिं का हानी' से बदलकर 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' की समर्थक हो गई थी, अतः देश के जीवन में जहाँ-जहाँ पराधीनता का दारुण दुःख था, वहाँ-वहाँ स्वाधीनता एवं दासता से मुक्ति तथा अपनी अस्मिता को पहचानते का नया युगीन मंत्र पहुँचाना था। इसलिए प्रेमचंद ने कहानी में नया प्रेम-दर्शन दिया कि सांसारिक प्रेम से श्रेष्ठ है देश-प्रेम, और देश के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करना, बलिदान एवं त्याग करना सबसे बड़ा धर्म है। देश-भक्ति एवं राष्ट्रीय चेतना के बिना दासता से मुक्ति असंभव है। इतिहास का उपयोग भी वर्तमान को जागृत करने के लिए ही होगा, उसकी शव-साधना तथा पुनरुत्थान के लिए नहीं, क्योंकि ऐतिहासिक नायकों के बलिदानी प्रसंगों से देश के नागरिक स्वतंत्रता, स्वाभिमान, आत्म-गौरव, बलिदान, त्याग आदि उच्च मानवीय मूल्यों के महत्त्व को समझ सकेंगे और देश के लिए उसी प्रकार मर-मिटने को तैयार होंगे। देश और राष्ट्र के साथ प्रेमचंद ने भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रस्तावित विषयों से भी

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश,* पृष्ठ 153

आगे निकलकर स्त्री, किसान तथा दलित जीवन के उन मानवीय प्रसंगों, दृश्यों तथा संघर्षों को कहानी में पहली बार स्थान दिया, जिनकी ओर किसी लेखक ने इससे पूर्व ध्यान नहीं दिया था। ये मानवीयता के वे आहत स्थल थे, जहाँ सैकड़ों-हज़ारों वर्षों से अत्याचार, अनीति और शोषण हो रहा था, किंतु नवजागरण की चेतना यहाँ भी नए जीवन की आकांक्षा उत्पन्न कर रही थी। प्रेमचंद ने कहानी में संभवतः इसलिए समाजोन्मुखता, नैतिक यथार्थ तथा आदर्शवादी चेतना का प्रादुर्भाव किया जिससे कहानी में उन सभी व्यक्तियों तथा वर्गों की आवाज़ बुलंद हो सके जो समाज की जड़ताओं, भेदभावों, कुरीतियों, विसंगतियों तथा अंधविश्वासों से दंडित होते रहे हैं और मनुष्य होने की गरिमा से वंचित कर दिए गए हैं। प्रेमचंद ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा, किंतु वे कहानियों में यह भी दिखाते रहे कि समाज को कैसा होना चाहिए।

प्रेमचंद का यह काल-खंड एक समूची सांस्कृतिक अवधारणा लेकर चल रहा था। उनकी दृष्टि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित न थी, बल्कि गाँधी के *हिंद स्वराज* (1909) तथा मैथिलीशरण गुप्त की *भारत-दुर्दशा* (1912) के समान सांस्कृतिक अवधारणा को केंद्र में रखकर चल रही थी। इस प्रवृत्ति में ग्रहणशील तथा वर्जनशील दोनों ही प्रवृत्तियाँ थीं। प्रेमचंद की ग्रहणशीलता में आधुनिक विवेक था तथा पुरातन मानवीय मूल्यों की स्वीकृति थी, और वर्जनशीलता में एक कठोर आलोचनात्मक बुद्धि थी जिसकी कसौटी थी कि समाज हो या व्यक्ति या देश, उसके हित में पतनशील मध्ययुगीनता तथा पश्चिमीकरण की बुराइयों से मुक्त होना होगा और मनुष्य-मनुष्य के बीच आए भेदभाव एवं संबंधों की विकृतियों तथा विसंगतियों को देश के नवजागरण के लिए त्यागना होगा। प्रेमचंद इसके लिए किसी सामूहिक क्रांति की अपेक्षा व्यक्तिशः उन्नयन के पक्ष में थे। उन्होंने काफ़ी वर्षों बाद 26 दिसंबर, 1934 को इंद्रनाथ मदान को पत्र में लिखा था कि मैं सामाजिक विकास में विश्वास करता हूँ, लेकिन इसके लिए लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्त्व है तथा कोई समाज-व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों।[1] उनका यह विचार आरंभिक काल में ही जन्म ले चुका था, इस कारण वे इन आरंभिक कहानियों में औपनिवेशिक काल के एक ऐसे मनुष्य की खोज करते हैं, जो अपनी कमज़ोरियों और साधारणत्व के बावजूद, मनुष्य होने के गुणों से संपन्न हो तथा जो यथास्थिति से निकलकर मनुष्यत्व की ओर बढ़ने के लिए तत्पर हो और इसके लिए वे अपने पात्रों की आंतरिक प्रतिमा को गढ़ते हैं। मुक्तिबोध इसीलिए अपने लेख 'मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया' में लिखते हैं कि प्रेमचंद हमारी आत्मा के शिल्पी हैं और वे

---

1. *प्रेमचंद : पत्र-कोश*, पृष्ठ 25

एक अच्छा इंसान बनाने में लग जाते हैं जो हम पर नैतिक प्रभाव डाल सके।[1] डॉ. रामविलास शर्मा ने भी *प्रेमचंद और उनका युग* में लिखा है कि प्रेमचंद 'मानव-आत्मा के शिल्पी' थे और उनका साहित्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाता है। यह भारतीय आत्मा को ही जागृत एवं अंकित करने की प्रक्रिया थी। प्रेमचंद इस प्रक्रिया को बहुआयामी बनाते हैं और जीवन के विविध कथा-सूत्रों में से ऐसे पात्रों का चयन करते हैं जो स्वयं अपनी आत्मा का संस्कार करके पाठकों के मन में भी मनुष्यता जागृत कर सकें और इस प्रक्रिया में वे मानवीय मनोविज्ञान का उपयोग करके उसे जीवंत बनाते हैं। नवजागरण की उस बेला में देश को ऐसे भारतीय की तलाश थी जो देश-प्रेम में अपना बलिदान दे सके, भारतीय होने में गौरव का अनुभव करे, घर-परिवार की महत्ता को पहचाने, परंपरागत उदात्त मूल्यों के प्रति आस्थावान हो, धर्म और नैतिकता के लिए निजी स्वार्थ त्याग सकें, अन्याय-अनीति का प्रतिकार करे, स्त्री-किसान-दलित के प्रति संवेदनशील हो, सामाजिक सुधार में कर्मरत हो तथा राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक बन सके। ये कहानियाँ ऐसे व्यापक देश-जागरण का ही प्रतिफल हैं।

इस आरंभिक काल का महत्त्व कुछ और दृष्टियों से भी है। प्रेमचंद अपनी आरंभिक कहानियों में, अपने आरंभिक उपन्यासों के समान, नौसिखिए लेखक प्रतीत नहीं होते। कहानी की रचना और अभिव्यक्ति में वे एक अनुभवी कहानीकार के रूप में सामने आते हैं। संभवतः यही कारण है कि इस आरंभिक काल में वे 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'बड़े घर की बेटी' तथा 'रानी सारंधा' जैसी कालजयी कहानियाँ लिख सके। इन कहानियों ने हिंदी कहानी को आधुनिक बनाया और प्रेमचंद को कहानीकार के रूप में स्थापित कर दिया तथा एक ऐसा कहानी-शास्त्र दिया, जो नवजागरण की आत्मा से उपजा था और जो काल का अतिक्रमण करके आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। इस काल-खंड में प्रेमचंद का हिंदी में आगमन हुआ और हिंदी का प्रेम पाकर वे सदैव के लिए हिंदी के हो गए। इन आरंभिक कहानियों ने उन्हें इतना यश दिया कि वे हिंदी में उपन्यास-सम्राट बनने से पहले ही कहानी के क्षेत्र में विशेष रूप से सम्मानीय बन गए। प्रेमचंद की कहानी-यात्रा में ये आरंभिक कहानियाँ ही उनकी भावी यात्रा की बुनियाद बनीं और इन कहानियों की अधिकांश प्रवृत्तियों का ही भविष्य में विकास हुआ। अतः उनकी कहानी-यात्रा के वैज्ञानिक अध्ययन में इन आरंभिक कहानियों से गुज़रना और उनके महत्त्व को समझना आवश्यक है। अंत में, मैं साहित्य अकादेमी का आभारी हूँ कि उसने मेरी इस योजना को स्वीकार किया और प्रेमचंद के कहानी-संसार में व्याप्त अराजकता, अज्ञानता और आधी-अधूरी सूचनाओं से भरे धुँध को समाप्त करके उनके कहानीकार की एक प्रामाणिक एवं कालक्रमानुसार मूर्ति प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया। इस योजना की स्वीकृति

---

1. *प्रेमचंद : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता*, पृष्ठ 603

के बाद साहित्य अकादेमी के उपसचिव (हिंदी) श्री ब्रजेंद्र त्रिपाठी से कहानियों के मूल पाठ की रक्षा के साथ मानक लिपि के प्रयोग पर विस्तार से चर्चा हुई थी। मेरा यह दृष्टिकोण था कि प्रेमचंद की कहानियों के मूल पाठ की रक्षा होनी चाहिए, इसलिए विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों के प्रथम पाठ को ही लिया जाना ही उचित होगा। यदि ऐसी पत्रिकाओं के कुछ अंक उपलब्ध नहीं हैं तो प्रेमचंद द्वारा प्रकाशित कहानी-संग्रहों के प्रथम संस्करणों से कहानियों के पाठ को लिया जा सकता है। यदि ऐसा कोई कहानी-संग्रह भी नहीं मिल पाता है तो बाद के संस्करण से कहानी ली जा सकती है। अतः इस नीति के अनुरूप ही कहानियों के पाठ को देने की पूरी चेष्टा की गई है और प्रत्येक कहानी के अंत में इसका उल्लेख है कि उसका पाठ कहाँ से, किस पत्रिका या कहानी-संग्रह से लिया गया है। इस कहानी-रचनावली की दूसरी बड़ी समस्या यह थी कि प्रेमचंद की कहानियाँ चूँकि अनेक पत्रिकाओं में छपी थीं और इन पत्रिकाओं के वर्तनी संबंधी नियम भी भिन्न-भिन्न थे, ऐसी स्थिति में पाठ की एकरूपता की निर्मिति भी आवश्यक थी। अतः पाठ की एकरूपता के लिए मानक हिंदी वर्तनी के नियमों को ध्यान में रखकर निम्नलिखित नीति अपनाई गई—

1. मानक हिंदी वर्तनी के नियम के अनुरूप संयुक्त व्यंजन के रूप में पंचम अक्षर के बाद सवर्गीय शेष चार व्यंजनों में से कोई व्यंजन वर्ण हो तो पंचमाक्षर के लिए अनुस्वार का प्रयोग किया गया है, जैसे सम्पन्न का संपन्न, सम्बन्ध का संबंध, अङ्गार का अंगारे, ठण्डा का ठंडा, शान्ति का शांति, आदि।
2. मानक हिंदी वर्तनी के नियम के अनुरूप 'य्' श्रुति के स्थान पर केवल मूल स्वर का ही प्रयोग किया गया है। जैसे—गये का गए, किये का किए, आदि।
3. उर्दू के तत्सम शब्दों को मूल रूप में दिया गया है और जहाँ नुक़्ते का प्रयोग आवश्यक है, वहाँ नुक़्ते का प्रयोग किया गया है। 'कफ़न' कहानी में ही 'कफ़न' और 'कफन' दोनों प्रयोग मिलते हैं, अतः 'कफन' को 'कफ़न' में बदल दिया गया है।
4. कहानियों में जहाँ-जहाँ मुद्रण के कारण अशुद्धियाँ हैं, उन्हें ठीक किया गया है।
5. कहानियों के मूल पाठ में उद्धरण चिह्नों के प्रयोग की कोई नीति नहीं थी। एक ही कहानी में कहीं उद्धरण चिह्नों का प्रयोग है, 'और कहीं-कहीं नहीं भी है। 'कफ़न' कहानी में ही ऐसी स्थिति है। अतः एकरूपता के लिए जहाँ-जहाँ उद्धरण चिह्न होने चाहिएँ, उन्हें वहाँ-वहाँ लगा दिया गया है।
6. कहानियों में परिच्छेदों के संख्या-क्रम की भी एकरूपता दी गई है।

प्रेमचंद की कहानियों के पाठ को संपादित तथा प्रस्तुत करने की इस नीति पर सहमति के बाद साहित्य अकादेमी के हिंदी संपादकीय विभाग ने इसी के अनुरूप इस रचनावली की प्रेस-कॉपी तैयार कराई है। इस कार्य में जो समय और परिश्रम लगा है, पाठक-गण उसकी व्यापकता एवं विशालता का सहज अनुमान लगा सकते हैं। इस कार्य को संपादित करने में साहित्य अकादेमी के हिंदी विभाग तथा उसके संपादकों, प्रूफ़-रीडरों ने जो सहयोग दिया है, मैं उसके लिए उनका आभारी हूँ। स्वाभाविक है, इतने बड़े काम में कुछ त्रुटियों के रहने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, अतः सुधि पाठकों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे त्रुटियों की जानकारी दे जिससे आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

प्रेमचंद : कहानी रचनावली के लिए सामग्री को एकत्र करने का कार्य कई दशकों से निरंतर चलता रहा है। हिंदी-उर्दू की संबंधित पत्र-पत्रिकाओं की खोज और उनमें प्रकाशित कहानियों की फोटो कॉपी कराने, उन्हें एकत्र करने तथा पांडुलिपि का रूप देने में मेरे मन का जुनून ही यह सब संभव कर सका है। आज जब मैं इस कार्य को पूर्ण होता हुआ देखता हूँ तो मेरा मन भावुक हो उठता है। मेरे जीवन का एक स्वप्न जो पूरा हुआ है। इस कार्य में मेरे पिताश्री चंद्रभान गोयनका के बुलंदशहर स्थित पुस्तकालय से मुझे बड़ी मदद मिली है, जहाँ मुझे *माधुरी, चाँद, हंस, प्रभा, जामिया, अदीब* आदि के पुराने अंक मिले। मुझे डॉ. विजयदत्त श्रीधर तथा डॉ. मंगला अनुजा (माधवराव सप्रे स्मृति समाचार-पत्र संग्रहालय एवं शोध-संस्थान, भोपाल), डॉ. मनोहरसिंह (श्रीनटनागर शोध-संस्थान, सीतामऊ), डॉ. आशा जोशी (दिल्ली) तथा श्री ब्रजेंद्र त्रिपाठी (साहित्य अकादेमी) का विशेष सहयोग मिला है। मैं इन सबके प्रति आभारी हूँ। डॉ. गोपीचंद नारंग (पूर्व अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी) का भी आभारी हूँ जिनके कार्य-काल में इस योजना को स्वीकृति मिली। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (संयोजक, हिंदी समिति, साहित्य अकादेमी) का भी मुझे पूर्ण सहयोग मिला है। वे इसे शीघ्र ही पूर्ण रूप में देखना चाहते रहे हैं। मैं उनके प्रति भी आभारी हूँ।

कमल किशोर गोयनका

ए/98, अशोक विहार
फेज़ प्रथम, दिल्ली-110052
11 अक्टूबर, 2009

वर्ष : 1908

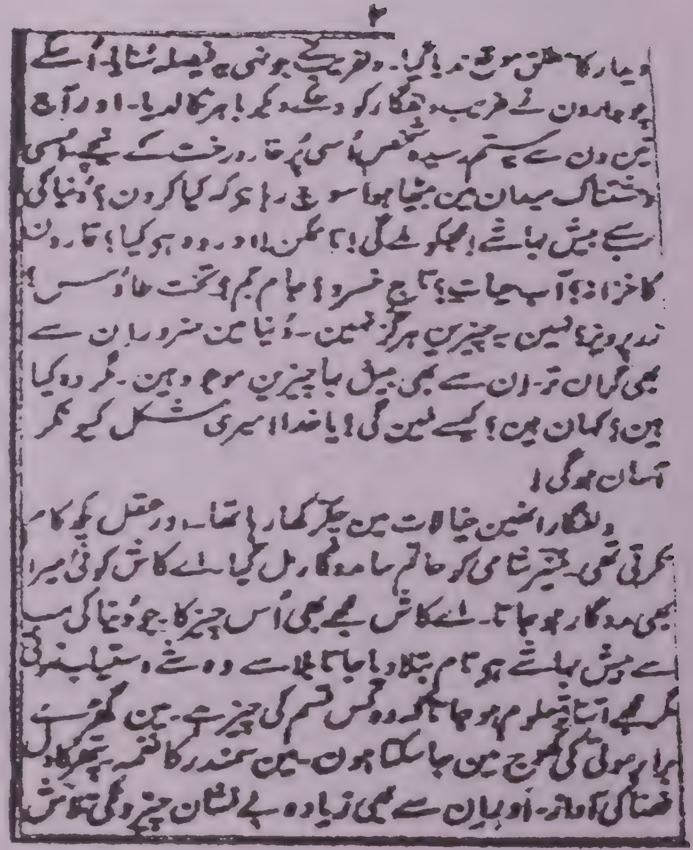

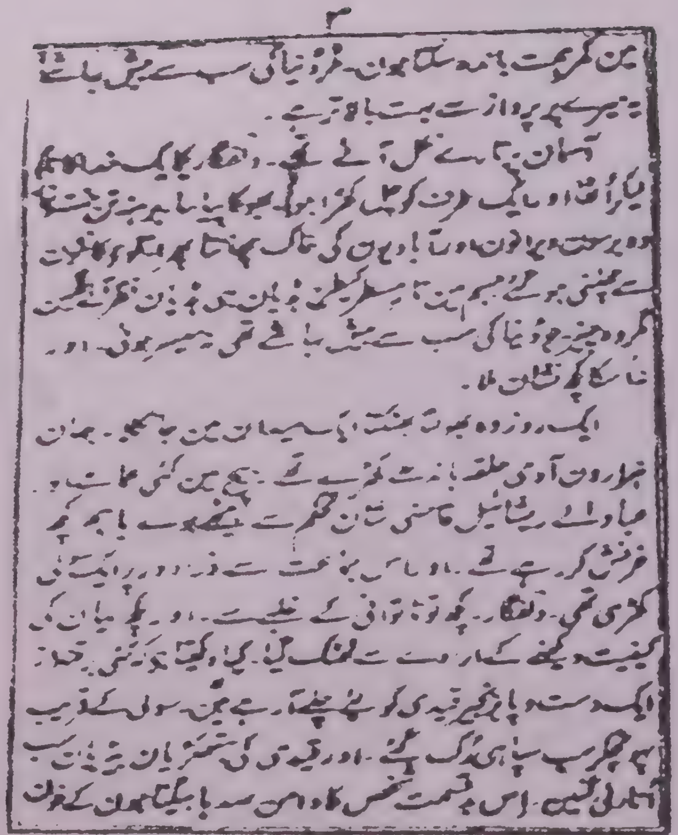

'सोजेवतन' उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1908 के दो पृष्ठ

सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम

1

शहर लंदन के एक पुराने टूटे-फूटे होटल में जहाँ शाम ही से अँधेरा हो जाता है, जिस हिस्से में फ़ैशनेबुल लोग आना ही गुनाह समझते हैं और जहाँ जुआ, शराबख़ोरी और बदचलनी के बड़े भयानक दृश्य हरदम आँख के सामने रहते हैं उस होटल में, उस बदचलनी के अखाड़े में इटली का नामवर देश-प्रेमी मैज़िनी खामोश बैठा हुआ है। उसका सुंदर चेहरा पीला है, आँखों से चिंता बरस रही है, होंठ सूखे हुए हैं और शायद महीनों से हजामत नहीं बनी। कपड़े मैले-कुचैले हैं। कोई व्यक्ति जो मैज़िनी को पहले से न जानता हो, उसे देखकर यह ख़याल करने से नहीं रुक सकता कि हो-न-हो यह भी उन्हीं अभागे लोगों में है जो अपनी वासनाओं के गुलाम होकर ज़लील से ज़लील काम करते हैं।

मैज़िनी अपने विचारों में डूबा हुआ है। आह बदनसीब क़ौम! ऐ मज़लूम इटली! क्या तेरी क़िस्मतें कभी न सुधरेंगी, क्या तेरे सैकड़ों सपूतों का ख़ून ज़रा भी रंग न लाएगा! क्या तेरे देश से निकाले हुए हज़ारों जाँनिसारों की आहों में ज़रा भी तासीर नहीं। क्या तू अन्याय और अत्याचार और गुलामी के फंदे में हमेशा गिरफ़्तार रहेगी। शायद तुझमें अभी सुधरने की, स्वतंत्र होने की योग्यता नहीं आई। शायद तेरी क़िस्मत में कुछ दिनों और ज़िल्लत और बर्बादी झेलनी लिखी है। आज़ादी, हाय आज़ादी, तेरे लिए मैंने कैसे-कैसे दोस्त, जान से प्यारे दोस्त कुर्बान किए। कैसे-कैसे नौजवान, होनहार नौजवान, जिनकी माँएँ और बीवियाँ आज उनकी क़ब्र पर आँसू बहा रही हैं और अपने कष्टों और आपदाओं से तंग आकर उनके वियोग के कष्ट में अभागे, आफ़त के मारे मैज़िनी को शाप दे रही हैं। कैसे-कैसे शेर जो दुश्मनों के सामने पीठ फेरना न जानते थे, क्या यह सब कुर्बानियाँ, यह सब भेंटें काफ़ी नहीं हैं? आज़ादी तू ऐसी क़ीमती चीज़ है! हाँ, तो फिर मैं क्यों ज़िंदा रहूँ? क्या यह देखने के लिए कि मेरा प्यारा बतन, मेरा प्यारा देश, धोखेबाज़, अत्याचारी दुश्मनों के पैरों तले रौंदा जाए, मेरे प्यारे भाई, मेरे प्यारे हमवतन, अत्याचार का शिकार बनें। नहीं मैं यह देखने के लिए ज़िंदा नहीं रह सकता!

मैज़िनी इन्हीं ख़यालों में डूबा हुआ था कि उसका दोस्त रफ़ेती जो उसके साथ निर्वासित किया गया था, इस कोठरी में दाख़िल हुआ। उसके हाथ में एक बिस्कुट का टुकड़ा था। रफ़ेती उम्र में अपने दोस्त से दो-चार बरस छोटा था। भंगिमा से सज्जनता झलक रही थी। उसने मैज़िनी का कंधा पकड़कर हिलाया और कहा—“जोज़ेफ, यह लो, कुछ खा लो।”

मैज़िनी ने चौंककर सर उठाया और बिस्कुट देखकर बोला—“यह कहाँ से लाए? तुम्हारे पास पैसे कहाँ थे?”

रफ़ेती—“पहले खा लो फिर यह बातें पूछना, तुमने कल शाम से कुछ नहीं खाया है।”

मैज़िनी—“पहले यह बता दो, कहाँ से लाए। जेब में तंबाकू का डिब्बा भी नज़र आता है। इतनी दौलत कहाँ हाथ लगी?”

रफ़ेती—“पूछकर क्या करोगे? वही अपना नया कोट जो माँ ने भेजा था, गिरो रख आया हूँ।”

मैज़िनी ने एक ठंडी साँस ली, आँखों से आँसू टप-टप ज़मीन पर गिर पड़े। रोते हुए बोला—“यह तुमने क्या हरकत की, क्रिसमस के दिन आते हैं, उस वक़्त क्या पहनोगे? क्या इटली के एक लखपती व्यापारी का इकलौता बेटा क्रिसमस के दिन भी ऐसे ही फटे-पुराने कोट में बसर करेगा? ऐं?”

रफ़ेती—“क्यों, क्या उस वक़्त तक कुछ आमदनी न होगी, हम तुम दोनों नए जोड़े बनवाएँगे और अपने प्यारे देश की आनेवाली आज़ादी के नाम पर खुशियाँ मनाएँगे।”

मैज़िनी—“आमदनी की तो कोई सूरत नज़र नहीं आती। जो लेख मासिक पत्रिकाओं के लिए लिखे गए थे, वह वापस ही आ गए। घर से जो कुछ मिलता है, वह कब का ख़त्म हो चुका। अब और कौन-सा ज़रिया है?”

रफ़ेती—“अभी क्रिसमस को हफ़्ता भर पड़ा है। अभी से उसकी क्या फ़िक्र करें। और अगर मान लो यही कोट पहना तो क्या? तुमने नहीं मेरी बीमारी में डॉक्टर की फ़ीस के लिए मैग्डलीन की अँगूठी बेच डाली थी? मैं जल्दी ही यह बात उसे लिखने वाला हूँ, देखना तुम्हे कैसा बताती है।”

2

क्रिसमस का दिन है, लंदन में चारों तरफ़ खुशी की गर्म बाज़ारी है। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सब अपने-अपने घर खुशियाँ मना रहे हैं और अपने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहनकर गिरजाघरों में जा रहे हैं। कोई उदास सूरत नज़र नहीं आती। ऐसे वक़्त मैज़िनी और रफ़ेती दोनों उसी छोटी-सी अँधेरी कोठरी में सर झुकाए ख़ामोश बैठे हैं। मैज़िनी ठंडी आहें भर रहा है और रफ़ेती रह-रहकर दरवाज़े पर आता है और बदमस्त

शराबियों को और दिनों से ज़्यादा बहकते और दीवानेपन की हरकतें करते देखकर अपनी ग़रीबी और मुहताजी की फ़िक्र दूर करना चाहता है। अफ़सोस! इटली का सरताज जिसकी एक ललकार पर हज़ारों आदमी अपना ख़ून बहाने के लिए तैयार हो जाते थे, आज ऐसा मुहताज हो रहा है कि उसे खाने का ठिकाना नहीं। यहाँ तक कि आज सुबह से उसने एक सिगार भी नहीं पिया। तंबाकू ही दुनिया की वह नेमत थी जिससे वह हाथ नहीं खींच सकता था और वह भी आज उसे नसीब न हुआ। मगर इस वक़्त उसे अपनी फ़िक्र नहीं, रफ़ेनी, नौजवान, ख़ुशहाल और ख़ूबसूरत होनहार रफ़ेनी की फ़िक्र जी पर भारी हो रही है। वह पूछता है कि मुझे क्या हक है कि मैं एक ऐसे आदमी को अपने साथ ग़रीबी की तकलीफ़ें झेलने पर मजबूर करूँ, जिसके स्वागत के लिए दुनिया की सब नेमतें बाँहें खोले खड़ी हैं।

इतने में एक चिट्ठीरसा ने पूछा—"जोज़ेफ़ मेज़िनी यहाँ कहीं रहता है? अपनी चिट्ठी ले जा।"

रफ़ेनी ने ख़त ले लिया और ख़ुशी के जोश से उछलकर बोला—"जोज़ेफ़, यह लो मैग्डलीन का ख़त है।"

मैज़िनी ने चौंककर ख़त ले लिया और बड़ी बेसब्री से खोला। लिफ़ाफा खोलते ही थोड़े से बालों का एक गुच्छा गिर पड़ा, जो मैग्डलीन ने क्रिसमस के उपहार के रूप में भेजा था। मैज़िनी ने उस गुच्छे को चूमा और उसे उठाकर अपने सीने की जेब में खोंस लिया। खत में लिखा था—

माइ डियर जोज़ेफ,

यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो। भगवान करे तुम्हें एक सौ क्रिसमस देखने नसीब हों। इस यादगार को हमेशा अपने पास रखना और ग़रीब मैग्डलीन को भूलना मत। मैं और क्या लिखूँ। कलेजा मुँह को आया जाता है। हाय जोज़ेफ़, मेरे प्यारे, मेरे स्वामी, मेरे मालिक जोज़ेफ़, तू मुझे कब तक तड़पाएगा। अब ज़ब्त नहीं होता। आँखों में आँसू उमड़ आते हैं। मैं तेरे साथ मुसीबतें झेलूँगी, भूखों मरूँगी, यह सब मुझे गवारा है, मगर तुझसे जुदा रहना गवारा नहीं। तुझे क़सम है, तुझे अपने ईमान की क़सम है, तुझे अपने वतन की क़सम, तुझे मेरी क़सम, यहाँ आ जा, यह आँखें तरस रही हैं, कब तुझे देखूँगी। क्रिसमस क़रीब है, मुझे क्या, जब तक ज़िंदा हूँ, तेरी हूँ।

तुम्हारी मैग्डलीन

3

मैग्डलीन का घर स्विट्ज़रलैंड में था। वह एक समृद्ध व्यापारी की बेटी थी और अनिंद्य सुंदरी। आंतरिक सौंदर्य में भी उसका जोड़ मिलना मुश्किल था। कितने ही अमीर और रईस लोग उसका पागलपन सर में रखते थे, मगर वह किसी को कुछ ख़याल में न

लाती थी। मैज़िनी जब इटली से भागा तो स्विट्ज़रलैंड में आकर शरण ली। मैग्डलीन उस वक़्त भोली-भाली जवानी की गोद में खेल रही थी। मैज़िनी की हिम्मत और कुर्बानियों की तारीफ़ें पहले ही सुन चुकी थी। कभी-कभी अपनी माँ के साथ उसके यहाँ आने लगी और आपस का मिलना-जुलना जैसे-जैसे बढ़ा और मैज़िनी के भीतरी सौंदर्य का ज्यों-ज्यों उसके दिल पर गहरा असर होता गया, उसकी मुहब्बत उसके दिल में पक्की होती गई। यहाँ तक कि उसने एक दिन ख़ुद लाज-शर्म को किनारे रखकर मैज़िनी के पैरों पर सिर रख दिया और कहा—"मुझे अपनी सेवा में स्वीकार कर लीजिए।"

मैज़िनी पर भी उस वक़्त जवानी छाई हुई थी, देश की चिंताओं ने अभी दिल को ठंडा नहीं किया था। जवानी की पुरजोश उम्मीदें दिल में लहरें मार रही थीं, मगर उसने संकल्प कर लिया था कि मैं देश और जाति पर अपने को न्यौछावर कर दूँगा। और इस संकल्प पर कायम रहा। एक ऐसी सुंदर युवती के नाजुक-नाजुक होंठों से ऐसी दरख़्वास्त सुनकर रद कर देना मैज़िनी ही जैसे संकल्प के पक्के, हियाव के पूरे आदमी का काम था।

मैग्डलीन भीगी-भीगी आँखें लिए उठी मगर निराश न हुई थी। इस असफलता ने उसके दिल में प्रेम की आग और भी तेज़ कर दी और गो आज मैज़िनी को स्विट्ज़रलैंड छोड़े कई साल गुज़रे मगर वफ़ादार मैग्डलीन अभी तक मैज़िनी को नहीं भूली। दिनों के साथ उसकी मुहब्बत और भी गाढ़ी और सच्ची होती जाती है।

मैज़िनी ख़त पढ़ चुका तो एक लंबी आह भरकर रफ़ेती से बोला—"देखा मैग्डलीन क्या कहती है?"

रफ़ेती—"उस ग़रीब की जान लेकर दम लोगे!"

मैज़िनी फिर ख़याल में डूबा—मैग्डलीन, तू नौजवान है, सुंदर है, भगवान ने तुझे अकूत दौलत दी है, तू क्यों एक ग़रीब, दुखियारे, कंगाल, फक्कड़, परदेश में मारे-मारे फिरनेवाले आदमी के पीछे अपनी ज़िंदगी मिट्टी में मिला रही है! मुझ जैसा मायूस, आफ़त का मारा हुआ आदमी तुझे क्योंकर ख़ुश रख सकेगा? नहीं, नहीं, मैं ऐसा स्वार्थी नहीं हूँ। दुनिया में बहुत से ऐसे हँसमुख ख़ुशहाल नौजवान हैं जो तुझे ख़ुश रख सकते हैं, जो तेरी पूजा कर सकते हैं। क्यों तू उनमें से किसी को अपनी गुलामी में नहीं ले लेती। मैं तेरे प्रेम, सच्चे, नेक और निःस्वार्थ प्रेम का आदर करता हूँ। मगर मेरे लिए, जिसका दिल देश और जाति पर समर्पित हो चुका है, तू एक प्यारी और हमदर्द बहन के सिवा और कुछ नहीं हो सकती। मुझ में ऐसी क्या ख़ूबी है, ऐसे कौन से गुण हैं कि तुझ जैसी देवी मेरे लिए ऐसी मुसीबतें झेल रही है। आह मैज़िनी, कम्बख़्त मैज़िनी, तू कहीं का न हुआ। जिनके लिए तूने अपने को न्यौछावर कर दिया, वह तेरी सूरत से नफ़रत करते हैं। जो तेरे हमदर्द हैं, वह समझते हैं तू सपने देख रहा है।

इन ख़यालों से बेबस होकर मैज़िनी ने कलम-दावात निकाली और मैग्डलीन को ख़त लिखना शुरू किया।

4

प्यारी मैग्डलीन,

तुम्हारा ख़त उस अनमोल तोहफ़े के साथ आया। मैं तुम्हारा हृदय से कृतज्ञ हूँ कि तुमने मुझ जैसे बेकस और बेबस आदमी को इस भेंट के काबिल समझा। मैं उसकी हमेशा क़द्र करूँगा। यह मेरे पास हमेशा एक सच्चे निःस्वार्थ और अमर प्रेम की स्मृति के रूप में रहेगी और जिस वक़्त यह मिट्टी का शरीर क़ब्र की गोद में जाएगा मेरी आख़िरी वसीयत यह होगी कि यह यादगार मेरे जनाजे के साथ दफ़न कर दी जाए। मैं शायद खुद उस ताक़त का अंदाज़ा नहीं लगा सकता जो मुझे इस ख़याल से मिलती है कि दुनिया में जहाँ चारों तरफ़ मेरे बारे में बदगुमानियाँ फैल रही हैं, कम-से-कम एक ऐसी नेक औरत है जो मेरी नियत की सफ़ाई और मेरी बुराइयों से पाक कोशिश पर सच्ची निष्ठा रखती है और शायद तुम्हारी हमदर्दी का यकीन है कि मैं ज़िंदगी की ऐसी कठिन परीक्षाओं में सफल होता जाता हूँ।

मगर प्यारी बहन, मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। तुम मेरी तकलीफ़ों के ख़याल से अपना दिल मत दुखाना। मैं बहुत आराम से हूँ। तुम्हारे प्रेम जैसी अक्षयनिधि पाकर भी अगर मैं कुछ थोड़े से शारीरिक कष्टों का रोना रोऊँ तो मुझे जैसा अभागा आदमी दुनिया में कौन होगा।

मैंने सुना है, तुम्हारी सेहत रोज़-ब-रोज़ गिरती जाती है। मेरा जी बेअख़्तियार चाहता है कि तुझे देखूँ। काश मैं आज़ाद होता, काश मेरा दिल इस क़ाबिल होता कि तुझे भेंट चढ़ा सकता। मगर एक पज़मुर्दा उदास दिल तेरे क़ाबिल नहीं। मैग्डलीन, ख़ुदा के वास्ते अपनी सेहत का ख़याल रक्खो, मुझे शायद इससे ज़्यादा और किसी बात की तकलीफ़ न होगी कि प्यारी मैग्डलीन तकलीफ़ में है और मेरे लिए! तेरा पाकीज़ा चेहरा इस वक़्त निगाहों के सामने है। मेगा! देखो मुझसे नाराज़ न हो। ख़ुदा की क़सम मैं तुम्हारे क़ाबिल नहीं हूँ। आज क्रिसमस का दिन है, तुम्हें क्या तोहफ़ा भेजूँ। ख़ुदा तुम पर हमेशा अपनी बेइंतहा बरकतों का साया रक्खे। अपनी माँ को मेरी तरफ़ से सलाम कहना। तुम लोगों को देखने की इच्छा है। देखें कब तक पूरी होती है।

तेरा जोज़ेफ़

5

इस वाक़ये के बाद बहुत दिन गुज़र गए। जोज़ेफ़ मैजिनी फिर इटली पहुँचा और रोम में पहली बार जनता के राज्य का एलान किया गया। तीन आदमी राज्य की व्यवस्था के लिए निर्वाचित किए गए। मैज़िनी भी उनमें एक था। मगर थोड़े ही दिनों में फ्रांस की ज़्यादतियों और पीडमांट के बादशाह की दगा-बाज़ियों की बदौलत इस जनता के

राज का खात्मा हो गया और उसके कर्मचारी और मंत्री अपनी जान लेकर भाग निकले। मैज़िनी अपने विश्वसनीय मित्रों की दग़ाबाज़ी और मौक़ा-परस्ती पर पेचोताव खाता हुआ खस्ताहाल और परेशान रोम की गलियों की ख़ाक छानता फिरता था। उसका यह सपना कि रोम को मैं ज़रूर एक दिन जनता के राज का केंद्र बनाकर छोड़ूँगा, पूरा होकर फिर तितर-बितर हो गया।

दोपहर का वक़्त था, धूप से परीशान होकर वह एक पेड़ की छाया में ज़रा दम लेने के लिए ठहर गया कि सामने से एक लेडी आती हुई दिखाई दी। उसका चेहरा पीला था, कपड़े बिलकुल सफ़ेद और सादा, उम्र तीस साल से ज़्यादा। मैज़िनी आत्म-विस्मृति की दशा में था कि यह स्त्री प्रेम से व्यग्र होकर उसके गले लिपट गई। मैज़िनी ने चौंककर देखा, बोला—"प्यारी मैग्डलीन, तुम हो!" यह कहते-कहते उसकी आँखें भीग गईं। मैग्डलीन ने रोककर कहा—"जोज़ेफ़!" और मुँह से कुछ न निकला।

दोनों ख़ामोश कई मिनट तक रोते रहे। आख़िर मैज़िनी बोला—"तुम यहाँ कब आई, मेगा?"

मैग्डलीन—"मैं यहाँ कई महीने से हूँ, मगर तुमसे मिलने की कोई सूरत नहीं निकलती थी। तुम्हें काम-काज में डूबा हुआ देखकर और यह समझकर कि अब तुम्हें मुझ जैसी औरत की हमदर्दी की ज़रूरत बाक़ी नहीं रही, तुमसे मिलने की कोई ज़रूरत न देखती थी। (रुककर) क्यों जोज़ेफ़, यह क्या कारण है कि अक्सर लोग तुम्हारी बुराई किया करते हैं? क्या वह अंधे हैं, क्या भगवान ने उन्हें आँखें नहीं दीं?"

जोज़ेफ़—"मेगा, शायद वह लोग सच कहते होंगे। फ़िलहाल मुझमें वह गुण नहीं हैं जो मैं शान के मारे अक्सर कहा करता हूँ कि मुझमें हैं या जिन्हें तुम अपनी सरलता और पवित्रता के कारण मुझमें मौजूद समझती हो। मेरी कमज़ोरियाँ रोज़-ब-रोज़ मुझे मालूम होती जाती हैं।"

मैग्डलीन—"जभी तो तुम इस काबिल हो कि मैं तुम्हारी पूजा करूँ। मुबारक है वह इंसान जो ख़ुदी को मिटाकर अपने को हेय समझने लगे। जोज़ेफ़, भगवान के लिए मुझे इस तरह अपने से मत अलग करो। मैं तुम्हारी हो गई हूँ और मुझे विश्वास है कि तुम वैसे ही पाक-साफ़ हो जैसा हमारा ईसू था। यह ख़याल मेरे मन पर अंकित हो गया है और अगर उसमें ज़रा कमज़ोरी आ गई थी तो तुम्हारी इस वक़्त की बातचीत ने उसे और भी पक्का कर दिया। बेशक तुम फ़रिश्ते हो। मगर मुझे अफ़सोस है कि दुनिया में क्यों लोग इतने तंग-दिल और अंधे होते हैं और ख़ासतौर पर वह लोग जिन्हें मैं तंग ख़याल से ऊपर समझती थी। रफ़ेती, रसारीनो, पलाइनो, बर्नाबास यह सब-के-सब तुम्हारे दोस्त हैं। तुम उन्हें अपना दोस्त समझते हो, मगर वह सब तुम्हारे दुश्मन हैं और उन्होंने मुझसे मेरे सामने सैकड़ों ऐसी बातें तुम्हारे बारे में कही हैं, जिनका मैं मरकर भी यक़ीन नहीं कर सकती। वह सब ग़लत-झूठ बकते हैं, हमारा प्यारा जोज़ेफ़ वैसा ही है जैसा मैं समझती थी, बल्कि उससे भी अच्छा। क्या

यह भी तुम्हारी एक ज़ाती ख़ूबी नहीं है कि तुम अपने दुश्मनों को भी अपना समझते हो?"

जोज़ेफ़ से अब सब्र न हो सका। मैग्डलीन के मुरझाए हुए पीले-पीले हाथों को चूमकर कहा—"प्यारी मेगा, मेरे दोस्त बेक़सूर हैं और मैं ख़ुद दोषी हूँ। (रोकर) जो कुछ उन्होंने कहा वह सब मेरे ही इशारे और मर्ज़ी के अनुसार था, मैंने तुमसे दग़ा की मगर मेरी प्यारी बहन, सिर्फ़ इसलिए था कि तुम मेरी तरफ़ से बेपरवाह हो जाओ और अपनी जवानी के बाक़ी दिन ख़ुशी से बसर करो। मैं बहुत शर्मिंदा हूँ। मैंने तुम्हे ज़रा भी न समझा था। मैं तुम्हारे प्रेम की गहराई से अपरिचित था, क्योंकि मैं जो चाहता था उसका उल्टा असर हुआ। मगर मेगा, मैं माफ़ी चाहता हूँ।"

मैग्डलीन—"हाय जोज़ेफ़, तुम मुझसे माफ़ी माँगते हो, ऐं, जो दुनिया के सब इंसानों से ज़्यादा नेक, ज़्यादा सच्चे और ज़्यादा लायक हो! मगर हाँ, बेशक तुमने मुझे बिलकुल न समझा था जोज़ेफ़! यह तुम्हारी ग़लती थी। मुझे ताज्जुब तो यह है कि तुम्हारा ऐसा पत्थर का दिल कैसे हो गया।"

जोज़ेफ़—"मेगा, ईश्वर जानता है जब मैंने रफ़ेती को यह सब सिखा-पढ़ाकर तुम्हारे पास भेजा है, उस वक़्त मेरे दिल की क्या कैफ़ियत थी। मैं जो दुनिया में नेकनामी को सबसे ज़्यादा क़ीमती समझता हूँ और मैं जिसने दुश्मनों के जाती हमलों को कभी पूरी तरह काटे बिना न छोड़ा, अपने मुँह से सिखाऊँ कि जाकर मुझे बुरा कहो! मगर केवल इसलिए था कि तुम अपने शरीर का ध्यान रक्खो और मुझे भूल जाओ।"

सच्चाई यह थी कि मैज़िनी ने मैग्डलीन के प्रेम को रोज़-ब-रोज़ बढ़ते देखकर एक ख़ास हिक्मत की थी। उसे ख़ूब मालूम था कि मैग्डलीन के प्रेमियों में से कितने ही ऐसे हैं जो उससे ज़्यादा सुंदर, ज़्यादा दौलतमंद और ज़्यादा अक्लवाले हैं, मगर वह किसी को ख़याल में नहीं लाती। मुझमें उसके लिए जो खास आकर्षण है, वह मेरे कुछ खास गुण हैं और अगर मेरे ऐसे मित्र, जिनका आदर मैग्डलीन भी करती है, उससे मेरी शिकायत करके इन गुणों का महत्त्व उसके दिल से मिटा दें तो वह खुद-ब-खुद मुझे भूल जाएगी। पहले तो उसके दोस्त इस काम के लिए तैयार न होते थे मगर इस डर से कि कहीं मैग्डलीन ने घुल-घुलकर जान दे दी तो मैज़िनी ज़िंदगी भर हमें माफ़ न करेगा, उन्होंने यह अप्रिय काम स्वीकार कर लिया था। वह स्विट्ज़रलैंड गए और जहाँ तक उनकी जबान में ताक़त थी, अपने दोस्त की पीठ पीछे बुराई करने में खर्च की। मगर मैग्डलीन पर मुहब्बत का रंग ऐसा गहरा चढ़ा हुआ था कि इन कोशिशों का इसके सिवाय और कोई नतीजा न हो सकता था जो हुआ। वह एक रोज बेक़रार होकर घर से निकल खड़ी हुई और रोम में आकर एक सराय में ठहर गई। यहाँ उसका रोज़ का नियम था कि मैज़िनी के पीछे-पीछे उसकी निगाह से दूर घूमा करती मगर उसे आश्वस्त और अपनी सफलता से प्रसन्न देखकर उसे छेड़ने का साहस न करती

थी। आख़िरकार जब फिर उस पर असफलताओं का वार हुआ और वह फिर दुनिया में बेकस और बेबस हो गया तो मैग्डलीन ने समझा, अब इसको किसी हमदर्द की ज़रूरत है। और पाठक देख चुके हैं जिस तरह वह मैज़िनी से मिली।

6

मैज़िनी रोम से फिर इंगलिस्तान पहुँचा और यहाँ एक अरसे तक रहा। सन् 1870 में उसे ख़बर मिली कि सिसली की रिआया बग़ावत पर आमादा है और उन्हें मैदाने जंग में लाने के लिए एक उभारनेवाले की ज़रूरत है। बस वह फ़ौरन सिसली पहुँचा मगर उसके जाने के पहले शाही फ़ौज ने बाग़ियों को दबा दिया था। मैज़िनी जहाज़ से उतरते ही गिरफ़्तार करके एक क़ैदख़ाने में डाल दिया गया। मगर चूँकि अब वह बहुत बुड्ढा हो गया था, शाही हुक्काम ने इस डर से कि कहीं वह क़ैद की तकलीफ़ों से मर जाए तो जनता को संदेह होगा कि बादशाह की प्रेरणा से वह क़त्ल कर डाला गया, उसे रिहा कर दिया। निराश और टूटा हुआ दिल लिए मैज़िनी फिर स्विट्ज़रलैंड की तरफ़ रवाना हुआ। उसकी ज़िंदगी की तमाम उम्मीदें ख़ाक में मिल गईं। इसमें शक नहीं कि इटली के एकताबद्ध हो जाने के दिन बहुत पास आ गए थे मगर उसकी हुकूमत की हालत उससे हरगिज़ बेहतर न थी जैसी आस्ट्रिया या नेपल्स के शासन-काल में। अंतर यह था कि पहले वह एक-दूसरी क़ौम की ज्यादतियों से परेशान थे, अब अपनी क़ौम के हाथों। इन निरंतर असफलताओं ने दृढ़व्रती मैज़िनी के दिल में यह ख़याल पैदा किया कि शायद जनता की राजनीतिक शिक्षा इस हद तक नहीं हुई, कि वह अपने लिए एक प्रजातांत्रिक शासक-व्यवस्था की बुनियाद डाल सके और इसी नीयत से वह स्विट्ज़रलैंड जा रहा था कि वहाँ से एक ज़बर्दस्त क़ौमी अख़बार निकाले, क्योंकि इटली में उसे अपने विचारों को फैलाने की इजाज़त न थी। वह रात-भर नाम बदलकर रोम में ठहरा। फिर वहाँ से अपनी जन्मभूमि जिनेवा में आया और अपनी नेक माँ की क़ब्र पर फूल चढ़ाए। इसके बाद स्विट्ज़रलैंड की तरफ़ चला और साल-भर तक कुछ विश्वसनीय मित्रों की सहायता से अख़बार निकालता रहा। मगर निरंतर चिंता और कष्टों ने उसे बिलकुल कमज़ोर कर दिया था। सन् 1870 में वह सेहत के ख़याल से इंगलिस्तान आ रहा था कि आल्प्स पर्वत की तलहटी में निमोनिया की बीमारी ने उसके जीवन का अंत कर दिया और वह एक अरमानों से भरा हुआ दिल लिए स्वर्ग को सिधारा। इटली का नाम मरते दम तक उसकी ज़बान पर था। यहाँ भी उसके बहुत से समर्थक और हमदर्द शरीक थे। उसका जनाज़ा बड़ी धूम से निकला। हज़ारों आदमी साथ थे और एक बड़ी सुहानी खुली हुई जगह पर पानी के एक साफ़ चश्मे के किनारे पर इस क़ौम के लिए मर मिटनेवाले को सुला दिया गया।

7

मैज़िनी को क़ब्र में सोये हुए आज तीन दिन गुज़र गए। शाम का वक़्त था, सूरज की पीली किरणें इस ताज़ा क़ब्र पर हसरत भरी आँखों से ताक रही हैं। तभी अधेड़, ख़ूबसूरत औरत, सुहाग के जोड़े पहने लड़खड़ाती हुई आई। यह मैग्डलीन थी। उसका चेहरा शोक में डूबा हुआ था, बिलकुल मुर्झाया हुआ, कि जैसे अब इस शरीर में जान बाक़ी नहीं रही। वह इस क़ब्र के सिरहाने बैठ गई और अपने सीने पर खुँसे हुए फूल उस पर चढ़ाए, फिर घुटनों के बल बैठकर सच्चे दिल से दुआ करती रही। जब ख़ूब अँधेरा हो गया, बर्फ पड़ने लगी तो वह चुपके से उठी और ख़ामोश सर झुकाए क़रीब के एक गाँव में जाकर रात बसर की और भोर की बेला अपने मकान की तरफ़ रवाना हुई।

मैग्डलीन अब अपने घर की मालिक थी। उसकी माँ बहुत ज़माना हुआ, मर चुकी थी। उसने मैज़िनी के नाम से एक आश्रम बनवाया और खुद आश्रम की ईसाई लेडियों के लिबास में वहाँ रहने लगी। मैज़िनी का नाम उसके लिए एक निहायत पुरदर्द और दिलकश गीत से कम न था। हमदर्दों और क़द्रदानों के लिए उसका घर उनका अपना घर था। मैज़िनी के ख़त उसकी इंजील और मैज़िनी का नाम उसका ईश्वर था। आस-पास के ग़रीब लड़कों और मुफ़लिस बीवियों के लिए यही बरकत से भरा हुआ नाम जीविका का साधन था। मैग्डलीन तीन बरस तक ज़िंदा रही और जब मरी तो अपनी आख़िरी वसीयत के मुताबिक उसी आश्रम में दफ़न की गई। उनका प्रेम मामूली प्रेम न था, एक पवित्र और निष्कलंक भाव था और वह हमको उन प्रेम-रस में डूबी हुई गोपियों की याद दिलाता है जो श्रीकृष्ण के प्रेम में वृंदावन की कुंजों और गलियों में मँडलाया करती थीं, जो उससे मिले होने पर भी उससे अलग थीं और जिनके दिलों में प्रेम के सिवा और किसी चीज़ की जगह न थी। मैज़िनी का आश्रम आज तक क़ायम है और ग़रीब और साधु-संत अभी तक मैज़िनी का पवित्र नाम लेकर वहाँ हर तरह का सुख पाते हैं।

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1908*)
(*'सोज़ेवतन', उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1908*)
(*'सोज़ेवतन', हिंदी कहानी-संग्रह, 1961 से प्रस्तुत*)
(*'गुप्त-धन'1, 1962*)

दुनिया का सबसे अनमोल रतन

दिलफ़िगार एक कँटीले पेड़ के नीचे दामन चाक किए बैठा हुआ ख़ून के आँसू बहा रहा था। वह सौंदर्य की देवी यानी मलका दिलफ़रेब का सच्चा और जान देनेवाला प्रेमी था। उन प्रेमियों में नहीं, जो इत्र-फुलेल में बसकर और शानदार कपड़ों से सजकर आशिक़ के वेश में माशूक़ियत का दम भरते हैं, बल्कि उन सीधे-सादे, भोले-भाले फ़िदाइयों में जो जंगल और पहाड़ों से सर टकराते हैं और फ़रियाद मचाते फिरते हैं। दिलफ़रेब ने उससे कहा था कि अगर तू मेरा सच्चा प्रेमी है, तो जा और दुनिया की सबसे अनमोल चीज़ लेकर मेरे दरबार में आ। तब मैं तुझे अपनी गुलामी में क़बूल करूँगी। अगर तुझे वह चीज़ न मिले तो ख़बरदार इधर रुख़ न करना, वर्ना सूली पर खिंचवा दूँगी। दिलफ़िगार को अपनी भावनाओं के प्रदर्शन का, शिकवे-शिकायत का, प्रेमिका के सौंदर्य-दर्शन का तनिक भी अवसर न दिया गया। दिलफ़रेब ने ज्यों ही यह फ़ैसला सुनाया उसके चोबदारों ने ग़रीब दिलफ़िगार को धक्के देकर बाहर निकाल दिया और आज तीन दिन से यह आफ़त का मारा आदमी उसी कँटीले पेड़ के नीचे उसी भयानक मैदान में बैठा हुआ सोच रहा है कि क्या करूँ। दुनिया की सबसे अनमोल चीज़ मुझको मिलेगी? नामुमकिन! और वह है क्या? क़ारूँ का खज़ाना? आबेहयात? खुसरो का ताज? जामे-जम? तख़्ते ताऊस? परबेज़ की दौलत? नहीं, यह चीज़ें हरगिज़ नहीं। दुनिया में ज़रूर इनसे भी महँगी, इनसे भी अनमोल चीज़ें मौजूद हैं मगर वह क्या हैं? कैसे मिलेंगी? या खुदा, मेरी मुश्किल क्योंकर आसान होगी?

दिलफ़िगार इन्हीं ख़यालों में चक्कर खा रहा था और अक्ल कुछ काम नहीं करती थी। मुनीर शामी को हातिम-सा मददगार मिल गया। ऐ काश कोई मेरा भी मददगार हो जाता, ऐ काश मुझे भी उस चीज़ का, जो दुनिया की सबसे बेशक़ीमती चीज़ है, नाम बतला दिया जाता! बला से वह चीज़ हाथ न आती मगर मुझे इतना तो मालूम हो जाता कि वह किस क़िस्म की चीज़ है। मैं घड़े बराबर मोती की खोज में जा सकता हूँ। मैं समुंदर का गीत, पत्थर का दिल, मौत की आवाज़ और इनसे भी ज़्यादा बेनिशान चीज़ों की तलाश में कमर कस सकता हूँ। मगर दुनिया की सबसे अनमोल चीज़! यह मेरी कल्पना की उड़ान से बहुत ऊपर है।

आसमान पर तारे निकल आए थे। दिलफ़िगार यकायक ख़ुदा का नाम लेकर उठा और एक तरफ़ को चल खड़ा हुआ। भूखा-प्यासा, नंगे बदन, थकन से चूर, वह बरसों वीरानों और आबादियों की ख़ाक छानता फिरा, तलवे काँटों से छलनी हो गए, शरीर में हड्डियाँ-ही-हड्डियाँ दिखाई देने लगीं मगर वह चीज़, जो दुनिया की सबसे बेशक़ीमत चीज़ थी, न मिली और न उसका कुछ निशान मिला।

एक रोज़ वह भूलता-भटकता एक मैदान में जा निकला, जहाँ हज़ारों आदमी ग़ोल बाँधे खड़े थे। बीच में कई अमामे और चोग़ेवाले दढ़ियल क़ाजी अफ़सरी शान से बैठे हुए आपस में कुछ सलाह-मशबिरा कर रहे थे और इस जमात से ज़रा दूर पर एक सूली खड़ी थी। दिलफ़िगार कुछ तो कमज़ोरी की वजह से और कुछ यहाँ की कैफ़ियत देखने के इरादे से ठिठक गया। क्या देखता है कि कई लोग नंगी तलवारें लिए, एक क़ैदी को, जिसके हाथ-पैर में ज़ंजीरें थीं, पकड़े चले आ रहे हैं। सूली के पास पहुँचकर सब सिपाही रुक गए और क़ैदी की हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ सब उतार ली गईं। इस अभागे आदमी का दामन सैकड़ों बेगुनाहों के ख़ून के छीटों से रंगीन था और उसका दिल नेकी के ख़याल और रहम की आवाज़ से ज़रा भी परिचित न था। उसे काला चोर कहते थे। सिपाहियों ने उसे सूली के तख़्ते पर खड़ा कर दिया, मौत की फाँसी उसकी गर्दन में डाल दी और जल्लादों ने तख़्ता खींचने का इरादा किया कि वह अभागा मुजरिम चीखकर बोला—ख़ुदा के वास्ते मुझे एक पल के लिए फाँसी से उतार दो, ताकि अपने दिल की आख़िरी आरजू निकालू लूँ। यह सुनते ही चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया। लोग अचंभे में आकर ताकने लगे। क़ाज़ियों ने एक मरनेवाले आदमी की अंतिम याचना को रद करना उचित न समझा और बदनसीब पापी काला चोर ज़रा देर के लिए फाँसी से उतार लिया गया।

इसी भीड़ में एक ख़ूबसूरत भोला-भाला लड़का एक छड़ी पर सवार होकर अपने पैरों पर उछल-उछल फ़र्ज़ी घोड़ा दौड़ा रहा था और अपनी सादगी की दुनिया में ऐसा मगन था कि जैसे वह इस वक़्त सचमुच अरबी घोड़े का शहसवार है। उसका चेहरा उस सच्ची ख़ुशी से क़मल की तरह खिला हुआ था जो चंद दिनों के लिए बचपन ही में हासिल होती है और जिसकी याद हमको मरते दम तक नहीं भूलती। उसका दिल अभी तक पाप की गर्द और धूल से अछूता था और मासूमियत उसे अपनी गोद में खिला रही थी।

बदनसीब काला चोर फाँसी से उतरा। हज़ारों आँखें उस पर गड़ी हुई थीं। वह उस लड़के के पास आया और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगा। उसे इस वक़्त वह ज़माना याद आया जब वह ख़ुद ऐसा ही भोला-भाला, ऐसा ही ख़ुश-ब-खुर्रम और दुनिया की गंदगियों से ऐसा ही पाक-साफ़ था। माँ गोदियों में खिलाती थी, बाप बलाएँ लेता था और सारा कुनबा जान न्यौछावर करता था। आह, काले चोर के दिल पर इस वक़्त बीते हुए दिनों की याद का इतना असर हुआ कि उसकी आँखों से, जिन्होंने दम

तोड़ती हुई लाशों को तड़पते देखा और न झपकीं, आँसू का एक क़तरा टपक पड़ा। दिलफ़िगार ने लपककर उस अनमोल मोती को हाथ में ले लिया और उसके दिल ने कहा—बेशक यह दुनिया की सबसे अनमोल चीज़ है जिस पर तख़्ते ताऊस और जामे जम और आबेहयात और ज़रे परवेज़ सब न्यौछावर हैं।

इस ख़याल से खुश होता, कामयाबी की उम्मीद में सरमस्त, दिलफ़िगार अपनी माशूक़ा दिलफ़रेब के शहर मीनोसवाद को चला। मगर ज्यों-ज्यों मंज़िलें तय होती जाती थीं, उसका दिल बैठा जाता था कि कहीं उस चीज़ की, जिसे मैं दुनिया की सबसे बेशक़ीमत चीज़ समझता हूँ, दिलफ़रेब की आँखों में क़द्र न हुई तो मैं फाँसी पर चढ़ा दिया जाऊँगा और इस दुनिया से नामुराद जाऊँगा। लेकिन जो हो सो हो, अब तो क़िस्मत-आज़माई है। आख़िरकार पहाड़ और दरिया तय करते शहर मीनोसवाद में आ पहुँचा और दिलफ़रेब की ड्योढ़ी पर जाकर विनती की कि थकान से टूटा हुआ दिलफ़िगार ख़ुदा के फ़ज़ल से हुक्म की तामील करके आया है और आपके क़दम चूमना चाहता है। दिलफ़रेब ने फ़ौरन अपने सामने बुला भेजा और एक सुनहरे परदे की ओट से फ़रमाइश की कि वह अनमोल चीज़ पेश करो। दिलफ़िगार ने आशा और भय की एक विचित्र मनःस्थिति में वह बूँद पेश की और उसकी सारी कैफ़ियत बहुत पुरअसर लफ़्ज़ों में बयान की। दिलफ़रेब ने पूरी कहानी बहुत ग़ौर से सुनी और वह भेंट हाथ में लेकर ज़रा देर तक ग़ौर करने के बाद बोली—"दिलफ़िगार, बेशक तूने दुनिया की एक बेशक़ीमत चीज़ ढूँढ़ निकाली, तेरी हिम्मत और तेरी सूझ-बूझ की दाद देती हूँ! मगर यह दुनिया की सबसे बेशक़ीमत चीज़ नहीं, इसीलिए तू यहाँ से जा और फिर कोशिश कर, शायद अब की तेरे हाथ वह मोती लगे और तेरी क़िस्मत में मेरी गुलामी लिखी हो। जैसा कि मैंने पहले ही बतला दिया था, मैं तुझे फाँसी पर चढ़वा सकती हूँ, मगर मैं तेरी जाँबख़्शी करती हूँ इसलिए कि तुझमें वह गुण मौजूद हैं, जो मैं अपने प्रेमी में देखना चाहती हूँ और मुझे यक़ीन है कि तू ज़रूर कभी-न-कभी कामयाब होगा।"

नाकाम और नामुराद दिलफ़िगार इस माशूक़ाना इनायत से ज़रा दिलेर होकर बोला—"ऐ दिल की रानी, बड़ी मुद्दत के बाद तेरी ड्योढ़ी पर सजदा करना नसीब होता है। फिर ख़ुदा जाने ऐसे दिन कब आएँगे, क्या तू अपने जान देनेवाले आशिक़ के बुरे हाल पर तरस न खाएगी और क्या अपने रूप की एक झलक दिखाकर इस जलते हुए दिलफ़िगार को आनेवाली सख़्तियों के झेलने की ताक़त न देगी? तेरी एक मस्त निगाह के नशे से चूर होकर मैं वह कर सकता हूँ जो आज तक किसी से न बन पड़ा हो।"

दिलफ़रेब आशिक़ की यह चाव-भरी बातें सुनकर गुस्सा हो गई और हुक्म दिया कि इस दीवाने को खड़े-खड़े दरबार से निकाल दो। चोबदार ने फ़ौरन ग़रीब दिलफ़िगार को धक्का देकर यार के कूचे से बाहर निकाल दिया।

कुछ देर तक तो दिलफ़िगार अपनी निष्ठुर प्रेमिका की इस कठोरता पर आँसू बहाता रहा और फिर सोचने लगा कि अब कहाँ जाऊँ। मुद्दतों रास्ते नापने और जंगलों में भटकने के बाद आँसू की यह बूँद मिली थी, अब ऐसी कौन-सी चीज़ है जिसकी क़ीमत इस आबदार मोती से ज़्यादा हो। हज़रते खिज्र! तुमने सिकंदर को आबेहयात के कुएँ का रास्ता दिखाया था, क्या मेरी बाँह न पकड़ोगे? सिकंदर सारी दुनिया का मालिक था। मैं तो बेघरबार मुसाफ़िर हूँ। तुमने कितनी ही डूबती किश्तियाँ किनारे लगाई हैं, मुझ ग़रीब का बेड़ा भी पार करो। ऐ आली मुक़ाम जिबरील! कुछ तुम्हीं इस नीमजान दुःखी आशिक़ पर तरस खाओ। तुम ख़ुदा के एक ख़ास दरबारी हो, क्या मेरी मुश्किल आसान न करोगे? ग़रज़ यह कि दिलफ़िगार ने बहुत फ़रियाद मचाई, मगर उसका हाथ पकड़ने के लिए कोई सामने न आया। आख़िर निराश होकर वह पागलों की तरह दुबारा एक तरफ़ को चल खड़ा हुआ।

दिलफ़िगार ने पूरब से पच्छिम तक और उत्तर से दक्खिन तक कितने ही जंगलों और वीरानों की ख़ाक छानी, कभी बर्फ़िस्तानी चोटियों पर सोया, कभी डरावनी घाटियों में भटकता फिरा, मगर जिस चीज़ की धुन थी वह न मिली। यहाँ तक कि उसका शरीर हड्डियों का एक ढाँचा रह गया।

एक रोज़ वह शाम के वक़्त किसी नदी के किनारे ख़स्ताहाल पड़ा हुआ था। बेख़ुदी के नशे से चौंका तो क्या देखता है कि चंदन की एक चिता बनी हुई है और उस पर एक युवती सुहाग के जोड़े पहने सोलहो सिंगार किए बैठी है, उसकी जाँघ पर उसके प्यारे पति का सर है। हज़ारों आदमी गोल बाँधे खड़े हैं और फूलों की बरखा कर रहे हैं। यकायक चिता में से खुद-ब-खुद एक लपक उठी। सती का चेहरा उस वक़्त एक पवित्र भाव से आलोकित हो रहा था, चिता की पवित्र लपटें उसके गले से लिपट गईं और दम-के-दम में वह फूल-सा शरीर राख का ढेर हो गया। प्रेमिका ने अपने को प्रेम पर न्यौछावर कर दिया और दो प्रेमियों के सच्चे, पवित्र, अमर प्रेम की अंतिम लीला आँख से ओझल हो गई। जब सब लोग अपने घरों को लौटे, तो दिलफ़िगार चुपके से उठा और अपने चाक-दामन कुरते में यह राख का ढेर समेट लिया और इस मुट्ठी भर राख को दुनिया की सबसे अनमोल चीज़ समझता हुआ, सफलता के नशे में चूर, यार के कूचे की तरफ़ चला। अबकी ज्यों-ज्यों वह अपनी मंजिल के क़रीब आता था, उसकी हिम्मत बढ़ती जाती थी। कोई उसके दिल में बैठा हुआ कह रहा था—अबकी तेरी जीत है और इस ख़याल ने उसके दिल को जो-जो सपने दिखाए उनकी चर्चा व्यर्थ है। आख़िरकार वह शहर मीनोसवाद में दाख़िल हुआ और दिलफ़रेब की ऊँची ड्योढ़ी पर जाकर ख़बर दी कि दिलफ़िगार सुर्ख़-रू होकर लौटा है, और हुज़ूर के सामने आना चाहता है। दिलफ़रेब ने जाँबाज़ आशिक़ को फ़ौरन दरबार में बुलाया और उस चीज़ के लिए, जो दुनिया की सबसे बेशक़ीमत चीज़ थी, हाथ फैला दिया। दिलफ़िगार ने हिम्मत करके उसकी चाँदी जैसी कलाई को चूम

लिया और मुट्ठी-भर राख को उसकी हथेली में रखकर सारी कैफ़ियत दिल को पिघला देनेवाले लफ़्ज़ों में कह सुनाई और अपनी सुंदर प्रेमिका के होंठों से अपनी क़िस्मत का मुबारक फ़ैसला सुनने के लिए इंतज़ार करने लगा। दिलफ़रेब ने उस मुट्ठी-भर राख को आँखों से लगा लिया और कुछ देर तक विचारों के सागर में डूबे रहने के बाद बोली—"ऐ जान निछावर करनेवाले आशिक़ दिलफ़िगार! बेशक यह राख जो तू लाया है, जिसमें लोहे को सोना कर देने की सिफ़त है, दुनिया की बहुत बेशक़ीमती चीज़ है और मैं सच्चे दिल से तेरी एहसानमंद हूँ कि तूने ऐसी अनमोल भेंट दी। मगर दुनिया में इससे भी ज़्यादा अनमोल कोई चीज़ है, जा उसे तलाश कर और तब मेरे पास आ। मैं तहेदिल से दुआ करती हूँ कि ख़ुदा तुझे कामयाब करे।" यह कहकर वह सुनहरे परदे से बाहर आई और माशूक़ाना अदा से अपने रूप का जलवा दिखाकर फिर नज़रों से ओझल हो गई। एक बिजली थी कि कौंधी और फिर बादलों के परदे में छिप गई। अभी दिलफ़िगार के होश-हवास ठिकाने पर न आने पाए थे कि चोबदार ने मुलायमियत से उसका हाथ पकड़कर यार के कूचे से उसको निकाल दिया और फिर तीसरी बार वह प्रेम का पुजारी निराशा के अथाह समुंद्र में गोता खाने लगा।

दिलफ़िगार का हियाव छूट गया। उसे यक़ीन हो गया कि मैं दुनिया में इसी तरह नाशाद और नामुराद मर जाने के लिए पैदा किया गया था और अब इसके सिवा और कोई चारा नहीं कि किसी पहाड़ पर चढ़कर नीचे कूद पड़ूँ, ताकि माशूक़ के ज़ुल्मों की फ़रियाद करने के लिए एक हड्डी भी बाक़ी न रहे। वह दीवाने की तरह उठा और गिरता-पड़ता एक गगनचुंबी पहाड़ की चोटी पर जा पहुँचा। किसी और समय वह ऐसे ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने का साहस न कर सकता था, मगर इस वक़्त जान देने के जोश में उसे वह पहाड़ एक मामूली टेकरी से ज़्यादा ऊँचा न नज़र आया। क़रीब था कि वह नीचे कूद पड़े कि हरे-हरे कपड़े पहने हुए और हीर अमामा बाँधे एक बुज़ुर्ग एक हाथ में तसबीह और दूसरे हाथ में लाठी लिए बरामद हुए और हिम्मत बढ़ानेवाले स्वर में बोले—"दिलफ़िगार, नादान दिलफ़िगार, यह क्या बुज़दिलों जैसी हरकत है! तू मुहब्बत का दावा करता है और तुझे इतनी भी ख़बर नहीं कि मज़बूत इरादा मुहब्बत के रास्ते की पहली मंज़िल है? मर्द बन और यों हिम्मत न हार। पूरब की तरफ़ एक देश है, जिसका नाम हिंदोस्तान है, वहाँ जा और तेरी आरज़ू पूरी होगी।"

यह कहकर हज़रते ख़िज़्र ग़ायब हो गए। दिलफ़िगार ने शुक्रिए की नमाज़ अदा की और ताज़ा हौसले, ताज़ा जोश और अलौकिक सहायता का सहारा पाकर ख़ुश-ख़ुश पहाड़ से उतरा और हिंदोस्तान की तरफ़ चल पड़ा।

मुद्दतों तक काँटे से भरे हुए जंगलों, आग बरसानेवाले रेगिस्तानों, कठिन घाटियों और अलंघ्य पर्वतों को तय करने के बाद दिलफ़िगार हिंद की पाक सरज़मीन में दाख़िल हुआ और एक ठंडे पानी के सोते में सफ़र की तकलीफ़ें धोकर थकान के मारे नदी के किनारे लेट गया। शाम होते-होते वह एक चटियल मैदान में पहुँचा, जहाँ

बेशुमार अधमरी और बेज़ा लाशें बिना कफ़न के पड़ी हुई थीं। चील-कौए और बहशी दरिंदे मरे पड़े थे और सारा मैदान ख़ून से लाल हो रहा था। यह डरावना दृश्य देखते ही दिलफ़िगार का जी दहल गया। या ख़ुदा, किस मुसीबत में जान फँसी, मरनेवालों का कराहना, सिसकना और एड़ियाँ रगड़कर जान देना, दरिंदों का हड्डियों को नोचना और गोश्त के लोथड़ों को लेकर भागना, ऐसा हौलनाक सीन दिलफ़िगार ने कभी न देखा था। यकायक उसे ख़याल आया, यह लड़ाई का मैदान है और यह लाशें सूरमा सिपाहियों की हैं। इतने में क़रीब से कराहने की आवाज़ आई। दिलफ़िगार उस तरफ़ फिरा तो देखा कि एक लंबा-तगड़ा आदमी, जिसका मर्दाना चेहरा जान निकलने की कमज़ोरी से पीला हो गया है, ज़मीन पर सर झुकाए पड़ा हुआ है। सीने से ख़ून का फ़व्वारा जारी है, मगर आबदार तलवार की मूठ पंजे से अलग नहीं हुई। दिलफ़िगार ने एक चीथड़ा लेकर घाव के मुँह पर रख दिया, ताकि ख़ून रुक जाए और बोला—"ऐ जवाँमर्द, तू कौन है?" जवाँमर्द ने यह सुनकर आँखें खोलीं और वीरों की तरह बोला—"क्या तू नहीं जानता मैं कौन हूँ, क्या तूने आज इस तलवार की काट नहीं देखी? मैं अपनी माँ का बेटा और भारत का सपूत हूँ।" यह कहते-कहते उसकी त्योरियों पर बल पड़ गए। पीला चेहरा गुस्से से लाल हो गया और आबदार शमशीर फिर अपना जौहर दिखाने के लिए चमक उठी। दिलफ़िगार समझ गया कि यह इस वक़्त मुझे दुश्मन समझ रहा है, नरमी से बोला—"ऐ जवाँमर्द, मैं तेरा दुश्मन नहीं हूँ। अपने वतन से निकला हुआ एक ग़रीब मुसाफ़िर हूँ। इधर भूलता-भटकता आ निकला। बराय मेहरबानी मुझसे यहाँ की कुल कैफ़ियत बयान कर।"

यह सुनते ही घायल सिपाही बहुत मीठे स्वर में बोला—"अगर तू मुसाफ़िर है तो आ और मेरे ख़ून से तर पहलू में बैठ जा, क्योंकि यही दो अंगुल ज़मीन है जो मेरे पास बाक़ी रह गई है और जो सिवाय मौत के कोई नहीं छीन सकता। अफ़सोस है कि तू यहाँ ऐसे वक़्त में आया जब हम तेरा आतिथ्य-सत्कार करने के योग्य नहीं। हमारे बाप-दादा का देश आज हमारे हाथ से निकल गया और इस वक़्त हम बेवतन हैं। मगर (पहलू बदलकर) हमने हमलावर दुश्मन को बता दिया कि राजपूत अपने देश के लिए कैसी बहादुरी से जान देता है। यह आस-पास जो लाशें तू देख रहा है, यह उन लोगों की हैं, जो इस तलवार के घाट उतरे हैं। (मुस्कराकर) और गो कि मैं बेवतन हूँ, मगर ग़नीमत है कि दुश्मन की ज़मीन पर मर रहा हूँ। (सीने के घाव से चीथड़ा निकालकर) क्या तूने यह मरहम रख दिया? ख़ून निकलने दे, इसे रोकने से क्या फ़ायदा? क्या मैं अपने ही देश में गुलामी करने के लिए ज़िंदा रहूँ? नहीं, ऐसी ज़िंदगी से मर जाना अच्छा। इससे अच्छी मौत मुमकिन नहीं।"

जवाँमर्द की आवाज़ मद्धिम हो गई, अंग ढीले पड़ गए, ख़ून इतना ज़्यादा बहा कि ख़ुद-ब-ख़ुद बंद हो गया, रह-रहकर एकाध बूँद टपक पड़ता था। आख़िरकार सारा शरीर बेदम हो गया, दिल की हरकत बंद हो गई और आँखें मुँद गईं। दिलफ़िगार ने

समझा अब काम तमाम हो गया कि मरनेवाले ने धीमे से कहा—"भारतमाता की जय।" और उसके सीने से ख़ून का आख़िरी क़तरा निकल पड़ा। एक सच्चे देशप्रेमी और देशभक्त ने देशभक्ति का हक़ अदा कर दिया। दिलफ़िगार पर इस दृश्य का बहुत गहरा असर पड़ा और उसके दिल ने कहा, बेशक दुनिया में ख़ून के इस क़तरे से ज़्यादा अनमोल चीज़ कोई नहीं हो सकती। उसने फ़ौरन उस ख़ून की बूँद को, जिसके आगे यमन का लाल भी हेच है, हाथ में ले लिया और इस दिलेर राजपूत की बहादुरी पर हैरत करता हुआ अपने वतन की तरफ़ रवाना हुआ और सख़्तियाँ झेलता आख़िरकार बहुत दिनों के बाद रूप की रानी मलका दिलफ़रेब की ड्योढ़ी पर जा पहुँचा और पैग़ाम दिया कि दिलफ़िगार सुर्खरू और कामयाब होकर लौटा है और दरबार में हाज़िर होना चाहता है। दिलफ़रेब ने उसे फ़ौरन हाज़िर होने का हुक्म दिया। ख़ुद हस्बे-मामूल सुनहरे पर्दे की ओट में बैठी और बोली—"दिलफ़िगार, अबकी तू बहुत दिनों के बाद वापस आया है। ला, दुनिया की सबसे बेशक़ीमत चीज़ कहाँ है?"

दिलफ़िगार ने मेहंदी-रची हथेलियों को चूमते हुए ख़ून का वह कतरा उस पर रख दिया और उसकी पूरी कैफ़ियत पुरजोश लहजे में कह सुनाई। वह ख़ामोश भी न होने पाया था कि यकायक वह सुनहरा परदा हट गया और दिलफ़िगार के सामने हुस्न का एक दरबार सजा हुआ नज़र आया, जिसकी एक-एक नाज़नीन जुलेखा से बढ़कर थी। दिलफ़िगार हुस्न का यह तिलिस्म देखकर अचंभे में पड़ गया और चित्रलिखित-सा खड़ा रहा कि दिलफ़रेब मसनद से उठी और कई क़दम आगे बढ़कर उससे लिपट गई। गानेवालियों ने ख़ुशी के गाने शुरू किए, दरबारियों ने दिलफ़िगार को नज़रें भेंट कीं और चाँद-सूरज को बड़ी इज़्ज़त के साथ मसनद पर बैठा दिया। जब वह लुभावना गीत बंद हुआ तो दिलफ़रेब खड़ी हो गई और हाथ जोड़कर दिलफ़िगार से बोली—"ऐ जाँनिसार आशिक़ दिलफ़िगार! मेरी दुआएँ बर आईं और ख़ुदा ने मेरी सुन ली, और तुझे कामयाब व सुर्खरू किया। आज से तू मेरा मालिक है और मैं तेरी लौंडी!"

यह कहकर उसने एक रत्नजटित मंजूषा मँगाई और उसमें से एक तख़्ती निकाली जिस पर सुनहरे अक्षरों में लिखा हुआ था—

'ख़ून का वह आख़िरी क़तरा जो वतन की हिफ़ाज़त में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज़ है।'

('सोज़ेवतन', उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1908)
('सोज़ेवतन', हिंदी कहानी-संग्रह, 1961)
('गुप्त-धन'-1,1962 से प्रस्तुत)

शेख़ मख़मूर

1

मुल्के जन्नतनिशाँ के इतिहास में वह बहुत अँधेरा वक़्त था जब शाह किशवर की फ़तहों की बाढ़ बड़े ज़ोर-शोर के साथ उस पर आई। सारा देश तबाह हो गया। आज़ादी की इमारतें ढह गईं और जानोमाल के लाले पड़ गए। शाह बामुराद ख़ूब जी तोड़कर लड़ा, ख़ूब बहादुरी का सबूत दिया और अपने ख़ानदान के तीन लाख सूरमाओं को अपने देश पर चढ़ा दिया, मगर विजेता की पत्थर काट देनेवाली तलवार के मुक़ाबले में उसकी यह मर्दाना जाँबाज़ियाँ बेअसर साबित हुईं। मुल्क पर शाह किशवरकुशा की हुकूमत का सिक्का जम गया और शाह बामुराद अकेला और तनहा बेयारो मददगार अपना सब कुछ आज़ादी के नाम पर कुर्बान करके एक झोंपड़े में ज़िंदगी बसर करने लगा।

यह झोंपड़ा पहाड़ी इलाक़े में था। आस-पास जंगली क़ौमें आबाद थीं और दूर-दूर तक पहाड़ों के सिलसिले नज़र आते थे। इस सुनसान जगह में शाह बामुराद मुसीबत के दिन काटने लगा, दुनिया में अब उसका कोई दोस्त न था। वह दिन-भर आबादी से दूर एक चट्टान पर अपने ख़याल में मस्त बैठा रहता था। लोग समझते थे कि यह कोई ब्रह्म-ज्ञान के नशे में चूर सूफ़ी है। शाह बामुराद को यों बसर करते एक ज़माना बीत गया और जवानी की विदाई और बुढ़ापे के स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं।

तब एक रोज़ शाह बामुराद बस्ती के सरदार के पास गया और उससे कहा—"मैं अपनी शादी करना चाहता हूँ।" उसकी तरफ़ से पैग़ाम सुनकर वह अचंभे में आ गया, मगर चूँकि दिल में शाह साहब के कमाल और फ़क़ीरी में गहरा विश्वास रखता था, पलटकर जवाब न दे सका और अपनी कुँआरी नौजवान बेटी उनको भेंट की। तीसरे साल इस युवती की कामनाओं की बाटिका में एक नौरस पौधा उगा। शाह साहब ख़ुशी के मारे जामे में फूले न समाए। बच्चे को गोद में उठा लिया और हैरत में डूबी हुई माँ के सामने जोश-भरे लहजे में बोले—"ख़ुदा का शुक्र है कि मुल्के जन्नतनिशाँ का वारिस पैदा हुआ।"

बच्चा बढ़ने लगा। अक्ल और ज़हानत में, हिम्मत और ताक़त में, वह अपनी दुगनी उमर के बच्चों से बढ़कर था। सुबह होते ही ग़रीब रिंदा बच्चे का बनाव-सिंगार करके और उसे नाश्ता खिलाकर अपने काम-धंधों में लग जाती थी और शाह साहब बच्चे की उँगली पकड़कर उसे आबादी से दूर चट्टान पर ले जाते। वहाँ कभी उसे पढ़ाते, कभी हथियार चलाने की मश्क़ कराते और कभी उसे शाही क़ायदे समझाते। बच्चा था तो कमसिन, मगर इन बातों में ऐसा जी लगाता और ऐसे चाव से लगा रहता गोया उसे अपने वंश का हाल मालूम है। मिज़ाज भी बादशाहों जैसा था। गाँव का एक-एक लड़का उसके हुक्म का फ़रमाबरदार था। माँ उस पर गर्व करती, बाप फूला न समाता और सारे गाँव के लोग समझते कि यह शाह साहब के जप-तप का असर है।

बच्चा मसऊद देखते-देखते एक सात साल का नौजवान शहज़ादा हो गया। देखकर देखनेवाले के दिल को एक नशा-सा होता था। एक रोज़ शाम का वक़्त था, शाह साहब अकेले सैर करने गए और जब लौटे तो उनके सर पर एक जड़ाऊ ताज शोभा दे रहा था। रिंदा उनकी यह हुलिया देखकर सहम गई और मुँह से कुछ बोल न सकी। तब उन्होंने नौजवान मसऊद को गले से लगाया, उसी वक़्त उसे नहलाया-धुलाया और एक चट्टान के तख़्त पर बैठाकर दर्द-भरे लहजे में बोले—"मसऊद, मैं आज तुमसे रूख़सत होता हूँ और तुम्हारी अमानत तुम्हें सौंपता हूँ। यह उसी मुल्के जन्नतनिशाँ का ताज है। कोई वह ज़माना था कि यह ताज तुम्हारे बदनसीब बाप के सर पर ज़ेव देता था, अब वह तुम्हें मुबारक हो। रिंदा! प्यारी बीवी! तेरा बदक़िस्मत शौहर किसी ज़माने में इस मुल्क का बादशाह था और अब तू उसकी मलिका है। मैंने यह राज़ तुमसे अब तक छिपाया था, मगर हमारे अलग होने का वक़्त बहुत पास है। अब छिपाकर क्या करूँ। मसऊद, तुम अभी बच्चे हो, मगर दिलेर और समझदार हो। मुझे यक़ीन है कि तुम अपने बूढ़े बाप की आख़िरी बसीयत पर ध्यान दोगे और उस पर अमल करने की कोशिश करोगे। यह मुल्क तुम्हारा है, यह ताज तुम्हारा है और यह रिआया तुम्हारी है। तुम इन्हें अपने कब्जें में लाने की मरते दम तक कोशिश करते रहना और अगर तुम्हारी तमाम कोशिशें नाकाम हो जाएँ और तुम्हें भी यही बेसरोसामानी की मौत नसीब हो तो यही वसीयत तुम अपने बेटे से कर देना और यह ताज जो उसकी अमानत होगी उसके सुपुर्द करना। मुझे तुमसे और कुछ नहीं कहना है, ख़ुदा तुम दोनों को ख़ुशोख़ुर्रम रक्खे और तुम्हें मुराद को पहुँचाए।"

यह कहते-कहते शाह साहब की आँखें बंद हो गईं। रिंदा दौड़कर उनके पैरों से लिपट गई और मसऊद रोने लगा। दूसरे दिन सुबह को गाँव के लोग जमा हुए और एक पहाड़ी गुफ़ा की गोद में लाश रख दी।

2

शाह किशवरकुशा ने आधी सदी तक ख़ूब इंसाफ के साथ राज किया, मगर किश्वरकुशा दोयम ने सिंहासन पर आते ही अपने अक्लमंद बाप के मंत्रियों को एक सिरे से बर्ख़ास्त कर दिया और अपनी मर्जी के मुआफ़िक नए-नए वज़ीर और सलाहकार नियुक्त किए। सल्तनत का काम रोज़-ब-रोज़ बिगड़ने लगा। सरदारों ने बेइंसाफ़ी पर कमर बाँधी और हुक्काम रिआया पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती करने लगे। यहाँ तक कि ख़ानदाने मुरादिया के एक पुराने नमकख़ोर ने मौक़ा अच्छा देखकर बग़ावत का झंडा बुलंद कर दिया। आस-पास से लोग उसके झंडे के नीचे जमा होने लगे और कुछ ही हफ़्तों में एक बड़ी फ़ौज क़ायम हो गई और मसऊद भी नमकख़ोर सरदार की फ़ौज में आकर मामूली सिपाहियों का काम करने लगा।

मसऊद का अभी यौवन का आरंभ था। दिल में मर्दाना जोश और बाज़ुओं में शेरों की कूवत मौजूद थी। ऐसा लंबा-तड़ंगा, सुंदर नौजवान बहुत कम किसी ने देखा होगा। शेरों के शिकार का उसे इश्क़ था। दूर-दूर तक के जंगल दरिंदों से खाली हो गए। सवेरे से शाम तक उसे सैरो-शिकार के सिवा कोई धंधा न था। लबोलहजा ऐसा दिलकश पाया था कि जिस वक़्त मस्ती में आकर कोई क़ौमी गीत छेड़ देता तो राह चलते मुसाफ़िरों और पहाड़ी औरतों का ठट लग जाता था। कितने ही भोले-भाले दिलों पर उसकी मोहिनी सूरत नक्श थी, कितनी ही आँखें उसे देखने को तरसती और कितनी ही जानें उसकी मुहब्बत की आग में घुलती थीं। मगर मसऊद पर अभी तक किसी का जादू न चला था। हाँ, अगर उसे मुहब्बत थी तो अपनी आबदार शमशीर से जो उसने बाप से विरसे में पाई थी। इस तेग़ को वह जान से ज़्यादा प्यार करता। बेचारा खुद नंगे बदन रहता मगर उसके लिए तरह-तरह के मियान बनवाए थे। उसे एक दम के लिए अपने पहलू से अलग न करता। सच है, दिलेर सिपाही की तलवार उसकी निगाहों में दुनिया की तमाम चीज़ों से ज़्यादा प्यारी होती है। ख़ासकर वह आबदार खंजर, जिसका जौहर बहुत से मौक़ों पर परखा जा चुका हो। इसी तेग़ से मसऊद ने कितने ही जंगली दरिंदों को मारा था, कितने ही लुटेरों और डाकुओं को मौत का मज़ा चखाया था और उसे पूरा यक़ीन था कि यही तलवार किसी दिन किशवरकुशा दोयम के सर पर चमकेगी और उसकी शहरग के ख़ून से अपनी ज़बान तर करेगी।

एक रोज़ वह एक शेर का पीछा करते-करते बहुत दूर निकल गया। धूप सख़्त थी, भूख और प्यास से जी बेताब हुआ, मगर वहाँ न कोई मेवे का दरख़्त नज़र आया, न कोई बहता हुआ पानी का सोता, जिसमें भूख और प्यास की आग बुझाता! हैरान और परीशान खड़ा था कि सामने से एक चाँद जैसी सुंदर युवती हाथ में बर्छी लिए और बिजली की तरह तेज़ घोड़े पर सवार आती हुई दिखाई दी। पसीने की मोती जैसी

बूँदें उसके माथे पर झलक रही थीं और अम्बर की सुगंध में बसे हुए बाल दोनों कंधों पर एक सुहानी बेतकल्लुफी से बिखरे हुए थे। दोनों की निगाहें चार हुईं और मसऊद का दिल हाथ से जाता रहा। उस ग़रीब ने आज तक दुनिया को जला डालनेवाला ऐसा हुस्न न देखा था, उसके ऊपर एक सकता-सा छा गया। यह जवान औरत उस जंगल में मलिका शेर अफ़गन के नाम से मशहूर थी।

मलिका ने मसऊद को देखकर घोड़े की बाग खींच ली और गर्म लहज़े में बोली—"क्या तू वही नौजवान है, जो मेरे इलाक़े के शेरों का शिकार किया करता है? बतला तेरी इस गुस्ताखी की क्या सज़ा दूँ?"

यह सुनते ही मसऊद की आँखें लाल हो गईं और बरबस हाथ तलवार की मूठ पर जा पहुँचा, मगर ज़ब्त करके बोला—"इस सवाल का जवाब मैं ख़ूब देता, अगर आपके बजाय यह किसी दिलेर मर्द की ज़वान से निकलता!"

इन शब्दों ने मालिका के गुस्से की आग को और भी भड़का दिया। उसने घोड़े को चमकाया और बर्छी उछालती सर पर आ पहुँची और वार-पर-वार करने शुरू किए। मसऊद के हाथ-पाँव बेहद थकान से चूर हो रहे थे और मलिका शेर अफ़गन बर्छी चलाने की कला में बेजोड़ थी। उसने चरके-पर-चरके लगाए, यहाँ तक कि मसऊद घायल होकर घोड़े से गिर पड़ा। उसने अब तक मलिका के वारों को काटने के सिवाय खुद एक हाथ भी न चलाया था।

तब मलिका घोड़े से कूदी और अपना रूमाल फाड़-फाड़कर मसऊद के ज़ख़्म बाँधने लगी। ऐसा दिलेर और ग़ैरतमंद जवाँमर्द उसकी नज़र से आज तक न गुज़रा था। वह उसे बहुत आराम से उठवाकर अपने खेमे में लाई और पूरे दो हफ़्ते तक उसकी परिचर्या में लगी रही, यहाँ तक कि घाव भर गया और मसऊद का चेहरा फिर पूरनमासी के चाँद की तरह चमकने लगा। मगर हसरत यह थी कि अब मलिका ने उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

एक रोज़ मलिका शेर अफ़गन ने मसऊद को दरबार में बुलाया और यह बोली—"ऐ घमंडी नौजवान! खुदा का शुक्र है कि तू मेरी बर्छी की चोट से अच्छा हो गया, अब मेरे इलाक़े में शिक़ार के लिए आने की हिम्मत न करना। फ़िलहाल ताकीद के तौर पर तेरी तलवार छीन ली जाएगी, ताकि तू घमंड के नशे से चूर होकर फिर इधर क़दम बढ़ाने की हिम्मत न करे।"

मसऊद ने नंगी तलवार मियान से खींच ली और कड़ककर बोला—"जब तक मेरे दम-में-दम है, कोई यह तलवार नहीं ले सकता।" यह सुनते ही एक देव-जैसा लंबा-तड़ंगा हैकल पहलवान ललकारकर बढ़ा और मसऊद की कलाई पर तेग़े का तुला हुआ हाथ चलाया। मसऊद ने वार खाली दिया और सम्हलकर तेग़े का वार किया तो पहलवान की गर्दन की पट्टी तक बाक़ी न रही। यह कैफ़ियत देखते ही मलिका की आँखों से चिनगारियाँ उड़ने लगीं। भयानक गुस्से के स्वर में बोली—"ख़बरदार,

यह शख़्स यहाँ से ज़िंदा न जाने पावे। चारों तरफ़ से आज़माये हुए मज़बूत सिपाही पिल पड़े और मसऊद पर तलवारों और बर्छियों की बौछार पड़ने लगी।"

मसऊद का जिस्म ज़ख्मों से छलनी हो गया। ख़ून के फ़व्वारे जारी थे और ख़ून की प्यासी तलवारें ज़बान खोले बार-बार उसकी तरफ़ लपकती थीं और उसका ख़ून चाटकर अपनी प्यास बुझा लेती थीं। कितनी ही तलवारें उसकी ढाल से टकराकर टूट गईं, कितने ही बहादुर सिपाही ज़ख्मी होकर तड़पने लगे और कितने ही उस दुनिया को सिधारे। मगर मसऊद के हाथ में वह आबदार शमशीर ज्यों-की-त्यों बिजली की तरह कौंधती और सुथराव करती रही। यहाँ तक कि इस फ़न के कमाल को समझने वाली मलिका ने खुद उसकी तारीफ़ का नारा बुलन्द किया और उसके तेग़ को चूमकर बोली—"मसऊद! तू बहादुरी के समुंदर का मगर है। शेरों के शिकार में वक़्त बर्बाद मत कर। दुनिया में शिकार के अलावा और भी ऐसे मौक़े हैं, जहाँ तू अपने आबदार तेग़ का जौहर दिखा सकता है। जा और मुल्कोक़ौम की ख़िदमत कर। शेरों शिकार हम जैसी औरतों के लिए छोड़ दे।"

मसऊद के दिल ने गुदगुदाया, प्यार की बानी ज़बान तक आई, मगर बाहर निकल न सकी और उसी वक़्त वह अपने दिल में किसी की पलकों की टीस लिए हुए तीन हफ़्तों के बाद अपनी बेक़रार माँ के क़दमों पर जा गिरा।

3

नमकख़ोर सरदार की फ़ौज रोज़-ब-रोज़ बढ़ने लगी। पहले तो वह अँधेरे के पर्दे में शाही खज़ानों पर हाथ बढ़ाता रहा, धीरे-धीरे एक बाक़ायदा फ़ौज तैयार हो गई, यहाँ तक कि सरदार को शाही फ़ौजों के मुक़ाबले में अपनी तलवार आज़माने का हौसला हुआ और पहली लड़ाई में चौबीस क़िले इस नई फ़ौज के हाथ आ गए। शाही फ़ौज ने लड़ने में ज़रा भी कसर न की, मगर वह ताकत, वह जोश, वह जज़्बा जो सरदार नमकख़ोर और उसके दोस्तों के दिलों की हिम्मत के मैदान में आगे बढ़ाता रहता था, किशवरकुशा दोयम के सिपाहियों में ग़ायब था। लड़ाई के कला-कौशल, हथियारों की ख़ूबी और ऊपर दिखाई पड़नेवाली शान-शौकत के लिहाज़ से दोनों फ़ौजों का कोई मुक़ाबला न था। बादशाह के सिपाही लहीम-शहीम, लंबे-तड़ंगे और आज़माए हुए थे। उनके साज-सामान और तौर-तरीक़े से देखनेवालों के दिलों पर एक डर-सा छा जाता था और वहम भी यह गुमान न कर सकता था कि इस ज़बर्दस्त जमात के मुक़ाबले में निहत्थी-सी, अधनंगी और बेक़ायदा सरकारी फ़ौज एक पल के लिए भी पैर जमा सकेगी। मगर जिस वक़्त 'मारो' की दिल बढ़ानेवाली पुकार हवा में गूँजी, एक अजीबोग़रीब नज़्ज़ारा सामने आया। सरदार के सिपाही तो नारे मारकर आगे धावा करते थे और बादशाह की फ़ौज भागने की राह पर दबी हुई निगाहें डालती थीं।

दम-के-दम में मोर्चे गुबार की तरह फट गए और जब मस्क़ात के मज़बूत क़िले में सरदार नमकख़ोर शाही क़िलेदार की मसनद पर अमीराना ठाट-बाठ से बैठा और अपनी फ़ौज की कारगुज़ारियों और जाँबाज़ियों का इनाम देने के लिए एक तश्त में सोने के तमग़े मँगवाकर रक्खे तो सबसे पहले जिस सिपाही का नाम पुकारा गया वह नौजवान मसऊद था।

मसऊद पर इस वक़्त उसकी फ़ौज घमंड करती थी। लड़ाई के मैदान में सबसे पहले उसी की तलवार चमकती थी और धावे के वक़्त सबसे पहले उसी के क़दम उठते थे। दुश्मन के मोर्चों में ऐसा बेधड़क घुसता था, जैसे आसमान में चमकता हुआ लाल तारा। उसकी तलवार के वार क़यामत थे और उसके तीर का निशाना मौत का संदेश।

मगर टेढ़ी चाल की तक़दीर से उसका यह प्रताप, यह प्रतिष्ठा न देखी गई। कुछ थोड़े से आज़माए हुए अफ़सर जिनके तेग़ों की चमक मसऊद के तेग़ के सामने मंद पड़ गई थी, उससे खार खाने लगे और उसे मिटा देने की तदबीरें सोचने लगे। संयोग से उन्हें मौक़ा भी जल्द हाथ आ गया।

किशवरकुशा दोयम ने बाग़ियों को कुचलने के लिए अब की एक ज़बर्दस्त फ़ौज रवाना की और मीर शुजा को उसका सिपहसालार बनाया जो लड़ाई के मैदान में अपने वक़्त का इसफ़ंदियार था। सरदार नमकख़ोर ने यह ख़बर पाई तो हाथ-पाँव फूल गए। मीर शुजा के मुक़ाबले में आना अपनी हार को बुलाना था। आख़िरकार यह राय तय पाई कि इस जगह से आबादी का निशान मिटाकर हम लोग क़िलेबंद हो जाएँ। उस वक़्त नौजवान मसऊद ने उठकर बड़े पुरजोश लहज़े में कहा–

"नहीं, हम किलेबंद न होंगे, हम मैदान में रहेंगे और हाथों-हाथ दुश्मन का मुक़ाबला करेंगे। हमारे सीनों की हड्डियाँ ऐसी कमज़ोर नहीं हैं कि तीर-तुपुक के निशाने बर्दाश्त न कर सकें। क़िलेबंद होना इस बात का एलान है कि हम आमने-सामने नहीं लड़ सकते। क्या आप लोग, जो शाह बामुराद के नामलेवा हैं, भूल गए कि इसी मुल्क पर उसने अपने ख़ानदान के तीन लाख सपूतों को फूल की तरह चढ़ा दिया? नहीं, हम हरगिज़ क़िलेबंद न होंगे। हम दुश्मन के मुक़ाबिले में ताल ठोंककर आवेंगे और अगर खुदा इंसाफ़ करनेवाला है तो ज़रूर हमारी तलवारें दुश्मनों से गले मिलेंगी और हमारी बर्छियाँ उनके पहलू में जगह पाएँगी।"

सैकड़ों निगाहें मसऊद के पुरजोश चेहरे की तरफ़ उठ गईं। सरदारों की त्योरियों पर बल पड़ गए और सिपाहियों के सीने जोश से धड़कने लगे। सरदार नमकख़ोर ने उसे गले लगा लिया और बोले–"मसऊद, तेरी हिम्मत और हौसले की दाद देता हूँ। तू हमारी फ़ौज की शान है। तेरी सलाह मर्दाना सलाह है। बेशक हम किलेबंद न होंगे। हम दुश्मन के मुक़ाबिले में ताल ठोंककर आएँगे और अपने प्यारे

जन्नतनिशाँ के लिए अपना ख़ून पानी की तरह बहाएँगे। तू हमारे लिए आगे-आगे चलने वाली मशाल है और हम सब आज उसी रोशनी में क़दम आगे बढाएँगे।"

मसऊद ने चुने हुए सिपाहियों का एक दस्ता तैयार किया और कुछ इस दम-खम और कुछ इस जोशख़रोश से मीर शुज़ा पर टूटा कि उसकी सारी फ़ौज में खलबली पड़ गई। सरदार नमकख़ोर ने जब देखा कि शाही फ़ौज के क़दम डगमगा रहे हैं, तो अपनी पूरी ताक़त से बादल और बिजली की तरह लपका और तेग़ों से तेग़ और वर्छियों से बर्छियाँ खड़कने लगीं। तीन घंटे तक बला का शोर मचा रहा, यहाँ तक कि शाही फ़ौज के क़दम उखड़ गए और वह सिपाही जिसकी तलवार मीर शुज़ा से गले मिली मसऊद था।

तब सरदारी फ़ौज और अफ़सर सब-के-सब लूट के माल पर टूटे और मसऊद ज़ख्मों से चूर और ख़ून में रँगा हुआ अपने कुछ जान पर खेलनेवाले दस्तों के साथ मस्कात के क़िले की तरफ़ लौटा, मगर जब होश ने आँखें खोलीं और हवास ठिकाने हुए तो क्या देखता है कि मैं एक सजे हुए कमरे में मखमली गद्दे पर लेटा हुआ हूँ। फूलों की सुहानी महक और लंबी छरहरी सुंदरियों के जमघट से कमरा चमन बना हुआ था। ताज्जुब से इधर-उधर ताकने लगा कि इतने में एक अप्सरा-जैसी सुंदर युवती तश्त में फूलों का हार लिए धीरे-धीरे आती हुई दिखाई दी कि जैसे बाहर फूलों की डाली पेश करने आ रही है। उसे देखते ही उन लंबी छरहरी सुंदरियों ने आँखें बिछाईं और उसकी हिनाई हथेली को चूमा। मसऊद देखते ही पहचान गया। यह मलिका शेर अफ़गन थी।

मलिका ने फूलों का हार मसऊद के गले में डाला। हीरे-जवाहरात उस पर चढ़ाए और सोने के तारों से टकी हुई मसनद पर बड़ी आन-बान से बैठ गई। साज़िंदों ने बीन ले-लेकर विजयी अतिथि के स्वागत में सुहाने राग अलापने शुरू किए।

यहाँ तो नाच-गाने की महफ़िल थी, उधर आपसी डाह ने नए-नए शिगूफ़े खिलाए। सरदार से शिकायत की कि मसऊद ज़रूर दुश्मन से जा मिला है और आज जान-बूझकर फ़ौज का एक दस्ता लेकर लड़ने को गया था, ताकि उसे ख़ाक और ख़ून से सुलाकर सरदारी फ़ौज को बेचिराग़ कर दे। इसके सबूत में कुछ जाली ख़त भी दिखाए गए और इस कमीनी कोशिश में जबान की ऐसी चालाकी से काम लिया कि आख़िर सरदार को इन बातों पर यकीन आ गया। पौ फटे जब मसऊद मलिका शेर अफ़गन के दरबार से विजय का हार गले में डाले सरदार को बधाई देने गया तो बजाय इसके कि क़द्रदानी का सिरोपा और बहादुरी का तमग़ा पाए, उसको खरी-खोटी बातों के तीर का निशाना बनाया गया और हुक्म मिला कि तलवार कमर से खोलकर रख दे।

मसऊद स्तंभित रह गया। यह तेग़ा, मैंने अपने बाप से बिरसे में पाया है और यह मेरे पिछले बड़प्पन की आख़िरी यादगार है। यह मेरी बाँहों की ताक़त और मेरा

सहयोगी और मददगार है। इसके साथ कैसी-कैसी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं, क्या मैं जीते जी इसे अपने पहलू से अलग कर दूँ? अगर मुझ पर कोई आदमी लड़ाई के मैदान से क़दम हटाने का इलज़ाम लगा सकता, अगर कोई शख़्स इस तेग़ का इस्तेमाल मेरे मुक़ाबिले में ज़्यादा कारगुजारी के साथ कर सकता, अगर मेरी बाँहों में तेग़ पकड़ने की ताक़त न होती तो खुदा की क़सम, मैं खुद ही तेग़, कमर से खोलकर रख देता। मगर खुदा का शुक्र है कि मैं इन इलज़ामों से बरी हूँ। फिर क्यों मैं इसे हाथ से जाने दूँ? क्या इसलिए कि मेरी बुराई चाहनेवाले कुछ थोड़े से डाहियों ने सरदार नमकख़ोर का मन मेरी तरफ़ से फेर दिया है। ऐसा नहीं हो सकता।

मगर फिर उसे ख़याल आया, मेरी सरकशी पर सरदार और भी गुस्सा हो जाएँगे और यक़ीनन मुझसे तलवार शमशीर के ज़ोर से छीन ली जाएगी। ऐसी हालत में मेरे ऊपर जान छिड़कनेवाले सिपाही कब अपने को क़ाबू में रख सकेंगे। ज़रूर आपस में ख़ून की नदियाँ बहेंगी और भाई-भाई का सिर कटेगा। खुदा न करे कि मेरे सबब से यह दर्दनाक मार-काट हो। यह सोचकर उसने चुपके से शमशीर सरदार नमकख़ोर के बग़ल में रख दी और खुद सर नीचा किए ज़ब्त की इंतहाई कुव्वत से गुस्से को दबाता हुआ ख़ेमे से बाहर निकल आया।

मसऊद पर सारी फ़ौज गर्व करती थी और उस पर जानें वारने के लिए हथेली में सर लिए रहती थी। जिस वक़्त उसने तलवार खोली है, दो हज़ार सूरमा सिपाही मियान पर हाथ रक्खे और शोले बरसाती हुई आँखों से ताकते कनौतियाँ बदल रहे थे। मसऊद बहादुरी ही में बेजोड़ न था, ज़ब्त और धीरज में भी उसका जवाब न था। उसने यह ज़िल्लत और बदनामी सब गवारा की, तलवार देना गवारा किया, बग़ावत का इलज़ाम लेना गवारा किया और अपने साथियों के सामने सर झुकाना गवारा किया, मगर यह गवारा न किया कि उसके कारण फ़ौज में बग़ावत और हुक्म न मानने का ख़याल पैदा हो। और ऐसे नाज़ुक वक़्त में जब कि कितने ही दिलेर जिन्होंने लड़ाई की आज़माइश में अपनी बहादुरी का सबूत दिया था, ज़ब्त हाथ से खो बैठते और गुस्से की हालत में एक-दूसरे के गले काटते, ख़ामोश रहा और उसके पैर नहीं डगमगाए। उसकी पेशानी पर ज़रा भी बल न आया, उसके तेवर ज़रा भी न बदले। उसने ख़ून बरसाती हुई आँखों से दोस्तों को अलविदा कहा और हसरत-भरा दिल लिए उठा और एक गुफ़ा में छिप बैठा और जब सूरज डूबने पर वहाँ से उठा तो उसके दिल ने फ़ैसला कर लिया था कि बदनामी का दाग़ माथे से मिटाऊँगा और डाहियों को शर्मिंदगी के गड्ढे में गिराऊँगा।

मसऊद ने फ़क़ीरों का भेस अख़्तियार किया, सर पर लोहे की टोपी के बजाए लंबी जटाएँ बनाईं, जिस्म पर ज़िरहबख़्तर के बजाय गेरुए रंग का बाना सजा, हाथ में तलवार के बजाए फ़क़ीरों का प्याला लिया। जंग के नारे के बजाय फ़क़ीरों की सदा बुलन्द की और अपना नाम शेख़ मख़मूर रख दिया। मगर यह जोगी दूसरे जोगियों की

तरह धूनी रमाकर न बैठा और न उस तरह का प्रचार शुरू किया। वह दुश्मन की फ़ौज में जाता और सिपाहियों की बातें सुनता। कभी उनकी मोर्चेबंदियों पर निगाह दौड़ाता, कभी उनके दमदमों और क़िलों की दीवारों का मुआइना करता। तीन बार सरदार नमकख़ोर दुश्मन के पंजे से ऐसे वक़्त निकले, जबकि उन्हें जान बचाने की कोई आस न रही थी। और यह सब शेख़ मख़मूर की करामात थी। मिनक़ाद का क़िला जीतना कोई आसान बात न थी। पाँच हज़ार बहादुर सिपाही उसकी हिफ़ाजत के लिए कुर्बान होने को तैयार बैठे थे। तीस तोपें आग के गोले उगलने के लिए मुँह खोले हुए थीं और दो हज़ार सधे हुए तीरंदाज़ हाथों में मौत का पैग़ाम लिए हुक्म का इंतज़ार कर रहे थे। मगर जिस वक़्त सरदार नमकख़ोर अपने दो हज़ार बहादुरों के साथ इस क़िले पर चढ़ा तो पाँचों हज़ार दुश्मन सिपाही काठ के पुतले बन गए। तोपों के मुँह बंद हो गए और तीरंदाज़ों के तीर हवा में उड़ने लगे। और यह सब शेख़ मख़मूर की करामात थी। शाह साहब वहीं मौजूद थे। सरदार दौड़कर उनके क़दमों पर गिर पड़ा और उनके पैरों की धूल माथे पर लगाई।

4

किशवरकुशा दोयम का दरबार सजा हुआ है। अंगूरी शराब का दौर चल रहा है और दरबार के बड़े-बड़े अमीर और रईस अपने-अपने दर्जे के हिसाब से अदब के साथ घुटना मोड़े बैठे हैं। यकायक भेदियों ने ख़बर दी कि मीर शुज़ा की हार हुई और वह जान से मारे गए। यह सुनकर किशवरकुशा के चेहरे पर चिंता के लक्षण दिखाई पड़े। सरदारों को संबोधित करके बोले—"आप लोगों में ऐसा दिलेर कौन है, जो इस बदमाश सरदार का सर क़लम करके हमारे सामने पेश करे। इसकी गुस्ताखियाँ अब हद से आगे बढ़ी जाती हैं। आप ही लोगों के बड़े-बूढ़ों ने यह मुल्क तलवार के ज़ोर से मुरादिया ख़ानदान से छीना था। क्या आप उन्हीं पुरखों की औलाद नहीं हैं?" यह सुनते ही सरदारों में एक सन्नाटा छा गया, सब के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और किसी कि हिम्मत न पड़ी कि बादशाह की दावत क़बूल करे। आख़िरकार शाह किशवरकुशा के बुड्ढे चचा ख़ुद उठे और बोले—"ऐ शाह जवाँबख़्त! मैं तेरी दावत क़बूल करता हूँ, अगरचे मैं बुड्ढा हो गया हूँ और बाज़ुओं में तलवार पकड़ने की ताक़त बाक़ी नहीं रही, मगर मेरे ख़ून में वही गर्मी और दिल में वही जोश है, जिनकी बदौलत हमने यह मुल्क शाह बामुराद से लिया था। या तो मैं इस नापाक कुत्ते की हस्ती ख़ाक में मिला दूँगा या इस कोशिश में अपनी जान निसार कर दूँगा, ताकि अपनी आँखों से सल्तनत की बर्बादी न देखूँ।" यह कहकर अमीर पुरतदबीर वहाँ से उठा और मुस्तैदी से जंगी तैयारियों में लग गया। उसे मालूम था कि यह आख़िरी मुक़ाबिला है और अगर इसमें नाकाम रहे तो मर जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। उधर सरदार नमकख़ोर धीरे-धीरे राजधानी की तरफ़

बढ़ता आता था, यकायक उसे ख़बर मिली कि अमीर पुरतदबीर बीस हज़ार पैदल और सवारों के साथ मुक़ाबिले के लिए आ रहा है।

यह सुनते ही सरदार नमकख़ोर की हिम्मतें छूट गईं। अमीर पुरतदबीर बुढ़ापे के बावजूद अपने वक़्त का एक ही सिपहसालार था। उसका नाम सुनकर बड़े-बड़े बहादुर कानों पर हाथ रख लेते है। सरदार नमकख़ोर का ख़याल था कि अमीर कहीं एक कोने में बैठे ख़ुदा की इबादत करते होंगे। मगर उनको अपने मुक़ाबिले में देखकर उसके होश उड़ गए कि कहीं ऐसा न हो कि इस हार से हम अपनी सारी जीत खो बैठें और बरसों की मेहनत पर पानी फिर जाए। सब की यही सलाह हुई कि वापस चलना ही ठीक है। उस वक़्त शेख़ मख़मूर ने कहा–"ऐ सरदार नमकख़ोर! तूने मुल्के जन्नतनिशाँ को छुटकारा दिलाने का बीड़ा उठाया है। क्या इन्हीं हिम्मतों से तेरी आरज़ुएँ पूरी होंगी? तेरे सरदार और सिपाहियों ने कभी मैदान से क़दम पीछे नहीं हटाया, कभी पीठ नहीं दिखाई, तीरों की बौछार को तुमने पानी की फुहार समझा और बंदूक़ों की बाढ़ को फूलों की बहार। क्या इन चीज़ों से इतनी जल्दी तुम्हारा जी-भर गया? तुमने यह लड़ाई सल्तनत को बढ़ाने के कमीने इरादे से नहीं छेड़ी है। तुम सच्चाई और इंसाफ़ की लड़ाई लड़ रहे हो। क्या तुम्हारा जोश इतने जल्द ठंडा हो गया? क्या तुम्हारी इंसाफ़ की तलवार की प्यास इतनी जल्दी बुझ गई? तुम ख़ूब जानते हो कि इंसाफ़ और सच्चाई की जीत ज़रूर होगी, तुम्हारी इन बहादुरियों का इनाम ख़ुदा के दरबार से ज़रूर मिलेगा। फिर अभी से क्यों हौसले छोड़े देते हो? क्या बात है, अगर अमीर पुरतदबीर बड़ा दिलेर और इरादे का पक्का सिपाही है। अगर वह शेर है तो तुम शेर मर्द हो; अगर उसकी तलवार लोहे की है तो तुम्हारा तेग़ फ़ौलाद का है; अगर उसके सिपाही जान पर खेलनेवाले हैं तो तुम्हारे सिपाही भी सर काटने के लिए तैयार हैं। हाथों में तेग़ मज़बूत पकड़ो और ख़ुदा का नाम लेकर दुश्मन पर टूट पड़ो। तुम्हारे तेवर कहे देते हैं कि मैदान तुम्हारा है।"

इस पुरजोश तक़रीर ने सरदारों के हौसले उभार दिए। उनकी आँखें लाल हो गईं, तलवारें पहलू बदलने लगीं और क़दम बरबस लड़ाई के मैदान की तरफ़ बढ़े। शेख़ मख़मूर ने तब फ़क़ीरी बाना उतार फेंका, फ़क़ीरी प्याले को सलाम किया और हाथों में वही तलवार और ढाल लेकर जो किसी वक़्त मसऊद से छीने गए थे, सरदार नमकख़ोर के साथ-साथ सिपाहियों और अफ़सरों का दिल बढ़ाते शेरों की तरह बिफरता हुआ चला। आधी रात का वक़्त था, अमीर के सिपाही अभी मंज़िलें मार चले आते थे। बेचारे दम भी न लेने पाए थे कि एकाएक सरदार नमकख़ोर के आ पहुँचने की ख़बर पाई। होश उड़ गए और हिम्मतें टूट गईं। मगर अमीर शेर की तरह गरजकर खेमें से बाहर आया और दम-के-दम में अपनी सारी फ़ौज दुश्मन के मुक़ाबले में क़तार बाँधकर खड़ी कर दी कि जैसे एक माली था कि आया और इधर-उधर बिखरे हुए फूलों को एक गुलदस्ते में सजा गया।

दोनों फ़ौजें काले-काले पहाड़ों की तरह आमने-सामने खड़ी हैं और तोपों का आग बरसाना ज्वालामुखी का दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। उसकी घनगरज आवाज़ से बला का शोर मच रहा था। यह पहाड़ धीरे-धीरे आगे बढ़ते गए। यकायक वह टकराए और कुछ इस ज़ोर से टकराए कि ज़मीन काँप उठी और घमासान की लड़ाई शुरू हो गई। मसऊद का तेग़ इस वक़्त एक बला हो रहा था, जिधर पहुँचता लाशों के ढेर लग जाते और सैकड़ों सर उस पर भेंट चढ़ जाते।

पौ फटे तक तेग़े यों ही खड़का किए और यों ही ख़ून का दरिया बहता रहा। जब दिन निकला तो लड़ाई का मैदान मौत का बाज़ार हो रहा था। जिधर निगाह उठती थी, मरे हुओं के सर और हाथ-पैर लहू में तैरते दिखाई देते थे। यकायक शेख़ मख़मूर की कामना से एक तीर बिजली बनकर निकला और अमीर पुरतदबीर की जान के घोंसले पर गिरा और उसके गिरते ही शाही फ़ौज भाग निकली और सरदारी फ़ौज फ़तेह का झंडा उठाए राजधानी की तरफ़ बढ़ी।

5

जब यह जीत की लहर-जैसी फ़ौज शहर की दीवार के अंदर दाखिल हुई तो शहर के मर्द और औरत, जो बड़ी मुद्दत से गुलामी की सख़्तियाँ झेल रहे थे, उसकी अगवानी के लिए निकल पड़े। सारा शहर उमड़ आया। लोग सिपाहियों को गले लगाते थे और उन पर फूलों की बरखा करते थे कि जैसे बुलबुलें थीं, जो बहेलिये के पंजे से रिहाई पाने पर बाग़ में फूलों को चूम रही थीं। लोग शेख़ मख़मूर के पैरों की धूल माथे से लगाते थे और सरदार नमकख़ोर के पैरों पर खुशी के आँसू बहाते थे।

अब मौक़ा था कि मसऊद अपना जोगिया भेस उतार फेंके और ताजोतख़्त का दावा पेश करे। मगर जब उसने देखा कि मलिका शेर अफ़गन का नाम हर आदमी की ज़बान पर है तो ख़ामोश हो रहा। वह ख़ूब जानता था कि अगर मैं अपने दावे को साबित कर दूँ तो मलिका का दावा खत्म हो जाएगा। मगर तब भी यह नामुमकिन था कि सख़्त मारकाट के बिना यह फ़ैसला हो सके। एक परजोश और आरज़ूमंद दिल के लिए इस हद तक ज़ब्त करना मामूली बात न थी। जबसे उस ने होश सँभाला, यह ख़याल कि मैं इस मुल्क का बादशाह हूँ, उसके रगरेशे में घुल गया था। शाह बामुराद की वसीयत उसे एक दम को भी न भूलती थी। दिन को वह बादशाहत के मनसूबे बाँधता और रात को बादशाहत के सपने देखता। यह यक़ीन कि मैं बादशाह हूँ, उसे बादशाह बनाए हुए था। अफ़सोस, आज वह मंसूबे टूट गए और वह सपना तितर-बितर हो गया। मगर मसऊद के चरित्र में मर्दाना ज़ब्त अपनी हद पर पहुँच गया था। उसने उफ़ तक न की, एक ठंडी आह भी न भरी, बल्कि पहला आदमी जिसने मलिका के हाथों को चूमा और उसके सामने सर झुकाया, वह फ़क़ीर मख़मूर था। हाँ,

ठीक उस वक़्त जब कि वह मालिका के हाथ को चूम रहा था, उसकी ज़िंदगी-भर की लालसाएँ आसूँ की एक बूँद बनकर मलिका की मेहंदी-रची हथेली पर गिर पड़ी कि जैसे मसऊद ने अपनी लालसा का मोती मलिका को सौंप दिया। मलिका ने हाथ खींच लिया और फ़क़ीर मख़मूर के चेहरे पर मुहब्बत से भरी हुई निगाह डाली। जब सल्तनत के सब दरबारी भेंट दे चुके, तोपों की सलामियाँ दग़ने लगीं, शहर में धूम-धाम का बाज़ार गर्म हो गया और खुशियों के जलसे चारों तरफ़ नज़र आने लगे।

राजगद्दी के तीसरे दिन मसऊद ख़ुदा की इबादत में बैठा हुआ था कि मलिका शेर अफ़गन अकेले उसके पास आई और बोली—"मसऊद, मैं एक नाचीज़ तोहफ़ा तुम्हारे लिए लाई हूँ और वह मेरा दिल है। क्या तुम उसे मेरे हाथ से क़बूल करोगे?" मसऊद अचंभे से ताकता रह गया, मगर जब मलिका की आँखें मुहब्बत के नशे में डूबी हुई पाईं तो चाव के मारे उठा और उसे सीने से लगाकर बोला—"मैं तो मुद्दत से तुम्हारी वर्छी की नोक का घायल हूँ, मेरी क़िस्मत है कि आज तुम मरहम रखने आई हो।"

6

मुल्के जन्नतनिशाँ अब आज़ादी और ख़ुशहाली का घर है। मलिका शेर अफ़गन को अभी गद्दी पर बैठे साल-भर से ज़्यादा नहीं गुज़रा मगर सल्तनत का कारवार बहुत अच्छी तरह और ख़ूबी से चल रहा है और इस बड़े काम में उसका प्यारा शौहर मसऊद, जो अभी तक फ़क़ीर मख़मूर के नाम से मशहूर है, उसका सलाहकार और मददगार है।

रात का वक़्त था, शाही दरबार सजा हुआ था, बड़े-बड़े वज़ीर अपने पद के अनुसार बैठे हुए थे और नौकर जर्क-बर्फ़ वर्दियाँ पहने हाथ बाँधे खड़े थे कि एक ख़िदमतगार ने आकर अर्ज़ की—"दोनों जहान की मलिका, एक ग़रीब औरत बाहर खड़ी है और आपके क़दमों का बोसा लेने की गुज़ारिश करती है।" दरबारी चौंके और मलिका ने ताज्जुब भरे लहजे में कहा—"अंदर हाज़िर करो।" ख़िदमतार बाहर चला गया और जरा देर में एक बुढ़िया लाठी टेकती हुई आई और अपनी पिटारी से एक जड़ाऊ ताज निकालकर बोली—"तुम लोग इसे ले लो, अब यह मेरे किसी काम का नहीं रहा। मियाँ ने मरते वक़्त इसे मसऊद को देकर कहा था कि तुम इसके मालिक हो, मगर अपने जिगर के टुकड़े मसऊद को कहाँ ढूँढूं। रोते-रोते अंधी हो गई, सारी दुनिया की ख़ाक छानी, मगर उसका कहीं पता न लगा। अब ज़िंदगी से तंग आ गई हूँ, जीकर क्या करूँगी। यह अमानत मेरे पास है, जिसका जी चाहे ले ले।"

दरवार में सन्नाटा छा गया। लोग हैरत के मारे मूरत-से बन गए कि जैसे एक जादूगर था जो उंगली के इशारे से सब का दम बंद किए हुए था। यकायक मसऊद

अपनी जगह से उठा और रोता हुआ जाकर रिंदा के पैरों पर गिर पड़ा। रिंदा अपने जिगर के टुकड़े को देखते ही पहचान गई, उसे छाती से लगा लिया और वह जड़ाऊ ताज उसके सर पर रखकर बोली—"साहबो, यही मेरा प्यारा मसऊद और शाहे बामुराद का बेटा है, तुम लोग इसकी रियाया हो, यह ताज इसका है, यह मुल्क इसका है और सारी खिलक़त इसकी है। आज से वह अपने मुल्क का बादशाह है, अपनी क़ौम का ख़ादिम।"

दरबार में क़यामत का शोर मचने लगा, दरबारी उठे और मसऊद को हाथों-हाथ ले जाकर तख़्त पर मलिका शेर अफ़गन के बगल में बिठा दिया। भेंटें दी जाने लगीं, सलामियाँ दगने लगीं, नफ़ीरियों ने ख़ुशी का गीत गाया और बाजों ने जीत का शोर मचाया। मगर जब जोश की यह ख़ुशी ज़रा कम हुई और लोगों ने रिंदा को देखा तो वह मर गई थी। आरज़ुओं के पूरे होते ही जान निकल गई, गोया आरज़ुएँ रूह बनकर उसके मिट्टी के तन को ज़िंदा रखे हुए थीं।

('सोज़ेवतन', उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1908)
('सोज़ेवतन', हिंदी कहानी-संग्रह, 1961)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

यही मेरी मातृभूमि है

1

आज पूरे 60 वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि, प्यारी मातृभूमि के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचालित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान् हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और क़ानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे, करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ ख़ूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी ख़ूब पैदा किया तथा धन से आनंद भी ख़ूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपना सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुंदरता की ख्याति तमाम अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका संबंध मुझसे न हो। मैं उस पर तन-मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे जो सुंदर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हें-नन्हें पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जबकि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाए। मैंने अनंत धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हें-नन्हें बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसीलिए परित्याग कर दिए कि प्यारी भारत-जननी के अंतिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ; 10 वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाक़ी है कि मैं अपनी मातृभूमि का रज-कण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय भी थी, जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी और जबकि मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-सा खटकता

रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी; मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रहकर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोपड़े, चार-छः बीघे मौरूसी ज़मीन और बालपन के लँगोटिए यारों की याद अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि "यदि मैं अपने देश में होता...!"

2

जिस समय मैं बंबई में जहाज़ से उतरा, मैंने पहले काले-काले कोट-पतलून पहने टूटी-फूटी अँगरेज़ी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँगरेज़ी दुकानें, ट्राम और मोटरगाड़ियाँ दीख पड़ीं। इसके बाद रबर-टायरवाली गाड़ियों और मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया टर्मिनस-स्टेशन देखा। इसके बाद मैं रेल पर सवार होकर हरी-हरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों में आँसू भर आए और मैं ख़ूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इँगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय में फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग को मात कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था। अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिलकुल भूल गया था कि मैं 90 वर्ष का बूढा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग तेज़ होते जाते थे और हृदय में अकथनीय आनंद का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृष्टि डालता। अहा! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे, किंतु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज़ बंदूकें लिए इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख़्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किंतु शोक! वे सब-के-सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोंपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफ़िक्री के आनंद लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

3

यह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते नज़र आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिंता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी। सब सांसारिक चिंताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल, कांतिहीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक, फटे कपड़े पहने, बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा—"नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।"

बरगद के पेड़ की ओर दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनंद उड़ाए थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ास्थल और युवावस्था का सुखप्रद कुंज था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःख-दायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी झूला थीं और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिए यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गए? हाय, मैं बिना घर-बार का मुसाफ़िर, अब क्या अकेला ही हूँ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं? इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफ़ा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले आदमी करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुर्भिक्ष-ग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक़्त पिताजी गाँव के अन्य बुज़ुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाज़ियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव-भर की गाएँ रक्खी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं कलोलें किया करते थे। शोक! अब उस चौपाल का पता तक न था! वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकख़ाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हबाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी और गुड़ की सुगंध से चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम और हमारे साथी

गँडेरियों के लिये वहाँ बैठे रहते और गँडेरियाँ कतरनेवाले मज़दूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहीं हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था। आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर वहाँ आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किंतु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तंबोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा–"महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ, रात-भर लेटे रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा?" इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और बोला–"आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ भी यही उत्तर मिला। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिए। चने मेरे हाथों से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा–"हाय, यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है–कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिबिया ख़रीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा। अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! धर्मशाला ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किंतु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिए स्थान न था। मदिरा, दुराचार और जुए ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा–"नहीं, नहीं, नहीं, और हज़ार बार नहीं है–यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।"

4

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने कर्कश स्वर में गीत गा रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा–अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ? अब तक मेरी मातृभूमि थी; मैं विदेश में ज़रूर था, किंतु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रक्खे मौन बैठा रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। सहसा घंटेवाले ने तीन बजाए और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया! यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर

है! मैं तुरंत उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि 15-20 वृद्धा स्त्रियाँ, सफ़ेद धोतियाँ पहने, हाथों में लोटे लिए स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं–

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो–

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था, कि इतने में मुझे बहुत आदमियों का बोलचाल सुन पड़ा। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिए हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। मधुर, भावमय और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की रमणियों का अलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, उनके हृदयाकर्षक वचनों का आनंद उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किंतु जो आनंद, जो मज़ा और जो सुख मुझे इस राग में आया वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

मैंने खुद गुनगुनाकर गाया–

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो–

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनंदातिरेक से मेरा हृदय आनंदमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और 6 मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिंदू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छः-सात मील पर बहती थीं। किसी समय मैं घोड़े पर चढ़कर नित्य स्नान करने जाता था। गंगामाता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारों मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मंत्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेद-मंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं ज़ोर से कह उठा–"हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी! इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।"

5

मैं विशेष आनंद में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गंगामाता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन-भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद संध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला

आवे और उसकी छाती से चिपट जाए। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगास्नान करता हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगा-माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, मगर अब मैं यह गंगामाता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

(*'सोज़ेवतन', उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1980*)
(*'प्रेम-प्रसून', हिंदी कहानी-संग्रह, 1924 से प्रस्तुत*)
(*'मानसरोवर'-6, 1946*)

शोक का पुरस्कार

1

आज तीन दिन गुज़र गए। शाम का वक़्त था। मैं युनिवर्सिटी हाल से खुश-खुश चला आ रहा था। मेरे सैकड़ों दोस्त मुझे बधाइयाँ दे रहे थे। मारे ख़ुशी के मेरी बाँछें खिली जाती थीं। मेरी ज़िंदगी की सबसे प्यारी आरज़ू कि मैं एम. ए. पास हो जाऊँ, पूरी हो गई थी और ऐसी ख़ूबी से जिसकी मुझे तनिक भी आशा न थी। मेरा नंबर अव्वल था। वाइस-चांसलर साहब ने खुद मुझसे हाथ मिलाया था और मुस्कराकर कहा था कि भगवान तुम्हें और भी बड़े कामों की शक्ति दे। मेरी ख़ुशी की कोई सीमा न थी। मैं नौजवान था, सुंदर था, स्वस्थ था, रुपए-पैसे की न मुझे इच्छा थी और न कमी, माँ-बाप बहुत कुछ छोड़ गए थे। दुनिया में सच्ची ख़ुशी पाने के लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत है वह सब मुझे प्राप्त थीं और सबसे बढ़कर पहलू में एक हौसलामंद दिल था, जो ख्याति प्राप्त करने के लिए अधीर हो रहा था।

घर आया, दोस्तों ने यहाँ पीछा न छोड़ा, दावत की ठहरी। दोस्तों की ख़ातिर-तवाजो में बारह बज गए, लेटा जो बरबस ख़याल मिस लीलावती की तरफ़ जा पहुँचा, जो मेरे पड़ोस में रहती थी और जिसने मेरे साथ बी. ए. का डिप्लोमा हासिल किया था। भाग्यशाली होगा वह व्यक्ति जो मिस लीला को ब्याहेगा, कैसी सुंदर है! कितना मीठा गला है! कैसा हँसमुख स्वभाव! मैं कभी-कभी उसके यहाँ प्रोफ़ेसर साहब से दर्शनशास्त्र में सहायता लेने के लिए जाया करता था। वह दिन शुभ होता था, जब प्रोफ़ेसर घर पर न मिलते थे। मिस लीला मेरे साथ बड़े तपाक से पेश आती और मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं ईसा मसीह की शरण में आ जाऊँ तो उसे मुझे अपना पति बना लेने में आपत्ति न होगी। वह शेली, बायरन और कीट्स की प्रेमी थी और मेरी रुचि भी बिलकुल उसी के समान थी। हम जब अकेले होते तो अक्सर प्रेम और प्रेम के दर्शन पर बातें करने लगते और उसके मुँह से भावों में डूबी हुई बातें सुन-सुनकर मेरे दिल में गुदगुदी पैदा होने लगती थी। मगर अफ़सोस मैं अपना मालिक न था। मेरी शादी एक ऊँचे घराने में कर दी गई थी और अगरचे मैंने अब तक अपनी

बीवी की सूरत भी न देखी थी मगर मुझे पूरा-पूरा विश्वास था कि मुझे उसकी संगत में वह आनंद नहीं मिल सकता जो मिस लीला की संगत में संभव है। शादी हुए दो साल हो चुके थे मगर उसने मेरे पास एक ख़त भी न लिखा था। मैंने दो-तीन ख़त लिखे भी, मगर किसी का जवाब न मिला। इससे मुझे शक हो गया था कि उसकी तालीम भी यों ही-सी है।

आह! क्या मैं इसी लड़की के साथ ज़िंदगी बसर करने पर मजबूर हूँगा? ...इस सवाल ने मेरे उन तमाम हवाई क़िलों को ढा दिया जो मैंने अभी-अभी बनाए थे। क्या मैं मिस लीला से हमेशा के लिए हाथ धो लूँ? नामुमकिन है। मैं कुमुदिनी को छोड़ दूँगा, मैं अपने घरवालों से नाता तोड़ लूँगा, मैं बदनाम हूँगा, परेशान हूँगा, मगर मिस लीला को ज़रूर अपना बनाऊँगा।

इन्हीं ख़यालों के असर में मैंने अपनी डायरी लिखी और उसे मेज़ पर खुला छोड़कर बिस्तर पर लेट रहा और सोचते-सोचते सो गया।

सबेरे उठकर देखता हूँ तो बाबू निरंजनदास मेरे सामने कुर्सी पर बैठे हैं। उनके हाथ में डायरी थी जिसे वह ध्यानपूर्वक पढ़ रहे थे। उन्हें देखते ही मैं बड़े चाव से लिपट गया। अफ़सोस, अब उस देवोपम स्वभाववाले नौजवान की सूरत देखनी न नसीब होगी। अचानक मौत ने उसे हमेशा के लिए हमसे अलग कर दिया। कुमुदिनी के सगे भाई थे, बहुत स्वस्थ, सुंदर और हँसमुख, उम्र मुझसे दो ही चार साल ज़्यादा थी, ऊँचे पद पर नियुक्त थे, कुछ दिनों से इसी शहर में तबदील होकर आ गए थे। मेरी और उनकी गाढ़ी दोस्ती हो गई थी। मैंने पूछा—"क्या तुमने डायरी पढ़ ली?"

निरंजन—"हाँ।"

मैं—"मगर कुमुदिनी से कुछ न कहना।"

निरंजन—"बहुत अच्छा, न कहूँगा।"

मैं—"इस वक़्त किसी सोच में हो। मेरा डिप्लोमा देखा?"

निरंजन—"घर से ख़त आया है, पिताजी बीमार हैं, दो-तीन दिन में जानेवाला हूँ।"

मैं—"शौक से जाइए, ईश्वर उन्हें जल्द स्वस्थ करे।"

निरंजन—"तुम भी चलोगे? न मालूम कैसा पड़े, कैसा न पड़े।"

मैं—"मुझे तो इस वक़्त माफ़ कर दो।"

निरंजनदास यह कहकर चले गए। मैंने हज़ामत बनाई, कपड़े बदले और मिस लीलावती से मिलने का चाव मन में लेकर चला। वहाँ जाकर देखा तो ताला पड़ा हुआ है। मालूम हुआ कि मिस साहिबा की तबीयत दो-तीन दिन से ख़राब थी। आबहवा बदलने के लिए नैनीताल चली गई हैं। अफ़सोस, मैं हाथ मलकर रह गया। क्या लीला मुझसे नाराज़ थी? उसने मुझे क्यों ख़बर नहीं दी। लीला, क्या तू बेवफ़ा है, तुझसे

बेवफ़ाई की उम्मीद न थी। फ़ौरन पक्का इरादा कर लिया कि आज की डाक से नैनीताल चल दूँ। मगर घर आया तो लीला का ख़त मिला। काँपते हुए हाथों से खोला, लिखा था—मैं बीमार हूँ, मेरे जीने की कोई उम्मीद नहीं है, डॉक्टर कहते हैं कि प्लेग है। जब तक तुम आओगे, शायद मेरा किस्सा तमाम हो जाएगा। आख़िरी वक़्त तुमसे न मिलने का सख़्त सदमा है। मेरी याद दिल में क़ायम रखना। मुझे सख़्त अफ़सोस है कि तुमसे मिलकर नहीं आई। मेरा क़ुसूर माफ़ करना और अपनी अभागिनी लीला को भुला मत देना। ख़त मेरे हाथ से छूटकर गिर पड़ा। दुनिया आँखों में अँधेरी हो गई, मुँह से एक ठंडी आह निकली। बिना एक-क्षण गँवाए मैंने बिस्तर बाँधा और नैनीताल चलने के लिए तैयार हो गया। घर से निकला ही था कि प्रोफ़ेसर बोस से मुलाक़ात हो गई। कॉलेज से चले आ रहे थे, चेहरे पर शोक लिखा हुआ था। मुझे देखते ही उन्होंने जेब से एक तार निकालकर मेरे सामने फेंक दिया। मेरा कलेजा धक् से हो गया। आँखों में अँधेरा छा गया, तार कौन उठाता है, हार मारकर बैठ गया। लीला, तू इतनी जल्द मुझसे जुदा हो गई!

2

मैं रोता हुआ घर आया और चारपाई पर मुँह ढाँपकर ख़ूब रोया। नैनीताल जाने का इरादा ख़त्म हो गया। दस-बारह दिन तक मैं उन्माद की-सी दशा में इधर-उधर घूमता रहा। दोस्तों की सलाह हुई कि कुछ रोज़ के लिए कहीं घूमने चले जाओ। मेरे दिल में यह बात जम गई। निकल खड़ा हुआ और दो महीने तक विंध्याचल, पारसनाथ वग़ैरह पहाड़ियों में आवारा फिरता रहा। ज्यों-ज्यों करके नई-नई जगहों और दृश्यों की सैर से तबीयत को ज़रा तस्कीन हुई। मैं आबू में था जब मेरे नाम तार पहुँचा कि मैं कॉलेज की असिस्टेंट प्रोफ़ेसरी के लिए चुना गया हूँ। जी तो न चाहता था कि फिर इस शहर में आऊँ, मगर प्रिंसिपल के ख़त ने मज़बूर कर दिया। लाचार लौटा और अपने काम में लग गया। ज़िंदादिली नाम को न बाक़ी रही थी। दोस्तों की संगत से भागता और हँसी-मज़ाक़ से चिढ़ मालूम होती।

एक रोज़ शाम के वक़्त मैं अपने अँधेरे कमरे में लेटा हुआ कल्पना-लोक की सैर कर रहा था कि सामनेवाले मकान से गाने की आवाज़ आई। आह, क्या आवाज़ थी, तीर की तरह दिल में चुभी जाती थी, स्वर कितना करुण था! इस वक़्त मुझे अंदाज़ा हुआ कि गाने में क्या असर होता है? तमाम रोंगटे खड़े हो गए, कलेजा मसोसने लगा और दिल पर एक अजीब वेदना-सी छा गई। आँखों से आँसू बहने लगे। हाय, यह लीला का प्यारा गीत था—

पिया मिलन है कठिन बावरी।

मुझसे ज़ब्त न हो सका, मैं एक उन्माद की-सी दशा में उठा और जाकर सामनेवाले मकान का दरवाज़ा खटखटाया। मुझे उस वक़्त यह चेतना न रही कि एक अजनबी आदमी के मकान पर आकर खड़े हो जाना और उसके एकांत में विघ्न डालना परले दर्जे की असभ्यता है।

3

एक बुढ़िया ने दरवाज़ा खोल दिया और मुझे खड़े देखकर लपकी हुई अंदर गई। मैं भी उसके साथ चला गया। देहलीज़ तय करते ही एक बड़े कमरे में पहुँचा। उस पर एक सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था। गावतकिए भी रखे थे। दीवारों पर ख़ूबसूरत तसवीरें लटक रही थीं और एक सोलह-सत्रह साल का सुंदर नौजवान जिसकी अभी मसें भीग रही थीं मसनद के क़रीब बैठा हुआ हारमोनियम पर गा रहा था। मैं क़सम खा सकता हूँ कि ऐसा सुंदर, स्वस्थ नौजवान मेरी नज़र से कभी नहीं गुज़रा। चाल-ढाल से सिख मालूम होता था। मुझे देखते ही चौंक पड़ा और हारमोनियम छोड़कर खड़ा हो गया। शर्म से सिर झुका लिया और कुछ घबराया हुआ-सा नज़र आने लगा। मैंने कहा—"माफ़ कीजिएगा, मैंने आपको बड़ी तकलीफ़ दी। आप इस फ़न के उस्ताद मालूम होते हैं। ख़ासकर जो चीज़ अभी आप गा रहे थे, वह मुझे पसंद है।"

नौजवान ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ़ देखा और सर नीचा कर लिया और होंठों ही में कुछ अपने नौसिखियेपन की बात कही। मैंने फिर पूछा—"आप यहाँ कब से हैं?"

नौजवान—"तीन महीने के क़रीब होता है।"

मैं—"आपका शुभ नाम।"

नौजवान—"मुझे मेहर सिंह कहते हैं।"

मैं बैठ गया और बहुत गुस्ताख़ाना बेतकल्लुफ़ी से मेहर सिंह का हाथ पकड़कर बिठा दिया और फिर माफ़ी माँगी। उस वक़्त की बातचीत से मालूम हुआ कि वह पंजाब का रहनेवाला है और यहाँ पढ़ने के लिए आया हुआ है। शायद डॉक्टरों ने सलाह दी थी कि पंजाब की आबहवा उसके लिए ठीक नहीं है। मैं दिल में तो झेंपा कि एक स्कूल के लड़के के साथ बैठकर ऐसी बेतकल्लुफ़ी से बातें कर रहा हूँ, मगर संगीत के प्रेम ने इस ख़याल को रहने न दिया। रस्मी परिचय के बाद मैंने फिर प्रार्थना की कि वही चीज़ छेड़िए। मेहर सिंह ने आँखें नीची करके जवाब दिया कि मैं अभी बिलकुल नौसिखिया हूँ।

मैं—"यह तो आप अपनी ज़बान से कहिए।"

मेहर सिंह—(झेंपकर) "आप कुछ फ़रमाएँ, हारमोनियम हाज़िर है।"

मैं—"इस फ़न में बिलकुल कोरा हूँ वर्ना आपकी फ़रमाइश ज़रूर पूरी करता।"

इसके बाद मेंने बहुत आग्रह किया मगर मेहर सिंह झेंपता ही रहा। मुझे स्वभावतः शिष्टाचार से घृणा है। हालाँकि इस वक़्त मुझे रूखा होने का कोई हक न था मगर जब मैंने देखा कि यह किसी तरह न मानेगा तो ज़रा रुखाई से बोला—"ख़ैर जाने दीजिए। मुझे अफ़सोस है कि मैंने आपका बहुत वक़्त बर्बाद किया। माफ़ कीजिए। यह कहकर उठ खड़ा हुआ। मेरी रोनी सूरत देखकर शायद मेहर सिंह को उस वक़्त तरस आ गया, उसने झेंपते हुए मेरा हाथ पकड़ लियंा और बोला—"आप तो नाराज़ हुए जाते हैं।"

मैं—"मुझे आपसे नाराज़ होने का हक हासिल नहीं।"

मेहर सिंह—"अच्छा बैठ जाइए, मैं आपकी फ़रमाइश पूरी करूँगा। मगर मैं अभी बिलकुल अनाड़ी हूँ।"

मैं बैठ गया और मेहर सिंह ने हारमोनियम पर वही गीत अलापना शुरू किया—

पिया मिलन है कठिन बावरी।

कैसी सुरीली तान थी, कैसी मीठी आवाज़, कैसा बेचैन करने वाला भाव! उसके गले में वह रस था, जिसका बयान नहीं हो सकता। मैंने देखा कि गाते-गाते खुद उसकी आँखों में आँसू भर आए। मुझ पर इस वक़्त एक मोहक सपने की-सी दशा छाई हुई थी। एक बहुत मीठा नाजुक, दर्दनाक असर दिल पर हो रहा था, जिसे बयान नहीं किया जा सकता। एक हरे-भरे मैदान का नक़्शा आँखों के सामने खिंच गया और लीला, प्यारी लीला उस मैदान पर बैठी हुई मेरी तरफ़ हसरतनाक आँखों से ताक रही थी। मैंने एक लंबी आह भरी और बिना कुछ कहे उठ खड़ा हुआ। इस वक़्त मेहर सिंह ने मेरी तरफ़ ताका, उसकी आँखों से मोती के क़तरे डबडबाए हुए थे और बोला—"कभी-कभी तशरीफ़ लाया कीजिएगा।"

मैंने सिर्फ़ इतना जवाब दिया—"मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ।"

4

धीरे-धीरे मेरी यह हालत हो गई कि जब तक मेहर सिंह के यहाँ आकर दो-चार गाने न सुन लूँ, जी को चैन न आता। शाम हुई और मैं जा पहुँचा। कुछ देर तक गानों की बहार लूटना और तब उसे पढ़ाता। ऐसे ज़हीन और समझदार लड़के को पढ़ाने में मुझे ख़ास मज़ा आता था। मालूम होता था कि मेरी एक-एक बात उसके दिल पर नक़्श हो रही है। जब तक मैं पढ़ाता, वह पूरे जी-जान से कान लगाए बैठा रहता। जब उसे देखता, पढ़ने-लिखने में डूबा हुआ पाता। साल-भर में अपने भगवान के दिए हुए ज़ेहन की बदौलत उसने अँगरेज़ी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। मामूली चिट्ठियाँ लिखने लगा और दूसरा

साल गुज़रते-गुज़रते वह अपने स्कूल के कुछ छात्रों से बाज़ी ले गया। जितने मुदर्रिस थे, सब उसकी अक्ल पर हैरत करते और सीधा नेक-चलन ऐसा कि कभी झूठ-मूठ भी किसी ने उसकी शिकायत नहीं की। वह अपने सारे स्कूल की उम्मीद और रौनक़ था लेकिन बावजूद सिख होने के उसे खेल-कूद में रुचि न थी। मैंने उसे कभी क्रिकेट में नहीं देखा। शाम होते ही सीधे घर चला आता और लिखने-पढ़ने में लग जाता।

मैं धीरे-धीरे उससे इतना हिल-मिल गया कि बजाय शिष्य के उसको अपना दोस्त समझने लगा। उम्र के लिहाज़ से उसकी समझ आश्चर्यजनक थी। देखने में 16-17 साल से ज़्यादा मालूम होता मगर जब कभी मैं रवानी में आकर दुर्बोध कवि-कल्पनाओं और कोमल भावों की उसके सामने व्याख्या करता तो मुझे उसकी भंगिमा से ऐसा मालूम होता कि एक-एक बारीकी को समझ रहा है। एक दिन मैंने उससे पूछा—"मेहर सिंह, तुम्हारी शादी हो गई?"

मेहर सिंह ने शरमाकर जवाब दिया—"अभी नहीं।"

मैं—"तुम्हें कैसी औरत पसंद है?"

मेहर सिंह—"मैं शादी करूँगा ही नहीं।"

मैं—"क्यों?"

मेहर सिंह—"मुझ जैसे जाहिल गँवार के साथ शादी करना कोई औरत पसंद न करेगी।"

मैं—"बहुत कम ऐसे नौजवान होंगे जो तुमसे ज़्यादा लायक हों या तुमसे ज़्यादा समझ रखते हों।"

मेहर सिंह ने मेरी तरफ़ अचंभे से देखकर कहा—"आप दिल्लगी करते हैं।"

मैं—"दिल्लगी नहीं, मैं सच कहता हूँ। मुझे ख़ुद आश्चर्य होता है कि इतने दिनों में तुमने इतनी योग्यता क्योंकर पैदा ली। अभी तुम्हें अंग्रेज़ी शुरू किए तीन बरस से ज़्यादा नहीं हुए।"

मेहर सिंह—"क्या मैं किसी पढ़ी-लिखी लेडी को ख़ुश रख सकूँगा।"

मैं—(जोश) "बेशक!"

5

गर्मी का मौसम था। मैं हवा खाने शिमले गया हुआ था। मेहर सिंह भी मेरे साथ था। वहाँ मैं बीमार पड़ा। चेचक निकल आई। तमाम जिस्म में फफोले पड़ गए। पीठ के बल चारपाई पर पड़ा रहता। उस वक़्त मेहर सिंह ने मेरे साथ जो-जो एहसान किए, वह मुझे हमेशा याद रहेंगे। डॉक्टरों की सख़्त मनाही थी कि वह मेरे कमरे में न आवे। मगर मेहर सिंह आठों पहर मेरे ही पास बैठा रहता। मुझे खिलाता-पिलाता, उठाता-बिठाता। रात-रात भर चारपाई के क़रीब बैठकर जागते रहना मेहर सिंह ही का काम था। सगा भाई भी इससे ज़्यादा सेवा नहीं कर सकता था। एक महीना गुज़र गया। मेरी हालत

रोज़-ब-रोज़ बिगड़ती जाती थी। एक रोज़ मैंने डॉक्टर को मेहर सिंह से कहते हुए सुना कि इनकी हालत नाज़ुक है। मुझे यक़ीन हो गया कि अब न बचूँगा, मगर मेहर सिंह कुछ ऐसी दृढ़ता से मेरी सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ था कि जैसे वह मुझे ज़बर्दस्ती मौत के मुँह से बचा लेगा। एक रोज़ शाम के वक़्त मैं कमरे में लेटा हुआ था कि किसी के सिसकी लेने की आवाज़ आई। वहाँ मेहर सिंह को छोड़कर और कोई न था। मैंने पूछा—"मेहर सिंह, मेहर सिंह, तुम रोते हो!"

मेहर सिंह ने ज़ब्त करके कहा—"नहीं, रोऊँ क्यों।" और मेरी तरफ़ बड़ी दर्द-भरी आँखों से देखा।

मैं—"तुम्हारे सिसकने की आवाज़ आई।"

मेहर सिंह—"वह कुछ बात न थी। घर की याद आ गई थी।"

मैं—"सच बोलो।"

मेहर सिंह की आँखें फिर डबडबा आईं। उसने मेज़ पर से आइना उठाकर मेरे सामने रख दिया। हे नारायण! मैं खुद अपने को पहचान न सका। चेहरा इतना ज़्यादा बदल गया था। रंगत बजाया सुर्ख़ के सियाह हो रही थी और चेचक के बदनुमा दाग़ों ने सूरत बिगाड़ दी थी। अपनी यह बुरी हालत देखकर मुझसे भी ज़ब्त न हो सका और आँखें डबडबा गईं। वह सौंदर्य जिस पर मुझे इतना गर्व था बिलकुल विदा हो गया था।

6

मैं शिमले से वापस आने की तैयारी कर रहा था। मेहर सिंह उसी रोज़ मुझसे विदा होकर अपने घर चला गया था। मेरी तबीयत बहुत उचाट हो रही थी। असबाब सब बँध चुका था कि एक गाड़ी मेरे दरवाज़े पर आकर रुकी और उसमें से कौन उतरा? मिस लीला! मेरी आँखों को विश्वास न हो रहा था, चकित होकर ताकने लगा। मिस लीलावती ने आगे बढ़कर मुझे सलाम किया और हाथ मिलाने को बढ़ाया। मैंने भी बौखलाहट में हाथ तो बढ़ा दिया पर अभी तक यह यक़ीन नहीं हुआ था कि मैं सपना देख रहा हूँ या हक़ीक़त है। लीला के गालों पर वह लाली न थी न वह चुलबुलापन, बल्कि वह बहुत गंभीर और पीली-पीली-सी हो रही थी। आख़िर मेरी हैरत कम न होते देखकर उसने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा—"तुम कैसे जेंटिलमैन हो कि एक शरीफ लेडी को बैठने के लिए कुर्सी भी नहीं देते!"

मैंने अंदर से कुर्सी लाकर उसके लिए रख दी, मगर अभी तक यही समझ रहा था कि सपना देख रहा हूँ।

लीलावती ने कहा—"शायद तुम मुझे भूल गए।"

मैं—"भूल तो उम्र-भर नहीं सकता मगर आँखों को एतबार नहीं आता।"

लीला—"तुम तो बिलकुल पहचाने नहीं जाते।"

मैं—"तुम भी तो वह नहीं रहीं। मगर आख़िर यह भेद क्या है, क्या तुम स्वर्ग से लौट आईं।"

लीला—"मैं तो नैनीताल में अपने मामा के यहाँ थी।"

मैं—"और वह चिट्ठी मुझे किसने लिखी थी और तार किसने दिया था?"

लीला—"मैंने ही।"

मैं—"क्यों? तुमने मुझे यह धोखा क्यों दिया? शायद तुम अंदाज़ा नहीं कर सकतीं कि मैंने तुम्हारे शोक में कितनी पीड़ा सही है।"

मुझे उस वक़्त एक अनोखा गुस्सा आया—यह फिर मेरे सामने क्यों आ गई! मर गई थी तो मरी ही रहती!

लीला—"इसमें एक गुर था, मगर यह बातें तो फिर होती रहेंगी। आओ, इस वक़्त तुम्हें अपनी एक लेडी फ्रेंड से इंट्रोड्यूस कराऊँ, वह तुमसे मिलने की बहुत इच्छुक है!"

मैंने अचरज से पूछा—"मुझसे मिलने की!" मगर लीलावती ने इसका कुछ ज़वाब नहीं दिया और मेरा हाथ पकड़कर गाड़ी के सामने ले गई। उसमें एक युवती हिंदुस्तानी कपड़े पहने बैठी हुई थी। मुझे देखते ही उठ खड़ी हुई और हाथ बढ़ा दिया। मैंने लीला की तरफ़ सवाल करती हुई आँखों से देखा।

लीला—"क्या तुमने नहीं पहचाना?"

मैं—"मुझे अफ़सोस है कि मैंने आपको पहले कभी नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो घूँघट की आड़ से क्योंकर पहचान सकता हूँ।"

लीला—"यह तुम्हारी बीवी कुमुदिनी है!"

मैंने आश्चर्य के स्वर में कहा—"कुमुदिनी यहाँ!"

लीला—"कुमुदिनी मुँह खोल दो और अपने प्यारे पति का स्वागत करो।"

कुमुदिनी ने काँपते हुए हाथों से ज़रा-सा घूँघट उठाया। लीला ने सारा मुँह खोल दिया और ऐसा मालूम हुआ कि जैसे बादल से चाँद निकल आया। मुझे ख़याल आया, मैंने यह चेहरा कहीं देखा है। कहाँ? आह, उसकी नाक पर भी तो वही तिल है, उंगली में वही अंगूठी भी है।

लीला—"क्या सोचते हो, अब पहचाना?"

मैं—"मेरी कुछ अक़्ल काम नहीं करती। हूबहू यही हुलिया मेरे एक प्यारे दोस्त मेहर सिंह का है।"

लीला—(मुस्कराकर) "तुम तो हमेशा निगाह के तेज़ बनते थे, इतना भी नहीं पहचान सकते!"

मैं ख़ुशी से फूल उठा—कुमुदिनी मेहर सिंह के भेस में! मैंने उसी वक़्त उसे गले से लगा लिया और ख़ूब दिल खोलकर प्यार किया। इन कुछ क्षणों में मुझे जो ख़ुशी

हासिल हुई उसके मुक़ाबिले में ज़िंदगी-भर की खुशियाँ हेच हैं। हम दोनों आलिंगन-पाश में बँधे हुए थे। कुमुदिनी, प्यारी कुमुदिनी के मुँह से आवाज़ न निकलती थी। हाँ, आँखों से आँसू जारी थे।

मिस लीला बाहर खड़ी कोमल आँखों से यह दृश्य देख रही थी। मैंने उसके हाथों को चूमकर कहा—"प्यारी लीला, तुम सच्ची देवी हो, जब तक जिएँगे तुम्हारे कृतज्ञ रहेंगे।"

लीला के चेहरे पर एक हल्की-सी मुसकराहट दिखाई दी। बोली—"अब तो शायद तुम्हें मेरे शोक का काफ़ी पुरस्कार मिल गया।"

('सोज़ेवतन' उर्दू कहानी-संग्रह, जून, 1908)
("गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

वर्ष : 1910

पाप का अग्निकुंड

1

कुँवर पृथ्वीसिंह महाराज यशवंतसिंह के बेटे थे। रूप, गुण और विद्या में निपुण थे। ईरान, मिस्र, श्याम आदि देशों में परिभ्रमण कर चुके थे और कई भाषाओं के पंडित समझे जाते थे। इनकी एक बहिन थी, जिसका नाम राजनंदिनी था। यह भी जैसी सुरूपवती और सर्वगुणसंपन्ना थी; वैसी ही प्रसन्नवदना, मृदुभाषिणी भी थी। कड़वी बात कहकर किसी का जी दुःखाना उसे पसंद नहीं था। पाप को तो वह अपने पास भी नहीं फटकने देती थी। यहाँ तक कि कई बार महाराज यशवंतसिंह से भी वादानुवाद कर चुकी थी और जब कभी उन्हें किसी बहाने कोई अनुचित काम करते देखती, तो उसे यथाशक्ति रोकने की चेष्टा करती। इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह* से हुआ था। ये एक छोटी रियासत के अधिकारी और महाराज यशवंतसिंह की सेना के उच्चपदाधिकारी थे। धर्मसिंह बड़ा उदार और कर्मवीर था। इसे होनहार देखकर महाराजा ने राजनंदिनी को इसके साथ ब्याह दिया था और दोनों बड़े प्रेम से अपना वैवाहिक जीवन बिताते थे। धर्मसिंह अधिकतर जोधपुर में रहता था। पृथ्वीसिंह उसके गाढ़े मित्र थे। इनमें जैसी मित्रता थी, वैसी भाइयों में भी नहीं होती। जिस प्रकार इन दोनों राजकुमारों में मित्रता थी, उसी प्रकार दोनों राजकुमारियाँ भी एक-दूसरी पर जान देती थीं। पृथ्वीसिंह की स्त्री दुर्गाकुँवर बहुत सुशीला और चतुरा थी। ननद भावज में अनबन होना लोकरीति है, पर इन दोनों में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरी को कभी कल नहीं पड़ता था। दोनों स्त्रियाँ संस्कृत से प्रेम रखती थीं।

एक दिन दोनों राजकुमारियाँ बाग़ की सैर में मग्न थीं कि एक दासी ने राजनंदिनी के हाथ में एक काग़ज़ लाकर रख दिया। राजनंदिनी ने उसे खोला तो वह संस्कृत का एक पत्र था। उसे पढ़कर उसने दासी से कहा कि उन्हें भेज दे। थोड़ी देर में एक स्त्री सिर से पैर तक एक चादर ओढ़े आती दिखाई दी। इसकी उम्र 25 साल से अधिक न थी, पर इसकी रंगत पीली थी। आँखें बड़ी-बड़ी और ओंठ सूखे; चाल-ढाल में कोमलता

---

* *कहानी में 'धर्मसिंह' और 'धर्म्मसिंह' दो रूप मिलते हैं। इनमें अधिकांश स्थानों पर 'धर्मसिंह' का प्रयोग हुआ है, अतः सर्वत्र 'धर्मसिंह' का ही प्रयोग करना उचित प्रतीत हुआ।*

थी और उसके डीलडौल का गठन बहुत ही मनोहर था। अनुमान से जान पड़ता था कि समय ने उसकी यह दशा कर रक्खी है पर एक समय वह भी होगा जब यह बड़ी सुंदर होगी। उस स्त्री ने आकर चौखट चूमी और आशीर्वाद देकर फ़र्श पर बैठ गई। राजनंदिनी ने उसे सिर से पैर तक बड़े ध्यान से देखा और पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?" उसने उत्तर दिया—"मुझे ब्रजविलासिनी कहते हैं।"

"कहाँ रहती हो?"

"यहाँ से तीन दिन की राह पर एक गाँव विक्रम नगर है, वहीं मेरा घर है।"

"संस्कृत कहाँ पढ़ी है?"

"मेरे पिताजी संस्कृत के बड़े पंडित थे, उन्होंने थोड़ी-बहुत पढ़ा दी है।"

"तुम्हारा ब्याह तो हो गया है न?"

ब्याह का नाम सुनते ही ब्रजविलासिनी की आँखों से आँसू बहने लगे। वह आवाज़ सम्हालकर बोली—"इसका जवाब मैं फिर कभी दूँगी; मेरी रामकहानी बड़ी दुःखमय है। उसे सुनकर आपको दुःख होगा, इसलिए इस समय क्षमा कीजिए।" आज से ब्रजविलासिनी रहने लगी। संस्कृत साहित्य में उसका बहुत प्रवेश था। वह राजकुमारियों को प्रति दिन कविता पढ़कर सुनाती थी। उसके रूप-रंग और विद्या ने धीरे-धीरे राजकुमारियों के मन में उसका प्रेम और प्रतिष्ठा उत्पन्न कर दी। यहाँ तक कि राजकुमारियों और ब्रजविलासिनी की बड़ाई-छुटाई उठ गई और वे सहेलियों की भाँति रहने लगीं।

2

कई महीने बीत गए। कुँवर पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह दोनों महाराज के साथ अफ़गानिस्तान की मुहिम पर गए हुए थे। यहाँ विरह की घड़ियाँ 'मेघदूत' और 'रघुवंश' के पढ़ने में कटीं। ब्रजविलासिनी को कालिदास की कविता से बहुत प्रेम था और वह उनके काव्यों की टीका ऐसी उत्तमता से करती और उसमें ऐसी-ऐसी बारीकियाँ निकालती कि दोनों राजकुमारियाँ मुग्ध हो जातीं। एक दिन संध्या का समय था, दोनों राजकुमारियाँ फुलवाड़ी में सैर करने लगीं, तो देखा कि ब्रजविलासिनी हरी-हरी घास पर लेटी हुई है और उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। राजकुमारियों के अच्छे बर्ताव और स्नेहपूर्ण बातचीत से उसकी सुंदरता कुछ चमक गई थी। इनके साथ अब वह भी राजकुमारी जान पड़ती थी पर इन सब बातों के रहते भी वह बेचारी बहुधा एकांत में बैठकर रोया करती। उसके दिल पर एक ऐसी चोट थी कि वह उसे दम-भर भी चैन नहीं लेने देती थी। राजकुमारियों ने उस समय उसे रोते देखा तो बड़ी सहानुभूति के साथ उसके पास बैठ गईं। राजनंदिनी ने उसका सिर अपनी जाँघ पर रख लिया और उसके गुलाब से गालों को थपथपाकर कहा—"सखी! तुम अपने दिल का हाल हमें बताओगी? क्या अब भी हम ग़ैर हैं? तुम्हारा यों अकेले दुःख की आग में जलना हमसे नहीं देखा

जाना।" ब्रजविलासिनी आवाज़ सम्हालकर बोली—"बहन! मैं अभागिनी हूँ! मेरा हाल मत सुनो।"

राज.—"अगर बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ।"

व्रज.—"क्या, कहो।"

राज.—"वही जो मैंने पहले दिन पूछा था। तुम्हारा ब्याह हुआ है कि नहीं?"

व्रज.—"इसका जवाब मैं क्या दूँ? अभी नहीं हुआ।"

राज.—"क्या किसी के प्रेम की बर्छी हृदय में छिपी हुई है?"

व्रज.—"नहीं बहन, ईश्वर जानता है।"

राज.—"तो इतनी उदास क्यों रहती हो? क्या प्रेम का आनंद उठाने को जी चाहता है?"

व्रज.—"नहीं, दुःख के सिवा मन में प्रेम का स्थान नहीं।"

राज.—"हम प्रेम का स्थान पैदा कर देंगी।"

व्रजविलासिनी इशारा समझ गई और बोली—"बहन, इन बातों की चरचा न करो।"

राज.—"मैं अब तुम्हारा ब्याह रचाऊँगी। दीवानचंद को तुमने देखा है?"

व्रजविलासिनी आँसू भरकर बोली—"राजकुमारी, मैं व्रतधारिणी हूँ और अपने व्रत का पूरा करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। इस प्रण को निवाहने के लिए मैं जीती हूँ, नहीं तो मैंने ऐसी-ऐसी आफतें झेली हैं कि, जीने की इच्छा अब नहीं रही। मेरे बाप विक्रमनगर के जागीरदार थे। मेरे सिवा उनके कोई संतान न थी। वे मुझे प्राण से अधिक प्यार करते थे। मेरे लिए उन्होंने वर्षों संस्कृत पढ़ी थी। युद्धविद्या में वे बड़े निपुण थे और कई बार लड़ाइयों पर गए थे।

एक दिन गोधूली बेला सब गाएँ जंगल से लौट रही थीं, मैं अपने द्वार पर खड़ी थी, इतने में एक जवान बाँकी पगड़ी बाँधे, हथियार सजाए झूमता आता दिखाई दिया। मेरी प्यारी मोहिनी इसी समय जंगल से लौटी थी और उसका बच्चा इधर-उधर किलोलें कर रहा था। संयोगवश बच्चा उस नौजवान से टकरा गया। गाय उस आदमी पर झपटी। राजपूत बड़ा साहसी था। उसने शायद सोचा कि भागता हूँ तो कलंक का टीका लगता है। तुरंत तलवार म्यान से खींच ली और वह गाय पर झपटा। गाय झल्लाई हुई तो थी ही, कुछ भी न डरी। मेरी आँखों के सामने उस राजपूत ने उस प्यारी गाय को जान से मार डाला। देखते-देखते सैकड़ों आदमी जमा हो गए और उसको टेढ़ी-सीधी सुनाने लगे। इतने में पिताजी आ गए। वे संध्या करने गए थे। उन्होंने आकर देखा कि द्वार पर सैकड़ों आदमियों की भीड़ लगी है, गाय तड़प रही है और उसका बच्चा खड़ा रो रहा है। पिताजी की आहट सुनते ही गाय कराहने लगी और उनकी ओर उसने कुछ ऐसी दृष्टि से देखा कि उन्हें क्रोध आ गया। मेरे बाद इन्हें यह गाय ही प्यारी थी, वे ललकार कर बोले—"मेरी गाय किसने मारी है?" नौजवान लज्जा से सिर झुकाए सामने आया और बोला—"मैंने।"

पिताजी—"तुम क्षत्रिय हो?"

राजपूत—"हाँ!"

पिताजी—"तो किसी क्षत्रिय से हाथ मिलाते।"

राजपूत का चेहरा तमतमा गया—"कोई क्षत्रिय सामने आ जाए।" हज़ारों आदमी खड़े थे, पर किसी का साहस न हुआ कि उस राजपूत का समाना करे। यह देखकर पिताजी ने तलवार खींच ली और वे उस पर टूट पड़े। उसने भी तलवार निकाल ली और दोनों आदमियों में तलवारें चलने लगीं। पिताजी बूढ़े थे; सीने पर जख़्म गहरा लगा। गिर पड़े। उन्हें उठाकर लोग घर पर लाए। उनका चेहरा पीला था, पर आँखों से उनकी गुस्से की चिनगारियाँ निकल रही थीं। मैं रोती हुई उनके सामने आई। मुझे देखते ही उन्होंने सब आदमियों को वहाँ से हट जाने का संकेत किया। जब मैं और पिताजी अकेले रह गए, तो बोले—"बेटी तुम राजपूतनी हो?"

मैं—"जी हाँ।"

पिताजी—"राजपूत बात के धनी होते हैं।"

मैं—"जी हाँ, पिताजी। इस राजपूत ने मेरी गाय की जान ली, इसका बदला तुम्हें लेना होगा।"

मैं—"आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।"

पिताजी—"अगर बेटा जीता होता तो मैं यह बोझ तुम्हारी गर्दन पर न रखता।"

मैं—"आपकी जो कुछ आज्ञा होगी, मैं सिर आँखों से पूरी करूँगी।"

पिताजी—"तुम प्रतिज्ञा करती हो?"

मैं—"जी हाँ।"

पिताजी—"इस प्रतिज्ञा को पूरी कर दिखाओगी?"

मैं—"जहाँ तक मेरा वश चलेगा मैं निश्चय यह प्रतिज्ञा पूरी करूँगी।"

पिताजी—"यह मेरी तलवार लो, जब तक तुम यह तलवार उस राजपूत के कलेजे में न घोंप दो तब तक भोगविलास न करना।"

यह कहते-कहते पिताजी के प्राण निकल गए। मैं उसी दिन से तलवार को कपड़ों में छिपाए उस नौजवान राजपूत की तलाश में घूमने लगी। वर्षों बीत गए। मैं कभी बस्तियों में जाती, कभी पहाड़ों-जंगलों की खाक छानती, पर उस नौजवान का कहीं पता न मिलता। एक दिन मैं बैठी हुई फूटे भाग पर रो रही थी कि वही नौजवान आदमी आता हुआ दिखाई दिया। मुझे देखकर उसने पूछा—"तू कौन है?"

मैंने कहा—"मैं दुखिया ब्राह्मणी हूँ, आप मुझ पर दया कीजिए और मुझे खाने को दीजिए।"

राजपूत—"मेरे साथ आ।"

मैं उठ खड़ी हुई। वह आदमी बेसुध था। मैंने बिजली की तरह चमक कर कपड़ों में से तलवार निकाली और उसके सीने में घोंप दी। इतने में कई आदमी आते दिखाई पड़े। मैं तलवार छोड़कर भागी। तीन वर्ष तक पहाड़ों और जंगलों में छिपी

रही। बार-बार जी में आया कि कहीं डूब मरूँ, पर जान बड़ी प्यारी होती है। न जाने क्या-क्या मुसीबतें और कठिनाइयाँ भोगने को लिखी हैं, जिनको भोगने को अभी तक जीती हूँ। अंत में जब जंगल में रहते-रहते जी उकता गया, तो जोधपुर चली आई। यहाँ आपकी दयालुता की चर्चा सुनी। आपकी सेवा में आ पहुँची और तब से आपकी कृपा से मैं आराम से जीवन बिता रही हूँ। यही मेरी राम कहानी है।

राजनंदिनी ने लंबी साँस लेकर कहा—"भाई! दुनिया में कैसे-कैसे लोग भरे हुए हैं। ख़ैर, तुम्हारी तलवार ने उसका काम तो तमाम कर दिया?"

ब्रजविलासिनी—"कहाँ बहिन! वह बच गया, ज़ख़म ओछा पड़ा था। उसी शकल के एक नौजवान राजपूत को मैंने जंगल में शिकार खेलते देखा था। नहीं मालूम वही था या और कोई; शकल बिलकुल मिलती थी।"

3

कई महीने बीत गए। राजकुमारियों ने जब से ब्रजविलासिनी की रामकहानी सुनी है, उसके साथ वे और भी प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करने लगी हैं। पहले बिना संकोच कभी-कभी छेड़छाड़ हो जाती थी; पर अब दोनों हरदम उसका दिल बहलाया करती हैं। एक दिन बादल घिरे हुए थे; राजनंदिनी ने कहा—"आज बिहारीलाल की 'सतसई' सुनने को जी चाहता है। वर्षा ऋतु पर उसमें बहुत अच्छे दोहे हैं।"

दुर्गाकुँवर—"बड़ी अनमोल पुस्तक है। सखी! तुम्हारी बगल में जो आलमारी रक्खी है; उसमें वह पुस्तक है, जरा निकालना।" ब्रजविलासिनी ने पुस्तक उतारी और उसका पहला पृष्ठ खोला था कि उसके हाथ से पुस्तक छूट कर गिर पड़ी। उसके पहले पृष्ठ पर एक तसवीर लगी हुई थी, वह उसी निर्दय युवक की तसवीर थी जो उसके बाप का हत्यारा था। ब्रजविलासिनी की आँखें लाल हो गईं, त्योरी पर बल पड़ गए। अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई। पर उसके साथ ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस आदमी का चित्र यहाँ कैसे आया और इसका इन राजकुमारियों से क्या संबंध है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे इनका कृतज्ञ होकर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े। राजनंदिनी ने उसकी सूरत देखकर कहा—"सखी; क्या बात है? यह क्रोध क्यों?" ब्रजविलासिनी ने सावधानी से कहा—"कुछ नहीं, न जाने क्यों चक्कर आ गया था।"

आज से ब्रजविलासिनी के मन में एक और चिंता उत्पन्न हुई—"क्या मुझे राजकुमारियों का कृतज्ञ होकर अपना प्रण तोड़ना पड़ेगा?" पूरे सोलह महीने के बाद, अफ़गानिस्थान से पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह लौटे। बादशाह की सेना को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बर्फ़ अधिकता से पड़ने लगी। पहाड़ों के दर्रे बर्फ़ से ढक गए। आने-जाने के रास्ते बंद हो गए। रसद के सामान कम मिलने लगे। सिपाही भूखों मरने लगे। तब अफ़गानों ने समय पाकर रात को छापे मारने शुरू किए। आख़िर शाहज़ादे मुहीउद्दीन को हिम्मत हारकर लौटना पड़ा।

दोनों राजकुमार ज्यों-ज्यों जोधपुर के निकट पहुँचते थे, उत्कंठा से उनके मन उमड़े आते थे। इतने दिनों के वियोग के बाद फिर भेंट होगी। मिलने की तृष्णा बढ़ती जाती है। रात-दिन मंज़िलें काटते चले आते हैं, न थकावट मालूम होती है, न माँदगी। दोनों घायल हो रहे हैं, पर फिर भी मिलने की ख़ुशी में जख़्मों की तकलीफ़ भूले हुए हैं। पृथ्वीसिंह दुर्गाकुँवर के लिए एक अफ़गानी कटार लाए हैं। धर्मसिंह ने राजनंदिनी के लिए काश्मीर का एक बहुमूल्य शाल का जोड़ा मोल लिया है। दोनों के दिल उमंग से भरे हुए हैं।

राजकुमारियों ने जब सुना कि दोनों वीर वापस आते हैं, तो वे फूले अँगों न समाईं।

सिंगार किया जाने लगा, माँग मोतियों से भरी जाने लगी, उनके चेहरे ख़ुशी से दमकने लगे। इतने दिनों के बिछोह के बाद फिर मिलाप होगा, ख़ुशी आँखों से उबली पड़ती है। एक-दूसरे को छेड़ती हैं और ख़ुश होकर गले मिलती हैं।

अगहन का महीना था, बरगद की डालियों में मूँगे के दाने लगे हुए थे। जोधपुर के क़िलों से सलामियों की घनगर्ज अवाज़ें आने लगीं। सारे नगर में घूम मच गई कि कुँवर पृथ्वीसिंह सकुशल अफ़गानिस्तान से लौट आए। दोनों राजकुमारियाँ थाली में आरती के समान लिए दरवाजे पर खड़ी थीं। पृथ्वीसिंह दरबारियों के मुजरे लेते हुए महल में आए। दुर्गाकुँवर ने आरती उतारी और दोनों एक-दूसरे को देखकर ख़ुश हो गए। धर्मसिंह भी प्रसन्नता से ऐंठते हुए अपने महल में पहुँचे, पर भीतर पैर रखने भी न पाए थे कि छींक हुई और दाहिनी आँख फड़कने लगी। राजनंदिनी आरती का थाल लेकर लपकी, पर उसका पैर फिसल गया और थाल हाथ से छूटकर गिर पड़ा। धर्मसिंह का माथा ठनका, और राजनंदिनी का चेहरा पीला हो गया। असगुन क्यों?

व्रजविलासिनी ने दोनों राजकुमारों के आने का समाचार सुनकर उन दोनों के दो अभिनंदन पत्र बना रक्खे थे। सबरे जब कुँवर पृथ्वीसिंह संध्या आदि नित्य कार्य्यों से निपट कर बैठे तो, वह उनके सामने आई और उसने सुंदर कुश की चँगेली में अभिनन्दन पत्र रखकर दिया। पृथ्वीसिंह ने उसे प्रसन्नता से ले लिया। कविता यद्यपि उतनी बढ़िया न थी, पर वह नई वीरता से भरी हुई थी। वे वीररस के प्रेमी थे उसको पढ़कर बहुत ख़ुश हुए और उन्होंने मोतियों का एक हार उपहार दिया।

व्रजविलासिनी यहाँ से छुट्टी पाकर कुँवर धर्मसिंह के पास पहुँची। वे बैठे हुए राजनंदिनी को लड़ाई की घटनाएँ सुना रहे थे, पर ज्यों ही व्रजविलासिनी की आँख उन पर पड़ी, वह सन्न होकर पीछे हट गई। उसको देखकर धर्मसिंह के चेहरे का रंग उड़ गया, होंठ सूख गए और हाथ-पैर सनसनाने लगे। व्रजविलासिनी तो उलटे पाँव लौटी, पर धर्मसिंह ने चारपाई पर लेट कर दोनों हाथों से मुँह ढाँक लिया। राजनंदिनी ने यह दृश्य देखा और उसका फूल-सा बदन पसीने में तर हो गया। धर्मसिंह सारे दिन पलंग पर चुपचाप पड़े करवटें बदलते रहे। उनका चेहरा ऐसा कुम्हला गया, जैसे वे बरसों

के रोगी हों। राजनंदिनी उनकी सेवा में लगी हुई थी। दिन तो यों कटा, रात को कुँवर साहब संध्या ही से थकावट का बहाना करके लेट गए। राजनंदिनी हैरान थी कि माज़रा क्या है। व्रजविलासिनी इन्हीं के ख़ून की प्यासी है क्या? संभव है कि मेरा प्यारा, मुकुट धर्मसिंह ऐसा कठोर हो? नहीं! नहीं!! ऐसा नहीं हो सकता। यद्यपि चाहती है कि अपनी भावों से उनके मन का बोझ हलका करे, पर नहीं कर सकती। अंत को नींद ने उसको अपनी गोद में ले लिया।

4

रात बहुत बीत गई है। आकाश में अँधेरा छा गया है। सारस की दुःख से भरी हुई बोली कभी-कभी सुनाई दे जाती है और रह-रहकर क़िले के संतरियों की आवाज़ कान में आ पड़ती है। राजनंदिनी की आँख एकाएक खुली, तो उसने धर्मसिंह को पलंग पर न पाया। चिंता हुई, वह झट उठकर व्रजविलासिनी के कमरे की ओर चली और दरवाजे पर खड़ी होकर भीतर की ओर देखने लगी। संदेह पूरा हो गया। क्या देखती है कि व्रजविलासिनी हाथ में तेग़ा लिए खड़ी है और धर्मसिंह दोनों हाथ जोड़े उसके सामने दीनों की तरह घुटने टेके बैठे हैं। यह दृश्य देखते ही राजनंदिनी का ख़ून सूख गया और उसके सिर में चक्कर आने लगा, पैर लड़खड़ाने लगे। जान पड़ता था कि गिरी जाती है। वह अपने कमरे में आई और मुँह ढक कर लेट रही, पर उसकी आँखों से एक बूँद भी न निकली। दूसरे दिन पृथ्वीसिंह बहुत सवेरे ही कुँवर धर्मसिंह के पास गए और मुसकरा कर बोले—"भैया, मौसम बड़ा सोहावना है, शिकार खेलने चलते हो?"

धर्मसिंह—"हाँ चलो।"

दोनों राजकुमारों ने घोड़े कसवाए और दोनों जंगल की ओर चल दिए। पृथ्वीसिंह का चेहरा खिला हुआ था, जैसे कमल का फूल। एक-एक अंग से तेज़ी और चुस्ती टपकी पड़ती थी पर कुँवर धर्मसिंह का चेहरा मैला हो रहा था, मानो बदन में जान ही नहीं है। पृथ्वीसिंह ने उन्हें कई बार छेड़ा, पर जब देखा कि वे बहुत दुःखी हैं; तो चुप हो गए। चलते-चलते दोनों आदमी एक झील के किनारे पर पहुँचे। एकाएक धर्मसिंह ठिठके और बोले—"मैंने आज रात को एक दृढ़ प्रतिज्ञा की है।" यह कहते-कहते उनकी आँखों में पानी आ गया। पृथ्वीसिंह ने घबड़ा कर पूछा—"कैसी प्रतिज्ञा?"

"तुमने व्रजविलासिनी का हाल सुना है? मैंने प्रतिज्ञा की है कि जिस आदमी ने उसके बाप को मारा है, उसे भी जहन्नुम पहुँचा दूँ।"

"तुमने सचमुच वीर प्रतिज्ञा की है।"

"हाँ, यदि मैं पूरा कर सकूँ। तुम्हारे विचार में ऐसा आदमी मारने योग्य है या नहीं?"

"ऐसे निर्दय की गर्दन गुट्ठल छुरी से काटनी चाहिए।"

"बेशक, यही मेरा विचार है। यदि मैं किसी कारण से यह काम न कर सकूँ तो तुम मेरी प्रतिज्ञा पूरी कर दोगे?"

"बड़ी ख़ुशी से। तुम उसे पहचानते हो न?"

"हाँ, अच्छी तरह।"

"तो अच्छा होगा, यह काम मुझको ही करने दो, तुम्हें शायद उस पर दया आ जाए।"

"बहुत अच्छा। पर यह याद रखो वह आदमी बड़ा भाग्यशाली है। कई बार मौत के मुँह से बचकर निकला है। क्या आश्चर्य है कि तुमको भी उस पर दया आ जाए। इसलिए तुम प्रतिज्ञा करो कि उसे ज़रूर जहन्नुम पहुँचाओगे।"

पृथ्वीसिंह–"मैं दुर्गा की शपथ खाकर कहता हूँ कि उस आदमी को अवश्य मारूँगा।"

"बस, हम दोनों मिलकर कार्य्य सिद्ध कर लेंगे। तुम अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहोगे न?"

"क्यों? क्या मैं सिपाही नहीं हूँ? एक बार जो प्रतिज्ञा की समझ लो कि वह पूरी करूँगा, चाहे इसमें अपनी जान ही क्यों न चली जाए।"

"सब अवस्थाओं में?"

"हाँ, सब अवस्थाओं में।"

"यदि वह तुम्हारा कोई बंधु हो तो?"

पृथ्वीसिंह ने धर्म्मसिंह को विचारपूर्वक देखकर कहा–"कोई बंधु हो तो?"

धर्मसिंह–"हाँ संभव है कि वह तुम्हारा कोई नातेदार हो।"

पृथ्वीसिंह–(जोश में) "कोई हो, यदि वह मेरा भाई भी हो, जीता चुनवा दूँ।"

धर्मसिंह घोड़े से उतर पड़े। उनका चेहरा उतरा हुआ था और ओंठ काँप रहे थे। उन्होंने कमर से तेग़ खोलकर ज़मीन पर रख दिया और पृथ्वीसिंह को ललकार कर कहा–"पृथ्वीसिंह तैयार हो जाओ। वह दुष्ट मिल गया।" पृथ्वीसिंह ने चौंककर इधर-उधर देखा तो धर्मसिंह के सिवाय कोई दिखाई न दिया।

धर्मसिंह–"तेग़ खींचो।"

पृथ्वीसिंह–"मैंने उसे नहीं देखा।"

धर्मसिंह–"वह तुम्हारे सामने खड़ा है। वह दुष्ट कुकर्मी धर्मसिंह ही है।"

पृथ्वीसिंह–(घबराकर) "ऐं तुम! –मैं!"

धर्मसिंह–"राजपूत, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर।"

इतना सुनते ही पृथ्वीसिंह ने बिजली की तरह कमर से तेग़ खींच लिया और उसे धर्मसिंह के सीने में चुभा दिया। मूठ तक तेग़ा चुभ गया। ख़ून का फब्बारा बह निकला। धर्मसिंह ज़मीन पर गिरकर धीरे से बोले–"पृथ्वीसिंह, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। तुम सच्चे वीर हो। तुमने पुरुष का कर्त्तव्य पुरुष की भाँति पालन किया।"

पृथ्वीसिंह यह सुनकर ज़मीन पर बैठ गए और रोने लगे।

5

आज राजनंदिनी सती होने जा रही है। उसने सोलहों सिंगार किए और माँग मोतियों से भरवाई है। कलाई में सुहाग का कंगन है, पैरों में महावर लगाया है और लाल चुनरी ओढ़ी है। उसके अंग से सुगंधि उड़ रही है, क्योंकि वह आज सती होने जाती है।

राजनंदिनी का चेहरा सूर्य्य की भाँति प्रकाशमान है। उसकी ओर देखने से आँखों में चकाचौंध लग जाती है। प्रेममद से उसका रोंया-रोंया मस्त हो गया है। उसकी आँखों से अलौकिक प्रकाश निकल रहा है। वह आज स्वर्ग की देवी जान पड़ती है। उसकी चाल बड़ी मदमाती है। वह अपने प्यारे पति का सिर अपनी गोद में लेती है, और उस चिता में बैठ जाती है जो चंदन, खस आदि से बनाई गई है।

सारे नगर के लोग यह दृश्य देखने के लिए उमड़े चले आते हैं। बाजे बज रहे हैं, फूलों की वृष्टि हो रही है, सती चिता में बैठ चुकी थी कि इतने में कुँवर पृथ्वीसिंह आए और हाथ जोड़कर बोले—"महारानी, मेरा अपराध क्षमा करो।"

सती ने उत्तर दिया—"क्षमा नहीं हो सकती। तुमने एक नौजवान राजपूत की जान ली है, तुम भी जवानी में मारे जावोगे।"

सती के वचन कभी झूठे हुए हैं? एकाएक चिता में आग लग गई। जय-जयकार के शब्द गूँजने लगे। सती का मुख-चंद्र आग में यों चमकता था जैसे सबेरे की ललाई में सूर्य्य चमकता है। थोड़ी देर में वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न रहा।

इस सती के मन में कैसा सत था। परसों जब उसने व्रजविलासिनी को झिझककर धर्मसिंह के सामने जाते देखा था, उसी समय उसके दिल में संदेह हो गया था पर जब रात को उसने देखा कि मेरा पति इसी स्त्री के सामने दुःखिया की तरह बैठा हुआ है, तब वह संदेह निश्चय की सीमा तक पहुँच गया और यह निश्चय अपने साथ सत लेता आया था। सबेरे धर्मसिंह उठे तब राजनंदिनी ने कहा था कि मैं व्रजविलासिनी के शत्रु का सिर चाहती हूँ, तुम्हें लाना होगा और ऐसा ही हुआ। अपने सती होने के सब कारण राजनंदिनी ने जानबूझकर पैदा किए थे, क्योंकि इसके मन में सत था। पाप की आग कैसी तेज होती है? एक पाप ने कितनी जानें लीं? राजवंश के दो कुँवर और दो कुँवरियाँ देखते-देखते इस अग्निकुंड में स्वाहा हो गईं। सती का वचन सच हुआ और सात ही सप्ताह के भीतर पृथ्वीसिंह दिल्ली में कत्ल किए गए और दुर्गाकुँवरि सती हो गई।

WORLD KONKANI CENTRE ... ग्रंथालय / वर्ल्ड कोंकणी पुस्तकालय

('ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, मार्च 1910)
('नव-निधि', दिसंबर, 1917 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'–6, 1946)

शाप

1

मैं बर्लिन नगर का निवासी हूँ। मेरे पूज्य पिता भौतिक विज्ञान के सुविख्यात ज्ञाता थे। भौगोलिक अन्वेषण का शौक़ मुझे भी बाल्यावस्था से ही था। उनके स्वर्गवास के बाद मुझे यह धुन सवार हुई कि पैदल पृथ्वी के समस्त देश-देशांतरों की सैर करूँ। मैं विपुल धन का स्वामी था, वे सब रुपए बैंक में जमा कर दिए और उससे शर्त कर ली कि मुझे यथासमय रुपए भेजता रहे। इस कार्य्य से निवृत्त होकर मैंने सफ़र का पूरा सामान लिया। आवश्यक वैज्ञानिक यंत्र साथ लिए और ईश्वर का नाम लेकर चल खड़ा हुआ। उस समय यह कल्पना मेरे हृदय में गुदगुदी पैदा कर रही थी कि मैं वह पहला प्राणी हूँ, जिसे यह बात सूझी है कि पैरों से पृथ्वी को नापे। अन्य यात्रियों ने रेल, जहाज और मोटरकार की शरण ली है; मैं पहला वीरात्मा हूँ, जिसने अपने पैरों के बूते पर प्रकृति के विराट् उपवन की सैर के लिए कमर बाँधी है। अगर मेरे साहस और उत्साह ने यह कष्ट-साध्य यात्रा पूरी कर ली, तो भद्र संसार मुझे सम्मान और गौरव के मसनद पर बैठाएगा और अनंत काल तक मेरी कीर्ति के राग अलापे जाएँगे। उस समय मेरा मस्तिष्क इन्हीं विचारों से भरा हुआ था। ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि सहस्रों कठिनाइयों का सामना करने पर भी धैर्य्य ने मेरा साथ न छोड़ा और उत्साह एक-क्षण के लिए भी निरुत्साह न हुआ।

मैं वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ निर्जनता के सिवा कोई दूसरा साथी न था, वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ पृथ्वी और आकाश हिम की शिलाएँ थीं। मैं भयंकर जंतुओं के पहलू में सोया हूँ, पक्षियों के घोसलों में रातें काटी हैं, किंतु ये सारी बाधाएँ कट गई और वह समय अब दूर नहीं है कि साहित्य और विज्ञान-संसार मेरे चरणों पर शीश नवाए।

मैंने इस यात्रा में बड़े-बड़े अद्भुत दृश्य देखे और कितनी ही जातियों के आहार-व्यवहार, रहन-सहन का अवलोकन किया। मेरा यात्रा-वृत्तांत विचार, अनुभव और निरीक्षण का एक अमूल्य रत्न होगा। मैंने ऐसी-ऐसी आश्चर्यजनक घटनाएँ आँखों

से देखी हैं, जो अलिफ़लैला की कथाओं से कम मनोरंजक न होंगी परंतु वह घटना जो ज्ञानसरोवर के तट पर देखी, उसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी। मैं उसे कभी न भूलूँगा। यदि मेरे इस तमाम परिश्रम का उपहार यही एक रहस्य होता, तो भी मैं उसे काफ़ी समझता। मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ, और न सिद्धियों तथा विभूतियों पर मेरा विश्वास है। यदि कोई दूसरा प्राणी यही घटना मुझसे बयान करता, तो मुझे उस पर विश्वास करने में बहुत संकोच होता, किंतु मैं जो कुछ भी बयान कर रहा हूँ, वह सत्य घटना है। यदि मेरे इस आश्वासन पर भी कोई उस पर अविश्वास करे, तो यह उसकी मानसिक दुर्बलता और विचारों की संकीर्णता है।

यात्रा का सातवाँ वर्ष था और ज्येष्ठ का महीना। मैं हिमालय के दामन में ज्ञानसरोवर तट पर, हरी-हरी घास पर लेटा हुआ था। ऋतु अत्यंत सुहावनी थी। ज्ञानसरोवर के स्वच्छ, निर्मल जल में आकाश और पर्वत-श्रेणी का प्रतिबिंब, जल-पक्षियों का पानी पर तैरना, शुभ्र हिम-श्रेणी का सूर्य्य के प्रकाश से चमकना आदि दृश्य ऐसे मनोहर थे कि आत्मोल्लास से विह्वल हो गया। मैंने स्विटज़रलैंड और अमेरिका के बहुप्रशंसित दृश्य देखे हैं, पर उनमें यह शांतिप्रद शोभा कहाँ! मानव-बुद्धि ने उनके प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी कृत्रिमता से कलंकित कर दिया है। मैं तल्लीन होकर इस स्वर्गीय आनंद का उपभोग कर रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि एक सिंह पर जा पड़ी, जो मंद गति से क़दम बढ़ाता हुआ मेरी ओर आ रहा था। उसे देखते ही मेरा खून सूख गया, होश उड़ गए। ऐसा बृहदाकार भयंकर जंतु मेरी नज़र से न गुज़रा था। वहाँ ज्ञानसरोवर के अतिरिक्त कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ भागकर अपनी जान बचाता। मैं तैरने में कुशल हूँ पर ऐसा भयभीत हो गया कि अपने स्थान से हिल न सका। मेरे अंग-प्रत्यंग मेरे क़ाबू से बाहर थे। समझ गया मेरी ज़िंदगी यहीं तक थी। इस शेर के पंजे से बचने की कोई आशा न थी। अकस्मात् मुझे स्मरण हुआ कि जेब में एक पिस्तौल गोलियों से भरी हुई रक्खी है, जो मैंने आत्मरक्षा के लिए चलते समय साथ ले ली थी और अब तक प्राणपण से इसकी रक्षा करता आया था। आश्चर्य है कि इतनी देर तक मेरी स्मृति कहाँ सोई रही। मैंने तुरंत ही पिस्तौल निकाली और निकट था कि शेर पर वार करूँ कि मेरे कानों में ये शब्द सुनाई दिए–"मुसाफ़िर, ईश्वर के लिए वार न करना, अन्यथा तुझे दुःख होगा। सिंहराज से तुझे हानि न पहुँचेगी।"

मैंने चकित होकर पीछे की ओर देखा तो एक युवती रमणी आती हुई दिखाई दी। उसके एक हाथ में सोने का लोटा था और दूसरे हाथ में थाली। मैंने अर्मनी की हूरें और कोहक़ाफ़ की परियाँ देखी हैं, पर हिमाचल-पर्वत की यह अप्सरा मैंने एक ही बार देखी और उसका चित्र आज तक हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। मुझे स्मरण नहीं कि 'रफ़ैल' या 'कोरेजियो' ने भी कभी ऐसा चित्र खींचा हो। 'वैंडाइक' और 'रेमब्रांड'

के आकृत-चित्रों में भी ऐसी मनोहर छवि नहीं देखी। पिस्तौल मेरे हाथ से गिर पड़ी। कोई दूसरी शक्ति इस समय मुझे अपनी भयावह परिस्थिति से निश्चिंत न कर सकती थी।

मैं उस सुंदरी की ओर देख ही रहा था कि वह सिंह के पास आई। सिंह उसे देखते ही खड़ा हो गया और मेरी ओर सशंक नेत्रों से देखकर मेघ की भाँति गर्जा। रमणी ने एक रूमाल निकालकर उसका मुँह पोंछा और फिर लोटे से दूध उँड़ेलकर उसके सामने रख दिया। सिंह दूध पीने लगा। मेरे विस्मय की अब कोई सीमा न थी। चकित था कि यह कोई तिलिस्म है या जादू; व्यवहार-लोक में हूँ अथवा विचार-लोक में; सोता हूँ या जागता। मैंने बहुधा सरकसों में पालतू शेर देखे हैं, किंतु उन्हें क़ाबू में रखने के लिए किन-किन रक्षा-विधानों से काम लिया जाता है। उसके प्रतिकूल यह मांसाहारी पशु उस रमणी के सम्मुख इस भाँति लेटा हुआ है, मानो वह सिंह की योनि में कोई मृग-शावक है। मन में प्रश्न हुआ—सुंदरी में कौन-सी चमत्कारिक शक्ति है, जिसने सिंह को इस प्रकार वशीभूत कर लिया है। क्या पशु भी अपने हृदय में कोमल और रसिक-भाव छिपाए रखते हैं? कहते हैं कि महुअर की अलाप काले नाग को भी मस्त कर देती है। जब ध्वनि में यह सिद्धि है, तो सौंदर्य की शक्ति का अनुमान कौन कर सकता है? रूप-लालित्य संसार का सबसे अमूल्य रत्न, प्रकृति की रचना-नैपुण्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।

जब सिंह दूध पी चुका तो सुंदरी ने रूमाल से फिर उसका मुँह पोंछा और उसका सिर अपने जाँघ पर रख उसे थपकियाँ देने लगी। सिंह पूँछ हिलाता था और सुंदरी की अरुणवर्ण हथेलियों को चाटता था। थोड़ी देर के बाद दोनों एक गुफा में अंतर्हित हो गए। मुझे भी धुन सवार हुई कि किसी प्रकार इस तिलिस्म को खोलूँ, इस रहस्य का उद्घाटन करूँ। जब दोनों अदृश्य हो गए, तो मैं भी उठा और दबे-पाँव उस गुफा के द्वार तक जा पहुँचा। भय से मेरे शरीर की बोटी-बोटी काँप रही थी, मगर इस रहस्य-पट को खोलने की उत्सुकता भय को दबाए हुए थी। मैंने गुफा के भीतर झाँका तो क्या देखता हूँ कि पृथ्वी पर ज़री का फ़र्श बिछा हुआ है और कारचोबी गावतकिए लगे हुए हैं। सिंह मसनद पर गर्व से बैठा हुआ है। सोने-चाँदी के पात्र, सुंदर चित्र, फूलों के गमले, सभी अपने-अपने स्थान पर सजे हुए हैं ओर वह गुफा राजभवन को लज्जित कर रही है।

द्वार पर मेरी परछाई देखकर वह सुंदरी बाहर निकल आई और मुझसे बोली—"यात्री, तू कौन है और इधर क्योंकर आ निकला?"

कितनी मनोहर ध्वनि थी। मैंने अबकी बार समीप से देखा तो सुंदरी का मुख कुम्हलाया हुआ था। उसके नेत्रों से निराशा झलक रही थी, उसके स्वर में भी करुणा और व्यथा की खटक थी। मैंने उत्तर दिया—"देवी, मैं योरप का निवासी हूँ, यहाँ देशाटन करने आया हूँ। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे आपसे संभाषण करने का गौरव

प्राप्त हुआ।" सुंदरी के गुलाब-से होठों पर मधुर मुसकान की झलक दिखाई दी। उसमें कुछ कुटिल हास्य का भी अंश था। कदाचित् यह मेरी इस अस्वाभाविक काव्य-शैली का जवाब था। बोली—"तू विदेश से यहाँ आया है। अतिथि-सत्कार हमारा कर्तव्य है, मैं आज तेरा निमंत्रण करती हूँ, स्वीकार कर।"

मैंने अवसर देखकर उत्तर दिया—"आपकी यह कृपा मेरे लिए गौरव की बात है। पर इस रहस्य ने मेरी भूख-प्यास बंद कर दी है। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस पर कुछ प्रकाश डालेंगी?"

सुंदरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—"मेरी राम-कहानी विपत्ति की एक बड़ी कथा है। तुझे सुनकर दुःख होगा।" किंतु मैंने जब बहुत आग्रह किया, तो उसने मुझे फ़र्श पर बैठने का संकेत किया और अपना वृत्तांत सुनाने लगी—

"मैं काश्मीर-देश की रहनेवाली राजकन्या हूँ। मेरा विवाह एक राजपूत योद्धा से हुआ था। उसका नाम नृसिंहदेव था। हम दोनों बड़े आनंद से जीवन व्यतीत करते थे। संसार का सर्वोत्तम पदार्थ रूप है, दूसरा स्वास्थ्य, और तीसरा धन। परमात्मा ने हमको ये तीनों ही पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्रदान किए थे। खेद है कि मैं उनसे तेरी मुलाक़ात नहीं करा सकती। ऐसा साहसी, ऐसा सुंदर, ऐसा विद्वान् पुरुष सारे काश्मीर में न था। मैं उनकी आराधना करती थी। उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह था। कई वर्षों तक हमारा जीवन एक जल-स्रोत की भाँति वृक्ष-पुंजों और हरे-हरे मैदानों में प्रवाहित होता रहा।

मेरे पड़ोस में एक मंदिर था। उसके पुजारी एक पंडित श्रीधर थे। हम दोनों प्रातःकाल तथा संध्यासमय उस मंदिर में उपासना के लिए जाते। मेरे स्वामी कृष्ण के भक्त थे। मंदिर एक सुरम्य सागर के तट पर बना हुआ था। वहाँ की शीतल-मंद समीर चित्त को पुलकित कर देती थी। इसीलिए हम उपासना के पश्चात् भी वहाँ घंटों वायु-सेवन करते रहते थे। श्रीधर बड़े विद्वान्, वेदों के ज्ञाता, शास्त्रों के जाननेवाले थे। कृष्ण पर उनकी भी अविरल भक्ति थी। समस्त काश्मीर में उनके पांडित्य की चर्चा थी। वह बड़े संयमी, संतोषी, आत्मज्ञानी पुरुष थे। उनके नेत्रों से शांति की ज्योति-रेखाएँ निकलती हुई मालूम होती थीं। सदैव परोपकार में मग्न रहते। उनकी वाणी ने कभी किसी का हृदय नहीं दुःखाया; उनका हृदय नित्य परवेदना से पीड़ित रहता था। पंडित श्रीधर मेरे पतिदेव से लगभग दस वर्ष बड़े थे, पर उनकी धर्मपत्नी विद्याधरी मेरी ही उम्र की थी। हम दोनों सहेलियाँ थीं। विद्याधरी अत्यंत गंभीर, शांत-प्रकृति स्त्री थी। अपने रंग-रूप का उसे ज़रा भी घमंड न था, अपने पति को वह देवतुल्य समझती थी।

श्रावण का महीना था। आकाश पर काले-काले बादल मँडला रहे थे, मानो काजल के पर्वत उड़े जा रहे हों। झरनों से दूध की धारें निकल रही थीं और चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। नन्ही-नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं, मानो स्वर्ग से अमृत की बूँदें

टपक रही हों। जल की बूँदें फूलों और पत्तियों के गले में चमक रही थीं। चित्त की अभिलाषाओं को उभारनेवाला समाँ छाया हुआ था। यह वह समय है जब रमणियों की विदेशगामी प्रियतम की याद रुलाने लगती है, जब विरह की पीड़ा असह्य हो जाती है। इसी ऋतु में माली की कन्या धानी साड़ी पहनकर क्यारियों में इठलाती हुई चंपा और बेले के फूलों से आँचल भरती है, क्योंकि हार और गजरों की माँग बहुत बढ़ जाती है। मैं और विद्याधरी ऊपर छत पर बैठी वर्षा-ऋतु की बहार देख रही थीं कि इतने में मेरे पति ने आकर कहा--"आज बड़ा सुहावना दिन है। झूला झूलने में बड़ा आनंद आवेगा।" सावन में झूला झूलने का प्रस्ताव क्योंकर रद्द किया जा सकता था। इन दिनों रमणी का चित्त आप-ही-आप झूला झूलने के लिए विकल हो जाता है। जब वन के वृक्ष झूले झूलते हों, जल की तरंगें झूले झूलती हों, और गगन-मंडल के मेघ झूले-झूलते हों, जब सारी प्रकृति आंदोलित हो रही हो, तो रमणी का कोमल हृदय क्यों न चंचल हो जाए! विद्याधरी भी राज़ी हो गई। रेशम की डोरियाँ कदम की डाल पर पड़ गईं, चंदन का पटरा रख दिया गया और मैं विद्याधरी के साथ झूला झूलने चली। जिस प्रकार ज्ञानसरोवर पवित्र जल से परिपूर्ण हो रहा है, उसी भाँति हमारे हृदय पवित्र आनंद से परिपूर्ण थे, किंतु शोक! वह कदाचित् मेरे सौभाग्य-चंद्र की अंतिम झलक थी। मैं झूले के पास पहुँचकर पटरे पर जा बैठी, किंतु कोमलांगी विद्याधरी ऊपर न आ सकी। वह कई बार उचकी परंतु नीचे ही रह गई। तब मेरे पतिदेव ने सहारा देने के लिए उसकी बाँह पकड़ ली। उस समय उनके नेत्रों में एक विचित्र तृष्णा की झलक थी, और मुख पर एक विचित्र आतुरता। वह धीमे स्वरों में मल्हार गा रहे थे, किंतु विद्याधरी जब पटरे पर आई तो उसका मुख डूबते हुए सूर्य्य की भाँति लाल और नेत्र अरुणवर्ण हो रहे थे। उसने पतिदेव की ओर क्रोधोन्मत्त होकर देखा और बोली–

"तूने काम के वश होकर मेरे शरीर में हाथ लगाया है। मैं अपने पातिव्रत के बल से तुझे शाप देती हूँ कि तू इसी क्षण पशु हो जा।"

यह कहते ही विद्याधरी ने अपने गले से रुद्राक्ष की माला निकालकर मेरे पतिदेव के ऊपर फेंक दी और तत्क्षण ही पटरे के समीप मेरे पतिदेव के स्थान पर एक विशाल सिंह दिखाई दिया।

2

ऐ मुसाफ़िर, अपने प्रिय पतिदेवता की यह गति देखकर मेरा रक्त सूख गया और कलेजे पर बिजली-सी आ गिरी। मैं विद्याधरी के पैरों से लिपट गई और फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय अपनी आँखों से देखकर अनुभव हुआ कि पातिव्रत की महिमा कितनी प्रबल है। ऐसी घटनाएँ मैंने पुराणों में पढ़ी थीं, पर मुझे विश्वास न था कि वर्तमान काल में, जब कि स्त्री-पुरुष के संबंध में स्वार्थ की मात्रा दिनोंदिन अधिक

होती जाती है, पातिव्रत-धर्म में यह प्रभाव होगा। मैं यह नहीं कह सकती कि विद्याधरी का संदेह कहाँ तक ठीक था। मेरे पति विद्याधरी को सदैव बहन कहकर संबोधित करते थे। वह अत्यंत स्वरूपवान् थे और रूपवान् पुरुष की स्त्री का जीवन सुखमय नहीं होता, पर मुझे उन पर संशय करने का अवसर कभी नहीं मिला। वह स्त्रीव्रत-धर्म का वैसा ही पालन करते थे जैसे सती अपने धर्म्म का। उनकी दृष्टि में कुचेष्टा न थी और विचार अत्यंत उज्ज्वल और पवित्र थे, यहाँ तक कि कालिदास की शृंगारमय कविता भी उन्हें प्रिय न थी। मगर काम के मर्मभेदी बाणों से कौन बचा है! जिस काम ने शिव और ब्रह्मा-जैसे तपस्वियों की तपस्या भंग कर दी, जिस काम ने नारद और विश्वामित्र जैसे ऋषियों के माथे पर कलंक का टीका लगा दिया, वह काम सब कुछ कर सकता है। संभव है कि सुरा-पान ने उद्दीपक ऋतु के साथ मिलकर उनके चित्त को विचलित कर दिया हो। मेरा गुमान तो यह है कि यह विद्याधरी की केवल भ्रांति थी। जो कुछ भी हो, उसने शाप दे दिया। उस समय मेरे मन में भी उत्तेजना हुई कि जिस शक्ति का विद्याधरी को गर्व है, क्या वह शक्ति मुझमें नहीं? क्या मैं पतिव्रता नहीं हूँ? किंतु हा! मैंने कितना ही चाहा कि शाप के शब्द मुँह से निकालूँ, पर मेरी ज़बान बंद हो गई। वह अखंड विश्वास जो विद्याधरी को अपने पातिव्रत पर था, मुझे न था। विवशता ने मेरे प्रतिकार के आवेग को शांत कर दिया। मैंने बड़ी दीनता के साथ कहा—"बहन, तुमने यह क्या किया?"

विद्याधरी ने निर्दय होकर कहा—"मैंने कुछ नहीं किया, यह उसके कर्मों का फल है।"

मैं—"तुम्हें छोड़कर और किसकी शरण में जाऊँ, क्या तुम इतनी दया न करोगी?"

विद्याधरी—"मेरे किए अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं—"देवि, तुम पातिव्रतधारिणी हो, तुम्हारे वाक्य की महिमा अपार है। तुम्हारा क्रोध यदि मनुष्य से पशु बना सकता है, तो क्या तुम्हारी दया पशु से मनुष्य न बना सकेगी?"

विद्याधरी—"प्रायश्चित्त करो, इसके अतिरिक्त उद्धार का और कोई उपाय नहीं।"

ऐ मुसाफिर, मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैंने विद्याधरी से अधिक अनुनय-विनय नहीं की। उसका हृदय दया का अगार था। यदि मैं उसके चरणों पर शीश रख देती, तो कदाचित् उसे मुझ पर दया आ जाती, किंतु राजपूत-कन्या इतना अपमान नहीं सह सकती। वह घृणा के घाव सह सकती है, क्रोध की अग्नि सह सकती है, पर दया का बोझ उससे नहीं उठाया जाता। मैंने पटरे से उतरकर पतिदेव के चरणों पर सिर झुकाया और उन्हें साथ लिए हुए घर चली आई।

3

कई महीने गुज़र गए। मैं पतिदेव की सेवा-सुश्रूषा में तन-मन से व्यस्त रहती। यद्यपि उनकी जिह्वा वाणी-विहीन हो गई थी, पर उनकी आकृति से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह अपने कर्म से लज्जित थे। रूपांतर हो जाने पर भी उन्हें मांस से अत्यंत घृणा थी। मेरी पशुशाला में सैकड़ों गाएँ-भैंसें थीं, किंतु शेरसिंह ने कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। मैं उन्हें दोनों बेला दूध पिलाती और संध्या समय उन्हें साथ लेकर पहाड़ियों की सैर कराती। मेरे मन में न जाने क्यों धैर्य्य और साहस का इतना संचार हो गया था कि मुझे अपनी दशा असह्य न जान पड़ती थी। मुझे निश्चय था कि शीघ्र ही इस विपत्ति का अंत भी होगा।

इन्हीं दिनों हरिद्वार में गंगास्नान का मेला लगा। मेरे नगर से यात्रियों का एक समूह हरिद्वार चला। मैं भी उनके साथ हो ली। दीन-दुःखी जनों को दान देने के लिए रुपए और अशर्फ़ियों की थैलियाँ साथ ले लीं। मैं प्रायश्चित्त करने जा रही थी, इसलिए पैदल ही यात्रा करने का निश्चय कर लिया। लगभग एक महीने में हरिद्वार जा पहुँची। यहाँ भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत से असंख्य यात्री आए हुए थे। संन्यासियों और तपस्वियों की संख्या गृहस्थों से कुछ ही कम होगी। धर्मशालाओं में रहने का स्थान न मिलता था। गंगातट पर, पर्वतों की गोद में, मैदानों के वक्षस्थल पर, जहाँ देखिए आदमी-ही-आदमी नज़र आते थे। दूर से वे छोटे-छोटे खिलौने की भाँति दिखाई देते थे। मीलों तक आदमियों का फ़र्श-सा बिछा हुआ था। भजन और कीर्तन की ध्वनि नित्य कानों में आती रहती थी। हृदय में असीम श्रद्धा, गंगा की लहरों की भाँति, लहरें मारती थी। वहाँ का जल, वायु, आकाश शुद्ध था।

मुझे हरिद्वार आए तीन दिन व्यतीत हुए थे। प्रभात का समय था। मैं गंगा में खड़ी स्नान कर रही थी। सहसा मेरी दृष्टि ऊपर उठी तो मैंने किसी आदमी को पुल के ऊपर से झाँकते देखा! अकस्मात् उस मनुष्य का पाँव ऊपर उठ गया और वह सैकड़ों गज़ की ऊँचाई से गंगा में गिर पड़ा। सहस्रों आँखें यह दृश्य देख रही थीं, पर किसी को साहस न हुआ कि उस अभागे मनुष्य की जान बचाए। भारतवर्ष के अतिरिक्त ऐसा सहवेदना-शून्य और कौन देश होगा! और यह वह देश है जहाँ परमार्थ मनुष्य का परम कर्त्तव्य बताया गया है। लोग बैठे हुए अपंगुओं की भाँति तमाशा देख रहे थे। सभी हतबुद्धि-से हो रहे थे। धारा प्रबल वेग से बहती थी और जल बर्फ़ से भी अधिक शीतल था। मैंने देखा कि वह ग़रीब धारा के साथ बहता चला जाता है। यह हृदय-विदारक दृश्य मुझसे न देखा गया। मैं तैरने में अभ्यस्त थी। मैंने ईश्वर का नाम लिया और मन को दृढ़ करके धारा के साथ तैरने लगी। ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ती थी, वह मनुष्य मुझसे दूर होता जाता था। यहाँ तक कि मेरे सारे अंग ठंड से शून्य हो गए।

मैंने कई बार चट्टानों को पकड़कर दम लिया, कई बार पत्थरों से टकराई। मेरे हाथ ही न उठते थे। सारा शरीर बर्फ़ का ढाँचा-सा बना हुआ था। मेरे अंग ऐसे अशक्त हो गए कि मैं भी धारा के साथ बहने लगी और मुझे विश्वास हो गया कि गंगामाता के उदर ही में मेरी जल-समाधि होगी। अकस्मात् उस पुरुष की लाश को एक चट्टान पर रुकते देखा। मेरा हौसला बँध गया। शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हुआ। मैं ज़ोर लगाकर प्राणपण से उस चट्टान पर जा पहुँची और उसका हाथ पकड़कर खींचा। मेरा कलेजा धक्क से हो गया। यह श्रीधर पंडित थे।

ऐ मुसाफिर, मैंने यह काम प्राणों को हथेली पर रखकर पूरा किया। जिस समय मैं पंडित श्रीधर की अर्द्धमृत देह लिए तट पर आई तो सहस्रों मनुष्यों की जय-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। कितने ही मनुष्यों ने मेरे चरणों पर सिर झुकाए। अभी लोग श्रीधर को होश में लाने के उपाय कर ही रहे थे कि विद्याधरी मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। उसका मुख प्रभात के चंद्र की भाँति कांतिहीन हो रहा था, होंठ सूखे, बाल बिखरे हुए, आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई। वह ज़ोर से हाँफ रही थी, दौड़कर मेरे पैरों से चिपट गई, किंतु दिल खोलकर नहीं, निर्मल भाव से नहीं। उसके मुँह से बात न निकलती थी। केवल इतना बोली—"बहन, ईश्वर तुमको इस सत्कार्य का फल दें।"

4

ऐ मुसाफ़िर, यह शुभकामना विद्याधरी के अंतःस्थल से निकली थी। मैं उसके मुँह से यह आशीर्वाद सुनकर फूली न समाई। मुझे विश्वास हो गया कि अब की बार जब मैं अपने मकान पर पहुँचूँगी, तो पतिदेव मुसकुराते हुए मुझसे गले मिलने के लिए द्वार पर आवेंगे। इस विचार से मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। मैं शीघ्र ही स्वदेश चल पड़ी। उत्कंठा मेरे क़दम बढ़ाए जाती थी। मैं दिन भी चलती, रात भी चलती, मगर पैर थकना ही न जानते थे। यह आशा कि वह मोहिनी मूर्ति द्वार पर मेरा स्वागत करने के लिए खड़ी होगी, मेरे पैरों में पर-सा लगाए हुए थी। एक महीने की मंज़िल मैंने एक सप्ताह में तय की। पर शोक! जब मकान के पास पहुँची, तो उस घर को देखकर दिल बैठ गया और हिम्मत न पड़ी कि अंदर क़दम रक्खूँ। मैं चौखट पर बैठकर देर तक विलाप करती रही। न किसी नौकर का पता था, न कहीं पाले हुए पशु ही दिखाई देते थे। द्वार पर धूल उड़ रही थी। जान पड़ता था कि पक्षी घोंसले से उड़ गया है। कलेजे पर पत्थर की सिल रखकर भीतर गई, तो क्या देखती हूँ कि मेरा प्यारा सिंह आँगन में मोटी-मोटी ज़ंजीरों से बँधा हुआ है। इतना दुर्बल हो गया है कि उसके कूल्हों की हड्डियाँ दिखाई दे रही हैं। ऊपर-नीचे जिधर देखती थी, उजाड़-सा मालूम होता था। मुझे देखते ही शेरसिंह ने पूँछ हिलाई और सहसा उनकी आँखें दीपक की भाँति चमक उठीं। मैं दौड़कर उनके गले से लिपट गई, समझ गई कि नौकरों ने दग़ा की। घर की

सामग्रियों का कहीं पता न था। सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्र, फ़र्श आदि सब ग़ायब थे। हाय! हत्यारे मेरे आभूषणों का संदूक़ भी उठा ले गए। इस अपहरण ने मुसीबत का प्याला भर दिया। शायद पहले उन्होंने शेरसिंह को जकड़कर बाँध दिया होगा, फिर ख़ूब दिल खोलकर नोच-खसोट की होगी। कैसी विडंबना थी कि धर्म्म लूटने गई थी और धन लुटा बैठी! दरिद्रता ने पहली बार अपना भयंकर रूप दिखाया।

ऐ मुसाफ़िर, इस प्रकार लुट जाने के बाद वह स्थान आँखों में काँटे की तरह खटकने लगा। यही वह स्थान था जहाँ हमने आनंद के दिन काटे थे। इन्हीं क्यारियों में हमने मृगों की भाँति कलोले की थीं। प्रत्येक वस्तु से कोई-न-कोई स्मृति जागृत हो जाती थी। उन दिनों याद करके आँखों से रक्त के आँसू बहने लगते थे। वहाँ रहने का ठिकाना न देख मैंने अपनी जन्म-भूमि को सदैव के लिए त्याग दिया। मेरी आँखों से आँसुओं की एक बूँद भी न गिरी। जिस जन्म-भूमि की याद यावज्जीवन हृदय को व्यथित करती रहती है, उससे मैंने यों मुँह मोड़ लिया, मानो कोई बंदी कारागार से मुक्त हो जाए। एक सप्ताह तक मैं चारों ओर भ्रमण करके अपने भावी निवासस्थान का निश्चय करती रही। अंत में सिन्धु नदी के किनारे एक निर्जन स्थान मुझे पसंद आया। वहाँ एक प्राचीन मंदिर था। शायद किसी समय में वहाँ देवताओं का वास था, पर इस समय वह बिलकुल उजाड़ था। शनैः-शनैः मुझे उस स्थान से प्रेम हो गया।

मुझे यहाँ रहते तीन वर्ष बीत चुके थे। वर्षा-ऋतु में एक दिन संध्या समय मुझे मंदिर के सामने से एक पुरुष घोड़े पर सवार जाता दिखाई दिया। मंदिर से प्रायः दो सौ गज़ की दूरी पर एक रमणीक सागर था। उसके किनारे चिनार वृक्षों के झुरमुट थे। वह सवार उस झुरमुट में जाकर अदृश्य हो गया। अंधकार बढ़ता जाता था। एक क्षण के बाद मुझे उस ओर से किसी मनुष्य की चीत्कार सुनाई दी, फिर बंदूक़ों के शब्द कान में आए। उनकी ध्वनि से पहाड़ गूँज उठा।

ऐ मुसाफ़िर, यह दृश्य देखकर मुझे किसी भीषण घटना का संदेह हुआ। मैं तुरंत उठ खड़ी हुई। एक कटार हाथ में ली और उस सागर की ओर चल दी।

अब मूसलाधार वर्षा होने लगी थी, मानो आज के बाद बादल फिर कभी न बरसेंगे। रह-रहकर गर्जन की ऐसी भयंकर ध्वनि उठती थी, मानो सारे पहाड़ आपस में टकरा गए हों। बिजली की चमक ऐसी तीव्र थी, मानो संसार-व्यापी प्रकाश सिमटकर एकत्र हो गया हो। अंधकार का यह हाल था, मानो सहस्रों अमावस्या की रातें गले मिल रही हों। मैं कमर तक पानी में चलती, दिल को सँभाले हुए, आगे बढ़ती जाती थी। अंत में सागर के समीप आ पहुँची। बिजली की चमक ने दीपक का काम किया। सागर के किनारे एक बड़ी-सी गुफा थी। इस समय उस गुफा में से प्रकाश-ज्योति बाहर आती हुई दिखाई देती थी। मैंने भीतर की ओर झाँका, तो क्या देखती हूँ कि एक बड़ा अलाव जल रहा है, उसके चारों ओर बहुत-से आदमी खड़े हुए हैं, और एक स्त्री आग्नेय नेत्रों से घूर-घूरकर कह रही है—"मैं अपने पति के साथ उसे

भी जलाकर भस्म कर दूँगी।" मेरे कुतूहल की सीमा न रही। मैंने साँस बंद कर ली और हतबुद्धि की भाँति यह कौतुक देखने लगी। उस स्त्री के सामने एक रक्त से लिपटी हुई लाश पड़ी थी, और लाश के समीप ही एक मनुष्य रस्सियों से बँधा हुआ सिर झुकाए बैठा था। मैंने अनुमान किया कि यह वही अश्वारोही पथिक है, जिस पर इन डाकुओं ने आघात किया था। यह शव डाकू सरदार का है, और यह स्त्री डाकू की पत्नी है। उसके सिर के बाल बिखरे हुए थे और आँखों से अंगारे निकल रहे थे। हमारे चित्रकारों ने क्रोध को पुरुष कल्पित किया है। मेरे विचार में स्त्री का क्रोध इससे कहीं घातक, कहीं विध्वंसकारी होता है। क्रोधोन्मत्त होकर वह कोमलांगी सुंदरी ज्वाल-शिखर बन जाती है।

उस स्त्री ने फिर दाँत पीसकर कहा–"मैं अपने पति के साथ इसे भी जलाकर भस्म कर दूँगी।" यह कहकर उसने उस रस्सियों से बँधे हुए पुरुष को घसीटा और दहकती हुई चिता में डाल दिया। आह! कितना भयंकर, कितना रोमांचकारी दृश्य था! स्त्री ही अपने द्वेष की अग्नि शांत करने में इतनी पिशाचिनी हो सकती है! मेरा रक्त खौलने लगा। अब एक क्षण भी विलंब करने का अवसर न था। मैंने कटार खींच ली और गुफा में घुस पड़ी। डाकू चौंककर तितर-बितर हो गए, समझे, मेरे साथ और लोग भी होंगे। मैं बेधड़क चिता में घुस गई और क्षण मात्र में उस अभागे पुरुष को अग्नि के मुख से निकाल लाई। अभी केवल उसके वस्त्र ही जले थे। जैसे सर्प अपना शिकार छिन जाने से फुफकारता हुआ लपकता है, उसी प्रकार गरजती हुई लपटें मेरे पीछे दौड़ीं। ऐसा प्रतीत होता था कि अग्नि भी उसके रक्त की प्यासी हो रही थी।

इतने में डाकू सँभल गए और आहत सरदार की पत्नी पिशाचिनी की भाँति मुँह खोले मुझ पर झपटी। समीप था कि ये हत्यारे मेरी बोटियाँ कर दें, कि इतने में गुफा के द्वार पर मेघ-गर्जन की-सी ध्वनि सुनाई दी और शेरसिंह रौद्र रूप धारण किए हुए भीतर पहुँचे। उनका भयंकर रूप देखते ही डाकू अपनी-अपनी जान लेकर भागे। केवल डाकू सरदार की पत्नी स्तंभित-सी अपने स्थान पर खड़ी रही। एकाएक उसने अपने पति का शव उठाया और उसे लेकर चिता में बैठ गई। देखते-देखते उसकी भयंकर मूर्ति अग्नि-ज्वाला में विलीन हो गई। अब मैंने उस बँधे हुए मनुष्य की ओर देखा, तो हृदय उछल पड़ा। यह पंडित श्रीधर थे। मुझे देखते ही उन्होंने सिर झुका लिया और रोने लगे। मैं उनके समाचार पूछ ही रही थी कि उसी गुफा के एक कोने से किसी के कराहने का शब्द सुनाई दिया। जाकर देखा, तो एक सुंदर युवक रक्त से लथ-पथ पड़ा था। मैंने उसे देखते ही पहचान लिया। उसका पुरुष-वेष उसे छिपा न सका। यह विद्याधरी थी। मर्दों के वस्त्र उस पर ख़ूब सजते थे। वह लज्जा और ग्लानि की मूर्ति बनी हुई थी। वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी, पर मुँह से कुछ न बोली।

उस गुफा में पल-भर भी ठहरना अत्यंत शंकाप्रद था। न जाने कब डाकू फिर सशस्त्र होकर आ जाएँ। उधर चिताग्नि भी शांत होने लगी और उस सती की भीषण

काया अत्यंत तेजमय रूप धारण करके हमारे नेत्रों के सामने तांडव-क्रीड़ा करने लगी। मैं बड़ी चिंता में पड़ी कि इन दोनों प्राणियों को कैसे वहाँ से निकालूँ। दोनों ही ज़ख़्मों से चूर थे। शेरसिंह ने मेरे असमंजस को ताड़ लिया। रूपांतर हो जाने के बाद उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र हो गई थी। उन्होंने मुझे संकेत किया कि दोनों को हमारी पीठ पर बिठा दो। पहले तो मैं उनका आशय न समझी, पर जब उन्होंने संकेत को बार-बार दुहराया, तो मैं समझ गई। गूँगों के घरवाले ही गूँगों की बातें ख़ूब समझते हैं। मैंने पंडित श्रीधर को गोद में उठाकर शेरसिंह की पीठ पर बिठा दिया। उनके पीछे विद्याधरी को बिठाया। नन्हा बालक भालू की पीठ पर बैठकर जितना डरता है, उससे कहीं ज़्यादा यह दोनों प्राणी भयभीत हो रहे थे। चिताग्नि के क्षीण प्रकाश में उनके भय-विकृत मुख देखकर करुण-विनोद होता था। मैं इन दोनों प्राणियों को साथ लेकर गुफा से निकली, और फिर उसी तिमिर-सागर को पार करके मंदिर आ पहुँची।

मैंने एक सप्ताह तक उनका यथाशक्ति सेवा-सत्कार किया। जब वे भली-भाँति स्वस्थ हो गए, तो मैंने उन्हें बिदा किया। ये स्त्री-पुरुष कई आदमियों के साथ टेढ़ी जा रहे थे। वहाँ के राजा पंडित श्रीधर के शिष्य हैं। पंडित श्रीधर का घोड़ा आगे था। विद्याधरी सवारी का अभ्यास न होने के कारण पीछे थी। उनके दोनों रक्षक भी उसके साथ थे। जब डाकुओं ने पंडित श्रीधर को घेरा और पंडित ने पिस्तौल से डाकू सरदार को गिराया, तो कोलाहल सुनकर विद्याधरी ने घोड़ा बढ़ाया। दोनों रक्षक तो जान लेकर भागे, विद्याधरी को डाकुओं ने पुरुष समझकर घायल कर दिया और तब दोनों प्राणियों को बाँधकर गुफा में डाल दिया। शेष बातें मैंने अपनी आँखों देखीं। यद्यपि यहाँ से विदा होते समय विद्याधरी का रोम-रोम मुझे आशीर्वाद दे रहा था, पर हा! अभी प्रायश्चित्त पूरा न हुआ था। इतना आत्मसमर्पण करके भी मैं सफल-मनोरथ न हुई थी।

5

ऐ मुसाफ़िर, उस प्रांत में अब मेरा रहना कठिन हो गया। डाकू बंदूक़ें लिए हुए शेरसिंह की तलाश में घूमने लगे। विवश होकर एक दिन मैं वहाँ से चल खड़ी हुई और दुर्गम पर्वतों को पार करती हुई यहाँ आ निकली। यह स्थान मुझे ऐसा पसंद आया कि मैंने इस गुफा को अपना घर बना लिया है। आज पूरे तीन वर्ष गुज़रे जब मैंने पहले-पहल ज्ञानसरोवर के दर्शन किए। उस समय भी यही ऋतु थी। मैं ज्ञानसागर में पानी भरने गई थी। सहसा क्या देखती हूँ कि एक युवक मुश्की घोड़े पर सवार रत्नजड़ित आभूषण पहने, हाथ में चमकता हुआ भाला लिए चला आता है। शेरसिंह को देखकर वह ठिठका और भाला सँभालकर उन पर वार कर बैठा। तब शेरसिंह को भी क्रोध

आया। उनकी गरज की ऐसी गगन-भेदी ध्वनि उठी कि ज्ञानसागर का जल आंदोलित हो गया। उन्होंने उसे तुरंत घोड़े से खींचकर उसकी छाती पर पंजे रख दिए। मैं घड़ा छोड़कर दौड़ी। युवक का प्राणांत होने वाला ही था कि मैंने शेरसिंह के गले में हाथ डाल दिए और उनका सिर सहलाकर क्रोध शांत किया। मैंने उनका भयंकर रूप कभी न देखा था। मुझे स्वयं उनके पास जाते हुए डर लगता था, पर मेरे मृदु वचनों ने अंत में उन्हें वशीभूत कर लिया। वह अलग खड़े हो गए। युवक की छाती में गहरा घाव लगा था। उसे मैंने इसी गुफा में लाकर रक्खा और उसकी मरहम-पट्टी करने लगी। एक दिन मैं कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेने के लिए उस क़स्बे में गई, जिसके मंदिर के कलश यहाँ से दिखाई दे रहे हैं। मगर वहाँ सब दुकानें बंद थीं। बाज़ारों में ख़ाक उड़ रही थी। चारों ओर सियापा-सा छाया हुआ था। मैं बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रही, किसी मनुष्य की सूरत भी न दिखाई दी कि उससे वहाँ का सब समाचार पूछूँ। ऐसा विदित होता था, मानो यह घोड़ों के टापों की ध्वनि कानों में आई और एक क्षण में एक स्त्री, सिर से पैर तक काले वस्त्र धारण किए, एक काले घोड़े पर सवार आती हुई दिखाई दी। उसके पीछे कई सवार और प्यादे काली वर्दियाँ पहने आ रहे थे। अकस्मात् उस सवार स्त्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी। उसने घोड़े को एड़ लगाई और मेरे निकट आकर कर्कश-स्वर में बोली—"तू कौन है?" मैंने निर्भीक भाव से उत्तर दिया—"मैं ज्ञानसरोवर तट पर रहती हूँ। यहाँ बाज़ार में सामग्रियाँ लेने आई थी, किंतु शहर में किसी का पता नहीं।" उस स्त्री ने पीछे की ओर देखकर कुछ संकेत किया जिस पर दो सवारों ने आगे बढ़कर मुझे पकड़ लिया और मेरी बाँहों में रस्सियाँ डाल दीं। मेरी समझ में न आता था कि मुझे किस अपराध का दंड दिया जा रहा है। बहुत पूछने पर भी किसी ने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया। हाँ, अनुमान से यह प्रकट हुआ कि यह स्त्री यहाँ की रानी है। मुझे अपने विषय में तो कोई चिंता न थी, पर चिंता थी शेरसिंह की। वह अकेले घबरा रहे होंगे। भोजन का समय आ पहुँचा, कौन खिलावेगा? किस विपत्ति में आ फँसी! नहीं मालूम विधाता अब मेरी क्या दुर्गति करेंगे! मुझ अभागिन को इस दशा में भी शांति नहीं। इन्हीं मलिन विचारों में मग्न मैं सवारों के साथ आधे घंटे तक चलती रही कि सामने एक ऊँची पहाड़ी पर एक विशाल भवन दिखाई दिया। ऊपर चढ़ने के लिए पत्थर काटकर चौड़े जीने बनाए गए थे। हम लोग ऊपर चढ़े। वहाँ सैकड़ों ही आदमी दिखाई दिए। किंतु सब-के-सब काले वस्त्र धारण किए हुए थे। मैं जिस कमरे में जाकर रक्खी गई, वहाँ एक कुशासन के अतिरिक्त सजावट का और कोई सामान न था। मैं ज़मीन पर बैठकर अपने नसीब को रोने लगी। जो कोई यहाँ आता था, मुझ पर करुण दृष्टिपात करके चुपचाप चला जाता था। थोड़ी देर में रानी साहबा आकर कुशासन पर बैठ गईं। यद्यपि उनकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक थी पर मुख पर अद्भुत कांति थी। मैंने अपने स्थान

से उठकर उनका सम्मान किया और हाथ बाँधकर अपनी क़िस्मत का फ़ैसला सुनने के लिए खड़ी हो गई।

6

ऐ मुसाफ़िर, रानी महोदया की त्योरियाँ देखकर पहले तो मेरे प्राण सूख गए, किंतु जिस प्रकार चंदन-जैसी कठोर वस्तु में मनोहर सुगंधि छिपी होती है, उसी प्रकार उनकी कर्कशता और कठोरता के नीचे मोम के सदृश हृदय छिपा हुआ था। उनका पुत्र थोड़े ही दिन पहले युवावस्था ही में दग़ा दे गया था। उसी के शोक में सारा शहर मातम मना रहा था। मेरे पकड़े जाने का कारण यह था कि मैंने काले वस्त्र क्यों न धारण किए थे। यह वृत्तांत सुनकर मैं समझ गई कि जिस राजकुमार का शोक मनाया जा रहा है, वह वही युवक है जो मेरी गुफा में पड़ा हुआ है। मैंने उनसे पूछा—"राजकुमार मुश्की घोड़े पर तो सवार नहीं थे?"

रानी—"हाँ-हाँ, मुश्की घोड़ा था। उसे मैंने उनके लिए अरब देश से मँगवा दिया था। क्या तूने उन्हें देखा है?"

मैं—"हाँ, देखा है।"

रानी ने पूछा—"कब?"

मैं—"जिस दिन वह शेर का शिकार खेलने गए थे।"

रानी—"क्या तेरे सामने ही शेर ने उन पर चोट की थी?"

मैं—"हाँ, मेरी आँखों के सामने।"

रानी उत्सुक होकर खड़ी हो गई और बड़े दीन-भाव से बोलीं—"तू उनकी लाश का पता लगा सकती है?"

मैं—"ऐसा न कहिए, वह अमर हों। वह दो सप्ताह से मेरे यहाँ मेहमान हैं।"

रानी हर्षमय आश्चर्य से बोलीं—"मेरा रणधीर जीवित है?"

मैं—"हाँ, अब उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई है।"

रानी मेरे पैरों पर गिर पड़ी!

तीसरे दिन अर्जुन-नगर की कुछ और ही शोभा थी। वायु आनंद के मधुर स्वर से गूँजती थी, दुकानों ने फूलों का हार पहना था, बाज़ारों में आनंद के उत्सव मनाए जा रहे थे। शोक के नीले वस्त्रों की जगह केसर का सुहावना रंग बधाई दे रहा था। इधर सूर्य्य ने उषा-सागर से सिर निकाला, उधर सलामिया दगनी आरंभ हुई। आगे-आगे मैं एक सब्ज़ घोड़े पर सवार आ रही थी और पीछे राजकुमार का हाथी सुनहरे झूलों से सजा, चला आता था। स्त्रियाँ अटारियों पर मंगल गीत गातीं और पुष्पों की वृष्टि करती थीं। राजभवन के द्वार पर रानी मोतियों से आँचल भरे खड़ी थीं। ज्यों ही राजकुमार हाथी से उतरे वह उन्हें गोद में लेने के लिए दौड़ीं और उन्हें छाती से लगा लिया।

7

ऐ मुसाफ़िर, आनंदोत्सव समाप्त होने पर जब मैं विदा होने लगी, तो रानी महोदया ने सजल-नयन होकर कहा—

"बेटी, तूने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसका फल तुझे भगवान् देंगे। तूने मेरे राज्यवंश का उद्धार कर दिया, नहीं तो कोई पितरों को जल देनेवाला भी न रहता। मैं तुझे कुछ विदाई देना चाहती हूँ, वह तुझे स्वीकार करनी पड़ेगी। अगर रणधीर मेरा पुत्र है, तो तू मेरी पुत्री है। तूने रणधीर को प्राणदान दिया है, तूने ही इस राज्य का पुनरुद्धार किया है। इसलिए इस माया-बंधन से तेरा गला नहीं छूटेगा। मैं अर्जुन-नगर का प्रांत उपहारस्वरूप तेरी भेंट करती हूँ।"

रानी की यह असीम उदारता देखकर मैं दंग रह गई। कलियुग में भी कोई ऐसा दानी हो सकता है, इसकी मुझे आशा न थी। यद्यपि मुझे धन-भोग की लालसा न थी, पर केवल इस विचार से कि कदाचित् यह संपत्ति मुझे अपने भाइयों की सेवा करने की सामर्थ्य दे, मैंने एक जागीरदार की ज़िम्मेदारियाँ अपने सिर लीं। तब से दो वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर भोग-विलास ने मेरे मन को एक क्षण के लिए भी चंचल नहीं किया। मैं कभी पलंग पर नहीं सोई। रूखी-सूखी वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाया। पति-वियोग की दशा में स्त्री तपस्विनी हो जाती है, उसकी वासनाओं का अंत हो जाता है। मेरे पास कई विशाल भवन हैं, कई रमणीक वाटिकाएँ हैं; विषय-वासना की ऐसी कोई सामग्री नहीं है, जो प्रचुर मात्रा में उपस्थित न हो, पर मेरे लिए सब त्याज्य हैं। भवन सूने पड़े हैं और वाटिकाओं में खोजने से भी हरियाली न मिलेगी। मैंने उनकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा। अपने प्राणाधार के चरणों से लगे हुए मुझे अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं। मैं नित्यप्रति अर्जुन-नगर जाती हूँ और रियासत के आवश्यक काम-काज करके लौट आती हूँ। नौकर-चाकरों को कड़ी आज्ञा दे दी गई है कि मेरी शांति में बाधक न हों। रियासत की संपूर्ण आय परोपकार में व्यय होती है। मैं उसकी कौड़ी भी अपने ख़र्च में नहीं लाती। आपको अवकाश हो, तो आप मेरी रियासत का प्रबंध देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। मैंने इन दो वर्षों में बीस बड़े-बड़े तालाब और चालीस गोशाले बनवा दिए हैं। मेरा विचार है कि अपनी रियासत में नहरों का ऐसा जल बिछा दूँ जैसे शरीर में नाड़ियों का है। मैंने एक सौ कुशल वैद्य नियुक्त कर दिए हैं जो ग्रामों में विचरण करके रोग की निवृत्ति करें। मेरा कोई ऐसा ग्राम नहीं है, जहाँ मेरी ओर से सफ़ाई का प्रबंध न हो। छोटे-छोटे गाँवों में भी आपको लालटेनें जलती हुई मिलेंगी। दिन का प्रकाश ईश्वर देता है, रात के प्रकाश की व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य है। मैंने सारा प्रबंध पंडित श्रीधर के हाथों में दे दिया है। सबसे प्रथम कार्य्य जो मैंने किया वह उन्हें ढूँढ निकालना और यह भार उनके सिर रख देना था, इस विचार से नहीं कि उनका सम्मान करना मेरा अभीष्ट था, बल्कि मेरी दृष्टि में कोई अन्य पुरुष ऐसा कर्त्तव्य-परायण, ऐसा निस्पृह, ऐसा सद्‌चरित्र न था।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यावज्जीवन रियासत की बागडोर अपने हाथ में रक्खेंगे। विद्याधरी भी उनके साथ है, वही शांति और संतोष की मूर्ति, वही धर्म्म और व्रत की देवी। उसका पातिव्रत अब भी ज्ञानसरोवर की भाँति अपार और अथाह है। यद्यपि उसका सौंदर्य-सूर्य्य अब मध्याह्न पर नहीं है, पर अब भी वह रनिवास की रानी जान पड़ती है। चिंताओं ने उसके मुख पर शिकन डाल दिए हैं। हम दोनों कभी-कभी मिल जाती हैं, किंतु बातचीत की नौबत नहीं आती। उसकी आँखें झुक जाती हैं। मुझे देखते ही उसके ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है और उसके माथे पर जलबिन्दु दिखाई देने लगते हैं। मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि मुझे विद्याधरी से कोई शिकायत नहीं है। उसके प्रति मेरे मन में दिनोदिन श्रद्धा और भक्ति बढ़ती जाती है। उसे देखती हूँ, तो मुझे प्रबल उत्कंठा होती है कि उसके पैरों पर गिर पड़ूँ। पतिव्रता स्त्री के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं, पर केवल इस भय से कि कदाचित् वह इसे खुशामद समझे, रुक जाती हूँ। अब मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अपने स्वामी के चरणों में पड़ी रहूँ और जब इस संसार से प्रस्थान करने का समय आवे, तो मेरा मस्तक उनके चरणों पर हो और अंतिम शब्द जो मेरे मुँह से निकले, यही हों कि–"ईश्वर, दूसरे जन्म में भी मुझे इनकी चेरी बनाना।"

पाठक, उस सुंदरी का जीवन-वृत्तांत सुनकर मुझे जितना कुतूहल हुआ वह अकथनीय है। खेद है कि जिस जाति में ऐसी प्रतिभाशालिनी देवियाँ उत्पन्न हों उस पर पाश्चात्य के कल्पनाहीन, विश्वासहीन पुरुष उँगलियाँ उठावें! समस्त योरप में एक भी ऐसी सुंदरी न होगी, जिससे इसकी तुलना की जा सके। हमने स्त्री-पुरुष के संबंध को सांसारिक संबंध समझ रक्खा है। उसका आध्यात्मिक रूप हमारे विचार से कोसों दूर है। यही कारण है कि हमारे देश में शताब्दियों की उन्नति के पश्चात् भी पातिव्रत का ऐसा उज्ज्वल और अलौकिक उदाहरण नहीं मिल सकता। दुर्भाग्य से हमारी सभ्यता ने ऐसा मार्ग ग्रहण किया है कि कदाचित् दूर-भविष्य में भी ऐसी देवियों के जन्म लेने की संभावना नहीं। जर्मनी को यदि अपनी सेना पर, फ्रांस को अपनी विलासिता पर और इंग्लैंड को अपने वाणिज्य पर गर्व है, तो भारतवर्ष को अपने पातिव्रत का घमंड है। क्या योरप-निवासियों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि होमर और बर्जिल, डैंटे और गेटे, शेक्सपियर और ह्यूगो–जैसे उच्च कोटि के कवि एक भी सीता या सावित्री की रचना न कर सकें। वास्तव में योरोपीय समाज ऐसे आदर्शों से वंचित है!

मैंने दूसरे दिन ज्ञानसरोवर से बड़ी अनिच्छा के साथ बिदा माँगी और योरप को चला। मेरे लौटने का समाचार पहले ही प्रकाशित हो चुका था। जब मेरा जहाज़ हैंपबर्ग के बंदर में पहुँचा, तो सहस्रों नर-नारी मेरा अभिवादन करने के लिए खड़े थे। मुझे देखते ही तालियाँ बजने लगीं, रूमाल और टोप हवा में उछलने लगे और वहाँ से मेरे घर तक जिस समारोह से मेरा जलूस निकला उस पर किसी राष्ट्रपति को भी गर्व हो

सकता है। संध्या-समय मुझे क़ैसर की मेज़ पर भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कई दिनों तक अभिनंदन-पत्रों का ताँता लगा रहा और महीनों क्लब और युनिवर्सिटी की फ़र्माइशों से दम मारने का अवकाश न मिला। मेरा यात्रा-वृत्तांत देश के प्रायः सभी पत्रों में छपा। अन्य देशों से भी बधाई के तार और पत्र मिले। फ्रांस, रूस आदि देशों की कितनी ही सभाओं ने मुझे व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। एक-एक वक्तृता के लिए मुझे कई-कई हज़ार पौंड दिए जाते थे। कई विद्यालयों ने मुझे उपाधियाँ दीं। ज़ार ने अपना आटोग्राफ़ भेजकर सम्मानित किया, किंतु इन आदर और सम्मान की आँधियों से मेरे चित्त को शांति न मिलती थी और ज्ञानसागर का सुरम्य तट, वह गहरी गुफा और वह मृदुभाषिणी रमणी सदैव आँखों के सामने फिरते रहते थे। रमणी के मधुर शब्द कानों में गूँजा करते। मैं थिएटरों में जाता और स्पेन और जार्जिया की सुंदरियों को देखता, किंतु हिमालय की अप्सरा मेरे ध्यान से न उतरती। कभी-कभी कल्पना में मुझे वह देवी आकाश से उतरती हुई मालूम होती। तब चित्त चंचल हो जाता और विकल उत्कंठा होती कि किसी तरह पर लगाकर ज्ञानसागर के तट पर पहुँच जाऊँ। आख़िर एक रोज़ मैंने सफ़र का सामान दुरुस्त किया और उस तिथि के ठीक एक हज़ार दिनों के बाद जबकि मैंने पहली बार ज्ञानसागर के तट पर क़दम रक्खा था, मैं फिर वहाँ जा पहुँचा।

प्रभात का समय था। गिरिराज सुनहरा मुकुट पहने खड़े थे। मंद समीर के आनंदमय झोंकों से ज्ञानसागर का जल निर्मल प्रकाश से प्रतिबिंबित होकर ऐसा लग रहा था, मानो अगणित अप्सराएँ, आभूषणों से जगमगाती हुई, नृत्य कर रही हों। लहरों के साथ शतदल यों झकोरे लेते थे, जैसे कोई बालक हिंडोले में झूल रहा हो। फूलों के बीच में श्वेत हंस तैरते हुए ऐसे मालूम होते थे, मानो लालिमा से छाए हुए आकाश पर तारागण चमक रहे हों। मैंने उत्सुक नेत्रों से इस गुफा की ओर देखा, तो वहाँ एक विशाल राजप्रसाद आसमान से कंधा मिलाए खड़ा था। एक ओर रमणीक उपवन था, दूसरी ओर एक गगनचुंबी मंदिर। मुझे यह कायापलट देखकर आश्चर्य हुआ। मुख्य द्वार पर जाकर देखा, तो दो चोबदार ऊदे मख़मल की वर्दियाँ पहने, ज़री के पट्टे बाँधे खड़े थे; मैंने उनसे पूछा—"क्यों भाई यह किसका महल है?"

चोबदार—"अर्जुन-नगर की महारानी का।"

मैं—"क्या अभी हाल ही में बना है?"

चोबदार—"हाँ, तुम कौन हो?"

मैं—"एक परदेशी यात्री हूँ। क्या तुम महारानी को मेरी सूचना दे दोगे?"

चोबदार—"तुम्हारा क्या नाम है और कहाँ से आते हो?"

मैं—"उनसे केवल इतना कह देना कि योरप से एक यात्री आया है और आपके दर्शन करना चाहता है।"

चोबदार भीतर चला गया और एक-क्षण के बाद आकर बोला—"मेरे साथ आओ।"

मैं उसके साथ हो लिया। पहले एक लंबी दालान मिली जिसमें भाँति-भाँति के पक्षी पिंजरों में बैठे चहक रहे थे। इसके बाद एक विस्तृत बारहदरी में पहुँचा जो संपूर्णतः पाषाण की बनी हुई थी। मैंने ऐसी सुंदर गुलकारी ताजमहल के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखी। फ़र्श की पच्चीकारी को देखकर उस पर पाँव धरते संकोच होता था। दीवारों पर निपुण चित्रकारों की रचनाएँ शोभायमान थीं। बारहदरी के दूसरे सिरे पर एक चबूतरा था, जिस पर मोटी क़ालीने बिछी हुई थीं। मैं फ़र्श पर बैठ गया। इतने में एक लंबे क़द का रूपवान् पुरुष अंदर आता हुआ दिखाई दिया। उसके मुख पर प्रतिभा की ज्योति झलक रही थी और आँखों से गर्व टपका पड़ता था। उसकी काली और भाले की नोक के सदृश तनी हुई मूँछें, उसके भौंरे की तरह काले घूँघरवाले बाल, उसके आकृति की कठोरता को नम्र कर देते थे। विनय-पूर्ण वीरता का इससे सुंदर चित्र नहीं खिंच सकता था। उसने मेरी ओर देख-देखकर मुसकुराते हुए कहा—"आप मुझे पहचानते हैं?" मैं अदब से खड़ा होकर बोला—"मुझे आपसे परिचय का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ।" वह क़ालीन पर बैठ गया और बोला—"मैं शेर सिंह हूँ।" मैं अवाक् रह गया। शेरसिंह ने फिर कहा—"क्या आप प्रसन्न नहीं हैं कि आपने मुझे पिस्तौल का लक्ष्य नहीं बनाया। मैं तब पशु था, अब मनुष्य हूँ।" मैंने विस्मित होकर कहा—"आपको इस रूप में देखकर मुझे जितना आनंद हो रहा है, प्रकट नहीं कर सकता। यदि आज्ञा हो, तो आपसे एक प्रश्न करूँ।"

शेरसिंह ने मुसकुराकर कहा—"मैं समझ गया, पूछिए।"

मैं—"जब आप समझ ही गए, तो मैं पूछूँ क्यों?"

शेर.—"संभव है, मेरा अनुमान ठीक न हो।"

मैं—"मुझे भय है कि उस प्रश्न से आपको दुःख न हो।"

शेर.—"कम-से-कम आपको मुझसे ऐसी शंका न करनी चाहिए।"

मैं—"विद्याधरी के भ्रम में कुछ सार था?"

शेरसिंह ने सिर झुकाकर कुछ देर में उत्तर दिया—"जी हाँ, जिस वक़्त मैंने कलाई पकड़ी थी, उस समय आवेश से मेरा एक-एक अंग काँप रहा था। मैंने क्या किया यह तो याद नहीं, केवल इतना जानता हूँ कि मैं उस समय अपने होश में न था। मेरी पत्नी ने मेरे उद्धार के लिए बड़ी-बड़ी तपस्याएँ कीं, किंतु पाप का धब्बा नहीं मिटता। मेरा विचार है कि ईश्वर भी उस दाग़ को नहीं मिटा सकता। कोई तपस्या, कोई दंड, कोई प्रायश्चित्त इस कालिमा को नहीं धो सकती। पतितोद्धार की कथाएँ और तौबा या कंफ़ेशन करके पाप से मुक्त हो जाने की बातें, ये सब संसार-लिप्सी पाखंडी धर्मावलंबियों की कल्पनाएँ हैं।"

हम दोनों यही बातें कर रहे थे कि रानी प्रियंवदा सामने आकर खड़ी हो गईं। मुझे आज वह अनुभव हुआ, जो बहुत दिनों से पुस्तकों में पढ़ा करता था कि सौंदर्य

में प्रकाश होता है। आज इसकी सत्यता मैंने अपनी आँखों से देखी। मैंने जब उन्हें पहले देखा था, तो निश्चय किया था कि ईश्वरीय कला-नैपुण्य की पराकाष्ठा है, पर अब जब मैंने उसे दुबारा देखा, तो ज्ञात हुआ कि वह इस अस्ल की नक़्ल थी। प्रियंवदा ने मुस्कुराकर कहा—"मुसाफ़िर, तुझे स्वदेश में भी कभी हम लोगों की याद आई थी?"

अगर मैं चित्रकार होता, तो उसके मधुर हास्य को चित्रित करके प्राचीन गुणियों को चकित कर देता। उसके मुँह से यह प्रश्न सुनने के लिए मैं तैयार न था। यदि उसके उत्तर में मन के आंतरिक भावों को प्रकट कर देता, तो शायद मेरी धृष्टता होती और शेरसिंह की त्योरियाँ बदल जातीं। मैं यह भी न कह सका कि मेरे जीवन का सबसे सुखद भाग वही था, जो ज्ञानसरोवर के तट पर व्यतीत हुआ था, किंतु मुझे इतना साहस भी न हुआ। मैंने दबी ज़बान से कहा—"क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ?"

8

तीन दिन बीत गए। इन तीन दिनों में ख़ूब मालूम हो गया कि पूर्व को आतिथ्य-कुशल क्यों कहते हैं। योरप का कोई दूसरा मनुष्य, जो यहाँ की सभ्यता से परिचित न हो, इन सत्कारों से ऊब जाता, किंतु मुझे इन देशों के रहन-सहन का बहुत अनुभव हो चुका है और इसका आदर करता हूँ।

चौथे दिन मेरी विनय पर रानी प्रियंवदा ने अपनी शेष कथा सुनानी शुरू की—

ऐ मुसाफ़िर, मैंने तुझसे कहा था कि अपनी रियासत का शासन-भार मैंने श्रीधर पर रख दिया था और जितनी योग्यता और दूरदर्शिता से उन्होंने इस काम को सँभाला है, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। ऐसा बहुत कम हुआ है कि एक विद्वान् पंडित जिसका सारा जीवन पठन-पाठन में व्यतीत हुआ हो, एक रियासत का बोझ सँभाले, किंतु राजा बीरबल की भाँति पं. श्रीधर भी सब कुछ कर सकते हैं। मैंने परीक्षार्थ उन्हें यह काम सौंपा था। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि वह इस कार्य्य के सर्वथा योग्य हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानो कुल-परंपरा ने उन्हें इस काम में अभ्यस्त कर दिया है। जिस समय उन्होंने इसका काम अपने हाथ में लिया, यह रियासत एक ऊजड़ ग्राम के सदृश थी। अब वह धन-धान्य-पूर्ण एक नगर है। शासन का कोई ऐसा विभाग नहीं, जिस पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि न पहुँची हो।

थोड़े ही दिनों में लोग उनके शील-स्वभाव पर मुग्ध हो गए। राजा रणधीरसिंह भी उन पर कृपादृष्टि रखने लगे। पंडितजी पहले शहर से बाहर एक ठाकुरद्वारे में रहते थे, किंतु जब राजा साहब से मेल-जोल बढ़ा, तो उनके आग्रह से विवश होकर राजमहल में चले आए। यहाँ तक परस्पर मैत्री और घनिष्ठता बढ़ी कि मान-प्रतिष्ठा का विचार भी जाता रहा। राजा साहब पंडितजी से संस्कृत भी पढ़ते थे। उनके समय

का अधिकांश पंडितजी के मकान पर ही कटता था, किंतु शोक! यह विद्याप्रेम, या शुद्ध मित्र-भाव का आकर्षण न था। यह सौंदर्य का आकर्षण था। यदि उस समय मुझे लेश-मात्र भी संदेह होता कि रणधीरसिंह की यह घनिष्टता कुछ और ही पहलू लिए हुए है, तो उसका अंत इतना खेदजनक न होता जितना कि हुआ। उनकी दृष्टि विद्याधरी पर उस समय पड़ी, जब ठाकुरद्वारे में रहती थी। राजा साहब स्वभावतः बड़े ही सच्चरित्र और संयमी पुरुष हैं, किंतु जिस रूप ने मेरे पति-जैसे देव-पुरुष का ईमान डिगा दिया; वह सब कुछ कर सकता है।

भोली-भाली विद्याधरी मनोविकारों की इस कुटिल नीति से बेख़बर थी। जिस प्रकार छलाँगे मारता हुआ हिरन व्याध की फैलाई हुई हरी-हरी घास देखकर उस ओर बढ़ता है और यह नहीं समझता कि प्रत्येक पग मुझे सर्वनाश की ओर लिए जाता है, उसी भाँति विद्याधरी को उसका चंचल मन अंधकार की ओर खींचे लिए जाता था। वह राजा साहब के लिए अपने हाथ से बीड़े लगाकर भेजती, पूजा के लिए चंदन रगड़ती। रानीजी से उसका भी बहनापा हो गया। वह एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से न जाने देतीं। दोनों साथ-साथ बाग़ की सैर करतीं, साथ-साथ झूला झूलतीं, साथ-साथ चौपड़ खेलतीं। यह उनका शृंगार करती और वह इसकी माँग-चोटी सँवारती, मानो विद्याधरी ने रानी के हृदय में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो किसी समय मुझे प्राप्त था। लेकिन, वह ग़रीब क्या जानती थी कि जब मैं बाग़ की रविशों में विचरती हूँ, तो कुवासना मेरे तलवे के नीचे आँखें बिछाती है; जब मैं झूला-झूलती हूँ, तो वह आड़े में बैठी हुई आनंद से झूमती है। इस एक सरल हृदय अबला स्त्री के लिए चारों ओर चक्रव्यूह रचा जा रहा था।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। राजा साहब का रब्त-ज़ब्त दिनों-दिन बढ़ता जाता था। पंडितजी से उनको वह स्नेह हो गया, जो गुरु को अपने एक होनहार शिष्य से होता है। मैंने जब देखा कि आठों पहर का यह सहवास पंडितजी के काम में विघ्न डालता है, तो एक दिन मैंने उनसे कहा, यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो दूरस्थ देहातों का दौरा आरंभ कर दें और इस बात का पता लगावें कि देहातों में कृषकों के लिए बैंक खोलने में हमें प्रजा से कितनी सहानुभूति और कितनी सहायता की आशा करनी चाहिए। पंडितजी के मन की बात नहीं जानती, पर प्रत्यक्ष उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दूसरे ही दिन प्रातःकाल चले गए, किंतु आश्चर्य है कि विद्याधरी परछाईं की भाँति उनके साथ रहती थी। असुविधा या कष्ट का विचार भी उसके मन में न आता था। पंडितजी कितना ही समझाएँ, कितना ही डराएँ, वह उनका साथ न छोड़ती थी पर अबकी बार कष्ट के विचार ने उसे कर्त्तव्य के मार्ग से विमुख कर दिया। पहले उसका पातिव्रत एक वृक्ष था, जो उसके प्रेम की क्यारी में अकेला खड़ा था, किंतु अब उसी क्यारी में मैत्री की घास-पात निकल आई थी, जिसका पोषण भी उसी भोजन पर अवलंबित था।

9

ऐ मुसाफ़िर, छः महीने गुज़र गए और पंडित श्रीधर वापस न आए। पहाड़ों की चोटियों पर छाया हुआ हिम घुल-घुलकर नदियों में बहने लगा, उनकी गोद में फिर रंग-बिरंग के फूल लहलहाने लगे, चंद्रमा की किरणें फिर फूलों की महक सूँघने लगीं, पर्वतों के पक्षी अपनी वार्षिक यात्रा समाप्त कर फिर स्वदेश आ पहुँचे, किंतु पंडित जी रियासत के कामों में ऐसे उलझे कि मेरे निरंतर आग्रह करने पर भी अर्जुन-नगर न आए। विद्याधरी की ओर से वह इतने उदासीन क्यों हुए, समझ में नहीं आता था। उन्हें तो उसका वियोग एक क्षण के लिए भी असह्य था, किंतु इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि विद्याधरी ने भी आग्रह-पूर्ण पत्रों में लिखने के अतिरिक्त उनके पास जाने का कष्ट न उठाया। वह अपने पत्रों में लिखती—"स्वामीजी, मैं बहुत व्याकुल हूँ, यहाँ मेरा जी ज़रा भी नहीं लगता, एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान जाता है, न दिन को चैन है न रात को नींद। क्या आप मुझे भूल गए? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ? क्या आपको मुझ पर दया भी नहीं आती? मैं आपके वियोग में रो-रोकर मरी जाती हूँ। नित्य स्वप्न देखती हूँ कि आप आ रहे हैं, पर यह स्वप्न कभी सच्चा नहीं होता।" उसके पत्र ऐसे ही प्रेममय शब्दों से भरे होते थे और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जो कुछ वह लिखती थी, वह भी अक्षरशः सत्य था। मगर इतनी व्याकुलता, इतनी चिंता और इतनी उद्विग्नता पर भी उसके मन में कभी यह प्रश्न न उठा कि क्यों न मैं ही उनके पास चली चलूँ।

बहुत ही सुहावनी ऋतु थी। ज्ञानसागर में यौवन-काल की अभिलाषाओं की भाँति कमल के फूल खिले हुए थे। राजा रणधीरसिंह की पच्चीसवीं जयंती का शुभ-मुहूर्त आया। सारे नगर में आनंदोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। गृहणियाँ कोरे-कोरे दीपक पानी में भिगोने लगीं कि अधिक तेल न सोख जाएँ। चैत की पूर्णिमा थी, किंतु दीपक की जगमगाहट ने ज्योत्स्ना को मात कर दिया था। मैंने राजा साहब के लिए इस्फ़ाहान से एक रत्न-जड़ित तलवार मँगा रक्खी थी। दरबार के अन्य जागरीदारों और अधिकारियों ने भी भाँति-भाँति के उपहार मँगा रक्खे थे। मैंने विद्याधरी के घर जाकर देखा, तो वह एक पुष्प-हार गूँथ रही थी। मैं आध घंटे तक उसके सम्मुख खड़ी रही, किंतु वह अपने काम में इतनी व्यस्त थी कि उसे मेरी आहट भी न मिली। तब मैंने धीरे से पुकारा—"बहन!" विद्याधरी ने चौंककर सिर उठाया और बड़ी शीघ्रता से वह हार फूल की डाली में छिपा, लज्जित होकर बोली—"क्या तुम देर से खड़ी हो?" मैंने उत्तर दिया—"आध घंटे से अधिक हुआ।"

विद्याधरी के चेहरे का रंग उड़ गया, आँखें झुक गईं, कुछ हिचकिचाई, कुछ घबराई। फिर अपने अपराधी हृदय को इन शब्दों से शांत किया—"यह हार मैंने ठाकुरजी के लिए गूँथा है।" उस समय विद्याधरी की घबराहट का भेद मैं कुछ न

समझी। ठाकुरजी के लिए हार गूँथना क्या कोई लज्जा की बात है? फिर जब वह हार मेरी नज़रों से छिपा दिया गया, तो उसका ज़िक्र ही क्या? हम दोनों ने कितनी ही बार साथ बैठकर हार गूँथे थे। कोई निपुण मालिन भी हमसे अच्छे हार न गूँथ सकती थी। मगर इसमें शर्म क्या? दूसरे दिन यह रहस्य मेरी समझ में आ गया। वह हार राजा रणधीरसिंह को उपहार में देने के लिए बनाया गया था।

यह बहुत सुंदर वस्तु थी। विद्याधरी ने अपना सारा चातुर्य उसके बनाने में ख़र्च किया था। कदाचित् यह सबसे उत्तम वस्तु थी, जो वह राजा साहब को भेंट कर सकती थी। वह ब्राह्मणी थी। राजा साहब की गुरुमाता थी। उसके हाथों से यह उपहार बहुत ही शोभा देता था, किंतु यह बात उसने मुझसे छिपाई क्यों?

मुझे उस दिन, रात-भर नींद न आई। उसके इस रहस्य-भाव ने उसे मेरी नज़रों से गिरा दिया। एक बार आँख झपकी, तो मैंने उसे स्वप्न में देखा, मानो वह एक सुंदर पुष्प है, किंतु उसकी बास निकल गई है। वह मुझसे गले मिलने के लिए बढ़ी, किंतु मैं हट गई और बोली—"तूने मुझसे वह बात छिपाई क्यों?"

10

ऐ मुसाफ़िर, राजा रणधीरसिंह की उदारता ने प्रजा को मालामाल कर दिया। रईसों और अमीरों ने ख़िलअतें पाईं। किसी को घोड़ा मिला, किसी को जागीर मिली। मुझे उन्होंने श्रीभगवद्गीता की प्रति एक मख़मली बस्ते में रखकर दी। विद्याधरी को एक बहुमूल्य जड़ाऊ कंगन मिला। उस कंगन में अनमोल हीरे जड़े हुए थे। देहली के निपुण स्वर्णकारों ने उसके बनाने में अपनी कला का चमत्कार दिखाया था। विद्याधरी को अब तक आभूषणों से इतना प्रेम न था। अब तक सादगी ही उसका आभूषण और पवित्रता ही उसका शृंगार थी, पर इस कंगन पर वह लोट-पोट हो गई।

आषाढ़ का महीना आया। घटाएँ गगन-मंडल में मँडलाने लगीं। पंडित श्रीधर को घर की सुध आई। पत्र लिखा कि मैं आ रहा हूँ। विद्याधरी ने मकान खूब साफ़ कराया और स्वयं अपना बनाव-शृंगार किया। उसके वस्त्रों से चंदन की महक उड़ रही थी। उसने कंगन को संदूक़चे से निकाला और सोचने लगी कि इसे पहनूँ या न पहनूँ? उसके मन ने निश्चय किया कि न पहनना चाहिए। संदूक़ बंद करके रख दिया।

सहसा लौंडी ने आकर सूचना दी कि पंडितजी आ गए। यह सुनते ही विद्याधरी लपककर उठी, किंतु पति के दर्शनों की उत्सुकता उसे द्वार की ओर न ले गई। उसने बड़ी फ़ुर्ती से संदूक़चा खोला, कंगन निकाल कर पहना और अपनी सूरत आइने में देखने लगी।

इधर पंडितजी प्रेम की उत्कंठा से क़दम बढ़ाते दालान से आँगन और आँगन से विद्याधरी के कमरे में आ पहुँचे। विद्याधरी ने आकर उनके चरणों को अपने सिर

से स्पर्श किया। पंडितजी उसका यह शृंगार देखकर दंग रह गए। एकाएक उनकी दृष्टि उस कंगन पर पड़ी। राजा रणधीरसिंह की संगति ने उन्हें रत्नों का पारखी बना दिया था। ध्यान से देखा, तो एक-एक नगीना एक-एक हज़ार का था। चकित होकर बोले—"यह कंगन कहाँ मिला?"

विद्याधरी ने जवाब पहले ही सोच रक्खा था। रानी प्रियंवदा ने दिया है। यह जीवन में पहला अवसर था कि विद्याधरी ने अपने पतिदेव से कपट किया। जब हृदय शुद्ध न हो, तो मुख से सत्य क्योंकर निकले। यह कंगन नहीं, एक विषैला नाग था।

11

एक सप्ताह गुज़र गया। विद्याधरी के चित्त की शांति और प्रसन्नता लुप्त हो गई थी। ये शब्द कि "रानी प्रियंवदा ने दिया है" प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करते। वह अपने को धिक्कारती कि मैंने अपने प्राणाधार से क्यों कपट की। बहुधा रोया करती। एक दिन उसने सोचा कि क्यों न चलकर पति से सारा वृतांत कह दूँ। क्या वह मुझे क्षमा न करेंगे? यह सोचकर वह उठी, किंतु पति के सम्मुख जाते ही उसकी ज़बान बंद हो गई। वह अपने कमरे में आई और फूट-फूटकर रोने लगी। कंगन पहनकर उसे बहुत आनंद हुआ था। इसी कंगन ने उसे हँसाया था। अब वही रुला रहा था।

विद्याधरी ने रानी के साथ बाग़ों में सैर करना छोड़ दिया। चौपड़ और शतरंज उसके नाम को रोया करते। वह सारे दिन अपने कमरे में पड़ी रोया करती और सोचती कि क्या करूँ। काले वस्त्र पर काला दाग़ छिप जाता है, किंतु उज्ज्वल वस्त्र पर कालिमा की एक बूँद भी झलकने लगती है। वह सोचती, इसी कंगन ने मेरा सुख हर लिया है, यही कंगन मुझे रक्त के आँसू रुला रहा है। सर्प जितना सुंदर होता है, उतना ही विषाक्त भी होता है। यह सुंदर कंगन विष-धर नाग है, मैं उसका सिर कुचल डालूँगी। यह निश्चय करके उसने एक दिन अपने कमरे में कोयले का अलाव जलाया, चारों तरफ़ के क़िवाड़ बंद कर दिए और उस कंगन को, जिसने उसके जीवन को संकटमय बना रक्खा था, संदूक़चे से निकालकर आग में डाल दिया। एक दिन वह था कि यह कंगन उसे प्राणों से भी प्यारा था! उसे मख़मली संदूक़चे में रखती थी। आज उसे इतनी निर्दयता से आग में जला रही है।

विद्याधरी अलाव के सामने बैठी हुई थी, कि इतने में पंडित श्रीधर ने द्वार खटखटाया। विद्याधरी को काटो तो लहू नहीं। उसने उठकर द्वार खोल दिया और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। पंडितजी ने बड़े आश्चर्य से कमरे में निगाह दौड़ाई, पर रहस्य कुछ समझ में न आया। पूछा, किवाड़ बंद करके क्या हो रहा है? विद्याधरी ने उत्तर न दिया। तब पंडितजी ने छड़ी उठा ली और अलाव को कुरेदा, तो कंगन निकल आया। उसका संपूर्णतः रूपांतर हो गया था। न वह चमक थी, न वह रंग, न वह आकार, घबराकर बोले—"तुम्हारी बुद्धि कहाँ है?"

विद्या.—"भ्रष्ट हो गई है।"

पंडित.—"इस कंगन ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?"

विद्या.—"इसने मेरे हृदय में आग लगा रखी थी।"

पंडित.—"ऐसी अमूल्य वस्तु मिट्टी में मिल गई।

विद्या.—"इसने उससे भी अमूल्य वस्तु का अपहरण किया है।"

पंडित.—"तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है?"

विद्या.—"शायद आपका अनुमान सत्य है।"

पंडितजी ने विद्याधरी की ओर चुभनेवाली निगाहों से देखा। विद्याधरी की आँखें नीचे को झुक गईं। वह उनसे आँखें न मिला सकी। भय हुआ कि कहीं यह तीव्र दृष्टि मेरे हृदय में न चुभ जाए। पंडितजी कठोर स्वर में बोले—"विद्याधरी, तुम्हें स्पष्ट कहना होगा।"

विद्याधरी से अब न रहा गया, वह रोने लगी और पंडितजी के सम्मुख धरती पर गिर पड़ी।

12

विद्याधरी को जब सुध आई, तो पंडितजी का वहाँ पता न था। घबराई हुई बाहर के दीवानख़ाने में आई, मगर यहाँ भी उन्हें न पाया। नौकरों से पूछा, तो मालूम हुआ कि घोड़े पर सवार होकर ज्ञानसागर की ओर गए हैं। यह सुनकर विद्याधरी को कुछ ढाढ़स हुआ। वह द्वार पर खड़ी होकर उनकी राह देखती रही। दोपहर हुई, सूर्य्य सिर पर आया; संध्या हुई, चिड़ियाँ बसेरा लेने लगीं; फिर रात आई, गगन में तारागण जगमगाने लगे; किंतु विद्याधरी दीवार की भाँति खड़ी पति का इंतज़ार करती रही। रात भीग गई। वन-जंतुओं के भयानक शब्द कानों में आने लगे, सन्नाटा छा गया। सहसा उसे घोड़े की टापों की ध्वनि सुनाई दी। उसका हृदय धड़कने लगा। आनंदोन्मत्त होकर द्वार के बाहर निकल आई, किंतु घोड़े पर सवार न था। विद्याधरी को विश्वास हो गया कि अब पतिदेव के दर्शन न होंगे। या तो उन्होंने संन्यास ले लिया, या आत्मघात कर लिया। उसके कंठ से नैराश्य और विषाद में डूबी हुई ठंडी साँस निकली। वहीं भूमि पर बैठ गई, और सारी रात ख़ून के आँसू बहाती रही। जब उषा की निद्रा भंग हुई और पक्षी आनंद गान करने लगे, तब वह दुःखिया उठी और अंदर जाकर लेट रही।

जिस प्रकार सूर्य्य की ताप जल को सोख लेती है, उसी भाँति शोक की ताप ने विद्याधरी का रक़्त जला दिया। मुख से ठंडी साँस निकलती थी, आँखों से गर्म आँसू बहते थे। भोजन से अरुचि हो गई और जीवन से घृणा। इसी अवस्था में एक दिन राजा रणधीरसिंह सहवेदना-भाव से उसके पास आए। उन्हें देखते ही विद्याधरी की आँखें रक़्तवर्ण हो गईं, क्रोध से ओठ काँपने लगे, झल्लाई हुई नागिन की भाँति

फुफकारकर उठी और राजा के सम्मुख आकर कर्कश-स्वर में बोली—"पापी, यह आग तेरी ही लगाई हुई है। यदि मुझमें अब भी कुछ सत्य है, तो तुझे इस दुष्टता के कड़ुए फल मिलेंगे।" यह तीर के-से शब्द राजा के हृदय में चुभ गए। मुँह से एक शब्द भी न निकला। काल से डरने वाला राजपूत एक स्त्री की आग्नेय दृष्टि से काँप उठा।

13

एक वर्ष बीत गया; हिमालय पर मनोहर हरियाली छाई, फूलों ने पर्वत की गोद में क्रीड़ा करनी शुरू की। यह ऋतु भी बीती, जल-थल ने बर्फ़ की सफ़ेद चादर ओढ़ी, जल-पक्षियों की मालाएँ मैदानों की ओर उड़ती हुई दिखाई देने लगीं। यह मौसम भी गुज़रा। नदी-नालों में दूध की धारें बहने लगीं, चंद्रमा की स्वच्छ निर्मल ज्योति ज्ञानसागर में थिरकने लगी, परंतु पंडित श्रीधर की कुछ टोह न लगी।

विद्याधरी ने राजभवन त्याग दिया और एक पुराने, निर्जन मंदिर में तपस्विनियों की भाँति दिन काटने लगी। उस दुःखिया की दशा कितनी करुणाजनक थी, उसे देखकर मेरी आँखें भर आती थीं। वह मेरी प्यारी सखी थी। उसकी संगति में मेरे जीवन के कई वर्ष आनंद से व्यतीत हुए थे। उसका यह अपार दुःख देखकर अपना दुःख भूल गई। एक दिन वह था कि उसने अपने पातिव्रत के बल पर मनुष्य को पशु के रूप में परिणत कर दिया था और आज यह दिन है उसका पति भी उसे त्याग रहा है। किसी स्त्री के हृदय पर इससे अधिक लज्जाजनक, इससे अधिक प्राणघातक आघात नहीं लग सकता। उसकी तपस्या ने मेरे हृदय में उसे फिर उसी सम्मान-पद पर बिठा दिया। उसके सतीत्व पर फिर मेरी श्रद्धा हो गई, किंतु उससे कुछ पूछते या सांत्वना देते मुझे संकोच होता था। मैं डरती थी कि कहीं विद्याधरी यह न समझे कि मैं उससे बदला ले रही हूँ। कई महीनों के बाद जब विद्याधरी ने अपने हृदय का बोझ हलका करने के लिए स्वयं मुझसे यह वृत्तांत कहा, तो मुझे ज्ञात हुआ कि यह सब काँटे राजा रणधीरसिंह के बोए हुए थे। उन्हीं की प्रेरणा से रानीजी ने उसे पंडितजी के साथ जाने से रोका। उसके स्वभाव ने जो कुछ रंग बदला वह रानीजी ही की कुसंगति का फल था। उन्हीं की देखादेखी उसे बनाव-शृंगार की चाट पड़ी, उन्हीं के मना करने से उसने कंगन का भेद पंडितजी से छिपाया। ऐसी घटनाएँ स्त्रियों के जीवन में नित्य होती रहती हैं और उन्हें ज़रा भी शंका नहीं होती। विद्याधरी का पातिव्रत आदर्श था। इसलिए यह विचलता उसके हृदय में चुभने लगी। मैं यह नहीं कहती कि विद्याधरी कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुई, चाहे किसी के बहकाने से, चाहे अपने भोलेपन से, उसने कर्तव्य का सीधा रास्ता छोड़ दिया, परंतु पाप-कल्पना उसके दिल से कोसों दूर थी।

14

ऐ मुसाफ़िर, मैंने पंडित श्रीधर का पता लगाना शुरू किया। मैं उनकी मनोवृत्ति से परिचित थी। वह श्रीरामचंद्र के भक्त थे। कौशलपुरी की पवित्र भूमि और सरयू नदी के रमणीक तट उनके जीवन के सुख-स्वप्न थे। मुझे ख़याल आया कि संभव है, उन्होंने अयोध्या की राह ली हो। कहीं मेरे प्रयत्न से उनकी खोज मिल जाती और मैं उन्हें लाकर विद्याधरी के गले से मिला देती, तो मेरा जीवन सफल हो जाता। इस विरहिणी ने बहुत दुःख झेले हैं। क्या अब भी देवताओं को उस पर दया न आवेगी! एक दिन मैंने शेरसिंह से सलाह की और पाँच विश्वस्त मनुष्यों के साथ अयोध्या चली। पहाड़ों से नीचे उतरते ही रेल मिल गई। उसने हमारी यात्रा सुलभ कर दी। बीसवें दिन मैं अयोध्या पहुँच गई और एक धर्मशाला में ठहरी। फिर सरयू में स्नान करके श्रीरामचंद्र के दर्शन को चली। मंदिर के आँगन में पहुँची ही थी कि पंडित श्रीधर की सौम्य मूर्ति दिखाई दी। वह एक कुशासन पर बैठे रामायण का पाठ कर रहे थे और सहस्रों नर-नारी बैठे हुए उनकी अमृत-वाणी का आनंद उठा रहे थे।

पंडितजी की दृष्टि मुझ पर ज्यों ही पड़ी वह आसन से उठकर मेरे पास आए और बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। दो-ढाई घंटे तक उन्होंने मुझे उस मंदिर की सैर कराई। मंदिर की छत पर से सारा नगर शतरंज की बिसात की भाँति मेरे पैरों के नीचे फैला हुआ दिखाई देता था। मंदगामिनी वायु सरयू के तरंगों को धीरे-धीरे थपकियाँ दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो स्नेहमयी माता ने इस नगर को अपनी गोद में लिया हो। यहाँ से जब मैं अपने डेरे को चली, तो पंडितजी भी मेरे साथ आए। जब वह इत्मीनान से बैठे, तो मैंने कहा—"आपने तो हम लोगों से नाता ही तोड़ लिया।"

पंडितजी ने दुःखित होकर कहा—"विधाता की यही इच्छा थी, तो मेरा क्या वश। अब तो श्रीरामचंद्र की शरण आ गया हूँ और शेष जीवन उन्हीं की सेवा की भेंट करूँगा।"

मैं—"आप तो श्रीरामचंद्र की शरण आ गए हैं, उस अबला विद्याधरी को किसकी शरण छोड़ दिया है?"

पंडित.—"आपके मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते।"

मैंने उत्तर दिया—"विद्याधरी को मेरी सिफ़ारिश की आवश्यकता नहीं। अगर आपने उसके पातिव्रत पर संदेह किया है, तो आपसे ऐसा भीषण पाप हुआ है जिसका प्रायश्चित्त आप बार-बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकते। आपकी यह भक्ति इस अधर्म का निवारण नहीं कर सकती। आप क्या जानते हैं कि आपके वियोग में उस दुःखिया का जीवन कैसे कट रहा है।"

पंडितजी ने ऐसा मुँह बना लिया, मानो इस विषय में वह अंतिम शब्द कह चुके पर मैं इतनी आसानी से उनका पीछा क्यों छोड़ने लगी थी। मैंने सारी कथा आद्योपांत सुनाई और रणधीरसिंह की कपट-नीति का रहस्य खोल दिया। तब पंडितजी की आँखें

खुलीं। मैं वाणी में कुशल नहीं हूँ, किंतु उस समय सत्य और न्याय के पक्ष ने मेरे शब्दों को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो मेरी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हों। अब वह बातें याद आती हैं, तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। आख़िर विजय मेरे ही हाथ रही। पंडितजी मेरे साथ चलने को तैयार हो गए।

15

यहाँ आकर मैंने शेरसिंह को यहीं छोड़ा और पंडितजी के साथ अर्जुन-नगर चली। हम दोनों अपने विचारों में मग्न थे। पंडितजी की गर्दन शर्म से झुकी हुई थी; क्योंकि अब वह रूठनेवाले नहीं, मनानेवाले थे।

आज प्रणय के सूखे हुए धान में फिर पानी पड़ेगा, प्रेम की सूखी हुई नदी फिर उमड़ेगी!

जब हम विद्याधरी के द्वार पर पहुँचे, तो दिन चढ़ आया था। पंडितजी बाहर ही रुक गए थे। मैंने भीतर जाकर देखा, तो विद्याधरी पूजा पर थी, किंतु यह किसी देवता की पूजा न थी। देवता के स्थान पर पंडितजी की खड़ाऊँ रक्खी हुई थी। पातिव्रत का यह अलौकिक दृश्य देखकर मेरा हृदय पुलकित हो गया। मैंने दौड़कर विद्याधरी के चरणों पर सिर झुका दिया। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था और शोक ने कमर झुका दी थी।

विद्याधरी ने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया और बोली—"बहन, मुझे लज्जित न करो। खूब आई, बहुत दिनों से जी तुम्हें देखने को तरस रहा था।"

मैंने उत्तर दिया—"ज़रा अयोध्या चली गई थी।"

जब हम दोनों अपने देश में थीं, तो जब मैं कहीं जाती, तो विद्याधरी के लिए कोई-न-कोई उपहार अवश्य लाती। उसे यह बात याद आ गई। सजल-नयन होकर बोली—"मेरे लिए भी कुछ लाई?"

मैं—"एक बहुत अच्छी वस्तु लाई हूँ।"

विद्या.—"क्या है, देखूँ?"

मैं—"पहले बूझ जाओ।"

विद्या.—"सुहाग की पिटारी होगी।"

मैं—"नहीं, उससे अच्छी।"

विद्या.—"ठाकुरजी की मूर्ति।"

मैं—"नहीं, उससे भी अच्छी।"

विद्या.—"मेरे प्राणधार का कोई समाचार।"

मैं—"उससे भी अच्छा।"

विद्याधरी प्रबल आवेश से व्याकुल होकर उठी कि द्वार पर जाकर पति का स्वागत करे, किंतु निर्बलता ने मन की अभिलाषा न निकलने दी। तीन बार सँभली

और तीन बार गिरी। तब मैंने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया और आँचल से हवा करने लगी। उसका हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था और पति-दर्शन का आनंद आँखों से आँसू बनकर निकलता था।

जब ज़रा चित्त सावधान हुआ, तो उसने कहा–"उन्हें बुला लो, उनका दर्शन मुझे रामबाण हो जाएगा।"

ऐसा ही हुआ। ज्यों ही पंडितजी अंदर आए, विद्याधरी उठकर उनके पैरों से लिपट गई। देवी ने बहुत दिनों के बाद पति के दर्शन पाए हैं। अश्रु-धारा से उनके पैर पखार रही है।

मैंने वहाँ ठहरना उचित न समझा। इन दोनों प्राणियों के हृदय में कितनी ही बातें आ रही होंगी, दोनों क्या कहना और क्या-क्या सुनना चाहते होंगे, यह विचारकर मैं उठ खड़ी हुई और बोली–"बहन, अब मैं जाती हूँ, शाम को फिर आऊँगी।" विद्याधरी ने मेरी ओर आँखें उठाईं, पुतलियों के स्थान पर हृदय रक्खा हुआ था। दोनों आँखें आकाश की ओर उठाकर बोली–"ईश्वर तुम्हें इस यश का फल दें।"

16

ऐ मुसाफ़िर, मैंने दो बार पंडित श्रीधर को मौत के मुँह से बचाया था, किंतु आज का-सा आनंद मुझे कभी न प्राप्त हुआ था।

जब मैं ज्ञानसागर पर पहुँची, तो दोपहर हो आई थी। विद्याधरी की शुभकामना मुझसे पहले ही पहुँच चुकी थी। मैंने देखा कि कोई पुरुष गुफा से निकलकर ज्ञानसागर की ओर चला जाता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस समय यहाँ कौन आया। लेकिन जब वह समीप आ गया, तो मेरे हृदय में ऐसी तरंगें उठने लगीं, मानो वह छाती से बाहर निकल पड़ेगा। यह मेरे प्राणेश्वर, मेरे पतिदेव थे। मैं उनके चरणों पर गिरना ही चाहती थी कि उनका कर-पाश मेरे गले में पड़ गया।

पूरे दस वर्षों के बाद आज मुझे यह शुभ-दिन देखना नसीब हुआ। मुझे उस समय ऐसा जान पड़ता था कि ज्ञानसागर के कमल मेरे ही लिए खिले हैं, गिरिराज ने मेरे ही लिए फूल की शय्या बिछाई है, हवा मेरे ही लिए झूमती हुई आ रही है।

दस वर्षों के बाद मेरा उजड़ा हुआ घर बसा; गए हुए दिन लौटे। मेरे आनंद का अनुमान कौन कर सकता है।

मेरे पति ने प्रेम-करुण आँखों से देखकर कहा–"प्रियंवदा!"

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अप्रैल-जुलाई, 1910*)
(***'प्रेम-प्रसून', हिंदी कहानी-संग्रह 1924 से प्रस्तुत***)
(*'मानसरोवर'-6, 1946*)

शिकार

1

फटे वस्त्रोंवाली मुनिया ने रानी वसुधा के चाँद-से मुखड़े की ओर सम्मान-भरी आँखों से देखकर राजकुमार को गोद में उठाते हुए कहा—"हम ग़रीबों का इस तरह कैसे निबाह हो सकता है महारानी! मेरी तो अपने आदमी से एक दिन न पटे। मैं उसे घर में पैठने न दूँ। ऐसी-ऐसी गालियाँ सुनाऊँ कि छठी का दूध याद आ जाए।"

रानी वसुधा ने गंभीर विनोद के भाव से कहा—"क्यों, वह कहेगा नहीं, तू मेरे बीच में बोलनेवाली कौन है? मेरी जो इच्छा होगी वह करूँगा। तू अपना रोटी-कपड़ा मुझसे लिया कर। तुझे मेरी दूसरी बातों से क्या मतलब? मैं तेरा गुलाम नहीं हूँ।"

मुनिया तीन ही दिन से यहाँ लड़कों को खेलाने के लिए नौकर हुई थी। पहले दो-चार भले घरों में चौका-बरतन कर चुकी थी; पर रानियों से अदब के साथ बातें करना कभी न सीख पाई थी। उसका सूखा हुआ साँवला चेहरा उत्तेजित हो उठा। कर्कश स्वर में बोली—"जिस दिन ऐसी बातें मुँह से निकालेगा, मूँछें उखाड़ लूँगी सरकार! वह मेरा गुलाम नहीं है, तो क्या मैं उसकी लौंडी हूँ? अगर वह मेरा गुलाम है, तो मैं उसकी लौंडी हूँ। मैं आप नहीं खाती, उसे खिला देती हूँ; क्योंकि वह मर्द-बच्चा है, पल्लेदारी में उसे बहुत कसाला करना पड़ता है। आप चाहे फटे पहनूँ; पर उसे फटे-पुराने नहीं पहनने देती। जब मैं उसके लिए इतना करती हूँ, तो मजाल है, कि वह मुझे आँख दिखाए। अपने घर को आदमी इसीलिए तो छाता-छोपता है, कि उससे बर्खा-बूँदी में बचाव हो। अगर यह डर लगा रहे कि घर न जाने कब गिर पड़ेगा, तो ऐसे में कौन रहेगा। उससे तो रूख की छाँह कहीं अच्छी। कल न जाने कहाँ बैठा गाता-बजाता रहा। दस बजे रात को घर आया। मैं रात-भर उससे बोली ही नहीं। लगा पैरों पड़ने, घिघियाने, तब मुझे दया आ गई। यही मुझ में एक बुराई है। मुझसे उसकी रोनी सूरत नहीं देखी जाती। इसी से वह कभी-कभी बहक जाता है; पर अब मैं पक्की हो गई हूँ। फिर किसी दिन बगड़ा किया, तो वही रहेगा, या मैं ही रहूँगी। क्यों किसी की धौंस सहूँ सरकार! जो बैठकर खाय, वह धौंस सहे! यहाँ तो बराबर की कमाई करती हूँ।"

वसुधा ने उसी गंभीर-भाव से फिर पूछा—"अगर वह तुझे बैठकर खिलाता, तब तो उसकी धौंस सहती?"

मुनिया जैसे लड़ने पर उतारू हो गई। बोली—"बैठाकर कोई क्या खिलाएगा सरकार? मर्द बाहर काम करता है, तो हम भी घर में काम करती हैं कि घर के काम में कुछ लगता ही नहीं। बाहर के काम से तो रात को छुट्टी मिल जाती है पर घर के काम से तो रात को भी छुट्टी नहीं मिलती। पुरुष यह चाहे कि मुझे घर में बैठाकर आप सैर-सपाटा करे, तो मुझसे तो न सहा जाए।" यह कहती हुई मुनिया राजकुमार को लिए हुए बाहर चली गई।

वसुधा ने थकी हुई रुआँसी आँखों से खिड़की की ओर देखा। बाहर हरा-भरा बाग़ था, जिसके रंग-बिरंगे फूल यहाँ से साफ़ नज़र आ रहे थे और पीछे एक विशाल मंदिर आकाश में अपना सुनहला मस्तक उठाए, सूर्य्य से आँखें मिला रहा था। स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहने पूजन करने आ रही थीं। मंदिर के दाहिनी तरफ़ तालाब में कमल प्रभात के सुनहले आनंद से मुसकुरा रहे थे और कार्तिक की शीतल रवि-छवि जीवन-ज्योति लुटाती फिरती थी; पर प्रकृति की यह सुरम्य शोभा वसुधा को कोई हर्ष न प्रदान कर सकी। उसे जान पड़ा—प्रकृति उसकी दशा पर व्यंग्य से मुसकुरा रही है। उसी सरोवर के तट पर केवट का एक टूटा-फूटा झोपड़ा किसी अभागिनी वृद्धा की भाँति रो रहा था। वसुधा की आँखें सजल हो गईं। पुष्प और उन्माद के मध्य में खड़ा वह सूना झोंपड़ा उसके विलास और ऐश्वर्य से घिरे हुए मन का सजीव चित्र था। उसके जी में आया, जाकर झोंपड़े के गले लिपट जाऊँ और ख़ूब रोऊँ।

वसुधा को इस घर में आए पाँच वर्ष हो गए। पहले उसने अपने भाग्य को सराहा था। माता-पिता के छोटे-से कच्चे आनंदहीन घर को छोड़कर, वह एक विशाल भवन में आई थी, जहाँ संपत्ति उसके पैरों को चूमती हुई जान पड़ती थी। उस समय संपत्ति ही उसकी आँखों में सब कुछ थी। पति-प्रेम गौण-सी वस्तु थी; पर उसका लोभी मन संपत्ति पर संतुष्ट न रह सका। पति-प्रेम के लिए हाथ फैलाने लगा। कुछ दिनों उसे मालूम हुआ, मुझे पद-रत्न भी मिल गया; पर थोड़े ही दिनों में यह भ्रम जाता रहा। कुँअर गजराजसिंह रूपवान् थे, उदार थे, बलवान् थे, शिक्षित थे, विनोदप्रिय थे और प्रेम का अभिनय भी करना जानते थे; पर उनके जीवन में प्रेम से कंपित होनेवाला तार न था। वसुधा का खिला हुआ यौवन और देवताओं को लुभानेवाले रूप-रंग केवल विनोद का सामान था। घुड़दौड़ और शिकार, सट्टे और मकार जैसे सनसनी पैदा करनेवाले मनोरंजनों में प्रेम दबकर पीला और निर्जीव हो गया था और प्रेम से वंचित होकर वसुधा की प्रेम तृष्णा अब अपने भाग्य को रोया करती थी। दो पुत्र-रत्न पाकर भी वह सुखी न थी। कुँअर साहब एक महीने से ज़्यादा हुआ, शिकार खेलने गए और अभी तक लौटकर नहीं आए और यह ऐसा, पहला ही अवसर न था। हाँ, अब उनकी अवधि बढ़ गई थी। पहले वह एक सप्ताह में लौट आते थे, फिर दो सप्ताह का नंबर चला और अब कई बार एक-एक महीने की ख़बर लेने लगे। साल में तीन-चार महीने

शिकार की भेंट हो जाते थे। शिकार से लौटते, तो घुड़दौड़ का राग छिड़ता। कभी मेरठ, कभी पूना, कभी बंबई, कभी कलकत्ता। घर पर भी रहते, तो अधिकतर लंपट रईसज़ादों के साथ गप्पें उड़ाया करते। पति के यह रंग-ढंग देखकर वसुधा मन-ही-मन कुढ़ती और घुलती जाती थी। कुछ दिनों से हलका-हलका ज्वर भी रहने लगा था।

वसुधा बड़ी देर तक बैठी उदास आँखों से यह दृश्य देखती रही। फिर टेलीफोन पर आकर उसने रियासत के मैनेज़र से पूछा—"कुँअर साहब का कोई पत्र आया?"

फ़ोन ने जवाब दिया—"जी हाँ, अभी ख़त आया है। कुँअर साहब ने एक बहुत बड़े शेर को मारा है!"

वसुधा ने जलकर कहा—"मैं यह नहीं पूछती! आने को कब लिखा है?"

"आने के बारे में तो कुछ नहीं लिखा।"

"यहाँ से उनका पड़ाव कितनी दूर है?"

"यहाँ से! दो सौ मील से कम न होगा। पीलीभीत के जंगलों में शिकार हो रहा है।"

"मेरे लिए दो मोटरों का इंतजाम कर दीजिए, मैं आज वहाँ जाना चाहती हूँ।"

फ़ोन ने कई मिनट के बाद जवाब दिया—"एक मोटर तो वह साथ ले गए हैं। एक हाकिम ज़िला के बँगले पर भेज दी गई, तीसरी बैंक के मैनेज़र की सवारी में है। चौथी की मरम्मत हो रही है।"

वसुधा का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। बोली—"किसके हुक्म से बैंक के मैनेज़र और हाकिम-ज़िला को मोटरें भेजी गईं? आप दोनों मँगवा लीजिए। मैं आज ज़रूर जाऊँगी।"

"उन दोनों साहबों के पास हमेशा मोटरें भेजी जाती रहीं हैं; इसलिए मैंने भेज दीं। अब आप हुक्म दे रही हैं तो मँगवा लूँगा।"

वसुधा ने फ़ोन से आकर सफ़र का सामान ठीक करना शुरू किया। उसने उसी आवेश में आज अपने भाग्य-निर्णय का निश्चय कर लिया था। परित्यक्ता की भाँति पड़ी रहकर वह जीवन को समाप्त न करना चाहती थी। वह जाकर कुँअर साहब से कहेगी—अगर आप समझते हैं, कि मैं आपकी संपत्ति की लौंडी बनकर रहूँ, तो यह मुझसे न होगा। आपकी संपत्ति आपको मुबारक हो! मेरा अधिकार आपकी संपत्ति पर नहीं, आपके ऊपर है; अगर आप मुझसे जौ-भर हटना चाहते हैं, तो मैं आपसे हाथ भर हट जाऊँगी। इस तरह की और कितनी ही विराग-भरी बातें उसके मन में बगूलों की भाँति उठ रही थीं।

डॉक्टर साहब ने द्वार पर पुकारा—"मैं अंदर आऊँ?"

वसुधा ने नम्रता से कहा—"आज क्षमा कीजिए, मैं ज़रा पीलीभीत जा रही हूँ।"

डॉक्टर ने आश्चर्य से कहा—"आप पीलीभीत जा रही हैं! आपका ज्वर बढ़ जाएगा। इस दशा में मैं आपको जाने की सलाह न दूँगा।"

वसुधा ने विरक्त-स्वर में कहा—"बढ़ जाएगा, बढ़ जाए; मुझे इसकी चिंता नहीं है!"

वृद्ध डॉक्टर परदा उठाकर अंदर आ गया और वसुधा के चेहरे की ओर ताकता हुआ बोला—"लाइए मैं टेम्परेचर ले लूँ; अगर टेम्परेचर बढ़ा होगा, तो मैं आपको हरग़िज न जाने दूँगा।"

"टेम्परेचर लेने की ज़रूरत नहीं। मेरा इरादा पक्का हो गया है।"

"स्वास्थ्य पर ध्यान रखना आपका पहला कर्तव्य है।"

वसुधा ने मुसकुराकर कहा—"आप निश्िंचत रहिए, मैं इतनी जल्द मरी नहीं जा रही हूँ। फिर अगर किसी बीमारी की दवा मौत ही हो, तो आप क्या करेंगे।"

डॉक्टर ने दो-एक बार और आग्रह किया। फिर विस्मय से सिर हिलाता चला गया।

2

रेलगाड़ी से जाने में आख़िरी स्टेशन से दस कोस तक जंगली सुनसान रास्ता तय करना पड़ता था; इसलिए कुँअर साहब बराबर मोटर ही पर जाते थे। वसुधा ने भी उसी मार्ग से जाने का निश्चय किया था। दस बजते-बजते दोनों मोटरें आईं। वसुधा ने ड्राइवरों पर गुस्सा उतारा—"अब अगर मेरे हुक्म के बग़ैर कहीं मोटर ले गए, तो मोटर का किराया तुम्हारी तलब से काट लूँगी। अच्छी दिल्लगी है! घर की रोएँ, बन की गाएँ! हमने अपने आराम के लिए मोटरें रक्खी हैं, किसी की ख़ुशामद करने के लिए नहीं। जिसे मोटर पर सवार होने का शौक़ हो, मोटर खरीदे, यह नहीं, कि हलवाई की दूकान देखी और दादे का फ़ातिहा पढ़ने बैठ गए।"

वह चली, तो दोनों बच्चे कुनमुनाए; मगर जब मालूम हुआ, कि अम्मा बड़ी दूर हौवा को मारने जा रही हैं, तो उनका यात्रा-प्रेम ठंडा पड़ा। वसुधा ने आज सुबह से उन्हें प्यार न किया था। उसने जलन में सोचा—मैं ही क्यों इन्हें प्यार करूँ, क्या मैंने ही इनका ठेका लिया है! वह तो वहाँ जाकर चैन करें और मैं यहाँ इन्हें छाती से लगाए बैठी रहूँ; लेकिन चलते समय माता का हृदय पुलक उठा। दोनों को बारी-बारी से गोद में लिया, चूमा, प्यार किया और घंटे-भर में लौट आने का वचन देकर वह सजल लेत्रों के साथ घर से निकली। मार्ग में भी उसे बच्चे की याद बार-बार आती रही। रास्ते में कोई गाँव आ जाता और छोट-छोटे बालक मोटर की दौड़ देखने के लिए घरों से निकल आते और सड़क पर खड़े होकर तालियाँ बजाते हुए मोटर का स्वागत करते, तो वसुधा का जी चाहता, इन्हें गोद में उठाकर प्यार कर लूँ। मोटर जितने वेग से आगे जा रही थी, उतने ही वेग से उसका मन सामने के वृक्ष-समूहों के साथ पीछे की ओर उड़ा जा रहा था। कई बार इच्छा हुई, घर लौट चलूँ। जब उन्हें मेरी रत्ती-भर परवाह नहीं है, तो मैं ही क्यों उनकी फ़िक्र में प्राण दूँ? जी चाहे आवें, या न आवें; लेकिन

एक बार पति से मिलकर उनसे खरी-खरी बातें करने के प्रलोभन को वह न रोक सकी। सारी देह थक कर चूर-चूर हो रही थी, ज्वर भी हो आया था, सिर पीड़ा से फटा पड़ता था; पर वह संकल्प से सारी बाधाओं को दबाए आगे बढ़ती जाती थी। यहाँ तक कि जब वह दस बजे रात को जंगल के उस डाक-बँगले में पहुँची, तो उसे तन-वदन की सुधि न थी। ज़ोर का ज्वर चढ़ा हुआ था।

3

शोफ़र की आवाज़ सुनते ही कुँअर साहब निकल आए और पूछा–"तुम यहाँ कैसे आए जी? कुशल तो है?"

शोफ़र ने समीप आकर कहा–"रानी साहब आई हैं हुजूर! रास्ते में बुखार हो आया। बेहोश पड़ी हुई हैं।"

कुँअर साहब ने वहीं खड़े कठोर स्वर में पूछा–"तो तुम उन्हें वापस क्यों न ले गए? क्या तुम्हें मालूम नहीं था, यहाँ कोई वैद्य-हकीम नहीं है?"

शोफ़र ने सिटपिटा कर जवाब दिया–"हुज़ूर, वह किसी तरह मानती ही न थीं, तो मैं क्या करता?"

कुँअर साहब ने डाँटा, "चुप रहो, बातें न बनाओ! तुमने समझा होगा, शिकार की बहार देखेंगे और पड़े-पड़े सोएँगे। तुमने वापस चलने को कहा ही न होगा।

शोफ़र–"वह मुझे डाँटती थीं हुज़ूर?"

"तुमने कहा था?"

"मैंने कहा तो नहीं हुजूर!"

"बस तो चुप रहो। मैं तुमको भी पहचानता हूँ। तुम्हें मोटर लेकर इसी वक़्त लौटना पड़ेगा। और कौन-कौन साथ है?"

शोफ़र ने दबी हुई आवाज में कहा–"एक मोटर पर बिस्तर और कपड़े हैं। एक पर खुद रानी साहब हैं।"

"यानी और कोई साथ नहीं है?"

"हुज़ूर! मैं तो हुक्म का तावेदार हूँ।"

"बस, चुप रहो!"

यों झल्लाते हुए कुँवर साहव वसुधा के पास गए और आहिस्ता से पुकारा। जब कोई जवाब न मिला, तो उन्होंने धीरे से उसके माथे पर हाथ रक्खा। सिर गर्म तवा हो रहा था। उस ताप ने मानो उनकी सारी क्रोध-ज्वाला को खींच लिया। लपक कर बँगले में आए, सोए हुए आदमियों को जगाया, पलंग बिछवाया, अचेत वसुधा को गोद में उठाकर कमरे में लाए और पलंग पर लेटा दिया। फिर उसके सिरहाने खड़े होकर उसे व्यथित नेत्रों से देखने लगे। उस धूल से भरे मुखमंडल पर बिखरे हुए रज-रंजित केशों में आज उन्होंने आग्रहमय प्रेम की झलक देखी। अब तक वसुधा को विलासिनी के रूप में देखा था, जिसे उनके प्रेम की परवाह न थी, जो अपने वनाव-सिंगार ही में

मगन थी, आज धूल के पौडर और पोमेड में वह उसके नारीत्व का दर्शन कर रहे थे। उसमें कितना आग्रह था, कितनी लालसा थी, अपनी उड़ान के आनंद में डूबी हुई; अब वह पिंजरे के द्वार पर आकर पंख फड़फड़ा रही थी। पिंजरे का द्वार खुल कर क्या उसका स्वागत न करेगा?

रसोइए ने पूछा—"क्या सरकार अकेले आई हैं?"

कुँअर साहब ने कोमल कंठ से कहा—"हाँ जी, और क्या। इतने आदमी हैं, किसी को साथ न लिया। आराम से रेलगाड़ी से आ सकती थीं। यहाँ से मोटर भेज दी जाती। मन ही तो है। कितने ज़ोर का बुखार है कि हाथ न रक्खा जाता। ज़रा-सा पानी गर्म करो और देखो कुछ खाने को बना लो।"

रसोइये ने ठकुरसुहाती की—"सौ कोस की दौड़ बहुत होती है सरकार! सारा दिन बैठे-बैठे बीत गया।"

कुँअर साहब ने वसुधा के सिर के नीचे तकिया सीधा करके कहा—"कचूमर तो हम लोगों का निकल जाता है। दो दिन तक कमर नहीं सीधी होती, फिर इनकी क्या बात है। ऐसी बेहूदा सड़क दुनिया में न होगी।"

यह कहते हुए उन्होंने एक शीशी से तेल निकाला और वसुधा के सिर में मलने लगे।

4

वसुधा का ज्वर इक्कीस दिन तक न उतरा। घर से डॉक्टर आए। दोनों बालक, मुनिया, नौकर-चाकर, सभी आ गए। जंगल में मंगल हो गया।

वसुधा खाट पर पड़े-पड़े कुँअर साहब की शुश्रूषाओं में अलौकिक आनंद और संतोष को अनुभव किया करती। वह जो पहर दिन चढ़े तक सोने के आदी थे, कितने सबेरे उठते, उसके पथ्य और आराम की ज़रा-ज़रा-सी बातों का कितना ख़याल रखते। ज़रा देर के लिए स्नान और भोजन करने जाते, फिर आकर बैठ जाते। एक तपस्या-सी कर रहे थे। उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जाता था, चेहरे पर वह स्वास्थ्य की लाली न थी। कुछ व्यस्त से रहते थे।

एक दिन वसुधा ने कहा—"तुम आज-कल शिकार खेलने क्यों नहीं जाते? मैं तो शिकार खेलने ही आई थी; मगर न जाने किस बुरी साइत में चली कि तुम्हें इतनी तपस्या करनी पड़ गई। अब मैं बिलकुल अच्छी हूँ। ज़रा आईने में अपनी सूरत तो देखो!"

कुँअर साहब को इतने दिनों शिकार का कभी ध्यान ही न आया था। इसकी चर्चा ही न होती थी। शिकारियों का आना-जाना, मिलना-जुलना बंद था। एक बार साथ के एक शिकारी ने किसी शेर का ज़िक्र किया था। कुँवर साहब ने उसकी ओर कुछ ऐसी कड़वी आँखों से देखा कि वह सूख-सा गया। वसुधा के पास बैठने, उससे कुछ बातें करके उसका मन बहलाने, दवा और पथ्य बनाने ही में उन्हें आनंद मिलता

था। उनका भोग-विलास जीवन के इस कठोर व्रत में जैसे बुझ गया। वसुधा की एक हथेली पर अँगुलियों से रेखा खींचने में मग्न थे। शिकार की बात किसी और के मुँह से सुनी होती, तो फिर उसी आग्नेय नेत्रों से देखते। वसुधा के मुँह से यह चर्चा सुनकर उन्हें दुःख हुआ। वह उन्हें इतना शिकार का आसक्त समझती है! आमर्ष-भरे स्वर में बोले—"हाँ, शिकार खेलने का इससे अच्छा और कौन अवसर मिलेगा!"

वसुधा ने आग्रह किया—"मैं तो अब अच्छी हूँ, सच! देखो (आईने की ओर दिखाकर) मेरे चेहरे पर वह पीलापन नहीं रहा। तुम अलबत्ता बीमार से होते जाते हो। ज़रा मन बहल जाएगा। बीमार के पास बैठने से आदमी सचमुच बीमार हो जाता है।"

वसुधा ने साधारण-सी बात कही थी; पर कुँअर साहब के हृदय पर वह चिनगारी के समान लगी। इधर वह अपने शिकार के ख़ब्त पर कई बार पछता चुके थे। अगर वह शिकार के पीछे यों न पड़ते, तो वसुधा यहाँ क्यों आती और क्यों बीमार पड़ती। उन्हें मन-ही-मन इसका बड़ा दुःख था। इस वक़्त कुछ न बोले। शायद कुछ बोला ही न गया। फिर वसुधा की हथेली पर रेखाएँ बनाने लगे।

वसुधा ने उसी सरल भाव से कहा—"अब की तुमने क्या-क्या तोहफ़े जमा किए, ज़रा मँगाओ, देखूँ। उनमें जो सबसे अच्छा होगा, उसे मैं ले लूँगी। अबकी मैं भी तुम्हारे साथ शिकार खेलने चलूँगी। बोलो, मुझे ले चलोगे न? मैं नहीं मानूँगी। बहाने मत करने लगना।"

अपने शिकारी तोहफ़े दिखाने का कुँअर साहब को मरज़ था। सैकड़ों ही खालें जमा कर रक्खी थीं। उनके कई कमरों में फर्श, गद्दे, कोच, कुर्सियाँ, मोढ़े, सब खालों ही के थे। ओढ़ना और बिछौना भी खालों ही का था। बाघंबरों के कई सूट बनवा रक्खे थे। शिकार में वही सूट पहनते थे। अब की भी बहुत से सींग, सिर, पंजे, खालें जमा कर रक्खी थीं। वसुधा का इन चीज़ों से अवश्य मनोरंजन होगा। यह न समझे कि वसुधा ने सिंहद्वार से प्रवेश न पाकर चोर दरवाज़े से घुसने का प्रयत्न किया है। जाकर वह चीज़ें उठवा लाए; लेकिन आदमियों को परदे की आड़ में खड़ा करके पहले अकेले ही उसके पास गए। डरते थे, कहीं मेरी उत्सुकता वसुधा को बुरी न लगे।

वसुधा ने उत्सुक होकर पूछा—"चीज़ें नहीं लाए?"

"लाया हूँ; मगर कहीं डॉक्टर साहब नाराज न हों।"

"डॉक्टर ने पढ़ने-लिखने को मना किया था।"

तोहफ़े लाए गए। कुँअर साहब एक-एक चीज़ निकाल कर दिखाने लगे। वसुधा के चेहरे पर हर्ष की ऐसी लाली हफ्तों से न दिखी थी, जैसे कोई बालक तमाशा देखकर मगन हो रहा हो। बीमारी के बाद हम बच्चों की तरह ज़िद्दी, उतने ही आतुर, उतने ही सरल हो जाते हैं। जिन किताबों में कभी मन न लगा हो, वह बीमारी के बाद पढ़ी जाती हैं। वसुधा जैसे उल्लास की गोद में खेलने लगी। चीतों की खालें थीं, बाघों की, मृगों की, शेरों की। वसुधा हरेक खाल को नई उमंग से देखती, जैसे वायस्कोप के एक चित्र के बाद दूसरा चित्र आ रहा हो। कुँअर साहब एक-एक तोहफ़े का

इतिहास सुनाने लगे। यह जानवर कैसे मारा गया, उसके मारने में क्या-क्या बाधाएँ पड़ीं, क्या-क्या उपाय करने पड़े, पहले कहाँ गोली लगी, आदि।

वसुधा हरेक की कथा आँखें फाड़-फाड़ कर सुन रही थी। इतना सजीव, स्फूर्तिमय आनंद उसे आज तक किसी कविता, संगीत या आमोद में भी न मिला था। सबसे सुंदर एक सिंह की खाल थी। वही उसने छाँटी।

कुँअर साहब की यह सबसे बहुमूल्य वस्तु थी। इसे अपने कमरे में लटकाने को रक्खे हुए थे। बोले—"तुम बाघंबरों में से कोई ले लो। यह तो कोई अच्छी चीज़ नहीं।"

वसुधा ने खाल को अपनी ओर खींच कर कहा—"रहने दीजिए अपनी सलाह। मैं ख़राब ही लूँगी।"

कुँअर साहब ने जैसे अपनी आँखों से आँसू पोंछ कर कहा—"तुम वही ले लो, मैं तुम्हारे ख़याल से कह रहा था। मैं फिर वैसा ही मार लूँगा।"

"तो तुम मुझे चकमा क्यों देते थे?"

"चकमा कौन देता था?"

"अच्छा खाओ मेरे सिर की क़सम, कि यह सबसे सुंदर खाल नहीं है?"

कुँअर साहब ने हार की हँसी हँसकर कहा—"कसम क्यों खाएँ, इस एक खाल के लिए? ऐसी-ऐसी एक लाख खालें हों, तो तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर दूँ।"

जब शिकारी सब खालें लेकर चला गया, तो कुँअर साहब ने कहा—"मैं इस खाल पर काले ऊन से अपना समर्पण लिखूँगा।"

वसुधा ने थकन से पलंग पर लेटते हुए कहा—"अब मैं भी शिकार खेलने चलूँगी।"

फिर वह सोचने लगी, वह भी कोई शेर मारेगी और उसकी खाल पतिदेव की भेंट करेगी। उस पर लाल ऊन से लिखा जाएगा—"प्रियतम!"

जिस ज्योति के मंद पड़ जाने से हरेक व्यापार, हरेक व्यंजन पर अंधकार-सा छा गया था, वह ज्योति अब प्रदीप्त होने लगी थी।

5

शिकारों का वृत्तांत सुनने की वसुधा को चाट-सी पड़ गई। कुँअर साहब को कई-कई बार अपने अनुभव सुनाने पड़े। उसका सुनने से जी ही नहीं भरता था। अब तक कुँअर साहब का संसार अलग था, जिसके दुःख-सुख, हानि-लाभ, आशा-निराशा से वसुधा को कोई सरोकार न था। वसुधा को इस संसार के व्यापार से कोई रुचि न थी; बल्कि अरुचि थी। कुँअर साहब इस पृथक् संसार की बातें उससे छिपाते थे; पर अब वसुधा उनके इस संसार में एक उज्ज्वल प्रकाश, एक वरदानों वाली देवी के समान अवतरित हो गई थी।

एक दिन वसुधा ने आग्रह किया—"मुझे बंदूक़ चलाना सिखा दो।"

डॉक्टर साहब की अनुमति मिलने में विलंब न हुआ। वसुधा स्वस्थ हो गई थी। कुँअर साहब ने शुभ मुहूर्त में उसे दीक्षा दी। उस दिन से जब देखो वृक्षों की छाँह में खड़ी निशाने का अभ्यास कर रही है और कुँअर साहब खड़े उसकी परीक्षा ले रहे हैं।

जिस दिन उसने पहली चिड़िया मारी, कुँअर साहब हर्ष से उछल पड़े। नौकरों को इनाम दिए गए, ब्राह्मणों को दान दिया गया। इस आनंद की शुभ स्मृति में उस पक्षी की ममी बनाकर रखी गई।

वसुधा के जीवन में एक नया उत्साह, एक नया उल्लास, एक नई आशा थी। पहले की भाँति उसका वंचित हृदय अशुभ कल्पनाओं से त्रस्त न था। अब उसमें विश्वास था, बल था, अनुराग था।

6

कई दिनों के बाद वसुधा की साध पूरी हुई। कुँअर साहब उसे साथ लेकर शिकार खेलने पर राजी हुए और शिकार था शेर का और शेर भी वह, जिसने इधर एक महीने से आस-पास के गाँवों में तहलका मचा दिया था।

चारों तरफ़ अंधकार था, ऐसा सघन कि पृथ्वी उसके भार से कराहती हुई जान पड़ती थी। कुँअर साहब और वसुधा एक ऊँचे मचान पर बंदूकें लिए, दम साधे बैठे हुए थे। यह बहुत भयंकर जंतु था। अभी पिछली रात को वह एक सोते हुए आदमी को खेत में मचान पर से खींच कर ले भागा था। उसकी चालाकी पर लोग दाँतों अँगुली दबाते थे। मचान इतना ऊँचा था कि चीता उछलकर न पहुँच सकता था। हाँ, उसने यह देख लिया कि वह आदमी मचान पर बाहर की तरफ़ सिर किए सो रहा है। दुष्ट को एक चाल सूझी। वह पास के गाँव में गया और वहाँ से एक लंबा बाँस उठा लाया। बाँस के एक सिर को उसने दाँतों से कुचला और जब उसकी कूँची -सी बन गई, तो उसे न जाने अगले पंजों या दाँतों से उठाकर सोनेवाले आदमी के बालों में फिराने लगा। वह जानता था बाल बाँस के रेशों में फँस जाएँगे। एक झटके में वह अभागा आदमी नीचे आ रहा। इसी मानस-भक्षी चीते की घात में दोनों शिकारी बैठे हुए थे। नीचे कुछ दूर पर भैंसा बाँध दिया गया था और शेर के आने की राह देखी जा रही थी। कुँअर साहब शांत थे; पर वसुधा की छाती धड़क रही थी। ज़रा-सा पत्ता भी खड़कता, तो वह चौंक पड़ती और बंदूक सीधी करने के बदले चौंककर कुँअर साहब से चिपट जाती। कुँअर साहब बीच-बीच में हिम्मत बँधाते जाते थे।

"ज्यों ही भैंसे पर आया, मैं उसका काम तमाम कर दूँगा। तुम्हारी गोली की नौबत ही न आने पावेगी।"

वसुधा ने सिहरकर कहा—"और जो कहीं निशाना चूक गया तो उछलेगा?"

"तो फिर दूसरी गोली चलेगी। तीनों बंदूकें तो भरी तैयार रक्खी हैं। तुम्हारा जी घबड़ाता तो नहीं?"

"बिलकुल नहीं। मैं तो चाहती हूँ, पहला मेरा निशाना होता।"

पत्ते खड़खड़ा उठे। वसुधा चौंक कर पति के कंधों से लिपट गई। कुँअर साहब ने उसकी गर्दन में हाथ डालकर कहा—"दिन मज़बूत करो प्रिये।"

वसुधा ने लज्जित होकर कहा—"नहीं-नहीं, मैं डरती नहीं, ज़रा चौंक पड़ी थी।"

सहसा भैंसे के पास दो चिनगारियाँ-सी चमक उठीं। कुँअर साहब ने धीरे से वसुधा का हाथ दबाकर शेर के आने की सूचना दी और सतर्क हो गए। जब शेर भैंसे पर आ गया, तो उन्होंने निशाना मारा। खाली गया। दूसरा फैर किया। चीता ज़ख्मी तो हुआ; पर गिरा नहीं। क्रोध से पागल होकर इतने जोर से गरजा कि वसुधा का कलेजा दहल उठा। कुँअर साहब ने तीसरा फैर करने जा रहे थे कि चीते ने मचान पर जस्त मारी। उसके अगले पंजों के धक्के से मचान ऐसा हिला कि कुँअर साहब हाथ में बंदूक लिए झोंके से नीचे गिर पड़े। कितना भीषण अवसर था! अगर एक पल का भी विलंब होता, तो कुँअर साहब की ख़ैरियत न थी। शेर की जलती हुई आँखें वसुधा के सामने चमक रही थीं। उसकी दुर्गंधमय साँस देह में लग रही थी। हाथ-पाँव फूले हुए थे। आँतें भीतर को सिकुड़ी जा रही थीं; पर इस ख़तरे ने जैसे उसकी नाड़ियों में बिजली भर दी। उसने अपनी बंदूक सँभाली। शेर के और उसके बीच में दो हाथ से ज़्यादा अंतर न था। वह उचक कर आया ही चाहता था कि वसुधा ने बंदूक की नली उसकी आँखों में डालकर बंदूक छोड़ी। धायँ! शेर के पंजे ढ़ीले पड़े। नीचे गिर पड़ा। अब समस्या और भीषण थी। शेर से तीन ही चार क़दम पर कुँअर साहब गिरे थे। शायद चोट ज़्यादा आई हो। शेर में अगर अभी दम है, तो वह उन पर ज़रूर वार करेगा। वसुधा के प्राण आँखों में थे और कलाइयों में। इस वक़्त कोई उसकी देह में भाला भी चुभा देता, तो उसे ख़बर न होती। वह अपने होश में न थी। उसकी मूर्च्छा ही चेतना का काम कर रही थी। उसने बिजली की बत्ती जलाई। देखा शेर उठने की चेष्टा कर रहा है। दूसरी गोली सिर पर मारी और उसके साथ ही रिवाल्वर लिए नीचे कूदी। शेर ज़ोर से गुर्राया। वसुधा ने उसके मुँह के सामने रिवाल्वर खाली कर दिया। कुँअर साहब सँभल कर खड़े हो गए। दौड़ कर उसे छाती से चिपटा लिया। अरे! यह क्या! वसुधा बेहोश थी। भय उसके प्राणों को मुट्ठी में लिए उसकी आत्म-रक्षा कर रहा था। भय के शांत होते ही मूर्च्छा आ गई।

7

तीन घंटों के बाद वसुधा की मूर्च्छा टूटी। उसकी चेतना अब भी उसी भय-प्रद परिस्थितियों में विचर रही थी। उसने धीरे से डरते-डरते, आँखें खोलीं। कुँअर साहब ने पूछा—"कैसा जी है प्रिये!"

वसुधा ने उनकी रक्षा के लिए दोनों हाथों का घेरा बनाते हुए कहा—वहाँ से हट जाओ। ऐसा न हो झपट पड़े।"

कुँअर साहब ने हँस कर कहा—"शेर कब का ठंडा हो गया। वह बरामदे में पड़ा है। ऐसे डील-डौल का और इतना भयंकर सिंह मैंने नहीं देखा।"

वसुधा—"तुम्हें चोट तो नहीं आई?"

कुँअर—"बिलकुल नहीं। तुम कूद क्यों पड़ी? पैरों में बड़ी चोट आई होगी। तुम जीती कैसे बचीं, यह आश्चर्य है। मैं तो इतनी ऊँचाई से कभी न कूद सकता।"

वसुधा ने चकित होकर कहा—"मैं! मैं कहाँ कूदी? शेर मचान पर आया, इतना याद है। इसके बाद क्या हुआ, मुझे कुछ याद नहीं।"

कुँअर को भी विस्मय हुआ—"वाह! तुमने उस पर दो गोलियाँ चलाईं। जब वह नीचे गिरा, तो तुम भी कूद पड़ीं और उसके मुँह में रिवाल्वर की नली ठूँस दी। बस वहीं ठंडा हो गया। बड़ा बेहया जानवर था; अगर तुम चूक जातीं तो वह नीचे आते ही मुझ पर ज़रूर चोट करता। मेरे पास तो छुरी भी न थी। बंदूक हाथ से छूट कर दूसरी तरफ़ गिर गई थी। अँधेरे में कुछ सुझाई न देता था। तुम्हारे ही प्रसाद से इस वक़्त मैं यहाँ खड़ा हूँ। तुमने मुझे प्राण-दान दिया।"

दूसरे दिन प्रातःकाल यहाँ से कूच हुआ।

जो घर वसुधा को फाड़े खाता था, उसमें आज जाकर ऐसा आनंद आया, जैसे किसी बिछुड़े मित्र से मिली हो। हरेक़ वस्तु उसका स्वागत करती हुई मालूम होती थी। जिन नौकरों और लौंडियों से वह महीनों से सीधे मुँह न बोली थी, उनसे वह आज हँस-हँस कर कुशल पूछती और गले मिलती थी, जैसे अपनी पिछली रुखाइयों की पटौती कर रही हो।

संध्या का सूर्य आकाश के स्वर्ण-सागर में अपनी नौका खेता हुआ चला जा रहा था। वसुधा खिड़की के सामने कुरसी पर बैठकर सामने का दृश्य देखने लगी। उस दृश्य में आज जीवन था, विकास था, उन्माद था। केवट का वह सूना झोपड़ा भी आज कितना सुहावना लग रहा था। प्रकृति में मोहिनी भरी हुई थी।

मंदिर के सामने मुनिया राजकुमारों को खेला रही थी। वसुधा के मन में आज कुलदेव के प्रति श्रद्धा जागृत हुई, जो बरसों से पड़ी सो रही थी। उसने पूजा के सामान मँगवाए और पूजा करने चली। आनंद से भरे भंडार से अब वह कुछ दान भी कर सकती थी। जलते हुए हृदय से ज्वाला के सिवा और क्या निकलता।

उसी वक़्त कुँअर साहब आकर बोले—"अच्छा, पूजा करने जा रही हो। मैं भी वहीं जा रहा था। मैंने एक मनौती मान रक्खी है।"

वसुधा ने मुसकराती हुई आँखों से पूछा—"कैसी मनौती है?"

कुँअर साहब ने हँसकर कहा—"यह न बताऊँगा।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जून, 1910)
('हंस', जुलाई-अगस्त, 1931 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'–1, 1936)

रानी सारंधा

1

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चटानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी, जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहिने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रक्खा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुंदेला सरदार के कीर्ति चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुंदेलखंड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आए और गए, बुँदेला राजे उठे और गिरे, कोई गाँव, कोई इलाका, ऐसा न था, जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो, मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह ज़माना ही ऐसा था, जब प्राणी मात्र को अपने बाहुबल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाए खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान् राजे अपने निर्बल भाइयों के गला घोटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव दल था। इसी से वह अपने कुल और मर्य्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतला देवी से हुआ, मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की ख़ैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिर कर रोई थी, कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो, मुझे तुम्हारे साथ वनवास अच्छा है, यह वियोग अब नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, जिद्द से कहा, विनय की मगर अनिरुद्ध बुंदेला था। शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

2

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी, मगर तारे आकाश पर जागते थे। शीतला देवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारंधा फर्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी–

बिन रघुवीर कटत नहिं रैन।

शीतला ने कहा–"जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?"

सारंधा–"तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।"

शीतला–"मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।"

सारंधा–"किसी को ढूँढ़ने गई होगी।"

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भींगे हुए थे और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतरकर ज़मीन पर बैठ गई।

सारंधा ने पूछा–"भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं?"

अनिरुद्ध–"नदी तैर कर आया हूँ?"

सारंधा–"हथियार क्या हुए?"

अनिरुद्ध–"छिन गए।"

सारंधा–"और साथ के आदमी?"

अनिरुद्ध–"सबने वीरगति पाई।"

शीतला ने दबी ज़बान से कहा–"ईश्वर ने ही कुशल किया–"

मगर सारंधा के तीवरों पर बल पड़ गए और मुखमंडल गर्व से तेज़ हो गया। बोली–"भैया! तुमने कुल की मर्य्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।"

सारंधा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण-भर के लिए अनुराग ने दबा दिया था, फिर ज्वलंत हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि "सारंधा! तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बातें मुझे कभी न भूलेंगी।"

अँधेरी रात थी। आकाश मंडल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पल-भर में नदी के उस पार जा पहुँचा, और फिर अंधकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे क़िले की दीवारों तक आई, मगर अब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारंधा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा–"मर्य्यादा इतनी प्यारी है!"

CENT

सारंधा—“हाँ।”

शीतला—“अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेतीं।”

सारंधा—“न-छाती में छुरी चुभा देती।”

शीतला ने ऐंठ कर कहा—“डोली में छिपाती फिरोगी—मेरी बात गिरह में बाँध लो।”

सारंधा—“जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।”

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौना को विजित करके लौटा और साल-भर पीछे सारंधा का विवाह ओरछा के राजा चंपतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

3

राजा चंपतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुँदेला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उसने मुग़ल बादशाहों को कर देना बंद कर दिया और अपने बाहुबल से राज्यविस्तार करने लगा। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उस पर हमले करती थीं और हार कर लौट जाती थीं।

यही समय था जब अनिरुद्ध ने सारंधा का चंपतराय से विवाह कर दिया। सारंधा ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुलतिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारंधा है।

परंतु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चंपतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। उसने अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपा और आप देहली को चला गया। यह शाहजहाँ के शासनकाल का अंतिम भाग था। शाहज़ादा दाराशिकोह राजकीय कार्य्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील थी और चित्त में उदारता। उन्होंने चंपतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उसका बहुत आदर, सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उसको भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चंपतराय को आए दिन की लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति हुई और इसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद के चर्चे रहने लगे। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं, मगर सारंधा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चंपतराय ने सारंधा से कहा—“सारन! तुम उदास क्यों रहती हो? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज़ हो?”

सारंधा की आँखों में जल भर आए। बोली—"स्वामीजी! आप क्यों ऐसा विचार करते हैं। जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी ख़ुश हूँ।"

चंपतराय—"मैं जबसे यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुखकमल पर कभी मनोहारिणी मुसकुराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाए। कहीं प्रेम-लता मुरझाने तो नहीं लगी?"

सारंधा—"प्राणनाथ! आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं कि जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि ख़ुश रहूँ, मगर एक बोझा-सा हृदय पर धरा रहता है।"

चंपतराय स्वयं आनंद में मग्न थे। इसलिए सारंधा को उनके विचार में असंतुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़ कर बोले—"मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछा में कौन-सा सुख था, जो यहाँ नहीं है?"

सारंधा का चेहरा लाल हो गया। बोली—"मैं कुछ कहूँ, आप नाराज़ तो न होंगे?"

चंपतराय—"नहीं। शौक से कहो।"

सारंधा—"ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछा में वह थी जो अवध में कौसल्या थी, परंतु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से शीश झुकाते हैं वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्नचित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों में मोल ली हैं।"

चंपतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारंधा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे-माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चंपतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदरयुक्त अनुराग के साथ सारंधा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फ़िक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

4

माँ अपने खोए हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चंपतराय के आने से बुंदेलखंड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं और फिर सारंधा के कमल नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखलाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गए। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाहज़ादाओं में पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी; यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचंड हुई। संग्राम

की तैयारियाँ होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे, नदी-नाले उमड़े हुए थे, पर्वत और वन हरी-हरी घास से लहरा रहे थे। उर्वरा रंगबिरंग रूप भरकर अपने सौंदर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए क़दम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चंबल के तट पर आ पहुँचे, परंतु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शहज़ादे अब बड़ी चिंता में पड़े। सामने अगम नदी लहरें मार रही थी, लोभ से भी अधिक विस्तारवाली। घाट पर लोहे की दीवार खड़ी थी, किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश होकर चंपतराय के पास सँदेशा भेजा कि ख़ुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारंधा से पूछा—"इसका क्या उत्तर दूँ?"

सारंधा—"आपको मदद करनी होगी।"

चंपतराय—"उनकी मदद करना दाराशिकोह से बैर लेना है।"

सारंधा—"यह सत्य है, परंतु हाथ फैलाने की मर्य्यादा भी तो निभानी चाहिए।"

चंपतराय—"प्रिये! तुमने सोच कर जवाब नहीं दिया।"

सारंधा—"प्राणनाथ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा परंतु हम अपना रक्त बहाएँगे, और चंबल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुंदेलों का एक भी नाम-लेवा रहेगा, यह रक्तबिन्दु उसके माथे पर केसर का तिलक बनकर चमकेगा।"

वायुमंडल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुंदेलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चंबल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीररस से झूम रहा था। सारंधा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—"बुंदेलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।"

आज उसका एक-एक अंग मुसकुरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुंदेलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाए। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुंदेलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजा कर नदी के किनारे-किनारे पच्छिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिए। घाट में बैठे हुए बुंदेले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरंत ही नदी में घोड़े डाल दिए। चंपतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी और वह बुंदेलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घंटों का विलंब हुआ; परंतु जाकर देखा तो सात सौ बुंदेला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुंदेलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादों की सेना ने भी 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल मच गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं। हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रणभूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश में अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाए आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुँदेलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके क़दम उखड़ गए। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कौतुहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह फ़तह के फ़रिश्ते शाहज़ादों की मदद के लिए आए हैं, परंतु जब राजा चंपतराय निकट गए तो सारंधा ने घोड़े से उतरकर उनके पद पर शीश झुका दिया। राजा को असीम आनंद हुआ। यह सारंधा थी!

समरभूमि का दृश्य इस समय अत्यंत दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे वहाँ अब बेजान लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे, अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानिप्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली बहादुर ख़ाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक़ था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराक़ी जाति का अति सुंदर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की छाती, चीते की-सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देखकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—"ख़बरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाए, इसे जीता पकड़ ले, यह मेरे अस्तबल की शोभा को बढ़ाएगा। जो इसे मेरे पास लावेगा—उसे धन से निहाल कर दूँगा।"

योद्धागण चारों ओर से लपके; परंतु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुम्कारता था, कोई फंदे से फँसाने की फ़िक्र में था पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारंधा अपने खेमें से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रक्खा और वह उसकी पीठ सहलाने लगी। घोड़े ने उसके अंचल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानो सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारंधा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुंदर घोड़ा आगे चलकर इस राजपरिवार के निमित्त रत्नजटित मृग प्रतीत हुआ।

5

संसार एक रणक्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देखकर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आ जाते हैं, जो अवसर पर क़दम बढ़ाना जानते हैं, लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। यह रणधीर पुरुष विजय को नीति के भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा, किंतु जहाँ एक बार पहुँच गया है, वहाँ से क़दम पीछे न हटाएगा। उनमें कोई विरला ही संसारक्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किंतु प्रायः उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो यह आन पर जान देने वाला, यह मुँह न मोड़नेवाला सिपाही, राष्ट्र के भावों को उच्च करता है और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे कार्यक्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किंतु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारंधा इन्हीं 'आन' पर जान देनेवालों' में थी।

शहज़ादा मुहीउद्दीन चंबल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया।

औरंगज़ेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिए, उनके राज्यपद लौटा दिए और राजा चंपतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष्य में बारह हज़ारी मंसब प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुँदेला राजा फिर राज्यसेवक बना, वह फिर सुखविलास में डूबा और रानी सारंधा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

बली बहादुर खाँ बड़ा वाक्यचतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उस पर राजा-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

ख़ाँसाहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह ख़ाँसाहब के महल की तरफ़ जा निकला। बली बहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरंत

अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता! पाँव-पाँव घर आया और उसने सारंधा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली—"मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया, शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा। क्या तेरे शरीर में बुँदेलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता न सही, किंतु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुँदेला बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।"

यह कहकर उसने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी। स्वयं अस्त्र धारण किए और वह योद्धाओं के साथ वली बहादुरखाँ के निवासस्थान पर जा पहुँची। खाँसाहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गए थे। सारंधा दरबार की तरफ़ चली और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गए। आलमगीर भी सहन में निकल आए। लोग अपनी-अपनी तलवारें सँभालने लगे और चारों तरफ़ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमर सिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गई।

सारंधा ने उच्च स्वर से कहा—"ख़ाँसाहब! बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वीरता जो चंबल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?"

वली बहादुरख़ाँ की आँखों से अग्निज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज़ से बोले—"किसी ग़ैर को क्या मजाल है कि मेरी चीज़ अपने काम में लाए?"

रानी—"वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रणभूमि में पाया है और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते।"

ख़ाँसाहब—"वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नज़र है।"

रानी—"मैं अपना घोड़ा लूँगी।"

ख़ाँसाहब—"मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ, परंतु घोड़ा नहीं दे सकता।"

रानी—"तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।" बुँदेला योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाए कि बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—"रानी साहबा! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जाएगा, परंतु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।"

रानी—"मैं उसके लिए अपना सर्वस्व त्यागने पर तैयार हूँ।"

बादशाह—"जागीर और मंसब भी?"

रानी—"हाँ राज्य भी।"

बादशाह—"एक घोड़े के लिए?"

रानी–"नहीं–उस पदार्थ के लिए जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।"

बादशाह–"वह क्या है?"

रानी–"अपनी आन।"

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्यपद और राजसम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोए। इस घड़ी से अंत दशा तक चंपतराय को शांति न मिली।

6

राजा चंपतराय ने फिर ओरछे के किले में पदार्पण किया। उन्हें मंसब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यंत शोक हुआ, किंतु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला, वे सारंधा के स्वभाव को भली भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्मगौरव पर कुठार का काम करती। कुछ दिन यहाँ शांतिपूर्वक व्यतीत हुए लेकिन बादशाह सारंधा की कठोर बातें भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिंत हुआ, उसने एक बड़ी सेना चंपतराय का गर्व चूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाइस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किए। शुभकरण बुँदेला बादशाह का सूबेदार था। वह चंपतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चंपतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया। और भी कितने ही बुँदेला सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक ओर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें भाइयों ही के रक्त से लाल हुईं यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई, लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुँदेला राजे जो चंपतराय के बाहुबल थे, बादशाह के कृपाकांक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो काम आए, कुछ दग़ा कर गए। यहाँ तक कि निज संबंधियों ने भी आँखें चुरा लीं, परंतु इन कठिनाइयों में भी चंपतराय ने हिम्मत नहीं हारी। धीरज को न छोड़ा। उसने ओरछा छोड़ दिया, और वह तीन वर्ष तक बुँदेलखंड के सघन पर्वतों पर छिपा फिरता रहा। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँड़रा रही थीं। आए दिन राजा का किसी-न-किसी से सामना हो जाता था। सारंधा सदैव उसके साथ रहती और उसका साहस बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी जब कि धैर्य्य लुप्त हो जाता–और आशा साथ छोड़ देती, आत्मरक्षा का धर्म्म उसे सम्हाले रहता था। तीन साल के बाद अंत में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटा लो और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई, पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

7

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा को घेर रक्खा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोप के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। क़िले में 20 हज़ार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनों-दिन न्यून होती जाती है। आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बंद हैं। हवा का भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ, पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिए आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं। औरतें सूर्य्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठा कर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृंद मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पर जाते हैं। राजा चंपतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिनों से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को ढारस होता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे क़िले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारंधा से कहा–"आज शत्रु ज़रूर क़िले में घुस आएँगे।"

सारंधा–"ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।"

राजा–"मुझे बड़ी चिंता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जाएँगे।"

सारंधा–"हम लोग यहाँ से निकल जाएँ तो कैसा?"

राजा–"इन अनाथों को छोड़ कर?"

सारंधा–"इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे तो शत्रु इन पर कुछ दया अवश्य ही करेंगे।"

राजा–"नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जाएँगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।"

सारंधा–"लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते।"

राजा–"उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं। मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की ख़ुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा, किंतु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।"

सारंधा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और वह सोचने लगी, निस्संदेह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थांध क्यों हो गई हूँ? लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली–"यदि आपको विश्वास हो जाए कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जाएगा तब तो आपको चलने में कोई बाधा न होगी।"

राजा–(सोचकर) "कौन विश्वास दिलाएगा?"

सारंधा–"बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञापत्र।"

राजा–"हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।"

सारंधा विचारसागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जाएगा! और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे! उन्हें तो अपने विजय की पूरी आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीतिकुशल, वाक्‌पटु, चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चय करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया तो उसके कमलनेत्र सजल हो गए और हृदय से दीर्घ निश्वास निकल आया।

छत्रसाल–"माता मेरे लिए क्या आज्ञा है।"

रानी–"आज लड़ाई का क्या ढंग है?"

छत्रसाल–"हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।"

रानी–"बुँदेलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।"

छत्रसाल–"हम आज रात को छापा मारेंगे।"

रानी ने संक्षेप से अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा–"यह काम किसको सौंपा जाए?"

छत्रसाल–"मुझको।"

"तुम इसे पूरा कर दिखाओगे?"

"हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

"अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।"

छत्रसाल जब चला तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठा कर कहा–"दयानिधि, मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुँदेलों की आन के भेट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है। इसे स्वीकार करो।"

8

दूसरे दिन प्रातःकाल सारंधा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिए मंदिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों तले अँधेरा छाया जाता था। वह मंदिर के द्वार पर पहुँची थी, कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक काग़ज़ का पुर्ज़ा लिपटा हुआ था। सारंधा ने थाल मंदिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्ज़े को खोलकर देखा, तो आनंद से चेहरा खिल गया लेकिन यह

आनंद क्षण-भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया है। काग़ज़ के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा?

मंदिर से लौटकर सारंधा राजा चंपतराय के पास गई और बोली—"प्राणनाथ! आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिए।" राजा ने चौंक कर पूछा—"तुमने अपना वादा पूरा कर लिया?" रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चंपतराय ने उसे गौर से देखा फिर बोले—"अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा तो एक बेर फिर शत्रुओं की ख़बर लूँगा। लेकिन सारन! सच बताओ इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा?"

रानी ने कुंठित स्वर से कहा—"बहुत कुछ।"

राजा—"सुनूँ?"

रानी—"एक जवान पुत्र।"

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—"कौन? अंगदराय?"

रानी—"नहीं।"

राजा—"रतनसाह?"

रानी—"नहीं।"

राजा—"छत्रसाल?"

रानी—"हाँ।"

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चंपतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परम-प्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलंबित थीं। जब चेत हुआ तो बोले—"सारन, तुमने बुरा किया। अगर छत्रसाल मारा गया तो बुँदेला-वंश का नाश हो जाएगा।"

अँधेरी रात थी। रानी सारंधा घोड़े पर सवार चंपतराय को पालकी में बैठाए किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमय रात्रि थी। तब सारंधा ने शीतला देवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतला देवी ने उस समय जो भविष्यवाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारंधा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा?

9

मध्याह्न काल था। सूर्य्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसाने वाली प्रचंड, प्रखर वायु वन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगनमंडल इस भय से काँप रहा था। रानी सारंधा घोड़े पर सवार, चंपतराय को लिए पच्छिम की तरफ़ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण

यह अनुमान स्थिर होता जाता था कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आए। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में शराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाए चले आते थे। प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारंधा ने पीछे की तरफ़ फिरकर देखा तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। ये लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिए हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठंडी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारंधा ने कहारों से कहा—"डोली रोक लो।" बुँदेला सिपाहियों ने भी तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी; किंतु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में जीवात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठा कर बाहर निकल आए। धनुषबाण हाथ में ले लिया, किंतु वह धनुष जो उनके हाथ में इंद्र का वज्र बन जाता था, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राए और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई। उस पंखरहित पक्षी के सदृश जो साँप को अपनी तरफ़ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चंपतराय फिर सँभलकर उठे और फिर गिर पड़े। सारंधा ने उन्हें सँभलकर बैठाया और रोकर बोलने की चेष्टा की; परंतु मुँह से केवल इतना निकला—"प्राणनाथ!" इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरनेवाली सारंधा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई, लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री-जाति की शोभा है।

चंपतराय बोले—"सारन! देखो हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा उसने इस अंतिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगाएँगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु, तू कब आएगी!" यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया, मगर हाथों में दम न था। तब सारंधा से बोले—"प्रिये! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।"

इतना सुनते ही सारंधा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई। आँसू सूख गए। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देखकर बोली—"ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निबाहूँगी।"

रानी ने समझा राजा मुझे प्राण देने का संकेत कर रहे हैं।

चंपतराय—"तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।"

सारंधा—"मरते दम तक न टालूँगी।"

राजा—"यह मेरी अंतिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।" सारंधा ने तलवार को निकाल कर अपने वक्ष-स्थल पर रख लिया और कहा—"यह आपकी आज्ञा नहीं है मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।"

चंपतराय—"तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निंदा का पात्र बनूँ?"

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—"मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।"

रानी—"सहर्ष माँगिए।"

राजा—"यह मेरी अंतिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?"

रानी—"सिर के बल करूँगी।"

राजा—"देखो—तुमने वचन दिया है। इंकार न करना।"

रानी—(काँपकर) "आपके कहने की देर है।"

राजा—"अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।"

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—"जीवननाथ!" इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी। आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—"मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।"

रानी—"हाय मुझसे यह कैसे होगा!"

पाँचवाँ और अंतिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—"इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?"

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण-भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही, लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान् हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारंधा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शांति छाई हुई थी।

कैसा करुण दृश्य है। वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से आलिंगित होकर उसने यौवन सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केंद्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय

को आज सारंधा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है!

आह! आत्मभिमान का कैसा विषादमय अंत है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्मगौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारंधा का यह साहस और धैर्य्य देखकर दंग रह गए। सरदार ने आगे बढ़कर कहा–"रानी साहबा! ख़ुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरोचश्म बज़ा लाएँगे।"

सारंधा ने कहा–"अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।"

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी तो उसका सिर राजा चंपतराय की छाती पर था।

(*'ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, अगस्त-सितंबर, 1910*)
(*'जैन-हितैषी' हिंदी पत्रिका, अगस्त, 1917*)
(***'नव-निधि', प्रथम संस्करण, दिसंबर, 1917 से प्रस्तुत***)
(*'नव-निधि' 1935*)
(*'मानसरोवर'-6, 1946*)

नेकी

1

सावन का महीना था। रेवती रानी ने पाँव में मेहंदी रचाई, माँग-चोटी सँवारी और तब अपनी बूढ़ी सास से जाकर बोली—"अम्माँ जी, आज मैं भी मेला देखने जाऊँगी।"

रेवती पंडित चिंतामणि की पत्नी थी। पंडित जी ने सरस्वती की पूजा में ज़्यादा लाभ न देखकर लक्ष्मी देवी की पूजा करनी शुरू की थी। लेन-देन का कारोबार करते थे, मगर और महाजनों के विपरीत ख़ास-ख़ास हालतों के सिवा पच्चीस फ़ीसदी से ज़्यादा सूद लेना उचित न समझते थे।

रेवती की सास एक बच्चे को गोद में लिए खटोले पर बैठी थीं। बहू की बात सुनकर बोली—"भीग जाओगी तो बच्चे को जुकाम हो जाएगा।"

रेवती—"नहीं, अम्माँ मुझे देर न लगेगी, अभी चली आऊँगी।"

रेवती के दो बच्चे थे—एक लड़का, दूसरी लड़की। लड़की अभी गोद में थी और लड़का हीरामन सातवें साल में था। रेवती ने उसे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाएँ। नज़र लगने से बचाने के लिए माथे और गालों पर काजल के टीके लगा दिए, गुड़ियाँ पीटने के लिए एक अच्छी रंगीन छड़ी दे दी और अपनी सहेलियों के साथ मेला देखने चली।

कीरत सागर के किनारे औरतों का बड़ा जमघट था। नीलगूँ घटाएँ छाई हुई थीं। औरतें सोलह सिंगार किए खुले हुए हरे-भरे सुंदर मैदान में सावन की रिमझिम वर्षा की बहार लूट रही थीं। शाखों में झूले पड़े थे। कोई झूला-झूलती, कोई मल्हार गाती, कोई सागर के किनारे बैठी लहरों से खेलती। ठंडी-ठंडी ख़ुशगवार पानी की हल्की-हल्की फुहार, पहाड़ियों की निखरी हुई हरियावल लहरों के दिलकश झकोरे मौसम को ऐसा बना रहे थे कि उसमें संयम टिक न पाता था।

आज गुड़ियों की विदाई है। गुड़िया अपनी ससुराल जाएँगी। कुँआरी लड़कियाँ हाथ-पाँव में मेहंदी रचाए गुड़ियों को गहने-कपड़े सजाए उन्हें विदा करने आई हैं। उन्हें पानी में बहाती हैं और छकछककर सावन के गीत गाती हैं। मगर सुख-चैन के आँचल से निकलते ही इन लाड़-प्यार में पली हुई गुड़ियों पर चारों तरफ़ से छड़ियों और लकड़ियों की बौछार होने लगती है।

रेवती यह सैर देख रही थी और हीरामन सागर की सीढ़ियों पर और लड़कियों के साथ गुड़ियाँ पीटने में लगा हुआ था। सीढ़ियों पर काई लगी हुई थी। अचानक उसका पाँव फिसला तो पानी में जा पड़ा। रेवती चीख मारकर दौड़ी और सर पीटने लगी। दम-के-दम में वहाँ मर्दों और औरतों का ठट लग गया, मगर यह किसी की इंसानियत तक़ाज़ा न करती थी कि पानी में जाकर मुमकिन हो तो बच्चे की जान बचाए। सँवारे हुए बाल न बिखर जाएँगे। धुली हुई धोती न भीग जाएगी! कितने ही मर्दों के दिलों में यह मर्दाना ख़याल आ रहे थे। दस मिनट गुज़र गए, मगर कोई आदमी हिम्मत करता नज़र न आया। ग़रीब रेवती पछाड़ें खा रही थी। अचानक उधर से एक आदमी अपने घोड़े पर सवार चला जाता था। यह भीड़ देखकर उतर पड़ा और एक तमाशाई से पूछा—"यह कैसी भीड़ है?" तमाशाई ने जवाब दिया—"एक लड़का डूब गया है।"

मुसाफ़िर—"कहाँ?"

तमाशाई—"जहाँ वह औरत खड़ी रो रही है।"

मुसाफ़िर ने फ़ौरन अपनी गाढ़े की मिर्ज़ई उतारी और धोती कसकर पानी में कूद पड़ा। चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया। लोग हैरान थे कि यह आदमी कौन है। उसने पहला ग़ोता लगाया, लड़के की टोपी मिली। दूसरा ग़ोता लगाया तो उसकी छड़ी हाथ लगी और तीसरे गोते के बाद जब ऊपर आया तो लड़का उसकी गोद में था। तमाशाइयों ने ज़ोर से वाह-वाह का नारा बुलंद किया। माँ दौड़कर बच्चे से लिपट गई। इसी बीच पंडित चिंतामणि के और कई मित्र आ पहुँचे और लड़के को होश में लाने की फ़िक्र करने लगे। आध घंटे में लड़के ने आँखें खोल दीं। लोगों की जान में जान आई। डॉक्टर साहब ने कहा—"अगर लड़का दो मिनट पानी में रहता तो बचना असंभव था।" मगर जब लोग अपने गुमनाम भलाई करने वाले को ढूँढ़ने लगे तो उसका कहीं पता न था। चारों तरफ़ आदमी दौड़ाए, सारा मेला छान मारा, मगर वह नज़र न आया।

2

बीस साल गुज़र गए। पंडित चिंतामणि का कारोबार रोज़-ब-रोज़ बढ़ता गया। इस बीच में उसकी माँ ने सातों यात्राएँ कीं और मरीं तो उनके नाम पर ठाकुरद्वारा तैयार हुआ। रेवती बहू से सास बनी, लेनदेन, बहीखाता हीरामणि के हाथ में आया। हीरामणि अब एक हृष्ट-पुष्ट लंबा-तड़ंगा नौजवान था—बहुत अच्छे स्वभाव का, नेक। कभी-कभी बाप से छिपाकर ग़रीब असामियों को यों ही क़र्ज़ दे दिया करता। चिंतामणि ने कई बार इस अपराध के लिए बेटे को आँखें दिखाई थीं और अलग कर देने की धमकी दी थी। हीरामणि ने एक बार एक संस्कृत पाठशाला के लिए पचास

रुपया चंदा दिया। पंडित जी उस पर ऐसे क्रुद्ध हुए कि दो दिन तक खाना नहीं खाया। ऐसे अप्रिय प्रसंग आए दिन होते रहते थे, इन्हीं कारणों से हीरामणि की तबीयत बाप से कुछ खिंची रहती थी। मगर उसकी यह सारी शरारतें हमेशा रेवती की साज़िश से हुआ करती थीं। जब कस्बे की ग़रीब विधवाएँ या ज़मींदार के सताए हुए असामियों की औरतें रेवती के पास आकर हीरामणि को आँचल फैला-फैलाकर दुआएँ देने लगतीं तो उसे ऐसा मालूम होता कि मुझसे ज़्यादा भाग्यवान और मेरे बेटे से ज़्यादा नेक आदमी दुनिया में कोई न होगा। तब उसे बरबस वह दिन याद आ जाता जब हीरामणि कीरत सागर में डूब गया था और उस आदमी की तस्वीर उसकी आँखों के सामने खड़ी हो जाती, जिसने उसके लाल को डूबने से बचाया था। उसके दिल की गहराई से दुआ निकलती और ऐसा जी चाहता कि उसे देख पाती तो उसके पाँव पर गिर पड़ती। उसे अब पक्का विश्वास हो गया कि वह मनुष्य न था, बल्कि कोई देवता था। वह अब उसी खटोले पर बैठी हुई, जिस पर उसकी सास बैठती थी, अपने दोनों पोतों को खिलाया करती थी।

आज हीरामणि की सत्ताइसवीं सालगिरह थी। रेवती के लिए यह दिन साल-भर के दिनों में सबसे अधिक शुभ था। आज उसका दया का हाथ ख़ूब उदारता दिखलाता था और यही एक अनुचित खर्च था, जिसमें पंडित चिन्तमणि भी शरीक हो जाते थे। आज के दिन वह बहुत ख़ुश होती और बहुत रोती और आज अपने गुमनाम भलाई करनेवाले के लिए उसके दिल से जो दुआएँ निकलतीं वह दिल और दिमाग़ की अच्छी-से-अच्छी भावनाओं में रंगी होती थीं। उसी दिन की बदौलत तो आज मुझे यह दिन और यह सुख देखना नसीब हुआ है!

3

एक दिन हीरामणि ने आकर रेवती से कहा—"अम्माँ, श्रीपुर नीलाम पर चढ़ा हुआ है, कहो तो मैं भी दाम लगाऊँ।"

रेवती—"सोलहो आना है?"

हीरामणि—"सोलहो आना। अच्छा गाँव है। न बड़ा, न छोटा। यहाँ से दस कोस है। बीस हज़ार तक बोली चढ़ चुकी है। सौ-दो-सौ में ख़त्म हो जाएगा।"

रेवती—"अपने दादा से पूछो?"

हीरामणि—"उनके साथ दो घंटे तक माथापच्ची करने की किसे फ़ुरसत है?"

हीरामणि अब घर का मालिक हो गया था और चिंतामणि की एक न चलने पाती। वह ग़रीब अब ऐनक लगाए एक गद्दे पर बैठे अपना वक़्त खाँसने में खर्च करते थे!

दूसरे दिन हीरामणि के नाम पर श्रीपुर ख़त्म हो गया। महाजन से ज़मींदार हुए। अपने मुनीम और दो चपरासियों को लेकर गाँव की सैर करने चले। श्रीपुरवालों को

ख़बर हुई। नए ज़मींदार का पहला आगमन था। घर-घर नज़राने देने की तैयारियाँ होने लगीं। पाँचवें दिन शाम के वक़्त हीरामणि गाँव में दाख़िल हुए। दही और चावल का तिलक लगाया गया और तीन सौ असामी पहर रात तक हाथ बाँधे हुए उनकी सेवा में खड़े रहे। सबेरे मुख़्तारेआम ने असामियों का परिचय कराना शुरू किया। जो असामी ज़मींदार के सामने आता वह अपनी बिसात के मुताबिक़ एक या दो रुपए उनके पाँव पर रख देता। दोपहर होते-होते वहाँ पाँच सौ रुपयों का ढेर लगा हुआ था।

हीरामणि को पहली बार ज़मींदारी का मज़ा मिला, पहली बार धन और बल का नशा महसूस हुआ। सब नशों से ज़्यादा तेज़, ज़्यादा घातक धन का नशा है। जब असामियों की फ़ेहरिस्त ख़त्म हो गई तो मुख़तार से बोले—"और कोई असामी तो बाक़ी नहीं है?"

मुख़्तार—"हाँ, महाराज, अभी एक असामी और है, तख़त सिंह।"

हीरामणि—"वह क्यों नहीं आया?"

मुख़्तार—"ज़रा मस्त है।"

हीरामणि—"मैं उसकी मस्ती उतार दूँगा। ज़रा कोई उसे बुला लाए।"

थोड़ी देर में एक बूढ़ा लाठी टेकता आया और दंडवत करके ज़मीन पर बैठ गया, न नज़र न नियाज़। उसकी यह गुस्ताख़ी देखकर हीरामणि को बुखार चढ़ आया। कड़ककर बोले—"अभी किसी ज़मींदार से पाला नहीं पड़ा है। एक-एक की हेकड़ी भुला दूँगा!"

तख़त सिंह ने हीरामणि की तरफ़ ग़ौर से देखकर जवाब दिया—"मेरे सामने बीस ज़मींदार आए और चले गए। मगर कभी किसी ने इस तरह घुड़की नहीं दी।"

यह कहकर उसने लाठी उठाई और अपने घर चला आया।

बूढ़ी ठकुराइन ने पूछा—"देखा ज़मींदार को, कैसा आदमी है?"

तख़त सिंह—"अच्छे आदमी हैं। मैं उन्हें पहचान गया।"

ठकुराइन—"क्या तुमसे पहले की मुलाकात है?"

तखत सिंह—"मेरी उनकी बीस बरस की जान-पहिचान है। गुड़ियों के मेलेवाली बात याद है न?"

उस दिन से तख़त सिंह फिर हीरामणि के पास न आया।

4

छः महीने बाद रेवती को भी श्रीपुर देखने का शौक हुआ। वह और उसकी बहू और बच्चे सब श्रीपुर आए। गाँव की सब औरतें उनसे मिलने आईं। उनमें बूढ़ी ठकुराइन भी थी। उसकी बातचीत, सलीक़ा और तमीज़ देखकर रेवती दंग रह गई। जब वह

चलने लगी तो रेवती ने कहा—"ठकुराइन, कभी-कभी आया करना, तुमसे मिलकर तबियत बहुत खुश हुई।"

इस तरह दोनों औरतों में धीरे-धीरे मेल हो गया। यहाँ तो यह कैफ़ियत थी और हीरामणि अपने मुख़्तारेआम के बहकावे में आकर तख़त सिंह को बेदख़ल करने की तरकीबें सोच रहा था।

जेठ की पूरनमासी आई। हीरामणि की सालगिरह की तैयारियाँ होने लगीं। रेवती चलनी में मैदा छान रही थी कि बूढ़ी ठकुराइन आई। रेवती ने मुस्कराकर कहा—"ठकुराइन, हमारे यहाँ कल तुम्हारा न्योता है।"

ठकुराइन—"तुम्हारा न्योता सिर-आँखों पर। कौन-सी बरसगाँठ है?"

रेवती—"उनतीसवीं।"

ठकुराइन—"नरायन करे, अभी ऐसे-ऐसे सौ दिन तुम्हें और देखने नसीब हों।"

रेवती—"ठकुराइन, तुम्हारी ज़बान मुबारक हो। बड़े-बड़े जंतर-मंतर किए हैं तब तुम लोगों की दुआ से यह दिन देखना नसीब हुआ है। यह तो सातवें ही साल में थे कि इनकी जान के लाले पड़ गए थे। गुड़ियों का मेला देखने गई थी। यह पानी में गिर पड़े। बारे, एक महात्मा ने इनकी जान बचाई। इनकी जान उन्हीं की दी हुई है। बहुत तलाश करवाया। उनका पता न चला। हर बरसगाँठ पर उनके नाम से सौ रुपए निकाल रखती हूँ। दो हज़ार से कुछ ऊपर हो गए हैं। बच्चे की नीयत है कि उनके नाम से श्रीपुर में एक मंदिर बनवा दें। सच मानो ठकुराइन, एक बार उनके दर्शन हो जाते तो जीवन सुफल हो जाता, जी की हवस निकाल लेते।"

रेवती जब ख़ामोश हुई तो ठकुराइन की आँखों से आँसू जारी थे।

दूसरे दिन एक तरफ़ हीरामणि की सालगिरह का उत्सव था और दूसरी तरफ़ तख़त सिंह के खेत नीलाम हो रहे थे।

ठकुराइन बोली—"मैं रेवती रानी के पास जाकर दुहाई मचाती हूँ।"

तख़त सिंह ने जवाब दिया—"मेरे जीते-जी नहीं।"

5

असाढ़ का महीना आया। मेघराज ने अपनी प्राणदायी उदारता दिखाई। श्रीपुर के किसान अपने-अपने खेत जोतने चले। तख़तसिंह की लालसा-भरी आँखें उनके साथ-साथ जातीं, यहाँ तक कि ज़मीन उन्हें दामन में छिपा लेती।

तख़तसिंह के पास एक गाय थी। वह अब दिन-के-दिन उसे चराया करता। उसकी ज़िंदगी का अब यही एक सहारा था। उसके उपले और दूध बेचकर गुजर-बसर करता। कभी-कभी फ़ाके करने पड़ जाते। यह सब मुसीबतें उसने झेलीं, मगर अपनी कंगाली का रोना रोने के लिए एक दिन भी हीरामणि के पास न गया। हीरामणि ने

उसे नीचा दिखाना चाहा था, मगर खुद उसे ही नीचा देखना पड़ा, जीतने पर भी उसे हार हुई, पुराने लोहे को अपने नीच हठ की आँच से न झुका सका।

एक दिन रेवती ने कहा—"बेटा, तुमने ग़रीब को सताया, अच्छा न किया।"

हीरामणि ने तेज़ होकर जवाब दिया—"वह ग़रीब नहीं है। उनका घमंड मैं तोड़ दूँगा।"

दौलत के नशे में मतवाला ज़मींदार वह चीज़ तोड़ने की फ़िक्र में था, जो कहीं थी ही नहीं, जैसे नासमझ बच्चा अपनी परछाईं से लड़ने लगता है।

6

साल-भर तख़तसिंह ने ज्यों-त्यों करके काटा। फिर बरसात आई। उसका घर छाया न गया था। कई दिन तक मूसलाधार मेंह बरसा तो मकान का एक हिस्सा गिर पड़ा। गाय वहाँ बँधी हुई थी, दबकर मर गई। तख़त सिंह को भी सख़्त चोट आई। उसी दिन से बुखार आना शुरू हुआ। दवा-दारू कौन करता, रोज़ी का सहारा था, वह भी टूटा। ज़ालिम बेदर्द मुसीबत ने कुचल डाला। सारा मकान पानी से भरा हुआ, घर में अनाज का दाना नहीं, अँधेरे में पड़ा हुआ कराह रहा था कि रेवती उसके घर गई। तख़त सिंह ने आँखें खोलीं और पूछा कौन है?

ठकुराइन—"रेवती रानी हैं।"

तख़त सिंह—"मेरे धन्यभाग, मुझ पर बड़ी दया की।"

रेवती ने लज्जित होकर कहा—"ठकुराइन, ईश्वर जानता है, मैं अपने बेटे से हैरान हूँ। तुम्हें जो तकलीफ़ हो, मुझसे कहो। तुम्हारे ऊपर ऐसी आफ़त पड़ गई और हमसे ख़बर तक न की?"

यह कहकर रेवती ने रुपयों की एक छोटी-सी पोटली ठकुराइन के सामने रख दी।

रुपयों की झनकार सुनकर तख़त सिंह उठ बैठा और बोला—"रानी, हम इसके भूखे नहीं हैं। मरते दम गुनहगार न करो।"

दूसरे दिन हीरामणि भी अपने मुसाहिबों को लिए उधर से जा निकला। गिरा हुआ मकान देखकर मुस्कराया। उसके दिल ने कहा, आख़िर मैंने उसका घमंड तोड़ दिया। मकान के अंदर जाकर बोला—"ठाकुर, अब क्या हाल है?"

ठाकुर ने धीरे से कहा—"सब ईश्वर की दया है, आप कैसे भूल पड़े?"

हीरामणि को दूसरी बार हार खानी पड़ी। उसकी यह आरज़ू कि तख़तसिंह मेरे पाँव को आँखों से चूमे, अब भी पूरी न हुई। उसी रात को वह ग़रीब आज़ाद, ईमानदार और बेग़रज़ ठाकुर इस दुनिया से बिदा हो गया।

7

बूढ़ी ठकुराइन अब दुनिया में अकेली थी। कोई उसके ग़म का शरीक और उसके मरने पर आँसू बहानेवाला न था। कंगाली ने ग़म की आँच और तेज़ कर दी थी। ज़रूरत की चीज़ें मौत के घाव को चाहे न भर सकें मगर मरहम का काम ज़रूर करती है।

रोटी की चिंता बुरी बला है। ठकुराइन अब खेत और चरागाह से गोबर चुन लाती और उपले बनाकर बेचती। उसे लाठी टेकते हुए खेतों को जाते और गोबर का टेकरा सिर पर रखकर बोझ से हाँफते हुए आते देखना बहुत ही दर्दनाक था। यहाँ तक कि हीरामणि को भी उस पर तरस आ गया। एक दिन उन्होंने आटा, दाल, चावल, थालियों में रखकर उसके पास भेजा। रेवती खुद लेकर गई। मगर बूढ़ी ठकुराइन आँखों में आँसू भरकर बोली—"रेवती, जब तक आँखों से सूझता है और हाथ-पाँव चलते हैं, मुझे और मरनेवाले को गुनहगार न करो।"

उस दिन से हीरामणि को फिर उसके साथ अमली हमदर्दी दिखलाने का साहस न हुआ।

एक दिन रेवती ने ठकुराइन से उपले मोल लिए। गाँव में पैसे के तीस उपले बिकते थे। उसने चाहा कि बीस ही उपले लूँ। उस दिन से ठकुराइन ने उसके यहाँ उपले लाना बंद कर दिया।

ऐसी देवियाँ गाँव में कितनी हैं! क्या वह इतना न जानती थी कि एक गुप्त रहस्य ज़बान पर लाकर मैं अपनी इन तकलीफ़ों का ख़ात्मा कर सकती हूँ! मगर फिर वह एहसान का बदला न हो जाएगा! मसल मशहूर है नेकी कर और दरिया में डाल। शायद उसके दिल में यह ख़याल ही न आया कि मैंने रेवती पर कोई एहसान किया।

यह वज़ादार, आन पर मरनेवाली औरत पति के मरने के बाद तीन साल तक ज़िंदा रही। यह ज़माना उसने जिस तकलीफ़ से काटा, उसे याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कई-कई दिन निराहार बीत जाते। कभी गोबर न मिलता, कभी कोई उपले चुरा ले जाता। ईश्वर की मर्ज़ी! किसी का घर भरा हुआ है, खानेवाले नहीं। कोई यों रो-रोकर ज़िंदगी काटता है।

बुढ़िया ने यह सब दुख झेला मगर किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया।

8

हीरामणि की तीसवीं सालगिरह आई। ढोल की सुहानी आवाज़ सुनाई देने लगी। एक तरफ़ घी की पूड़ियाँ पक रही थीं, दूसरे तरफ़ तेल की। घी की मोटे ब्राह्मणों के लिए, तेल की ग़रीब भूखे नीचों के लिए।

अचानक एक औरत ने रेवती से आकर कहा—"ठकुराइन जाने कैसी हुई जाती हैं। तुम्हें बुला रही हैं।"

रेवती ने दिल में कहा—"आज तो ख़ैरियत से काटना, कहीं बुढ़िया मर न रही हो।"

यह सोचकर वह बुढ़िया के पास न गई। हीरामणि ने जब देखा, अम्माँ नहीं जाना चाहतीं तो खुद चला। ठकुराइन पर उसे कुछ दिनों से दया आने लगी थी। मगर रेवती मकान के दरवाज़े तक उसे मना करने आई। यह रहमदिल, नेक मिज़ाज, शरीफ़ रेवती थी।

हीरामणि ठकुराइन के मकान पर पहुँचा तो वहाँ बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ था। बूढ़ी औरत का चेहरा पीला था और जान निकलने की हालत उस पर छाई हुई थी। हीरामणि ने जोर से कहा—"ठकुराइन, मैं हूँ, हीरामणि।"

ठकुराइन ने आँखें खोलीं और इशारे से उसे अपना सिर नज़दीक लाने को कहा। फिर रुक-रुककर बोली—"मेरे सिरहाने पिटारी में ठाकुर की हड्डियाँ रखी हुई हैं, मेरे सुहाग का सेंदुर भी वहीं है। यह दोनों प्रयागराज भेज देना।"

यह कहकर उसने आँखें बंद कर लीं। हीरामणि ने पिटारी खोली तो दोनों चीज़ें हिफ़ाजत के साथ रक्खी हुई थीं। एक पोटली में दस रुपए भी रक्खे हुए मिले। यह शायद जानेवाले का सफ़रख़र्च था!

रात को ठकुराइन के कष्टों का हमेशा के लिए अंत हो गया।

उसी रात को रेवती ने सपना देखा—सावन का मेला है, घटाएँ छाई हुए हैं, मैं कीरत सागर के किनारे खड़ी हूँ। इतने में हीरामणि पानी में फिसल पड़ा। मैं छाती पीट-पीटकर रोने लगी। अचानक एक बूढ़ा आदमी पानी में कूदा और हीरामणि को निकला लाया। रेवती उसके पाँव पर गिर पड़ी और बोली—"आप कौन हैं?"

उसने जवाब दिया—"मैं श्रीपुर में रहता हूँ, मेरा नाम तख़त सिंह है।"

श्रीपुर अब भी हीरामणि के क़ब्जे में है, मगर अब उसकी रौनक दोवाला हो गई है। वहाँ जाओ तो दूर से शिवाले का सुनहरा कलश दिखाई देने लगता है; जिस जगह तख़त सिंह का मकान था, वहाँ यह शिवाला बना हुआ है। उसके सामने एक पक्का कुआँ और पक्की धर्मशाला है। मुसाफ़िर यहाँ ठहरते हैं और तख़त सिंह का गुन गाते हैं। यह शिवाला और धर्मशाला दोनों उसके नाम से मशहूर हैं।

('अदीब', उर्दू मासिक पत्रिका, सितंबर, 1910)
('गुप्त-धन'–1, 1962 से प्रस्तुत)

बड़े घर की बेटी

1

बेनीमाधवसिंह गौरीपुर गाँव के ज़मींदार और नंबरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य संपन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मंदिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे। कहते हैं, इस दरवाज़े पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थि-पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था पर दूध शायद बहुत देती थी; क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँडी लिए उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधवसिंह अपनी आधी से अधिक संपत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हज़ार रुपए वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठसिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी. ए. की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ़्तर में नौकर था। एक छोटा लड़का लालबिहारीसिंह दोहरे बदन का, सजीला जवान था। भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह उठकर सबेरे पी जाता था। श्रीकंठसिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने बी. ए. इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांतिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रंथों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। शाम-सबेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली, कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अँगरेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे, बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिंदू-सभ्यता का गुण-गान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुम्ब में मिल-जुलकर रहने की ओर जो अरुचि होती है,

उसे वह जाति और देश के लिए बहुत ही हानिकर समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं। स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिए नहीं कि उसे अपनी सास, ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी, बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आए-दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाई जाए।

आनंदी एक बड़े उच्चकुल की एक लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुक़ेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज़, बहरी, शिकरे, झाड़-फ़ानूस, ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुक़ेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बड़े उदारचित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब-की-सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किए; पर जब पंद्रह-बीस हज़ार रुपयों का क़र्ज़ सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनंदी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुंदर संतान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्मसंकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्य-हीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चंदे का रुपया माँगने आए। शायद नागरी-प्रचार का चंदा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गए और धूमधाम से श्रीकंठसिंह का आनंदी के साथ ब्याह हो गया।

आनंदी अपने नए घर में आई, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहेली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लाई थी; पर यहाँ बाग़ कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था, किंतु आनंदी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

2

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिए हुए आया और भावज से बोला—"जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है।" आनंदी भोजन बनाकर इसी की राह देख रही थी। अब यह नया व्यंजन बनाने बैठी। हाँडी में देखा, तो घी पाव-भर से

अधिक न था। बड़े घर की बेटी किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था। बोला–"दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?"

आनंदी ने कहा–"घी सब मांस में पड़ गया।" लालबिहारी ज़ोर से बोला–"अभी परसों घी आया है, इतनी जल्दी उठ गया!"

आनंदी ने उत्तर दिया–"आज तो कुल पाव भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।"

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तुनककर बोला–"मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो।"

स्त्री गालियाँ सह लेती है, मार भी सह लेती है; पर मैके की निंदा उससे नहीं सही जाती। आनंदी मुँह फेरकर बोली–"हाथी मरा भी, तो नौ लाख का। वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।"

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी और बोला–"जी चाहता है, जीभ पकड़कर खींच लूँ।"

आनंदी को भी क्रोध आ गया। मुँह लाल हो गया, बोली–"वह होते, तो आज इसका मज़ा चखाते।"

अब अपढ़ उजड्ड ठाकुर से रहा न गया। उसकी स्त्री एक साधारण ज़मींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठाकर आनंदी की ओर ज़ोर से फेंकी और बोला–"जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।"

आनंदी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी; सिर बच गया; पर उँगली में बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्य्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमंड होता है। आनंदी ख़ून का घूँट पीकर रह गई।

3

श्रीकंठ शनिवार को घर आया करते थे। वृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनंदी कोपभवन में रही। न कुछ खाया, न पिया, उनकी बाट देखती रही। अंत में शनिवार को यह नियमानुकूल संध्या-समय घर आए और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल संबंधी समाचार तथा कुछ नए मुक़द्दमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड

छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकांत हुआ, तो लालबिहारी ने कहा—"भैया, आप ज़रा भाभी को समझा दीजिएगा कि मुँह सँभालकर बातचीत करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जाएगा।"

बेनीमाधवसिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी—"हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्दों के मुँह लगें।"

लालबिहारी—"वह बड़े घर की बेटी है, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।"

श्रीकंठ ने चिन्तित स्वर से पूछा—"आख़िर बात क्या हुई?"

लालबिहारी ने कहा—"कुछ भी नहीं, यों ही आप-ही-आप उलझ पड़ी। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।"

श्रीकंठ खा-पीकर आनंदी के पास गए। वह भरी बैठी थी। यह हज़रत भी कुछ तीखे थे। आनंदी ने पूछा—"चित्त तो प्रसन्न है?"

श्रीकंठ बोले—"बहुत प्रसन्न है; पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रक्खा है?"

आनंदी की तेवरियों पर बल पड़ गए, झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—"जिसने तुमसे यह आग लगाई है, उसे पाऊँ तो झुलस दूँ।"

श्रीकंठ—"इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।"

आनंदी—"यह मेरे भाग्य का फेर है। नहीं तो एक गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।"

श्रीकंठ—"सब साफ़-साफ़ हाल कहो, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।"

आनंदी—"परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँडी में पाव-भर से अधिक न था। वह सब मैंने मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा, तो कहने लगा—दाल में घी क्यों नहीं है? बस इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो मेरा सिर फट जाए। उसी से पूछो—मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।"

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गई। बोले—"यहाँ तक हो गया! इस छोकरे का यह साहस!"

आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्य्यवान् और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था, पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात-भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—"दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।"

इस तरह की विद्रोह-पूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े-हाथों लिया था परंतु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं। दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधवसिंह घबरा उठे और बोले–"क्यों?"

श्रीकंठ–"इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं, यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ; किंतु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।"

बेनीमाधवसिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला–"बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।"

श्रीकंठ–"इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में, कई घर सँभल गए पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दंड नहीं देता।"

अब बेनीमाधवसिंह भी गरमाए। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले–"लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन–"

श्रीकंठ–"लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।"

बेनीमाधवसिंह–"स्त्री के पीछे?"

श्रीकंठ–"जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।"

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार है, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तिलमिलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीति-पूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे। वे कहा करते थे–श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसलिए वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी, इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधवसिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभकामनाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्क़ा पीने के बहाने और कोई

लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया। बेनीमाधवसिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गए। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरंत कोमल शब्दों में बोले—"बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।"

इलाहाबाद का अनुभवरहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस घात को न समझ सका। उसे डिवेटिंग क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या ख़बर? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—"मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।"

बेनीमाधव—"बेटा, बुद्धिमान् लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा कर दो।"

श्रीकंठ—"उसकी दुष्टता को मै कदापि नहीं सह सकता, या तो वही घर में रहेगा या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे बिदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाए। बस, यह मेरा अंतिम निश्चय है।"

लालबिहारीसिंह दरवाज़े की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाए, हुक़्क़ा पी ले या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब इलाहाबाद आते, तो उसके लिए कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्हीं ने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्यौढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दंगल में पछाड़ दिया, तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था, पाँच रुपए के पैसे लुटाए थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदयविदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा। इसमें संदेह नहीं कि वह अपने किए पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ, भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था; परंतु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोछीं, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था तब आनंदी के द्वार पर आकर बोला—"भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ

इस घर में नहीं रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते। इसलिए मैं अब जाता हूँ। उन्हें फिर मुँह नहीं दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।" यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

4

जिस समय लालबिहारीसिंह सिर झुकाए आनंदी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठसिंह भी आँखें लाल किए बाहर से आए। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखे फेर लीं और कतरा कर निकल गए, मानो उसकी परछाहीं से भी दूर भागते हैं।

आनंदी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जाएगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाज़े पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकंठ को देखकर आनंदी ने कहा—"लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।"

श्रीकंठ—"तो मैं क्या करूँ?"

आनंदी—"भीतर बुला लो। मेरे जीभ में आग लगे! मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।"

श्रीकंठ—"मैं न बुलाऊँगा।"

आनंदी—"पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो कहीं चल दें।"

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—"भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।"

लालविहारी इतना कहकर लौट पड़ा और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर बढ़ा। अंत में आनंदी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखो मे आँसू भरे बोला—"मुझे जाने दो।"

आनंदी—"कहाँ जाते हो?"

लालबिहारी—"जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।"

आनंदी—"मैं न जाने दूँगी।"

लालबिहारी—"मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।"

आनंदी—"तुम्हें मेरी सौगंद, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।"

लालबिहारी—"जब तक मुझे यह न मालूम हो जाए कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।"

आनंदी—"मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।"

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई ख़ूब फूट-फूटकर रोए। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—"भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दंड देंगे, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।"

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—"लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा, तो अब फिर ऐसा अवसर न आवेगा।"

बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनंद से पुलकित हो गए। बोल उठे—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।"

गाँव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसी ने इन शब्दों में आनंदी की उदारता को सराहा—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, दिसंबर, 1910; प्रेमचंद के नाम से प्रकाशित पहली कहानी)
('सप्त-सरोज' प्रथम हिंदी कहानी-संग्रह, 1917)
('प्रेम-द्वादशी', कहानी-संग्रह, 1926 से प्रस्तुत)
('नारी जीवन की कहानियाँ, हिंदी कहानी-संग्रह, 1938)
('मानसरोवर'—7, 1947)

वर्ष : 1911

विक्रमादित्य का तेग़ा

1

बहुत ज़माना गुज़रा एक रोज़ पेशावर के मौजे माहनगर में प्रकृति की एक आश्चर्यजनक लीला दिखाई पड़ी। अँधेरी रात थी, बस्ती से कुछ दूर बरगद के एक छाँहदार पेड़ के नीचे एक आग की लौ दिखाई पड़ी और एक झलमलाते हुए चिराग़ की तरह नज़र आती रही। गाँव में बहुत जल्द यह ख़बर फैल गई। वहाँ के रहनेवाले यह विचित्र दृश्य देखने के लिए यहाँ-वहाँ इकट्ठा हो गए। औरतें जो खाना पका रही थीं, हाथों में गूँधा हुआ आटा लपेटे बाहर निकल आईं। बूढ़ों ने बच्चों को कंधे पर बिठा लिया और खाँसते हुए आ खड़े हुए। नवेली बहुएँ लाज के मारे बाहर न आ सकीं, मगर दरवाज़ों की दरारों में झाँक-झाँककर अपने बेकरार दिलों को तसकीन देने लगीं। उस गुंबदनुमा पेड़ के नीचे अँधेरे के उस अथाह समुंदर में रोशनी का यह धुँधला शोला पाप के बादलों से घिरी हुई आत्मा का सजीव उदाहरण पेश कर रहा था।

टेकसिंह ने ज्ञानियों की तरह सिर हिलाकर कहा—"मैं समझ गया, भूतों की सभा हो रही है।"

पंडित चेतराम ने विद्वानों के समान विश्वास के साथ कहा—"तुम क्या जानो मैं तह पर पहुँच गया। साँप मणि छोड़कर चरने गया है। इसमें जिसे शक हो जाकर देख आए।"

मुंशी गुलाबचंद्र बोले—"इस वक़्त जो वहाँ जाकर मणि को उठा लाए, उसके राजा होने में शक नहीं। मगर जान जोख़िम है।"

प्रेमसिंह एक बूढ़ा जाट था। वह इन महात्माओं की बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था।

2

प्रेमसिंह दुनिया में बिलकुल अकेला था। उसकी सारी उम्र लड़ाइयों में ख़र्च हुई थी। मगर जब ज़िंदगी की शाम आई और वह सुबह की ज़िंदगी के टूटे-फूटे झोपड़े में फिर

आया तो उसके दिल में एक अजीब ख़्वाहिश पैदा हुई। अफ़सोस, दुनिया में मेरा कोई नहीं! काश! मेरे भी कोई बच्चा होता! जो ख़्वाहिश शाम के वक़्त चिड़ियों को घोसले में खींच लाती है और जिस ख़्वाहिश से बेकरार होकर जानवर शाम को अपने थानों की तरफ़ चलते हैं, वही ख़्वाहिश प्रेमसिंह के दिल में मौजें मारने लगी। ऐसा कोई नहीं, जो सुबह के वक़्त दादा कहकर उसके गले से लिपट जाए। ऐसा कोई नहीं, जिसे वह खाने के वक़्त कौर बना-बनाकर खिलाए। ऐसा कोई नहीं, जिसे वह रात के वक़्त लोरियाँ सुना-सुनाकर सुलाए। यह आकाक्षाएँ प्रेमसिंह के दिल में कभी न पैदा हुई थीं, मगर सारे दिन अकेलापन इतना उदास करनेवाला नहीं होता, जितना शाम का।

एक दिन प्रेमसिंह बाज़ार गया हुआ था। रास्ते में उसने देखा कि एक घर में आग लगी हुई है। आग के ऊँचे-ऊँचे डरावने शोले हवा में अपने झंडे लहरा रहे हैं और एक औरत दरवाज़े पर खड़ी सर पीट-पीटकर रो रही है। यह बेचारी विधवा स्त्री थी, उसका बच्चा अंदर सो रहा था कि घर में आग लग गई। वह दौड़ी थी कि गाँव के आदमियों को आग बुझाने के लिए बुलाए कि इतने में आग ने ज़ोर पकड़ लिया और अब तमाम जलते हुए शोलों का उमड़ा हुआ दरिया उसे उसके प्यारे बच्चे से अलग किए हुए था। प्रेमसिंह के दिल में उस औरत की दर्दनाक आहें चुभ गईं। वह बेधड़क आग में घुस गया और सोते हुए बच्चे को गोद में लेकर बाहर निकल आया। विधवा स्त्री ने बच्चे को गोद में ले लिया और उसके कोमल गालों को बार-बार चूमकर आँखों में आँसू भर लाई और बोली—"महाराज, तुम जो कोई हो, मैं आज अपना प्यारा बच्चा तुम्हें भेंट करती हूँ। तुम्हें ईश्वर ने और भी लड़के दिए होंगे, उन्हीं के साथ इस अनाथ की भी ख़बर लेते रहना। तुम्हारे दिल में दया है, मेरा सब कुछ अग्नि देवी ने ले लिया, अब इस तन के कपड़े के सिवा मेरे पास कोई चीज़ नहीं। मैं मज़दूरी करके अपना पेट पाल लूँगी। यह बच्चा अब तुम्हारा है।"

प्रेमसिंह की आँखें डबडबा गईं, बोला—"बेटी, ऐसा न कहो, तुम मेरे घर चलो और ईश्वर ने जो कुछ रूखा-सूखा दिया है, वह खाओ। मैं भी दुनिया में बिलकुल अकेला हूँ, कोई भी पानी देनेवाला नहीं है। क्या जाने परमात्मा ने इसी बहाने से हम लोगों को मिलाया हो।" शाम के वक़्त जब प्रेमसिंह घर लौटा तो उसकी गोद में एक हँसता हुआ फूल जैसा बच्चा था और पीछे-पीछे एक पीली मुरझाई हुई औरत। आज प्रेमसिंह का घर आबाद हुआ। आज से उसे किसी ने शाम के वक़्त नदी के किनारे ख़ामोश बैठे नहीं देखा।

इसी बच्चे के लिए साँप का मणि लाने का निश्चय करके प्रेमसिंह आधी रात के वक़्त कमर से तलवार लगाए, चौंक-चौंककर क़दम रखता, बरगद के पेड़ की तरफ़ चला।

जब पेड़ के नीचे पहुँचा तो मणि की दमक ज़्यादा साफ़ नज़र आने लगी, मगर साँप का कहीं पता न था। प्रेमसिंह बहुत ख़ुश हुआ, समझा, शायद साँप कहीं चरने गया है। मगर जब मणि को लेने के लिए हाथ बढ़ाया तो वहाँ साफ़ ज़मीन के सिवाय और कोई चीज़ न दिखाई दी। बूढ़े जाट का कलेजा सन से हो गया और बदन के रोंगटे

खड़े हो गए। यकायक उसे अपने सामने कोई चीज लटकती हुई दिखाई दी। प्रेमसिंह ने तेग़ा खींच लिया और उसकी तरफ़ लपका मगर देखा तो वह बरगद की जटा थी। अब प्रेमसिंह का डर बिलकुल दूर हो गया। उसने उस जगह को जहाँ रोशनी की लौ निकल रही थी, अपनी तलवार से खोदना शुरू किया। जब एक बित्ता ज़मीन खुद गई तो तलवार किसी सख़्त चीज़ से टकराई और लौ भभक उठी। यह एक छोटा-सा तेग़ा था मगर प्रेमसिंह के हाथ में आते ही उसकी लपट जैसी चमक ग़ायब हो गई।

3

यह एक छोटा-सा तेग़ा था, मगर बहुत आबदार। उसकी मूठ में अनमोल जवाहरात जड़े हुए थे और मूठ के ऊपर 'विक्रमादित्य' खुदा हुआ था। यह विक्रमादित्य का तेग़ा था, उस विक्रमादित्य का जो भारत का सूर्य्य बनकर चमका, जिसके गुन अब तक घर-घर में गाए जाते हैं। इस तेग़े ने भारत के अमर कालिदास की सोहबतें देखी हैं। जिस वक़्त विक्रमादित्य रातों को वेश बदलकर दुख-दर्द की कहानी अपने कानों से सुनने और अत्याचारों की लीला अपनी संवेदनशील आँखों से देखने के लिए निकलते थे, तो यही आबदार तेग़ा उनके बगल की शोभा हुआ करता था। जिस दया और न्याय ने विक्रमादित्य का नाम अब तक ज़िंदा रक्खा है, उसमें यह तेग़ा भी उनका हमदर्द और शरीक था। यह उनके साथ उस राजसिंहासन पर शोभायमान होता था जिस पर राजा भोज को भी बैठना नसीब न हुआ।

इस तेग़े में ग़ज़ब की चमक थी। बहुत ज़माने तक ज़मीन के नीचे दफ़न रहने पर भी उस पर ज़ंग का नाम न था। अँधेरे घरों में उससे उजाला हो जाता था। रात-भर चमकते हुए तारे की तरह जगमगाता रहता। जिस तरह चाँद बादलों के परदे में छिप जाता है मगर उसकी मद्धिम रोशनी छन-छनकर आती है, उसी तरह गिलाफ के अंदर से उस तेग़े की किरनें नज़रों के तीर मारा करती थीं।

मगर जब कोई व्यक्ति उसे हाथ में ले लेता तो उसकी चमक ग़ायब हो जाती थी। उसक यह गुण देखकर लोग दंग रह जाते थे।

हिंदुस्तान में इन दिनों शेरे पंजाब की ललकार गूँज रही थी। रनजीतसिंह दानशीलता और वीरता, दया और न्याय में अपने समय के विक्रमादित्य थे। उस घमंडी काबुल को, जिसने सदियों तक हिंदोस्तान को सर नहीं उठाने दिया था, ख़ाक में मिलाकर लाहौर जाते थे। माहनगर का खुला हुआ दिलकश मैदान और पेड़ों का आकर्पक जमघट देखा तो वहीं पड़ाव डाल दिया। बाज़ार लग गए। खेमे और शामियाने गाड़ दिए गए। जब रात हुई तो पचीस हज़ार चूल्हों का काला धुँआ सारे मैदान और बग़ीचे पर छा गया। और इस धुँए के आसमान में चूल्हों की आग, कंदीलें और मशालें ऐसी मालूम होती थीं, गोया अँधेरी रात में आसमान पर तारे निकल आए हैं।

4

शाही आरामगाह से गाने-बजाने की पुरशोर और पुरजोश आवाज़ें आ रही थीं। सिक्ख सरदारों ने सरहदी जगहों पर सैकड़ों अफ़गानी औरतें गिरफ़्तार कर ली थीं, जैसा उन दिनों लड़ाइयों में आमतौर पर हुआ करता था। वही औरतें इस वक़्त सायेदार दरख़्तों के नीचे कुदरती फर्श से सजी हुई महफ़िल में अपनी बेसुरी ताने आलाप रही थीं और महफ़िल के लोग जिन्हें गाने का आनंद उठाने की इतनी लालसा न थी, जितनी हँसने और खुश होने की, ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से कहकहे लगा-लगाकर हँस रहे थे। कहीं-कहीं मनचले सिपाहियों ने स्वाँग भरे थे, वह कुछ मशालें और सैकड़ों तमाशाइयों की भीड़ साथ लिए हुए इधर-उधर धूम मचाते फिरते थे। सारी फ़ौज के दिलों में बैठकर विजय की देवी अपनी लीला दिखा रही थी।

रात के नौ बजे होंगे कि एक आदमी काला कंबल ओढ़े एक बाँस का सोंटा लिए शाही खेमें से बाहर निकला और बस्ती की तरफ़ आहिस्ता-आहिस्ता चला। आज माहनगर भी खुशी से ऐंड़ रहा है। दरवाज़ों पर कई-कई बत्तियों वाले चौमुखे दीवट जल रहे हैं। दरवाज़ों के सहन झाड़कर साफ़ कर दिए गए हैं। दो-एक जगह शहनाइयाँ बज रही हैं और कहीं-कहीं लोग भजन गा रहे हैं। काली कमलीवाला मुसाफ़िर इधर-उधर देखता-भालता गाँव के चौपाल में जा पहुँचा। चौपाल ख़ूब सजा हुआ था और गाँव के बड़े लोग बैठे हुए इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर बहस कर रहे थे कि महाराज रनजीतसिंह की सेवा में कौन-सी भेंट पेश की जाए। आज महाराज ने इस गाँव को अपने क़दमों से रोशन किया है, तो क्या इस गाँव के बसने वाले महाराज के क़दमों को न चूमेंगे! ऐसे शुभ-अवसर कहाँ आते हैं। सब लोग सर झुकाए चिंतित बैठे थे। किसी की अक़्ल कुछ काम न करती थी। वहाँ अनमोल जवाहरात की किश्तियाँ कहाँ? पूरे घंटे-भर तक किसी ने सर न उठाया। यकायक बूढ़ा प्रेमसिंह खड़ा हो गया और बोला—"अगर आप लोग पसंद करें तो मैं विक्रमादित्य की तलवार नज़राने के लिए दे सकता हूँ।"

इतना सुनते ही सब-के-सब आदमी खुशी से उछल पड़े और एक हुल्लड़-सा मच गया। इतने में एक मुसाफ़िर काली कमली ओढ़े चौपाल के अंदर आया और हाथ उठाकर बोला—"भाइयो, वाह गुरु की जय!"

चेतराम बोले—"तुम कौन हो?"

मुसाफ़िर—"राहगीर हूँ, पेशावर जाना है। रात ज़्यादा आ गई है इसलिए यही लेट रहूँगा।"

टेकसिंह—"हाँ-हाँ आराम से सोओ। चारपाई की ज़रूरत हो तो मँगा दूँ?"

मुसाफ़िर—"नहीं, आप तकलीफ़ न करें, मैं इसी टाट पर लेट रहूँगा। अभी आप लोग विक्रमादित्य की तलवार की कुछ बातचीत कर रहे थे। यही सुनकर चला आया, वर्ना बाहर ही पड़ा रहता। क्या यहाँ किसी के पास विक्रमादित्य की तलवार है?"

मुसाफ़िर की बातचीत से साफ़ जाहिर होता था कि वह कोई शरीफ़ आदमी है। उसकी आवाज़ में वह कशिश थी जो कानों को अपनी तरफ़ खींच लिया करती है। सबकी आँखें उसकी तरफ़ उठ गईं। पंडित चेतराम बोले–"जी हाँ, कुछ अर्सा हुआ महाराज विक्रमादित्य का तेग़ा ज़मीन से निकला है।"

मुसाफ़िर–"यह क्योंकर मालूम हुआ कि यह तेग़ा उन्हीं का है?"

चेतराम–"उसकी मूठ पर उनका नाम ख़ुदा हुआ है।"

मुसाफ़िर–"उनकी तलवार तो बहुत बड़ी होगी?"

चेतराम–"नहीं, वह तो एक छोटा-सा नीमचा है।"

मुसाफ़िर–"तो फिर उसमें कोई ख़ास गुण होगा।"

चेतराम–"जी हाँ, उसके गुण अनमोल हैं। देखकर अक्ल दंग रह जाती है। जहाँ रख दो, उसमें जलते चिराग़ की-सी रोशनी पैदा हो जाती है।"

मुसाफ़िर–"ओफ़्फ़ोह!"

चेतराम–"मगर ज्यों ही कोई आदमी उसे हाथ में ले लेता है, उसकी चमक-दमक ग़ायब हो जाती है।"

यह अजीब बात सुनकर उस मुसाफ़िर को वही कैफ़ियत हो गई, जो एक आश्चर्यजनक कहानी सुनने से बच्चों को हो जाया करती है। उसकी आँख और भंगिमा से अधीरता प्रकट होने लगी। जोश से बोला–"विक्रमादित्य, तुम्हारे प्रताप को धन्य है!"

ज़रा देर के बाद फिर बोला–"वह कौन बुज़ुर्ग है जिनके पास यह अनमोल चीज़ है।"

प्रेमसिंह ने गर्व से कहा–"मेरे पास है।"

मुसाफ़िर–"क्या मैं उसे देख सकता हूँ?"

प्रेमसिंह–"हाँ, मैं आपको सबेरे दिखा दूँगा। मगर नहीं, ठहरिए, सबेरे तो हम उसे महाराज रनजीतसिंह को भेंट करेंगे, आपका जी चाहे तो इसी वक़्त देख लीजिए।"

दोनों आदमी चौपाल से चल खड़े हुए। प्रेमसिंह ने मुसाफ़िर को अपने घर में ले जाकर तेग़े के पास खड़ा कर दिया। इस कमरे में चिराग न था, मगर सारा कमरा रोशनी से जगमगा रहा था। मुसाफ़िर ने पुरजोश आवाज़ देकर कहा–"विक्रमादित्य, तुम्हारे प्रताप को धन्य है, इतना ज़माना गुज़रने पर भी तुम्हारी तलवार का तेज कम नहीं हुआ।"

यह कहकर उसने बड़े चाव से हाथ बढ़ाकर तेग़े को पकड़ लिया, मगर उसका हाथ लगते ही तेग़े की चमक जाती रही और कमरे में अँधेरा छा गया।

मुसाफ़िर ने फ़ौरन तेग़े को तख़्त पर रख दिया। उसका चेहरा अब बहुत उदास हो गया था। उसने प्रेमसिंह से कहा–"क्या तुम यह तेग़ा रनजीतसिंह को भेंट दोगे? वह इसे हाथ में लेने योग्य नहीं है।"

यह कहकर मुसाफ़िर तेज़ी से बाहर निकल आया। वृंदा दरवाज़े पर खड़ी थी, मुसाफ़िर ने उसके चेहरे की तरफ़ एक बार ग़ौर से देखा, मगर कुछ बोला नहीं।

रात आधी से ज़्यादा गुज़र चुकी थी। मगर फ़ौज में शोर-गुल बदस्तूर जारी था। ख़ुशी के हंगामे ने नींद को सिपाहियों की आँखों से दूर भगा दिया है। अगर कोई अँगड़ाई लेता या ऊँघता नज़र आ जाता है तो उसके साथी उसे एक टाँग से खड़ा कर देते हैं। यकायक यह ख़बर मशहूर हुई कि महाराज इसी वक़्त कूच करेंगे। लोग ताज्जुब में आ गए कि महाराज ने क्यों इस अँधेरी रात में सफ़र करने की ठानी है। इस डर से कि फ़ौज को इसी वक़्त कूच करना पड़ेगा चारों तरफ़ खलबली-सी मच गई। वह खुद थोड़े से आजमाए हुए सरदारों के साथ रवाना हो गए। इसका कारण किसी की समझ में न आया।

जिस तरह बाँध टूट जाने से तालाब का पानी काबू से बाहर होकर ज़ोर-शोर के साथ वह निकलता है, उसी तरह महाराज के आते ही फ़ौज के अफ़सर और सिपाही होश-हवास खोकर मस्तियाँ करने लगे।

5

वृंदा को विधवा हुए तीन साल गुज़रे हैं। उसका पति एक बेफ़िक्र और रंगीन मिज़ाज आदमी था। गाने-बजाने से उसे प्रेम था। घर की जो कुछ जमा-जथा थी, वह सरस्वती और उसके पुजारियों को भेंट कर दी। तीन लाख की जायदाद तीन साल के लिए भी काफ़ी न हो सकी, मगर उसकी कामना पूरी हो गई। सरस्वती देवी ने उसे आशीर्वाद दिया और उसने संगीत-कला में ऐसा कमाल पैदा किया कि अच्छे-अच्छे गुनी उसके सामने ज़बान खोलते डरते थे। गाने का उसे जितना शौक था, उतनी ही मुहब्बत उसे वृंदा से थी। उसकी जान अगर गाने में बसती थी तो दिल वृंदा की मुहब्बत से भरा हुआ था। पहले छेड़छाड़ में और फिर दिलबहलाव के लिए उसने वृंदा को कुछ गाना सिखाया। यहाँ तक कि उसको भी इस अमृत का स्वाद मिल गया और यद्यपि उसके पति को मरे तीन साल गुज़र गए हैं और उसने सांसारिक सुखों को अंतिम नमस्कार कर लिया है, यहाँ तक कि किसी ने उसके गुलाब के-से होंठों पर मुस्कुराहट की झलक नहीं देखी मगर गाने की तरफ़ अभी तक उसकी तबीयत झुकी हुई थी। उसका मन जब कभी बीते हुए दिनों की याद से उदास होता है तो वह कुछ गाकर जी बहला लेती है, लेकिन गाने में उसका उद्देश्य इंद्रिय का आनंद नहीं होता, बल्कि जब वह कोई सुंदर राग अलापने लगती है तो ख़याल में अपने पति को खुशी से मुस्कराते हुए देखती है। वही काल्पनिक चित्र उसके गाने की प्रशंसा करता हुआ दिखाई देता है। गाने में उसका लक्ष्य अपने स्वर्गीय पति की स्मृति को ताज़ा करना है। गाना उसके नज़दीक पतिव्रत धर्म्म का निबाह है।

तीन पहर रात जा चुकी है, आसमान पर चाँद की रोशनी मंद हो चुकी है, चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा छाया हुआ है और इन विचारों को जन्म देनेवाले सन्नाटे में वृंदा ज़मीन पर बैठी हुई मद्धिम स्वरों में गा रही है–

बता दे कोई प्रेमनगर की डगर।

वृंदा की आवाज़ में लोच भी है और दर्द भी। उसमें बेचैन दिल को तसकीन देनेवाली ताक़त भी है और सोए हुए भावों को जगा देने की शक्ति भी। सुबह के वक़्त पूरब की गुलाबी आभा में सर उठाए हुए फूलों से लदी हुई डाली पर बैठकर गानेवाले बुलबुल की चहक में भी यह घुलावट नहीं होती। यह वह गाना है, जिसे सुनकर अकलुष आत्माएँ सिर धुनने लगती हैं। उसकी तान कान को छेदती हुई जिगर में जा पहुँचती है–

बता दे कोई प्रेमनगर की डगर।
मैं बौरी पग-पग पर भटकूँ, काहू की कुछ नाहीं ख़बर।
बता दे कोई प्रेमनगर की डगर।

यकायक किसी ने दरवाज़ा खटखटाया और कई आदमी पुकारने लगे–"किसका मकान है, दरवाज़ा खोलो।"

वृंदा चुप हो गई। प्रेमसिंह ने उठकर दरवाज़ा खोल दिया। दरवाज़े के सहन में सिपाहियों की एक भीड़ थी। दरवाज़ा खुलते ही कई सिपाही देहलीज़ में घुस आए और बोले–"तुम्हारे घर कोई गानेवाली रहती है, हम उसका गाना सुनेंगे।"

प्रेमसिंह ने कड़ी आवाज़ में कहा–"हमारे यहाँ कोई गानेवाली नहीं है।"

इस पर कई सिपाहियों ने प्रेमसिंह को पकड़ लिया और बोले–"तेरे घर से गाने की आवाज़ आती थी।"

एक सिपाही–"बताता क्यों नहीं रे, कौन गा रहा है?"

प्रेमसिंह–"मेरी लड़की गानेवाली नहीं है।"

सिपाही–"कोई हो, हम तो आज गाना सुनेंगे।"

गुस्से से प्रेमसिंह काँपने लगा, होंठ चबाकर बोला–"यारों हमने भी अपनी ज़िंदगी फ़ौज ही में काटी है मगर कभी..."

इस हंगामें में प्रेमसिंह की बात किसी ने न सुनी। एक नौजवान जाट ने जिसकी आँखें नशे से लाल हो रही थीं, ललकारकर कहा–"इस बुड्ढे की मूँछे उखाड़ लो।"

वृंदा आँगन में पत्थर की मूरत की तरह खड़ी यह कैफ़ियत देख रही थी। जब उसने दो सिपाहियों को प्रेमसिंह की मूँछ पकड़कर खींचते देखा तो उससे न रहा गया। वह निर्भय सिपाहियों के बीच घुस आई और ऊँची आवाज़ में बोली–"कौन मेरा गाना सुनना चाहता है?"

सिपाहियों ने उसे देखते ही प्रेमसिंह को छोड़ दिया और बोले–"हम सब तेरा गाना सुनेंगे।"

वृंदा—"अच्छा बैठ जाओ, मैं गाती हूँ।"

इस पर कई सिपाहियों ने ज़िद की कि इसे पड़ाव पर ले चलो, वहाँ ख़ूब रंग जमेगा।

जब वृंदा सिपाहियों के साथ पड़ाव की तरफ़ चली तो प्रेमसिंह ने कहा—"वृंदा इनके साथ जाती हो तो फिर इस घर में पैर न रखना।"

वृंदा जब पड़ाव पर पहुँची तो वहाँ बदमस्तियों का एक तूफ़ान मचा हुआ था। विजय की देवी दुश्मन को बर्बाद करके अब विजेताओं की मानवता और सज्जनता को पाँव से कुचल रही थी। हैवानियत का खूँखार शेर दुश्मन के ख़ून से तृप्त न होकर अब मानवोचित भावों का ख़ून चूस रहा था। वृंदा को लोग एक सजे हुए खेमे में ले गए। यहाँ फ़र्शी चिराग़ रोशन थे और आग-जैसी शराब के दौर चल रहे थे। वृंदा उस मेमने की तरह, जो खूँखार दरिंदों के पंजे में फँस जाता है, फर्श के एक कोने पर सहमी हुई बैठी थी। वासना का भूत जो इस वक़्त दिलों में अपनी शैतानी फ़ौज सजाए बैठा था, कभी आँखों की कमान से सतीत्व का नाश करनेवाले तेज़ तीर चलाता, कभी मुँह की कमान से मर्मवेधी बाणों की बौछार करता। ज़हरीली शराब में बुझे हुए यह तीर वृंदा के कोमल और पवित्र हृदय को छेदते हुए पार हो जाते थे। वह सोच रही थी—ऐ द्रौपदी की लाज रखनेवाले कृष्ण भगवान तुमने धर्म के बंधन में बँधे हुए पांडवों के होते हुए द्रौपदी की लाज रखी थी, मैं तो दुनिया में बिलकुल अनाथ हूँ, क्या मेरी लाज न रखोगे? यह सोचते हुए उसने मीरा का मशहूर भजन गाया—

सिया रघुवीर भरोसो ऐसो।

वृंदा ने यह गीत बड़े मोहक ढंग से गाया। उसके मीठे सुरों में मीरा का अंदाज़ पैदा हो गया था। प्रकट रूप से वह शराबी सिपाहियों के सामने बैठी गा रही थी, मगर कल्पना की दुनिया में वह मुरलीवाले श्याम के सामने हाथ बाँधे खड़ी उससे प्रार्थना कर रही थी।

ज़रा देर के लिए उस शोर से भरे हुए महल में निस्तब्धता छा गई। इंसान के दिल में बैठे हुए हैवान पर भी प्रेम की यह तड़पा देनेवाली पुकार अपना जादू चला गई। मीठा गाना मस्त हाथी को भी बस में कर लेता है। पूरे घंटे-भर तक वृंदा ने सिपाहियों को मूर्तिवत् रक्खा। सहसा घड़ियाल ने पाँच बजाए। सिपाही और सरदार चौंक पड़े। सबका नशा हिरन हो गया। चालीस कोस की मंज़िल तय करनी है, फ़ुर्ती के साथ रवानगी की तैयारियाँ होने लगीं। खेमे उखड़ने लगे, सवारों ने घोड़ों को दाना खिलाना शुरू किया। एक भगदड़ मच गई। उधर सूरज निकला, इधर फ़ौज ने कूच का डंका बजा दिया। शाम को जिस मैदान का एक-एक कोना आबाद था, सुबह को वहाँ कुछ भी न था। सिर्फ़ टूटे-फूटे उखड़े चूल्हों की राख और खेमों की कीलों के निशान उस शान-शौकत की यादगार के रूप में रह गए थे।

वृंदा ने जब महफ़िल के लोगों को रवानगी की तैयारियों में व्यस्त देखा तो वह खेमें से बाहर निकल आई। कोई बाधक न हुआ, मगर उसका दिल धड़क रहा था कि कहीं कोई आकर फिर न पकड़ ले। जब वह पेड़ों के झुरमुट से बाहर पहुँची तो उसकी जान में जान आई। बड़ा सुहाना मौसम था, ठंडी-ठंडी मस्त हवा पेड़ों के पत्तों पर धीमे-धीमे चल रही थी और पूरब के क्षितिज में सूर्य्य भगवान की अगवानी के लिए लाल मखमल का फ़र्श बिछाया जा रहा था। वृंदा ने आगे क़दम बढ़ाना चाहा। मगर उसके पाँव न उठे। प्रेमसिंह की यह बात कि सिपाहियों के साथ जाती हो तो फिर इस घर में पैर न रखना, उसे याद आ गई। उसने एक लंबी साँस ली और ज़मीन पर बैठ गई। दुनिया में अब उसके लिए कोई ठिकाना न था।

उस अनाथ चिड़िया की हालत कैसी दर्दनाक है जो दिल में उड़ने की चाह लिए हुए बहेलिये की क़ैद से निकल आती है मगर आज़ाद होने पर उसे मालूम होता है कि उस निष्ठुर बहेलिये ने उसके परों को काट दिया है। वह पेड़ों की सायेदार डालियों की तरफ़ बार-बार हसरत की निगाहों से देखती है मगर उड़ नहीं सकती और एक बेबसी के आलम में सोचने लगती है कि काश बहेलिया मुझे फिर अपने पिंजरे में कैद कर लेता। वृंदा की हालत इस वक़्त ऐसी ही दर्दनाक थी।

वृंदा कुछ देर तक इस खयाल में डूबी बैठी रही, फिर वह उठी और धीरे-धीरे प्रेमसिंह के दरवाज़े पर आई। दरवाज़ा खुला हुआ था, मगर वह अंदर क़दम न रख सकी। उसने दरोदीवार को हसरतभरी निगाहों से देखा और फिर जंगल की तरफ़ चली गई।

6

शहर लाहौर के एक शानदार हिस्से में ठीक सड़क के किनारे एक अच्छा-सा साफ़-सुथरा तिमंज़िला मकान है। हरी-भरी और सुंदर फूलोंवाली माधवी लता ने उसकी दीवारों और मेहराबों को ख़ूब सजा दिया है। इसी मकान में एक अमीराना ठाट-बाट से सजे हुए कमरे के अंदर वृंदा एक मखमली क़ालीन पर बैठी हुई अपनी सुंदर रंगों और मीठी आवाज़वाली मैना को पढ़ा रही है। कमरे की दीवारों पर हलके हरे रंग की क़लई है—खुशनुमा दीवारगीरियाँ, ख़ूबसूरत तसवीरें उचित स्थानों पर शोभा दे रही हैं। संदल और खस की प्राणवर्द्धक सुगंध कमरे में फैली हुई है। एक बूढ़ी औरत बैठी हुई पंखा झल रही है। मगर इस ऐश्वर्य और विलास की सब सामग्रियों के होते हुए वृंदा का चेहरा उदास है। उसका चेहरा अब और भी पीला नज़र आता है। मौलश्री का फूल मुरझा गया है।

वृंदा अब लाहौर की मशहूर गानेवालियों में से है। उसे इस शहर में आए तीन महीने से ज़्यादा नहीं हुए, मगर इतने ही दिनों में उसने बहुत बड़ी शोहरत हासिल कर ली है। यहाँ उसका नाम श्यामा मशहूर है। इतने बड़े शहर में जिससे श्यामाबाई का

पता पूछो वह यक़ीनन बता देगा। श्यामा की आवाज़ और अंदाज़ में कोई मोहनी है, जिसने शहर में हर किसी को अपना प्रेमी बना रक्खा है। लाहौर में बाकमाल गानेवालियों की कमी नहीं है। लाहौर उस ज़माने में हर कला का केंद्र था मगर कोयलें और बुलबुलें बहुत थीं, श्यामा सिर्फ़ एक थी। वह ध्रुपद ज़्यादा गाती थी इसलिए लोग उसे ध्रुपदी श्यामा कहते थे।

लाहौर में मियाँ तानसेन के खानदान के कई ऊँचे कलाकार हैं, जो राग और रागनियों में बातें करते हैं। वह श्यामा का गाना पसंद नहीं करते। वह कहते हैं कि श्यामा का गाना अक्सर ग़लत होता है। उसे राग और रागनियों का ज्ञान नहीं। मगर उनकी इस आलोचना का किसी पर कुछ असर नहीं होता। श्यामा ग़लत गाये या सही गाये वह जो कुछ गाती है उसे सुनकर लोग मस्त हो जाते हैं। उसका भेद यह है कि श्यामा हमेशा दिल से गाती है और जिन भावों को वह प्रकट करती है उन्हें खुद भी अनुभव करती है। वह कठपुतलियों की तरह तुली हुई अदाओं की नक़ल नहीं करती। अब उसके बग़ैर महफ़िलें सूनी रहती हैं। हर महफ़िल में उसका मौजूद होना लाज़िमी हो गया है। वह चाहे श्लोक ही गाए मगर उसके बग़ैर संगीत–प्रेमियों का जी नहीं भरता। तलवार की बाढ़ की तरह वह महफिलों की जान है। उसने साधारणजनों के हृदय में यहाँ तक घर कर लिया है कि जब वह अपनी पालकी पर हवा खाने निकलती है तो उस पर चारों तरफ़ से फूलों की बौछार होने लगती है। महाराज रनजीतसिंह को काबुल से लौटे हुए तीन महीने गुज़र गए, मगर अभी तक विजय की खुशी में कोई जलसा नहीं हुआ। वापसी के बाद कई दिन तक तो महाराज किसी कारण से उदास थे, उसके बाद उनके स्वभाव में यकायक एक बड़ा परिवर्तन आया, उन्हें काबुल की विजय की चर्चा से घृणा-सी हो गई। जो कोई उन्हें इस जीत की बधाई देने.जाता, उसकी तरफ़ से मुँह फेर लेते थे। वह आत्मिक उल्लास जो मौज़ा माहनगर तक उनके चेहरे से झलकता था, अब वहाँ न था। काबुल को जीतना उनकी ज़िंदगी की सबसे बड़ी आरज़ू थी। वह मोर्चा जो एक हज़ार साल तक हिंदू राजाओं की कल्पना से बाहर था, उनके हाथों सर हुआ। जिस मुल्क ने हिंदोस्तान को एक हज़ार बरस तक अपने मातहत रक्खा वहाँ हिंदू क़ौम का झंडा रनजीतसिंह ने उड़ाया। ग़ज़नी और काबुल की पहाड़ियाँ इंसानी ख़ून से लाल हो गईं, मगर रनजीतसिंह खुश नहीं हैं। उनके स्वभाव की कायापलट का भेद किसी की समझ में नहीं आता। अगर कुछ समझती है तो वृंदा समझती है।

तीन महीने तक महाराज की यही कैफ़ियत रही। इसके बाद उनका मिज़ाज अपने असली रंग पर आने लगा। दरबार की भलाई चाहनेवाले इस मौक़े के इंतज़ार में थे। एक रोज़ उन्होंने महाराज से एक शानदार जलसा करने की प्रार्थना की। पहले तो वह बहुत क्रुद्ध हुए, मगर आख़िरकार मिज़ाज समझनेवालों की घातें अपना काम कर गईं।

जलसे की तैयारियाँ बड़े पैमाने पर की जाने लगीं। शाही नृत्यशाला की सजावट होने लगी। पटना, बनारस, लखनऊ, ग्वालियर, दिल्ली और पूना की नामी वेश्याओं को संदेश भेजे गए। वृंदा को भी निमंत्रण मिला। आज एक मुद्दत के बाद उसके चेहरे पर मुस्कराहट की झलक दिखाई दी।

जलसे की तारीख़ निश्चित हो गई। लाहौर की सड़कों पर रंग-बिरंगी झंडिया लहराने लगीं। चारों तरफ़ से नवाब और राजे बड़ी शान के साथ सज-सजकर आने लगे। होशियार फ़र्राशों ने नृत्यशाला को इतने सुंदर ढंग से सजाया था कि उसे देखकर लगता था विलास का विश्रामस्थल है।

शाम के वक़्त शाही दरबार जमा। महाराजा साहब सुनहरे राजसिंहासन पर शोभायमान हुए। नवाब और राजे, अमीर और रईस, हाथी-घोड़ों पर सवार अपनी सजधज दिखाते हुए एक जलूस बनाकर महाराज की कदमबोसी को चले। सड़क पर दोनों तरफ़ तमाशाइयों का ठट लगा था। ख़ुशी का रंगों से भी कोई गहरा संबंध है। जिधर आँख उठती थी, रंग-ही-रंग दिखाई देते थे। ऐसा मालूम होता था कि कोई उमड़ी हुई नदी रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियों से बहती चली आती है।

अपनी ख़ुशी के जोश में कभी-कभी लोग अभद्रता भी कर बैठते थे। एक पंडित जी मिर्ज़ई पहने सर पर गोल टोपी रक्खे तमाशा देखने में लगे थे। किसी मनचले ने उनकी तोंद पर एक चमगादड़ चिटा दी। पंडित जी बेतहाशा तोंद मटकाते हुए भागे। बड़ा क़हक़हा पड़ा। एक और मौलवी साहब नीची अचकन पहने एक दुकान पर खड़े थे। दुकानदार ने कहा—"मौलवी साहब, आपको खड़े-खड़े तकलीफ़ होती है, यह कुर्सी रक्खी हुई है, बैठ जाइए।" मौलवी साहब बहुत ख़ुश हुए, सोचने लगे कि शायद मेरे रूप-रंग से रोब झलक रहा है, वर्ना दुकानदार कुर्सी क्यों देता? दुकानदार आदमियों के बड़े पारखी होते हैं। हज़ारों आदमी खड़े हैं मगर उसने किसी से बैठने की प्रार्थना न की। मौलवी साहब मुस्कुराते हुए कुर्सी पर बैठे, मगर बैठते ही पीछे की तरफ़ लुढ़के और नीचे बहती हुई नाली में गिर पड़े। सारे कपड़े लथपथ हो गए। दुकानदार को हज़ारों खरी-खोटी सुनाई। बड़ा कहकहा पड़ा। कुर्सी तीन ही टाँग की थी।

एक जगह कोई अफ़ीमची साहब तमाशा देखने आए हुए थे। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, छिदरे-छिदरे सर के बाल और दाढ़ी के बाद मेहंदी से रँगे हुए थे। आँखों में सुरमा भी था। आप बड़े ग़ौर से सैर करने में लगे थे। इतने में एक हलवाई सर पर खोमचा रक्खे हुए आया और बोला—"खाँ साहब, जुमेरात की गुलाबवाली रेवड़ियाँ हैं। आज पैसे की आध पाव लगा दीं, खा लीजिए वर्ना पछताइएगा।" अफ़ीमची साहब ने जेब में हाथ डाला मगर पैसे न थे। हाथ मल कर रह गए, मुँह में पानी भर आया। गुलाबवाली रेवड़ियाँ और पैसे में आध पाव! न हुए पैसे नहीं तो सेरों तुला लेते। हलवाई ताड़ गया, बोला—"आप पैसों की कुछ फ़िक्र न करें, पैसे फिर मिल जाएँगे।

आप कोई ऐसे-वैसे आदमी थोड़े ही हैं।" अफ़ीमची साहब की बाँछें खिल गईं, रूह फड़क उठी। अपने पाव-भर रेवड़ियाँ लीं और जी में कहा—अब पैसा देनेवाले पर लानत है। घर से निकलूँगा नहीं, तो पैसे क्या लोगे? अपने रूमाल में रेवड़ियाँ लीं। आशिक के दिल में सब्र कहाँ? मगर जयों ही पहली रेवड़ी ज़बान पर रक्खी कि तिलमिला गए। पागल कुत्ते की तरह पानी की तलाश में इधर-उधर दौड़ने लगे। आँख और नाक से पानी बहने लगा। आधा मुँह खोलकर ठंडी हवा से ज़बान की जलन बुझाने लगे। जब होश ठीक हुए तो हलवाई को हज़ारों गालियाँ सुनाईं। इस पर भी लोग ख़ूब हँसे। खुशी के मौक़ों पर ऐसी शरारतें अक्सर हुआ करती हैं और इन्हें लोग मुआफ़ी के क़ाबिल समझते हैं, क्योंकि वह खौलती हुई हाँडी के उबाल हैं।

रात के नौ बजे संगीतमाला में जमघट हुआ। सारा महल नीचे से ऊपर तक रंग-बिरंगी हाँड़ियों और फ़ानूसों से जगमगा रहा था। अंदर झाड़ों की बहार थी। एक बाकमाल कारीगर ने रंगशाला के बीचो-बीच अधर में लटका हुआ एक फ़व्वारा लगाया था, जिसके सूराखों से ख़स और केवड़ा, गुलाब और संदल का अरक़ हलकी फुहारों में बरस रहा था। महफ़िल में अंबर की बौछार करनेवाली तरावट फैली हुई थी। ख़ुशी अपनी सखियों-सहेलियों के साथ खुशियाँ मना रही थी।

दस बजे महाराजा रनजीतसिंह तशरीफ़ लाए। उनके बदन पर तंज़ेब की एक सफेद अचकन थी और सिर पर तिरछी पगड़ी बँधी हुई थी। जिस तरह सूरज क्षितिज की रंगीनियों से पाक रहकर अपनी पूरी रोशनी दिखा सकता है उसी तरह हीरे और जवाहरात, दीवा[1] और हरीर[1] की पुरतकल्लुफ़ सजावट से मुक्त रहकर महाराजा रनजीतसिंह का प्रताप पूरी तेज़ी के साथ चमक रहा था।

चंद नामी शायरों ने महाराज की शान में इसी मौक़े के लिए क़सीदे कहे थे। मगर उपस्थित लोगों के चेहरों से उनके दिलों में जोश खाता हुआ संगीत-प्रेम देखकर महाराज ने गाना शुरू करने का हुक्म दिया। तबले पर थाप पड़ी, साज़िंदों ने सुर मिलाया, नींद से झपकती हुई आँखें खुल गईं और गाना शुरू हो गया।

7

उस शाही महफ़िल में रात-भर मीठे-मीठे गानों की बौछार होती रही। पीलू और पिरच, देस और बिहाग के मदभरे झोंके चलते रहे। सुंदरी नर्तकियों ने बारी-बारी से अपना कमाल दिखाया। किसी की नाज़-भरी अदाएँ दिलों में खुब गईं, किसी का थिरकना क़त्लेआम कर गया, किसी की रसीली तानों पर वाह-वाह मच गई। ऐसी तबीयतें बहुत कम थीं, जिन्होंने सच्चाई के साथ गाने का पवित्र आनंद उठाया हो।

---

1. रेशमी कपड़ों के नाम।

चार बजे होंगे जब श्यामा की बारी आई तो उपस्थित लोग सम्हल बैठे। चाव के मारे लोग आगे खिसकने लगे। खुमारी से भरी हुई आँखें चौंक पड़ीं। वृंदा महफ़िल में आई और सर झुकाकर खड़ी हो गई। उसे देखकर लोग हैरत में आ गए। उसके शरीर पर न आवदार गहने थे, न ख़ुशरंग, न भड़कीली पेशवाज़। वह सिर्फ़ एक गेरुए रंग की साड़ी पहने हुए थी। जिस तरह गुलाब की पंखुरी पर डूबते सूरज की सुनहरी किरन चमकती है, उसी तरह उसके गुलाबी होठों पर मुस्कराहट झलकती थी। उसका आडंबर से मुक्त सौंदर्य अपने प्राकृतिक वैभव की शान दिखा रहा था। असली सौंदर्य बनाव-सिंगार का मोहताज नहीं होता। प्रकृति के दर्शन से आत्मा को जो आनंद प्राप्त होना है, वह सजे हुए बाग़ीचों की सैर से मुमकिन नहीं। वृंदा ने गाया—

सब दिन नहीं बराबर जात।

यह गीत इससे पहले भी लोगों ने सुना था मगर इस वक़्त का-सा असर कभी दिलों पर नहीं हुआ था। किसी के सब दिन बराबर नहीं जाते, यह कहावत रोज़ सुनते थे। आज उसका मतलब समझ में आया। किसी रईस को वह दिन याद आया, जब खुद उसके सिर पर ताज था, आज वह किसी का ग़ुलाम है। किसी को अपने बचपन की, लाड़-प्यार की गोद याद आई, किसी को वह ज़माना याद आया, जब वह जीवन के मोहक सपने देख रहा था। मगर अफ़सोस अब वह सपना तितर-बितर हो गया। वृंदा भी बीते हुए दिनों को याद करने लगी। एक दिन वह था कि उसके दरवाज़े पर अताइयों और गानेवालों की भीड़ रहती थी और दिल में खुशियों की और आज, आह आज! इसके आगे वृंदा कुछ न सोच सकी। दोनों हालतों का मुक़ाबिला बहुत दिल तोड़नेवाला था, निराशा से भर देनेवाला। उसकी आवाज़ भारी हो गई और रोने से गला बैठ गया।

महाराजा रनजीतसिंह श्यामा के तर्ज़ व अंदाज़ को ग़ौर से देख रहे थे। उनकी तेज़ निगाहें उसके दिल में पहुँचने की कोशिश कर रही थीं। लोग अचंभे में पड़े हुए थे कि क्यों उनकी ज़बान से तारीफ़ और क़द्रदानी की एक बात भी न निकली। वह ख़ुश न थे, उदास भी न थे, वह ख़याल में डूबे हुए थे। उन्हें हुलिये से साफ़ पता चल रहा था कि यह औरत हरगिज़ अपनी अदाओं को बेचनेवाली औरत नहीं है। यकायक वह उठ खड़े हुए और बोले—"श्यामा, वृहस्पति को मैं फिर तुम्हारा गाना सुनूँगा।"

8

वृंदा के चले जाने के बाद उसका फूल-सा बच्चा राजा उठा और आँखें मलता हुआ बोला—"अम्मा कहाँ है?"

प्रेमसिंह ने उसे गोद में लेकर क़हा—"अम्मा मिठाई लेने गई है।"

राजा ख़ुश हो गया, बाहर जाकर लड़कों के साथ खेलने लगा। मगर कुछ देर के बाद फिर बोला—"अम्माँ मिठाई।"

प्रेमसिंह ने मिठाई लाकर दी। मगर राजा रो-रोकर कहता रहा, "अम्माँ मिठाई।" वह शायद समझा था कि अम्माँ की मिठाई इस मिठाई से ज़्यादा मीठी होगी।

आख़िर प्रेमसिंह ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया और दोपहर तक खेतों में घूमता रहा। राजा कुछ देर तक चुप रहता और फिर चौंककर पूछने लगता—"अम्माँ कहाँ है?"

बूढ़े सिपाही के पास इस सवाल का कोई जवाब न था। वह बच्चे के पास से एक पल को कहीं न भी जाता और उसे बातों में लगाए रहता कि कहीं वह फिर न पूछ बैठे, अम्मा कहाँ है? बच्चों की स्मरणशक्ति कमज़ोर होती है। राजा कई दिनों तक बेक़रार रहा, आख़िर धीरे-धीरे माँ की याद उसके दिल से मिट गई। इस तरह तीन महीने गुज़र गए। एक रोज़ शाम के वक़्त राजा अपने दरवाज़े पर खेल रहा था कि वृंदा आती हुई दिखाई दी। राजा ने उसकी तरफ़ गौर से देखा , ज़रा झिझका, फिर दौड़कर उसकी टाँगों में लिपट गया और बोला—"अम्माँ, आई, अम्माँ आई।"

वृंदा की आँखों से आँसू जारी हो गए। उसने राजा को गोद में उठा लिया और कलेजे से लगाकर बोली—"बेटा अभी मैं नहीं आई, फिर कभी आऊँगी।" राजा इसका मतलब न समझा। वह उसका हाथ पकड़कर खींचता हुआ घर की तरफ़ चला। माँ की ममता वृंदा को दरवाज़े तक ले गई। मगर चौखट से आगे न ले जा सकी। राजा ने बहुत खींचा मगर वह आगे न बढ़ी। तब राजा की बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भर आए। उसके होंठ फैल गए और वह रोने लगा।

प्रेमसिंह उसका रोना सुनकर बाहर निकल आया, देखा तो वृंदा खड़ी है। चौंककर बोला—"वृंदा!" मगर वृंदा कुछ जवाब न दे सकी।

प्रेमसिंह ने फिर कहा—"बाहर क्यों खड़ी हो, अंदर आओ। अब तक कहाँ थीं?"

वृंदा ने आँसू पोंछते हुए जवाब दिया—"मैं अंदर न आऊँगी।"

प्रेमसिंह—"आओ-आओ, अपने बूढ़े बाप की बातों का बुरा न मानो।"

वृंदा—"नहीं दादा, मैं अंदर क़दम नहीं रख सकती।"

प्रेमसिंह—"क्यों?"

वृंदा—"फिर कभी बताऊँगी। मैं तुम्हारे पास वह तेग़ा लेने आई हूँ।"

प्रेमसिंह ने अचरज में आकर पूछा—"उसे लेकर क्या करोगी?"

वृंदा—"अपनी बेइज़्ज़ती का बदला लूँगी।"

प्रेमसिंह—"किससे?"

वृंदा—"रनजीतसिंह से।"

प्रेमसिंह ज़मीन पर बैठ गया और वृंदा की बातों पर ग़ौर करने लगा, फिर बोला—"वृंदा, तुम्हें मौका क्योंकर मिलेगा?"

वृंदा–"कभी-कभी धूल के साथ उड़कर चींटी भी आसमान तक जा पहुँचती है।"

प्रेमसिंह–"मगर बकरी शेर से क्योंकर लड़ेगी?"

वृंदा–"इसी तेग़े की मदद से।"

प्रेमसिंह–"इस तेग़े ने कभी छिपकर ख़ून नहीं किया।"

वृंदा–"दादा, यह विक्रमादित्य का तेग़ा है। इसने हमेशा दुःखियारों की मदद की है।"

प्रेमसिंह ने तेग़ा लाकर वृंदा के हाथ में रख दिया। वृंदा उसे पहलू में छिपाकर जिस तरफ़ से आई थी उसी तरफ़ चली गई। सूरज डूब गया था। पश्चिम के क्षितिज में रोशनी का कुछ-कुछ निशान बाक़ी था और भैंसें अपने बछड़ों को देखने के लिए चरागाहों से दौड़ती और चाव-भरी हुई आवाज़ से मिमियाती चली आती थीं और वृंदा अपने बच्चे को रोता छोड़कर शाम के अँधेरे डरावने जंगल की तरफ़ जा रही थी।

9

वृहस्पति का दिन है। रात के दस बज चुके हैं, महाराजा रनजीतसिंह अपने विलास-भवन में शोभायमान हो रहे हैं। एक सात बत्तियोंवाला झाड़ रौशन है, मानो दीपक-सुंदरी अपनी सहेलियों के साथ शबनम का घूँघट मुँह पर डाले हुए अपने रूप के गर्व में खोई हुई है। महाराजा साहब के सामने वृंदा गेरुए रंग की साड़ी पहने बैठी है। उसके हाथ में एक बीन है, उसी पर वह एक लुभावना गीत अलाप रही है।

महाराज बोले–"श्यामा, मैं तुम्हारा गाना सुनकर बहुत ख़ुश हुआ, तुम्हें क्या दूँ?"

श्यामा ने एक विशेष भाव से सिर झुकाकर कहा–"हूज़ूर के अख़्तियार में कुछ है।"

रनजीतसिंह–"जागीर लोगी?"

श्यामा–"ऐसी चीज़ दीजिए, जिससे आपका नाम हो जाए।"

महाराज ने वृंदा की तरफ़ ग़ौर से देखा। उसकी सादगी कह रही थी कि वह धन-दौलत को कुछ नहीं समझती। उसकी दृष्टि की पवित्रता और चेहरे की गंभीरता साफ़ बता रही थी कि वह वेश्या नहीं है, जो अपनी अदाओं को बेचती है। फिर पूछा–"कोहनूर लोगी?"

श्यामा–"वह हुज़ूर के ताज में अधिक सुशोभित है।"

महाराज ने आश्चर्य में पड़कर कहा–"तुम ख़ुद माँगो।"

श्यामा–"मिलेगा?"

रनजीतसिंह–"हाँ।"

श्यामा–"मुझे इंसाफ़ के ख़ून का बदला दिया जाए।"

महाराज रनजीतसिंह चौंक पड़े। वृंदा की तरफ़ फिर ग़ौर से देखा और सोचने लगे, इसका क्या मतलब है? इंसाफ़ किसी के ख़ून का प्यासा नहीं होता, यह औरत ज़रूर किसी ज़ालिम रईस या राजा की सताई हुई है। क्या अजब है कि उसका पति कहीं का राजा हो। ज़रूरी ऐसा ही है। उसे किसी ने क़त्ल कर दिया है। इंसाफ़ को ख़ून की प्यास इसी हालत में होती है; इसी वक़्त इंसाफ़ ख़ूँखार जानवर हो जाता है। मैंने वादा किया है कि वह जो कुछ माँगेगी, वह दूँगा। उसने एक बेशक़ीमत चीज़ माँगी है, इंसाफ़ के ख़ून का बदला। वह उसे मिलना चाहिए। मगर किसका ख़ून? यह सवाल मेरे दिल में न पैदा होना चाहिए। इंसाफ़ जिसका ख़ून माँगे उसका ख़ून मुझे देना चाहिए। इंसाफ़ के सामने सबका ख़ून बराबर है। मगर इंसाफ़ को ख़ून पाने का हक है, इसका फ़ैसला कौन करेगा? बैर के बुखार से भरे हुए आदमी के हाथ में इसका फ़ैसला नहीं रहना चाहिए। अक़्सर एक कड़ी बात, एक दिल जला देनेवाला ताना इंसान के दिल में ख़ून की प्यास पैदा कर देता है। इस दिल जलानेवाले ताने की आग उस वक़्त तक नहीं बुझती, जब तक उस पर ख़ून के छींटे न दिए जाएँ। मैंने जबान दे दी है तो ग़लती हुई। पूरी बात सुने बग़ैर, मुझे इंसाफ के ख़ून का बदला देने का वादा हरगिज़ न करना चाहिए था। इन विचारों ने राजा को कई मिनट तक अपने में खोया हुआ रक्खा। आख़िर वह बोले–"श्यामा, तुम कौन हो?"

वृंदा–"एक अनाथ औरत।"

राजा–"तुम्हारा घर कहाँ है?"

वृंदा–"माहनगर में।"

रनजीतसिंह ने वृंदा को फिर ग़ौर से देखा। कई महीने पहले रात के समय माहनगर में एक भोली-भाली औरत की जो तसवीर दिल में खींची थी, वह इस औरत से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उस वक़्त आँखें इतनी बेधड़क न थीं। उस वक़्त आँखों में शर्म का पानी था, अब शोख़ी की झलक है। तब सच्चा मोती था, अब झूठा हो गया है।

महाराज बोले–"श्यामा, इंसाफ़ किसका ख़ून चाहता है?"

वृंदा–"जिसे आप दोषी ठहराएँ। जिस दिन हुजूर ने रात को माहनगर में पड़ाव किया था, उसी रात को आपके सिपाही मुझे ज़बरदस्ती खींचकर पड़ाव पर लाए और मुझे इस क़ाबिल नहीं रक्खा कि लौटकर अपने घर जा सकूँ। मुझे उनकी नापाक निगाहों का निशाना बनना पड़ा। उनकी बेबाक ज़बानों ने, उनके शर्मनाक इशारों ने मेरी इज़्ज़त ख़ाक में मिला दी। आप वहाँ मौजूद थे और आपकी बेकस रैयत पर यह ज़ुल्म किया जा रहा था। कौन मुजरिम है? इंसाफ़ किसका ख़ून चाहता है। इसका फ़ैसला आप करें।"

रनजीतसिंह ज़मीन पर आँखें गड़ाए सुनते रहे। वृंदा ने ज़रा दम लेकर फिर कहना शुरू किया—"मैं विधवा स्त्री हूँ। मेरी इज़्ज़त और आबरू के रखवाले आप हैं। पति-वियोग के साढ़े तीन साल मैंने तपस्विनी बनकर काटे थे, मगर आपके आदमियों ने मेरी तपस्या धूल में मिला दी। मैं इस योग्य नहीं रही कि लौटकर अपने घर जा सकूँ। अपने बच्चे के लिए मेरी गोद अब नहीं खुलती। अपने बूढ़े बाप के सामने मेरी गर्दन नहीं उठती। मैं अब अपने गाँव की औरतों से आँखें चुराती हूँ। मेरी इज़्ज़त लुट गई। औरत की इज़्ज़त कितनी कीमती चीज़ है, इसे कौन नहीं जानता? एक औरत की इज़्ज़त के पीछे लंका का शानदार राज्य मिट गया। एक ही औरत की इज़्ज़त के लिए कौरव वंश का नाश हो गया। औरतों की इज़्ज़त के लिए हमेशा ख़ून की नदियाँ बही हैं और राज्य उलट गए हैं। मेरी इज़्ज़त आपके आदमियों ने ली है, इसका जवाबदेह कौन है? इंसाफ़ किसका ख़ून चाहता है। इसका फ़ैसला आप करें।"

वृंदा का चेहरा लाल हो गया। महाराज रनजीतसिंह एक गँवार देहाती औरत का यह हौसला, यह ख़याल और जोशीली बात सुनकर सकते में आ गए। काँच का टुकड़ा टूटकर तेज़ धारावाला छुरा हो जाता है। वही कैफ़ियत इंसान के टूटे हुए दिल की है।

आख़िर महाराज ने ठंडी साँस ली और हसरत-भरे लहजे में बोले—"श्यामा, इंसाफ़ जिसका ख़ून चाहता है, वह मैं हूँ।"

इतना कहने के साथ महाराज रनजीतसिंह का चेहरा भभक उठा और दिल बेक़ाबू हो गया। तात्कालिक भावनाओं के नशे में आदमी का दिल आसमान की बुलंदियों तक जा पहुँचता है। काँटे चुभने से कराहनेवाला इंसान इसी नशे से मस्त होकर खंजर की नोक कलेजे में चुभो लेता है। पानी की बौछार से डरनेवाला इंसान गले-गले पानी में अकड़ता हुआ चला जाता है। इस हालत में इंसान का दिल एक असाधारण शक्ति और असीम उत्साह अनुभव करने लगता है। इसी हालत में इंसान छोटे-से-छोटे, ज़लील-से-ज़लील काम करता है और इसी हालत में इंसान अपने वचन और कर्म की ऊँचाई से देवताओं को भी लज्जित कर देता है। महाराजा रनजीतसिंह उद्विग्न होकर उठ खड़े हुए और ऊँची आवाज़ में बोले—"श्यामा, इंसाफ़ जिसका ख़ून चाहता है, वह मैं हूँ! तुम्हारे साथ जो ज़ुल्म हुआ है, उसका जवाबदेह मैं हूँ। बुजुर्गों ने कहा है कि ईश्वर के सामने राजा अपने नौकरों की सख़्ती और ज़बरदस्ती का ज़िम्मेदार होता है।"

यह कहकर राजा ने तेज़ी के साथ अचकन के बंद खोल दिए और वृंदा के सामने घुटनों के बल, सीना फैलाकर बैठते हुए बोले—"श्यामा, तुम्हारे पहलू में तलवार छिपी हुई है। वह विक्रमादित्य की तलवार है। उसने कितनी ही बार न्याय की रक्षा की है। आज एक अभागे राजा के ख़ून से उसकी प्यास बुझा दो। बेशक वह राजा अभागा है, जिसके राज्य में अनाथों पर अत्याचार होता है।"

वृंदा के दिल में अब एक जबरदस्त तब्दीली पैदा हुई, बदले की भावना ने प्रेम और आदर को जगह दी। रनजीतसिंह ने अपनी ज़िम्मेदारी मान ली, वह उसके सामने एक मुजरिम की हैसियत में इंसाफ़ की तलवार का निशाना बनने के लिए खड़े हैं, उनकी जान अब उसकी मुट्ठी में है। उन्हें मारना या जिलाना अब उसका अख़्तियार है।

यह ख़्याल उसकी बदले की भावना को ठंडा कर देने के लिए काफ़ी थे। प्रताप और ऐश्वर्य जब अपने स्वर्ण-सिंहासन से उतरकर दया की याचना करने लगता है तो कौन ऐसा हृदय है, जो पसीज न जाएगा? वृंदा ने दिल पर सब्र करके पहलू से खंजर निकाला, मगर वार न कर सकी। तलवार उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी।

महाराज रनजीतसिंह समझ गए कि औरत की हिम्मत दग़ा दे गई। वह बड़ी तेज़ी से लपके और तेग़ को हाथ में उठा लिया। यकायक दाहिना हाथ पागलों जैसे जोश के साथ ऊपर को उठा। वह एक बार ज़ोर से बोले, 'वाह गुरु की जय' और क़रीब था कि तलवार सीने में डूब जाए। बिजली कौंधकर बादल के सीने में घुसने ही वाली थी कि वृंदा एक चीख मारकर उठी और राजा के ऊपर उठे हुए हाथ को अपने दोनों हाथों से मज़बूत पकड़ लिया। रनजीतसिंह ने झटका देकर हाथ छुड़ाना चाहा, मगर कमज़ोर औरत ने उनके हाथ को इस तरह जकड़ा था जैसे मुहब्बत दिल को जकड़ लेती है। बेबस होकर बोले—"श्यामा, इंसाफ़ को अपनी प्यास बुझाने दो।"

श्यामा ने कहा—"महाराज, उसकी प्यास बुझ गई। यह तलवार इसकी गवाह है।"

महाराज ने तेग़ को देखा। इस वक़्त उसमें दूज के चाँद की चमक थी। सत्य और न्याय के चमकते हुए सूरज ने उस चाँद को आलोकित कर दिया था।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जनवरी, 1911)
('गुप्त-धन', 1, 1962 से प्रस्तुत)

करिश्मा-ए-इंतिकाम
(अद्‌भुत प्रतिशोध)

1

क़रीब बीस साल गुज़रे, बुंदेलखंड के एक ज़िले में शिवनाथ नाम का एक खँगार रहता था। बड़ा ग़रीब, ईमानदार, कुश्ती और पटे में मश्शाक़ (कुशल, अभ्यस्त)। क़रीब के थाने में तीन रुपया माहवार मुशाहरा (वेतन) पर चौकीदारी का काम करता था। यही उसकी माश (जीविका का साधन) थी, मगर वे अर्जानी (सस्ती) के दिन थे। उसकी बड़ी फ़राग़त (निश्चिंतता) से निभती जाती थी।

शिवनाथ जिस मौज़े का वाशिंदा थ, उसके एक नंबरदार साहब का नाम लाल सिंह था। लाल सिंह औवाश (बदमाश), आवारा-मिज़ाज आदमी था। गाँव की हयादार औरतें बेमहाबा (निडरता) से कहतीं कि किसी तरह उसकी दोनों आँखें बैठ जाएँ। न आँखें रहेंगी, न यह दूसरों की बहू-बेटियों पर बुरी निगाह डालेगा। एक रोज़ घूमता हुआ शिवनाथ के दरवाज़े की तरफ़ आ निकला और अपना दामे-मोहब्बत (प्रेम-पाश) फैला गया। शिवनाथ तो उधर थाने चला गया और मोहब्बत की घातें यहाँ अपना काम करती रहतीं। आख़िर ग़रीब खँगारन लाल सिंह के जाल में फँस गई।

कुछ दिनों तक यह राज़ पोशीदा (छिपा) रहा, मगर गुनाह छिपाने से कब छिपता है? गाँव में सरगोशियाँ (कानाफूसी) होने लगीं। शिवनाथ को भी ख़बर हुई। बीवी का मिज़ाज कुछ दिनों से बदला हुआ देखकर उलझन में पड़ा हुआ था। कुछ शुबहा हुआ। लालसिंह से जाकर बोला—"ठाकुर साहब, मैं ग़रीब आदमी हूँ। मेरी इज़्ज़त हुर्मत (प्रतिष्ठा) सब आपके हाथ में है। मुझे और आपको गाँव वाले बदनाम कर रहे हैं। ऐसा कुछ कीजिए कि मैं भी गाँव में बसा रहूँ और तुम्हारी भी बदनामी न हो।"

मगर लाल सिंह नशे-ताक़त में भूला हुआ था। शिवनाथ को डाँट-डपट बताई और धक्के देकर निकलवा दिया। शिवनाथ को गुस्सा तो आया, मगर ज़ब्त कर गया,

और जाकर अपने थानेदार साहब से सारी क़ैफ़ियत बयान की। थानेदार ने लालसिंह को थाने में बुलाया, मगर शाम को लोगों ने उसे मूँछों पर ताव देते हुए लौटते देखा। बेदाग़ छूट आया। सौ-पचास रुपयों ने मुश्किल आसान कर दी। ग़रीब शिवनाथ को इस दरबार से मायूस (निराश) होना पड़ा। आख़िर उसके दिल ने वह फ़ैसला किया जो ऐसी हालतों में अक़्सर आख़िरी फ़ैसला होता है।

कुछ दिन और गुज़रे। शिवनाथ अपने घर में बेगानों की तरह आता और मेहमान की तरह रहता। वह घर अब उसका घर न था और न वह औरत उसकी बीवी थी। वह घर अब लालसिंह का था और वह औरत अब लालसिंह की बीवी थी।

एक दिन शिवनाथ ने अपनी बीवी से कहा—"मैं एक सरकारी काम से मौदहा जाता हूँ, चार-पाँच दिन लगेंगे, ख़ूब होशियारी से रहना।" गँवार औरत तिरिया-चरित न पढ़ी थी। यह ख़बर सुनते ही बाग़-बाग़ हो गई। लबों पर तबस्सुब (मुस्कराहट) आ गया। यह मुस्कराहट शिवनाथ के कलेजे में बर्छी की तरह उतर गई। जब वह आटा-दाल बाँधकर घर से निकला तो लालसिंह के भाग जागे। जामे में फूले न समाए। सोचा कि अब चार-पाँच दिन चैन-ही-चैन है।

आधी रात का वक़्त था। शिवनाथ ढाक के जंगल में छिपा हुआ था। उसने अपनी गँडास ख़ूब तेज़ कर रखी थी। जब सारस के नालों ने दूसरा पहर बजाया तो वह कटार हाथ में लेकर अपने घर की तरफ़ चला। वहाँ जाकर देखा तो दरवाज़ा बंद था। बंदर की तरह लपककर छप्पर पर चढ़ गया और आँगन में कूद पड़ा। अंदर जाकर देखा तो ठाकुर साहब और उनकी माशूक़ा-ए-दिलनवाज़ (हृदय की प्रेमिका) दोनों सरमस्ते-ख़्वाब (स्वप्नलीन) हैं। कौन इस नज़ारे की ताब ला सकता है? ललकार कर बोला—"लाल सिंह, ख़बरदार हो जाओ, अब तुम्हारा काल आ पहुँचा है।"

लालसिंह हकबकाकर उठा ही था कि कटार का भरपूर हाथ गर्दन पर पड़ा और सिर अलग जा गिरा। खँगारिन शिवनाथ के पैरों पर गिर पड़ी। शिवनाथ ने उससे सिर्फ़ इतना कहा—"शर्म हो तो चुल्लू भर पानी में डूब मर!" मगर उस पर हाथ नहीं उठाया।

रात ज्यों-त्यों गुजरी। सबेरा होते ही शिवनाथ ने एक हाथ में इस सरे-बुरीदा (कटे सिर) को लटकाया और दूसरे में ख़ून-आलूदा (ख़ून से लथ-पथ) गँडास लिए हुए अपने थाने की तरफ़ चला और थानेदार साहब के रू-ब-रू वह सिर रखकर बोला—"आपसे जो इंसाफ़ न हो सका, वह इस तलवार ने किया। लीजिए, यह सर हाज़िर है। आज से शिवनाथ खँगार पुलिस का दुश्मन है। निकल आए जिसे कुछ हौसला हो। शिवनाथ ललकार कर थाने से जाता है। यह न कहना, चुपके से निकल गया।"

बीस जवान बैठे यह ललकार सुनते रह गए, मगर किसी की हिम्मत न पड़ी कि उस झल्लाए हुए खँगार को रोक ले।

2

शिवनाथ ने चारों तरफ़ ऊधम मचाना शुरू किया। कहीं इस गाँव में आग लगाता, कहीं उस गाँव में डाका मारता। उसे रुपए-पैसे की भूख न थी, उसे नंबरदारों के ख़ून की प्यास थी। कितने ही नंबरदारों के घर बेचिराग़ हो गए। रफ़्ता-रफ़्ता उसकी एक जमीअत (गिरोह) क़ायम हो गई। शिवनाथ के नाम से लोग थर्राने लगे। एक फ़र्दे-बशर (अकेले व्यक्ति) ने सारे ज़िले में हलचल डाल दी। सरेशाम ही से घरों के दरवाज़े बंद हो जाते, रास्ता चलना दुश्वार हो गया। जहाँ देखिए, शिवनाथ मौजूद है। आज यहाँ डाका तो कल यहाँ से पचास मील पर आग लगाई। बड़े-बड़ों का सिर नीचा हो गया। दिन-दहाड़े उसका पैग़ाम पहुँचता कि शिवनाथसिंह का फ़लाँ मुक़ाम पर पड़ाव है, तुम उसकी दावत का सामान वहाँ भिजवा देना, वर्ना बुरा होगा। जिसने हुक्म-उदूली (आज्ञा का उल्लंघन) की, उसकी जान की ख़ैर न थी। उसकी हिम्मत और ताक़त की रिवायतें सुनकर लोग दंग रह जाते थे। दाँतों में तलवार दबाकर हाथी के मस्तक पर जा बैठना उसके नज़दीक एक अदना-सी बात थी और वह चोरों की तरह छिपकर न रहता। रातों को मैदान में उसकी महफ़िलें आरास्ता (सुसज्जित) होतीं और पहाड़ियाँ नग़्मों की सदाओं से गूँजतीं। तीन रुपए का चौकीदार सेठ-साहूकारों और बड़े-बड़े ज़मीदारों से खिराज़ (राजस्व, कर) लेने लगा।

एक दिन शिवनाथ ने एक मुतमब्वल (धनवान्) अहीर के घर पर डाका मारा। जब मालो-असबाब लेकर चलने लगे तो नौजवान अहीर उसके सामने आकर खड़ा हो गया और बोला—“गुरु जी, मेरी जमा-जथा तो तुम लिए जाते हो, मैं कहाँ रहूँ? मुझे भी साथ लेते चलो।”

शिवनाथ उसका चेहरा-मोहरा, डील-डौल देखकर दंग रह गया। मर्द नहीं, शेर था। शेर की गर्दन, गैंडे का सीना, गोया बदन में सेंदुर भरा हो। बोला—“सच कहते हो?”

अहीर—“हाँ!”

शिवनाथ : “तुम्हारा नाम क्या है?”

अहीर—“दंगल”

शिवनाथ—“आज से तुम दंगलसिंह हो।”

दंगल—“इस नाम की मरजाद तुम्हारे हाथ है।”

शिवनाथ—“शक्ल तो तुम्हारी मर्दों की-सी है। दग़ा तो न दोगे?”

दंगल—“मारूँगा तो कहकर मारूँगा। दग़ा देना मर्दों का काम नहीं है।”

शिवनाथ ने दंगलसिंह को सारा माल उसी वक़्त वापस कर दिया और उसी दिन उन दोनों में उस दोस्ती और वफ़ादारी की बुनियाद पड़ी जो मरते दम तक क़ायम रही। पहले एक था, अब एक से दो हुए। दोनों मर्दे-मैदाँ (रण-बाँकुरे)। शिवनाथ ने

अकेले ज़िले में अँधेर मचा रखा था, अब दोनों ने मिलकर तूफ़ान बरपा कर दिया। शिवनाथ और दंगल का नाम सुनकर लोगों की रूह फ़ना हो जाती थी।

3

तीन साल तक सारे ज़िले में कोहराम मचा रहा। दोनों डाकू गज़ब के दिलेर थे। सौ-सौ आदमियों के बीच से यूँ निकल जाते, गोया बिजली कौंध गई। उनके खौफ़ से पुलिस के आदमियों को नींद न आती। थानेदार और पुलिस के इंस्पेक्टर उन्हें नज़राने दिया करते।

एक रोज़ दोनों एक पहाड़ी पर बैठे हुए थे। शाम हो गई थी। उन्हें दूर से एक आदमी घोड़े पर सवार आता दिखाई दिया। उसके पीछे-पीछे पालकी पर उसकी बीवी भी थी। मैके से विदा कराए लिए आता था। दंगल ने कहा—"गुरू, यह शिकार अच्छा आ रहा है। इसे हाथ से जाने न देना चाहिए।"

यह सलाह करके दोनों पहाड़ी से उतरे और सवार से पूछा—"ठाकुर साहब, कहाँ से आते हो? यहीं ठहर जाओ। आगे डाकू लगते हैं। यहाँ सरे-शाम ही से रास्ता बंद हो जाता है।"

ठाकुर का नाम धनीसिंह था। बोला—"ठहरना तो मैं भी चाहता हूँ, मगर यहाँ ठहरने के लायक कोई जगह नहीं दीखती।"

दंगल—"इस पेड़ के नीचे कुआँ है, साया है, और क्या चाहिए? आज यहीं ठहरिए।"

धनीसिंह—"तुम लोग कौन हो?"

दंगल—"हम भी मुसाफ़िर हैं। आज रात यहीं काटेंगे।"

धनी सिंह—"अच्छी बात है। यहाँ कोई गाँव नज़दीक है न?"

दंगल—"घोड़े से तो उतरो। तुम्हारे आराम का सब इंतज़ाम हो जाएगा। बंदूक़ तो बड़ी तरहदार (बाँकी) रखते हो। ज़रा इधर तो बढ़ाना।"

धनीसिंह चकमे में आ गया। बंदूक़ दंगलसिंह को दे दी। फिर क्या था? शिवनाथ ने धनी सिंह को घोड़े से खींच लिया और उसके हाथ-पैर बाँध दिए। कहारों ने यह कैफ़ियत देखी तो पालकी छोड़ भाग निकले। ठकुराइन ने पालकी का पर्दा उठाकर झाँका तो आँखों में अँधेरा छा गया। धम से कुएँ में कूद पड़ी। धनीसिंह की आँखें ख़ून की तरह सुर्ख़ हो रही थीं। बोला—"यारो, यह दग़ा की मार है।"

दंगल—"जब तक ज़बान से काम निकले, हम लोग देवी को तकलीफ़ नहीं देते।"

धनीसिंह—"क्या मुझे जीता छोड़े जाते हो?"

दंगल—"हाँ, ख़ूब चैन करो।"

धनीसिंह—"पछनाओगे, मैं भी ठाकुर हूँ। कभी-न-कभी बदला लूँगा।"

दंगल—"हमारे एक लाख दुश्मन हैं। तुम एक और सही।"

धनीसिंह—"अच्छा तो ख़बरदार रहना। तुमने दग़ा की मार मारी है। मैं भी दग़ा की मार मारूँगा।"

4

इस वाक़िया के एक महीने बाद ख़बर उड़ी कि जगतसिंह नाम का एक नया डाकू उठ खड़ा हुआ है और साल-भर के अंदर उसने इस कसरत से डाके मारे कि शिवनाथ और दंगल के कारनामे उसके सामने माँद (धूमिल) पड़ गए। मगर बिल-उमूम (प्रायः) यह नया डाकू क़त्ल और लूट से मोतरिज़ (दूर) रहता। वह आँधी की तरह उठता और गाँव को घेर लेता। बंदूक़ की सदाएँ सुनाई देतीं। दो-चार पुराने झोपड़ों में आग लग जाती और मतला (वातावरण) माफ़ हो जाता। न किसी की जान जाती, न किसी का माल जाता। ये सब लोग कहते कि जगतसिंह ने फ़लाँ गाँव में डाका मारा, मगर यह कोई नहीं कहता कि नुक़सान क्या हुआ। यह नया डाकू दौलत का भूखा न था, न ख़ून का प्यासा। वह डाकू की शोहरत चाहता था।

दंगल ने एक दिन शिवनाथ से कहा—"भइया, यह तो एक नया खिलाड़ी पैदा हुआ।"

शिवनाथ—"बहादुर आदमी है, पूरा वीर।"

दंगल—"हमारा-उसका मेल हो जाए तो अच्छा।"

शिवनाथ—"सूबे का सूबा लूट लें।"

दंगल—"कहो तो आज संदेशा भेज दूँ।"

शिवनाथ—"भेज दो, मगर होशियार रहना।"

जगत के पास पैग़ाम पहुँचा तो उसका चेहरा खिल उठा। दिल की ख़ुशी दबाए न दबी। मुद्दतों की आरज़ू पूरी हुई। संदेशिए से कहा—"गुरुजी से हमारा पालागन कहना। हम तो उनके चाकर हैं। जब हुक्म हो, हाज़िर हों। आपस में कपट क्यों?"

तीसरे दिन एक नदी के किनारे दोनों डाकू जगतसिंह से मिले। दंगल उसे देखकर चौंक पड़ा और ऐसा घबराया गोया गिर पड़ेगा। शिवनाथ भी चौंका, मगर सँभल गया। यह जगतसिंह और कोई न था, यह वही धनीसिंह ठाकुर था।

धनीसिंह ने कहा—"गुरु, मुझे पहचान गए न?"

शिवनाथ—"हाँ, पहचान गया। यह बाना कब से लिया?"

धनीसिंह—"उसी दिन से, जब आपके दर्शन हुए।"

शिवनाथ—"मेरी तरफ़ से दिल साफ है न? पिछली बातें भूल गए या नहीं?"

दंगल—"अगर न भूले हो तो फिर हमारा-तुम्हारा मेल न होगा।"

धनीसिंह ने संजीदगी के साथ कहा—"गुरु, शेरों के दिल में कीना नहीं होता।"

शिवनाथ—"हम-तुम अब भाई हैं।"

धनीसिंह—"मैं ऐसा ही समझता हूँ। आओ, गले मिल जाएँ। जो कुछ पुरानी कसर हो, निकल जाए।"

तीनों आदमी बाहम (परस्पर) गले मिले और रात-भर ख़ूब जश्न मनाया गया।

5

साल-भर और गुज़रा। तीनों डाकुओं ने ज़िले को तबाह कर दिया। उनके लिए रात-दिन, अँधेरे-उजाले की क़ैद न थी। वे दिन-दहाड़े लूटते और पहले से न्योता देकर। फ़ितना (दुष्ट) और क़यामत (प्रलय) के साथ काली बला और आ मिली। मेंह और आँधी के साथ बिजली का याराना हो गया।

होली के दिन थे। एक सेठ के घर डाका पड़ा। ग़रीब फाग गा रहे थे और खुशियाँ मना रहे थे। रंग में भंग पड़ गया। डाकू मालामाल हो गए। दंगलसिंह ने कहा—"गुरु, आज धूम से जल्सा हो। आज हम भी होली मनाएँगे।"

दो परियाँ बुलाई गईं। शराब का एक प्याला लाकर रख दिया गया। शराब का दौर शुरू हुआ और तबला गमकने लगा। परी शीशे में थी, शीशा परी के हाथ में, ख़ूब शराब उड़ी। दंगल की आँखें झपक गईं। मदहोश होकर बोला—"हम अब सोते हैं। देखें, कौन हमको पकड़ लेता है।"

शिवनाथ के होश वज़ा थे, मगर आँखों में सुरूर आ गया था। धनीसिंह से बोला—"भइया, दंगल तो गिरे, अब सबेरे ही उठेंगे। तुम्हारी आँखें भी चढ़ी हुई हैं। दूसरे आदमियों का एतबार नहीं। क्यों न तुम भी थोड़ी देर आराम कर लो। फिर तुम्हें जगाकर मैं एक नींद सो लूँगा।"

यह कहकर बंदूक़ हाथ में ली और पहाड़ी के आस-पास चक्कर काटने लगा, मगर हवा लगी तो शराब रंग लाई। एक चट्टान के सहारे खड़ा हो गया और खड़े-खड़े खर्राटे लेने लगा। अब धनीसिंह उठा। वह धुन का पक्का, बात का धनी ठाकुर अपने इरादे पर अब तक क़ायम था। बंदूक़ भरकर दंगलसिंह के सिर पर जा पहुँचा और ललकार कर बोला—"डाकू, होशियार हो जा। तेरी क़ज़ा सिर पर आ पहुँची।"

दंगल सिंह लड़खड़ाता हुआ उठा, मगर गोली सीने के पार हो गई और लाश चट्टान पर तड़पने लगी। बंदूक़ की आवाज़ शिवनाथ के कान में पहुँची। चट्टान की आड़ से झाँककर देखा तो धनीसिंह बंदूक़ सीने से लगाए उसकी तरफ़ चला आता था। चट्टान से चिपटकर बोला—"आख़िर दग़ा की!"

धनीसिंह—"दग़ा का जवाब दग़ा है।"

शिवनाथ—"मैं तेरी चाल समझ गया था।"

धनीसिंह—"समझते तो धोखा न खाते।"

दोनों ने बंदूक़ें दाग़ीं, मगर दोनों निशाने खाली गए। इतने में शोर मच गया। तरफ़ैन (दोनों तरफ़ से) से आदमी जमा हो गए। धनीसिंह ने शिवनाथ को गिरफ़्तार करना चाहा, मगर वह साफ़ निकल गया।

इस तरह एक बात के धनी ठाकुर ने इंतिक़ाम का फ़र्ज पूरा किया और मुल्क को एक बला-ए-मुहीब (भयानक विपत्ति) से निज़ात दी। इसके बाद कई साल तक धनीसिंह के मकान पर कांस्टेबिलों का पहरा रहा और जहाँ कहीं वह जाता, कांस्टेबिल उसकी हिफ़ाज़त के लिए साथ रहते। ताहम (फिर भी) शिवनाथ रात और दिन में कम-से-कम एक बार उसके मकान का चक्कर लगाता और दो-चार निशाने ज़रूर सर करता, मगर कभी निशाना कारगर न हुआ।

धनीसिंह को सरकार से जागीर अता हुई। उसके लड़के अब तक उस पर क़ाबिज़ (अधिकारी) हैं। फिर न मालूम शिवनाथ का क्या हश्र हुआ। उसने उसी दिन से डाका मारना तर्क (परित्याग) किया। कुछ लोगों का ख़याल है कि भगत होकर जगन्नाथ चला गया। कुछ लोग कहते हैं खुदकुशी कर ली, मगर यक़ीनी तौर पर कुछ मालूम नहीं।

लालसिंह नंबरदार के नाम पर एक चबूतरा बनाया गया। गाँव में अभी तक उसकी पूजा होती है। वह शख़्स, जो ज़िंदगी में कुछ न कर सकता था, अब इंसानी नेमतों (वरदानों) और मसर्रतों (खुशियों) का खजांची समझा जाता है।

(*'ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, फ़रवरी, 1911*)
(***'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988 से संपादक द्वारा हिंदी लिप्यंतर और वहीं से प्रस्तुत***)
(*'प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005*)

दोनों तरफ़ से

1

पंडित श्यामसरूप पटना के एक नौजवान वकील थे। उन बूढ़े नौजवानों की तरह नहीं जो आजकल मुहज़्ज़ब (सभ्य) सोसाइटी में अक्सर नज़र आया करते हैं, जिनकी सारी जिस्मानी-ओ-दिमाग़ी, जहनी-ओ-अक़्ली, वातिनी-ओ-ख़ारज़ी क़ुव्वत (आंतरिक एवं वाह्य शक्ति) ज़बान में मुज़तमा (एकत्रित) रहती है। नहीं, हमारे पंडित जी इस जुमरे (वर्ग) के बूढ़े नौजवानों में न थे। वह ज़िंदादिल नौजवानों में थे। ज़बान से कम और दिलो-दिमाग, हाथ और पैर से ज़्यादा काम लेते थे। एक बार दिल में जो उसूल क़ायम कर लेते, उस पर साबित-क़दम रहते थे। उनमें एक बड़ा वस्फ़ (गुण) यह था कि वह बहुत कामों में एक साथ हाथ न डालते। जो लोग चारों तरफ़ हाथ फैलाते हैं, उन्हें कुछ भी नहीं मिलता। जो शख़्स एक दर्जन अंजुमनों का सेक्रेटरी और निस्फ़ (आधी) दर्जन सोसाइटियों का प्रेसिडेंट है, उससे अमली काम की उम्मीद अगर सादा लोह (भोले-भाले) करें तो करें। कोई अक़्ल सलीम (ठीक) रखने वाला शख्स नहीं कर सकता। उस ग़रीब की सारी क़ुब्बत और सरगर्मी ज़बान के रास्ते उड़ जाती है। पंडित जी शायद इस नुक़्ते को ख़ूब समझते थे। उन्होंने अछूत जातों के सुधार की एक छोटी-सी अंजुमन खोल रखी थी और अपने वक़्ते-फ़र्सुत और आमदनी का एक कलील हिस्सा (अल्प भाग) इस कारे-ख़ैर (सत्कार्य, पुण्य कार्य्य) की नज़र करते थे। शाम हुई, कचहरी से आए, कुछ नाश्ता किया, बाइसिकिल उठाई और शहर से मुत्तसिल (मिले) देहातों में जा पहुँचे। वहाँ कहीं चमारों के साथ बैठे बात कर रहे हैं, कहीं डोमों के बीच में बैठे हैं और उनसे उनकी ठेठ बोली में एख़लाक़ के मुतअल्लिक़ गुफ़्तगू छिड़ी हुई है। उनके बच्चों को गोद में लेते हैं, प्यार करते हैं। इतवार के दिन या अगर कोई दूसरी तातील आ पड़ती तो तिलिस्मी लालटेन के तमाशे दिखाने जाया करते। उनकी सोहबत और हमदर्दी ने साल ही भर में उनके परगने के अछूतों की मुआशरत (रहन-सहन) में कुछ इस्लाह (सुधार) कर दी थी। लाशख़ोरी बिलकुल बंद हो गई, शराबख़ोरी बिलकुल तो बंद नहीं हुई, मगर इसमें आए दिन जो वारदातें होती रहती

थीं, उनमें कमी हो जाने से पुलिस इंस्पेक्टर हामिद ख़ाँ अलबत्ता बदज़न (नाराज़) हो गए।

रफ़्ता-रफ़्ता पंडित जी की इस हमदर्दी ने अछूत जातों के साथ बिरादरना ताल्लुक़ात क़ायम कर दिए। उनके परगने में तीन सौ मौज़े थे और नीची जाति की तादाद छः हज़ार से कम न थी। इन सबों के साथ पंडित जी को दोस्ताना-ओ-विरादराना उन्स (लगाव) था। उनकी शादियों में शरीक होते और रिवाज़ के मुताविक़ व्यवहार ले जाते। अगर उनमें कोई फ़साद होता तो अक्सर फ़रियाद पंडित जी के यहाँ ही आती थी। मुमकिन न था कि पंडित जी उनमें से किसी के बीमार होने की ख़बर पाएँ और अयादत (बीमार का हाल-चाल पूछने) के लिए न जाएँ। उन्होंने वैद्यक में खुद भी थोड़ी-सी मश्क-बहम (उपलब्ध करना) पहुँचाई थी। ख़ुद मरीज़ की तीमारदारी करते और ज़्यादा तकलीफ़ में पाते तो रुपए-पैसे से भी इमदाद करते। मगर बेशतर सूरतों में उनकी हमदर्दी और मुहब्बत काफ़ी होती थी। ऐसे कामों के लिएँ रुपए की इतनी ज़रूरत नहीं होती, जितनी बेग़रज इंसानियत और क़ौमी ख़िदमत के जोश की। उनकी साल-भर की मुस्तक़िल और सरगर्म हमदर्दाना कोशिशों ने इस फ़िरके में एक इंक़लाव-सा पैदा कर दिया। उनके घर और झोपड़े, उनकी ख़ूराकी-लिबास (खानपान), उनके रस्मो-रिवाज़ सब गोया खराद पर चढ़ गए और सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये लोग अपनी इज़्ज़त करना सीख गए। पहले दो-चार जाहिल-जपट ज़मींदारों ने उन्हें दिक किया, मगर जब देखा कि इन्हें कुछ और ही धुन सवार है तो ख़ामोश हो रहे। दो-चार कोरवातिन (कलुपित मन, अज्ञानी) आदमियों ने इस मामले में पुलिस से चागजोई करनी चाही। दारोग़ा हामिद खाँ साहब आमादा भी थे, मगर चमारों और डोमों के पास क्या रखा था जो किसी की दाल गलती? पंडित जी के वे ताल्लुक़ात बढ़ते गए। आख़िर यहाँ तक नौवत पहुँची कि एक बार चमारों के चौधरी की लड़की की शादी में उन्होंने उनके साथ खाना खा लिया।

2

पंडित श्यामसरूप की बीवी का नाम कोलेसरी देवी था। कोलेसरी आम हिंदुस्तानी औरतों की तरह अपने शौहर को दिलोजान से मुहब्बत करती थी। पढ़ी-लिखी तो कुछ यूँ ही-सी थी, मगर पंडित जी के साथ रहते-रहते मुल्की-ब-तमद्दुनी मसायल (देशी एवं सांस्कृतिक समस्याओं) से कुछ मानूस (परिचित) हो गई थी, लेकिन इसे चाहे इंसानी कमज़ोरी कहो, चाहे खल्क़ी हिस (स्वभावगत अनुभव) कि उससे किसी की वात बरदाश्त न हो सकती थी। वह ज़बान की तेज़ न थी, न बात-बात में उलझती थी, मगर कोई चुभती हुई बात, कोई दिल जलाने वाला ताना उसके दिल पर नासूर का-सा ज़ख्म पैदा कर देता था। सुनने को तो वह सुन लेती और जवाब देना तो उसने

सीखा ही न था, मगर अंदर-ही-अंदर घुलने की आदी थी। पंडित जी उसके इस खासे (विशेषता) से वाक़िफ़ थे और इसीलिए वह कभी कोई ऐसी बात ज़बान से न निकालते, जिससे उसे सदमा हो। कई साल हुए जब पंडित जी की वकालत का शुरू ज़माना था और आमदोख़र्च में रोज़ाना कशमकश रहती थी। कोलेसरी ने संक्रांत के दिन ज़रा फ़ैयाज़ी (दानशीलता) से काम लिया और पाँच रुपए की खिचड़ी ग़ुरबा (ग़रीबों) को बाँट दी। पंडित जी दिन-भर कचहरी की ख़ाक छानकर खाली हाथ लौटे और यह कैफ़ियत देखी तो झुँझला उठे। तेज़ होकर बोले—"मैं तो एक-एक पैसे के लिए मारा-मारा फिरूँ और तुम यूँ घर को लुटाओ। अगर यही मिज़ाज था तो बाप से कहा होता किसी राजा-महाराजा से शादी करता।"

कोलेसरी ने चुपचाप सिर नीचा करके सुना, न जवाब दिया, न उज़्र-माज़िरत (आपत्ति) की, न रोई, मगर कामिल (पूरे) छः महीने तक बुखार और जोफ़े-जिग़र (यकृत की दुर्बलता) में मुब्तला (ग्रस्त) रही। पंडित जी को ज़िंदगी-भर के लिए सबक़ मिल गया।

खैर, पंडित जी रामफल चौधरी के यहाँ से खाना खाकर लौटे और दम-के-दम में सारे शहर में यह ख़बर मशहूर हो गई। दूसरे दिन कोलेसरी गंगा-स्नान को गई। शायद सोमवारी अमावस थी। शहर के दीगर रऊसा (अन्य धनी परिवारों) की औरतें भी स्नान के लिए आई हुई थीं। कोलेसरी को देखकर आपस में कानाफुसक़ी होने लगी, इशारेबाज़ियाँ होने लगीं। एक औरत ने जो ज़ाहिरा किसी ऊँचे खानदान की मालूम होती थी, अपने क़रीब की औरत से कहा—"ज़रा इन महारानी को देखो! मर्द तो चमारों के साथ खाना खाता फिरता है और यह गंगा नहाने आई है।"

कोलेसरी ने सुन लिया। उसे सुनाने के लिए ही यह बात कही गई थी। जिस तरह कुम्हार का सूत नर्म मिट्टी में धँस जाता है, उसी तरह सख़्त बात दिल में चुभ जाती है। कोलेसरी तिलमिला उठी। मालूम हुआ, किसी ने कलेजे में छुरी मार दी। नहाने की सुध न रही, उल्टे क़दम लौटी और घर चली आई। साँप का ज़हर रग-रग में समा गया। खाना पकाकर पंडित जी को खिलाया। वह कचहरी चले गए। आज कोई मालदार मुवक्किल जाल में फँसा था। इस ख़ुशी में बीवी के बदले हुए तेवर उन्हें नज़र न आए। शाम को ख़ुश-ख़ुश लौटे तो देखा, वह मुँह ढाँपे पड़ी हुई है। माथा ठनका, बोले—"कोला, आज मामूल (नित्य-नियम) के खिलाफ़ लेटी क्यों हो? तबीयत तो अच्छी है न?"

कोलेसरी उठ बैठी और बोली—"हाँ, तबीयत अच्छी है, यूँ ही लेट गई थी।"

मगर यह जवाब पंडित जी को इत्मीनान दिलाने के लिए काफ़ी न हो सकता था। तबीयत अच्छी है तो होठों पर पान की सुर्खी क्यों नहीं, बाल क्यों बिखरे हैं, चेहरा क्यों उदास है, मेरे लिए बर्फ़ क्यों नहीं मँगाई गई। यह ख़्यालात माअन (एकदम) पंडित जी के दिल में आए। कपड़े उतारे, कुछ नाश्ता किया, इधर-उधर की बातें कीं,

दो-चार लतीफ़े भी सुनाए, मगर उन मंत्रों से साँप का ज़हर न उतरा। कोलेसरी यूँ ही हूँ-हाँ करती रही। ज़हर ने उसके कान बंद कर दिए थे। शाम हो गई, पंडित जी के सैर का वक़्त आया, बाइसकिल उठाई और चल खड़े हुए; मगर कोलेसरी की अफ़्सुर्दगी (उदासीनता, खिन्नता) का ख़याल दिल में खटकता रहा। आज माँझ गाँव के पासियों के यहाँ शादी थी। वहाँ जा पहुँचे। बारात दूर से आई हुई थी। बाराती लोग शराब के लिए ज़िद कर रहे थे और घरातियों की तरफ़ से सोलह आना इंकार था। बारातियों का तक़ाजा था कि औरतें रस्बे-रिवाज़ (रीति के अनुरूप) दरवाज़े पर नाचें, नगाड़ा बजे। घराती कहते थे, अब यह रिवाज़ हमारे यहाँ नहीं है। माँझ गाँव में पंडित जी की कोशिशें सरसब्ज़ (सफल) हो गई थीं। बाराती उनके हल्क़ए-असर (प्रभाव-क्षेत्र) से बाहर थे। तरफ़ैन (दोनों तरफ़ से) में यही रद्दोकद (वाद-विवाद, कहा-सुनी) हो रही थी कि पंडित जी जा पहुँचे और बारातियों को समझा-बुझाकर ठंडा किया। ऐसे मौक़ों पर वह नौ-दस बजे रात तक न लौटते थे, क्योंकि उपदेश ऐसे मौक़ों पर ज़्यादा असर-पज़ीर (प्रभावोत्पादक) होता है, मगर आज इस काम में उनका दिल न लगा। कोलेसरी की अफ़्सुर्दा मुरझाई हुई सूरत आँखों के सामने फिरती रही। रह-रहकर ख़याल आता, मेरी ज़बान से तो कोई सख़्त बात नहीं निकली। मुझे तो ख़याल नहीं आता कि मैंने कुछ कहा हो, फिर क्या बाइस (कारण)? यह अफ़्सुर्दगी बेसबब नहीं है, कुछ बात ज़रूर है। इन्हीं तशवीशों (चिंताओं) से बेचैन होकर वह सात ही बजे घर लौट आए।

3

पंडित श्यामसरूप खा-पीकर लेटे। कोलेसरी से इस वक़्त भी कुछ न खाया गया। उसका चेहरा अब भी उतरा हुआ था। आख़िर पंडित जी ने पूछा—"कोला, तुम उदास क्यों हो?".

कोलेसरी—"उदास तो नहीं हूँ।"

श्याम सरूप—"तुम्हारी तबीयत कैसी है?"

कोलेसरी—"तबीयत में क्या हुआ है। देखते तो हो, भली-खासी बैठी हूँ।"

श्यामसरूप—"मैं यह न मानूँगा। तुम्हारे उदास होने की ज़रूर कोई-न-कोई वजह है। क्या मुझे तुमसे यह पूछने का हक नहीं है?"

कोलेसरी—"आप मेरे दिल और जान के मालिक हैं। आपको हक न होगा तो किसको होगा?"

श्यामस्वरूप—"तो मुझसे यह पर्दा कैसा है? मैं तो अपने दिल की कोई बात तुमसे नहीं छिपाता हूँ।"

कोलेसरी ने आँखें नीचे करके कहा—"क्या मैं कुछ छिपाती हूँ?"

श्यामसरूप—"अब तक तो नहीं छिपाती थी, मगर आज ज़रूर छिपा रही हो। आँखें मिलाओ, मेरी तरफ़ देखो। लोग कहते हैं, औरतें एक निगाह में मर्दों की मुहब्बत का अंदाज़ कर लिया करती हैं, मगर शायद तुमने अब तक मेरी मुहब्बत की थाह नहीं पाई। यक़ीन मानो, तुम्हारी इस अफ़्सुर्दगी (खिन्नता) ने आज मुझे बहुत बेचैन रखा। अगर इस वक़्त भी न बताओगी तो मैं समझूँगा तुम्हें मुझ पर एतबार नहीं है।"

कोलेसरी की आँखें आबगूँ (अश्रुपूरित) हो गईं। पंडित जी की तरफ़ देखकर बोली—"मेरे दिल में जो काँटा खटक रहा है, उसे आप निकालेंगे?"

श्यामसरूप के रोंगटे खड़े हो गए। घबराकर उठ बैठे और काँपती हुई आवाज़ से कहा—"कोला! तुम यह सवाल पूछकर मुझ पर ज़ुल्म कर रही हो। मैं और मेरा सब-कुछ तुम पर से निसार है। तुम्हें मेरी तरफ़ से ऐसा ख़याल नहीं रखना चाहिए।"

कोलेसरी समझ गई कि ज़बान से कुछ-का-कुछ निकल गया, बोली—"मेरा ईश्वर जानता हैं कि मैंने कभी तुम्हारी मुहब्बत पर शक नहीं किया। मैंने यह सवाल सिर्फ़ इसलिए पूछा था कि शायद तुम मेरे उदास होने का सबब सुनकर हँसी में उड़ा दो। मैं यह जानती हूँ कि मैं जो कुछ कहूँगी, वह मुझे नहीं कहना चाहिए। यह भी जानती हूँ कि आपको इस बात के मानने में बहुत दिली सदमा होगा। इसीलिए मैं आपसे छिपाना चाहती थी। बात ही तो थी, दो-चार महीने में भूल जाती, मगर आपकी इस धमकी ने मुझे मज़बूर कर दिया। जिस दिन आप यह ख़याल करेंगे कि मुझे आप पर एतबार नहीं है, तो जानते हो मेरी क्या गत होगी...यह धमकी मुझे मज़बूर कर रही है।"

श्यामसरूप—"हाँ, हाँ, बेख़ौफ़ कहो, मुझे अब सब्र नहीं है।"

कोलेसरी—"आप अछूतों के साथ मिलना-जुलना, खाना-पीना छोड़ दें।"

जैसे बेगुनाह क़ैदी मुंसिफ़ की ज़बान से सज़ा का हुक्म सुनकर लंबी साँस खींचता है, उसी तरह पंडित जी ने एक आह-सर्द भरी और ज़रा देर के लिए दम बखुद (मौन) होकर लेट गए। फिर उठकर बोले—"बहुत अच्छा, तुम्हारे हुक़्म की तामील होगी। दिल को सदमा बेशक होगा, लेकिन कोई मुज़ायका (आपत्ति) नहीं। सिर्फ़ इतना और बतला दो कि यह हुक़्म किसकी ईमा (संकेत) से दिया गया है या दिल में खुद-ब-खुद पैदा हुआ है?"

कोलेसरी—"मुझे औरतें ताना देती हैं और मुझसे इसकी बर्दाश्त नहीं होती। उनकी जबान पर मेरा कोई दावा नहीं, वे जो चाहें कहें। आप पर मेरा दावा है, इसीलिए आपसे कहती हूँ।"

श्यामरूप—"बहुत अच्छी बात है, यही होगा।"

कोलेसरी—"अब आपसे मेरी एक और विनती है। मैंने अपने दिल की क़ैफ़ियत आपसे साफ़-साफ़ बयान कर दी। मरदों को तानों की परवाह नहीं होती, हम औरतें कमज़ोर होती हैं, हमारा दिल कमज़ोर होता है, उसमें तेज़ धार वाला ताना आसानी

से चुभ जाता है, मगर आप इसका बिलकुल ख़याल न करें। मुझे तानों से बचाने के लिए आप अपने ऊपर ज़ब्र न कीजिएगा। मैं ताने सुन लूँगी, ज़्यादा जी जलेगा तो बाहर आना-जाना, औरतों से मिलना-जुलना छोड़ दूँगी।"

श्यामसरूप ने कोलेसरी को गले से लगा लिया और बोले—"कोला, मुझसे यह गवारा न होगा कि मेरी ख़ातिर तुम ताने सहो। तुम्हारे नाज़ुक दिल पर ताने का जख़्म न लगने दूँगा। तुम्हारे दिल में रंज का वास हुआ तो मेरी मुहब्बत कहाँ रहेगी? बेआव ख़ुश हो जाओ और अपना प्यारा गीत सुना दो।"

कोलेसरी ख़ुश हो गई। उसका चेहरा रौशन हो गया। उसने पियानो उठा लिया और मीठे मद्धिम सुरों में गाने लगी—"पिया मिलन है कठिन बावरी..."

4

एक हफ़्ता गुज़र गया और पंडित जी देहातों की तरफ़ न गए। अछूत भाइयों के साथ बिरादराना रिश्ता क़ायम करना, उनको अपने तई इंसान समझने के क़ाबिल बनाना, उन्हें ज़हालत और बातिल-परस्ती (अज्ञानता और असत्यता) की गार से निकालना, यह पंडित जी ने अपनी ज़िंदगी का मिशन समझ रखा था और इस काम के रास्ते में एक दीवार हायल (बाधक) पाकर कोई ताज़्जुब नहीं कि वह मुतफ़क्किर (चिंतित) और मग्मूम (दुःखित) रहते थे। इंसान को ज़िंदगी का लुत्फ़ उसी हालत में हासिल होता है, जब तक उसे इस बात का यक़ीन रहता है कि मैं अपने फ़राइज़ (कर्त्तव्य) अंजाम दे रहा हूँ। दुनिया में ऐसे भी बेशुमार बंदगाने-ख़ुदा (ईश्वर के प्राणी) हैं जो यही नहीं जानते कि उनके शख़्सी और क़ौमी फ़राइज (व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्य) क्या हैं, मगर ऐसे आदमियों को इंसान कहना भूल है। जिन लोगों को बुरे कामों की चाट पड़ जाती है, वे यह जानते हुए भी कि हम जो कुछ करते हैं, बुरा करते हैं, अपने को उस काम से बाज़ नहीं रख सकते और जायज़ मौक़ा न पाकर नाजायज मौक़ों से फ़ायदा उठाते हैं। जुआरी को कितना ही समझाओ, कितना ही धमकाओ, मगर वह जुआ खेलने से बाज़ नहीं आता। शराबी को चाहे पिंजड़े में बंद कर दो, मगर वह आज़ाद होते ही सीधे शराबख़ाने की राह लेता है। यह बुरे कामों का नशा है। नेक कामों का नशा इससे बदर्जहा (कई गुना) ज़्यादा बेचैन करने वाला होता है। दिन-भर तो पंडित जी काम-धंधे में लगे रहते, मगर शाम को, जो उनके दिलचस्प मशाग़िल (दिल-बहलाव) का खास वक़्त था, वह बहुत बेक़रार हो जाते थे और अपने क़ौमी फ़र्ज़ को शख़्सी फ़र्ज़ पर क़ुर्बान करने के लिए उन्हें अपने दिल पर बड़ा ज़ब्र करना पड़ता था। जब अपने बाग़ीचे में तनहा बैठे हुए वह अपने दिल से इस मसले पर बहस करने लगते तो बाज़-औक़ात अपनी कमज़ोरी पर झुँझला जाते और जी में आता कि चलकर कोलेसरी से साफ़-साफ़ कह दूँ कि मैं क़ौम को ज़ात पर कुर्बान नहीं कर

सकता। मगर हाय! इन बातों का असर कोला पर क्या होगा? मेरी मुहब्बत में मतवाली, नेक, शरीफ़, ग़रीब कोला पर क्या कुछ न बीत जाएगी। नहीं, मेरी जान से प्यारी कोला, तुम-जैसी अनमोल चीज़ पाकर मेरी हिमाक़त है, अगर मैं अपने तईं बदनसीब ख़याल करूँ। तुम्हारी ख़ुशी के लिए मैं सब-कुछ सह लूँगा। अगर तुझे आज मालूम हो जाए कि मैं इस क़दर बेचैन हो रहा हूँ, तो मुझे यक़ीन है कि तू आज ही मेरे लिए ताने सहने क्या चीज़ हैं, सारी दुनिया में अंजुश्तनुमा (बदनाम, निन्दित) बनना पसंद कर लेगी। तेरे इस हमागीर मुहब्बत (अनन्य प्रेम) के बदले में मेरे पास क्या है? क़ौमी फ़र्ज़ बेशक इंसान के सब फ़राइज में बालातर (बहुत ऊँचा) है। मगर कभी-कभी और ख़ास-ख़ास हालतों में क़ौम को जात के लिए छोड़ना पड़ता है। राजा रामचंद्र का क़ौमी फ़र्ज था कि वह अवध में रहकर अपनी रिआया पर इंसाफ़ो-आसाइश (न्याय और समृद्धि) की बरकतें फैलाते, मगर इस क़ौमी फ़र्ज़ को उन्होंने बाप की इताअत (आज्ञा-पालन) के मुक़ाबले में कुछ न समझा, जो उनका ख़ास जाती फ़र्ज था। राजा दशरथ का क़ौमी फ़र्ज़ था कि वह अपना राज-पाट रामचंद्र को सौंपते, क्योंकि वह जानते थे कि रामचंद्र अवधवासियों की आँखों की पुतली हैं, मगर उन्होंने इस क़ौमी फ़र्ज़ को अहदपरवरी (प्रतिज्ञा-पालन) पर निसार कर दिया, जो उनका ख़ास जाती फ़र्ज़ था।

लेकिन पंडित श्यामसरूप की ग़लती थी जो वह समझते थे कि कोलेसरी उनके दिल की कशमकश से वाक़िफ़ नहीं है। जिस रात को ये बातें हुई उस दिन से आज तक एक लम्हा भी ऐसा न गुज़रा होगा, जिसमें यह ख़याल उसके दिल में चुभकियाँ न लेता रहा हो कि मैंने इन पर बड़ा ज़ुल्म किया है। उसे उनके चेहरे पर वह मसर्रत (प्रसन्नता) की झलक न नज़र आती थी, जो इत्मीनाने-क़ल्ब (संतुष्ट हृदय) की बरक़त है। खाने-पीने में अगली-सी रग़बत (रुचि) न थी। बात से अपनी दिली क़ैफ़ियत के छिपाने की कोशिश मुतरश्शेह (प्रकट) होती थी। कोलेसरी को यह सब क़ैफ़ियत आईने की तरह दिखाई देती थी। वह बार-बार अपने तईं कोसती थी—मैं कैसी ख़ुदग़र्ज़ हूँ! कैसी कमीनी, कैसे ओछी, एक बदज़बान, सिफ़्लामिजाज़ (क्षुद्र प्रकृति) औरत के ताने से मग्लूर (पराजित) होकर मैंने उन पर इतना बड़ा ज़ुल्म किया है! यह मेरे लिए अपने ऊपर इतना ज़ब्र करते हैं और मैं एक ताने का सदमा न सह सकी। यह सोच-सोचकर वह चाहती कि मै उन्हें इस क़ैद से आज़ाद कर दूँ। मगर पंडित जी उसे इन बातों का मौक़ा ही नहीं देते।

5

एक हफ़्ते तक पंडित श्यामसरूप के अछूत भाइयों ने सब्र किया। मुमकिन है, तबीयत न अच्छी हो, या किसी मुक़दमे की पैरवी में मसरूफ़ हों, या कहीं सैर करने चले गए

हों। इन ख़्यालात से उन्होंने अपने तईं तस्कीन दी। मगर एक हफ़्ते बाद उनसे न रहा गया। ज़ूक़ के ज़ूक़ (भीड़ की भीड़) आदमी, वदन पर गाढ़े की मिर्जई, सिर पर सफ़ेद पगड़ी, पाँव में चमरौधा जूता, कंधे पर लट्ठ, उनके मकान पर इस्तफ़सारे-हाल (राज़ी-ख़ुशी पूछने) के लिए आने लगे। पंडित जी के लिए अब बजाए इसके और कोई चारा न था कि अपनी फ़र्ज-शिकनी (कर्त्तव्य-भंग) के लिए कोई हीला करें और वह हीला यह था कि घर में तवीयत नासाज़ (अस्वस्थ) है। शाम से सबेरे तक आदमियों का तार न टूटता। एक गाँव के लोग जाते, तो दूसरे गाँव के आ पहुँचते और सबसे पंडित जी को यही बहाना करना पड़ता। उनसे और क्या कहते!

दूसरा हफ़्ता गुज़रा, मगर पंडित जी के घर में अब तक तबीयत नासाज़ थी। एक रोज़ शाम के वक़्त वह दरवाज़े पर बैठे हुए थे कि रामदीन पासी, हल्लू चौधरी और गोबरी, बंसफोड़ हकीम नादिरअली खाँ साहब को लिए हुए आए। हकीम साहब अपने ज़माने के बुअली सेना (ईरान के प्रसिद्ध हकीम, दार्शनिक एवं ज्योतिषी) थे। जिस तरह इस्मे-आज़म (महामंत्र) से शैतान भागता है, उसी तरह हक़ीम जी को देखते ही मर्ज़ख़ाह (रोग चाहे) कैसा ही कोहना (पुराना) और मुज़मिन (जड़-पकड़) हो, राहेफ़रार (भागने का मार्ग) इख़्तियार करता था और बसा-औक़ात (प्रायः) मरज़ के साथ मरीज़ भी चल बसता था। पंडित जी हकीम साहब को देखते ही सिटपिटा गए। अब कौन-सी चाल चलूँ! भाँडा फूटा जाता है। इन कमबख़्तों को यह क्या सूझी कि इन ज़ाते-शरीफ़ (महाशय) को लाकर खड़ा कर दिया और इन मर्देखुदा (महापुरुष) ने भी आव देखा न ताव देखा, सीधे मौत की तरह सिर पर आ खड़े हुए। मगर वक़्त तंग था। ज़्यादा सोच-विचार की फ़ुर्सत न थी। उस वक़्त पंडित जी के दिल में वावजूद कोलेसरी को हज़ार जाम से चाहने के यह ख़याल आया कि काश, ज़रा देर के लिए उसे कुछ हरारत हो जाती, किसी तरह बात तो बनती, मगर वुलाने से कहीं मौत आती है!

हकीम साहव ने फ़रमाया—"मुझे यह सुनकर कमाल (अत्यंत) अफ़सोस हुआ कि जनाब की अहलिया-मुक़र्रमा (प्यारी पत्नी) अर्से दो हफ़्ता से अलील (बीमार) है, और अफ़सोस से ज़्यादा इस अम्र (बात) की शिकायत है कि जनाब ने मुझे ज़रा भी इत्तला न दी, वरना मर्ज़ इस क़दर तूल न खींचता। क्या शिकायत है?"

पंडित जी ने कुछ सिर खुजाकर, खाँसकर, पहलू बदलकर और सिर झुकता कर फ़र्माया—"जी, यही कुछ निस्वानी (स्त्रियों की) शिकायतें लाहक हो गई थीं, मगर अब तो आपके फ़ैज़ो-करम से तवीयत रूह-बराह (ठीक रास्ते पर) है। फ़िलहाल लेडी डॉक्टर का इलाज हो रहा है। आप जानते हैं, यह अँगरेज़ी तहज़ीब का दौर है। अँगरेज़ी इलाज से लोगों को ज़्यादा अक़ीदत होती जाती है और मरीज़ को उस हकीम या डॉक्टर से सेहत होती है, जिस पर उसे अक़ीदा हो। इसी वजह से जनाब को तकलीफ़ नहीं दी।"

हकीम साहब–"जी हाँ, आप बजा फ़र्माते हैं। कौन-सी लेडी डॉक्टर का इलाज हो रहा है?"

पंडितजी ने फिर सिर खुजलाकर और इधर-उधर ताककर कहा–"उन्हीं मिस बोगन का।"

श्यामसरूप को इस मौक़े पर सारी क़ानूनी क़ाबलियत सर्फ़ करनी पड़ी, मगर आज वह किसी मनहूस आदमी का मुँह देखकर उठे थे। सूरते-हाल बजाए मुआफ़िक़ होने के और भी मुखालिफ़ होती जाती थी। क्योंकि दौराने-तक़रीर ही में कल्लू चौधरी, हरदास भर और जुग्गा धोबी आते हुए दिखाई दिए और उनके साथ मिस बोगन घोड़े पर सवार तशरीफ़ ला रही थीं। अब तो पंडित जी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, रंग फ़क़ हो गया। मिस बोगन को दिल में हज़ारों सलावतें (दुर्वचन) सुनाईं कि यह शैतान की खाला इस वक़्त कहाँ से फट पड़ी मगर झल्लाने का मौक़ा न था। फ़ौरन कुर्सी से उठ खड़े हुए। मिस बोगन से हाथ मिलाया और उसे बिला कुछ पूछने का मौक़ा दिए हुए हाथ पकड़कर जनाना निशस्तगार (वैठक) में ले गए और कुर्सी पर बैठा दिया। वाज़ अजाँ (तत्पश्चात्) कोलेसरी से जाकर कहा–"इस वक़्त अजीव हालत में जान मुब्तला (फँसी) है। मैनें तो तुम्हारी बीमारी का बहाना किया कि किसी तरह इन आदमियों से पीछा छूटे, मगर उन्होंने आज हकीम नादिरअली खाँ और मिस बोगन को लाकर सिर पर सवार कर दिया। मिस साहेबा को बैठक में छोड़ आया हूँ। बताओ, क्या करूँ?"

कोलेसरी–"तो मैं बीमार हो जाऊँ, क्यों?"

पंडित जी–"हँसकर तुम्हारे दुश्मन बीमार हों।"

कोलेसरी–"दुश्मनों के बीमार होने से इस वक़्त काम न चलेगा। तुम जाकर मिस बोगन को लाओ। मैं लिहाफ़ ओढ़ कर लेटी जाती हूँ।"

पंडित जी मिस बोगन को लाने के लिए बाहर निकले। कोलेसरी ने सिर से पैर तक लिहाफ़ ओढ़ लिया और झूठ-मूठ कराहने लगी। मिस बोगन ने थर्मामीटर लगाया, ज़बान देखी और मुँह बनाकर बोली–"बीमारी जड़ पकड़ गई है। हिस्टीरिया है, बुखार बाहर नहीं है, मगर कलेजे पर है। क्यूँ, तुम्हारे सर में दर्द है ना?"

कोलेसारी–"सर तो फटा जाता है। फोड़ा हो रहा है।"

मिस बोगन–"भूख नहीं लगती न?"

कोलेसरी–"दाने की तरफ़ देखने को जी नहीं चाहता।"

मिस बोगन मरज़ की तश्खीस कर ही चुकी थीं। नुस्खा लिखा और रूख़सत हो गई। हकीम नादिर अली खाँ ने ज़्यादा बैठना फ़िज़ूल समझा। नज़राना पेशगी ले चुके थे। पंडित जी बाहर आकर अपने मोहसिनों (उपकारकों) से बोले–"तुम लोगों ने नाहक़ तक़लीफ़ की। उनकी तबीयत तो अब अच्छी हो चली है। ख़ैर, मैं तुम्हारा बहुत मशकूर (आभारी) हूँ।"

जब मेहमान रूख़सत हुए, पंडित जी अंदर आकर ख़ूब हँसे और जब हँसी ख़त्म हो गई तो सोचने लगे, जो कुछ न करना चाहिए वह आज सब करना पड़ा। क्या अब भी देवी न पसीजेंगी, मगर कोलेसरी को हँसी नहीं आई।

6

पंडित श्यामसरूप खाना खाकर लेटे और सो गए, मगर कोलेसरी को नींद नहीं आई। वह करवटें बदलती रही। कभी उठ बैठती और कमरे में इधर-उधर टहलती, कभी कोई किताब खोलकर लैम्प के सामने जा बैठती, मगर तबीयत किसी काम में न लगती थी। हवा से हिलते हुए दरख़्त के नीचे जिस तरह से चाँद की किरणें नाचती हैं, उसी तरह उसके ख़यालात परेशान हो रहे थे। वह सोचती थी कि मैंने इनके ऊपर कितना ज़ुल्म किया है। हाय! इनके दिल पर आज क्या गुज़री होगी? जिसने ज़िंदगी भर झूठी बात मुँह से न निकाली, उसे आज मेरी बदौलत झूठ को ओढ़ना-बिछौना बनाना पड़ा। अगर उन्होंने झूठ बोलना गवारा किया होता, जो आज दीदारगंज की अजीमुश्शान (विशाल) रियासत हमारे कब्ज़े में होती। ऐसी सच्चाई के नाम पर मरने वाले आदमी की मैंने यह दुर्गति की है! क्या इसीलिए मैं उनकी क़िस्मतों की शरीक़ हूँ? मेरा काम है उनसे हमदर्दी करना, नेक कामों में उनकी मदद करना, नेक सलाह देना, तस्कीन देना। इस सब फ़रायज़ के बदले में उन्हें झूठ के जाल में फँसा रही हूँ। ईश्वर मेरा गुनाह माफ़ करे!

मेरा फ़र्ज़ था कि इस कारे-ख़ैर (परोपकार के कार्य्य) में उनका हाथ बँटाती। यह देहाती कैसे सच्चे, कैसे बेरिया (निश्छल), कैसे मुहसिनपरस्त (उपकारी या उपकारी की पूजा करने वाले) हैं, कैसे दिल के फ़य्याज़ (उदार)! ऐसे शरीफ़ आदमियों की ख़िदमत करने से मैंने अपने पति को रोक दिया है, सिर्फ़ इसलिए कि एक बदज़बान औरत ने मुझे ताना दिया था और इतने पर आसूदा (संतुष्ट) न होकर अब मैं उन्हें ज़बरदस्ती झूठ बोलने के लिए मजबूर करती हूँ। बावजूद मेरी इन कमीनी ज़्यादातियों के इस नेकी से भी ज़्यादा नेक, शराफ़त से भी ज़्यादा शरीफ़, मेरे रहमदिल, मेरे पाकनफ़्स (पवित्र आत्मा) पति का दिल ज्यों का त्यों है। वह समझता है कि मैं बेवकूफ़ हूँ, जाहिल हूँ, कमज़ोर हूँ, जिद्दी हूँ और इन कमज़ोरियों को अपनी वसीह मोहब्बत (विस्तृत प्रेम) की गोद में छिपा लेता है। मैं कैसी तंगदिल हूँ! इस क़ाबिल भी नहीं कि उनका पैर धोऊँ। आज जब मिस बोगन को रुख़सत करके आए तो कैसे हँस रहे थे! कैसी पाक हँसी थी! और यह सिर्फ़ मेरा दिल रहने के लिए, सिर्फ़ मेरा ग़म ग़लत करने के लिए। प्यारे! मैं सिर से पैर तक बुराइयों से भरी हूँ। मैं ओछी हूँ। तुम मुझे अपने प्रेम में दासी समझते रहना।

यह सोचते-सोचते एक बार उसने पंडित श्यामसरूप के चेहरे पर देखा, राहतबख़्श ख़्वाब ने चेहरे को बहुत शगुफ़्ता बना दिया था, होठों पर हल्की-हल्की मुस्कराहट झलक रही थी। इसे देखकर कोलेसरी के दिल में प्रेम की एक लहर-सी उठी। जिस तरह समंदर में ज्वार उठता है, उसी तरह कभी-कभी इंसान के दिल में भी प्रेम का ज्वार उठता है। कोलेसरी की आँखों में इस वक़्त मोहब्बत का एक दरिया समाया हुआ था। वह मोहब्बत से बेताब होकर अपने पति के सीने से लिपट गई। उस सीने से जो उसकी मोहब्बत का आराम-गाह था। जिस तरह एक चोर सोए हुए साहिबेख़ाना (गृहस्वामी) के ख़ज़ाने को आज़ादी से लूटता है, उसी तरह कोलेसरी अपनी नींद में मतवाले शौहर के प्रेम के ख़ज़ाने को जी खोलकर लूट रही थी और जिस तरह चोर डरता है कि साहिबेख़ाना जाग न जाए, उसी तरह कोलेसरी को धड़का लगा हुआ था कि कहीं यह जाग न रहे हों। औरत की मोहब्बत दू-बदू (प्रत्यक्ष) आज़ादी से आँखें नहीं मिला सकती। शर्म और हिजाब उसे आँखें ऊपर नहीं उठाने देते। यह खौफ़ कि मेरी यह गर्मजोशी, ज़ाहिरदारी या तसन्नो (दिखावा या कपट-व्यवहार) ना ख़याल कर ली जाए, उसकी मोहब्बत के पैरों में बेड़ियाँ डाले रहता है। कोलेसरी इस वक़्त इन ख़यालों से आज़ाद थी। जब समंदर में ज्वार आता है तो शिकस्ता (टूटे-फूटे) जहाज़ों के टुकड़े, ख़ासो-ख़साक़ (कूड़ा-करकट) और सीप और घोंघे साहिल पर आ जाते हैं। कोलेसरी के दिल में से प्रेम के ज्वार ने वह फाँस निकाल दी, जो अब तक खटक रही थी।

7

दूसरे दिन जब पंडित जी (कचहरी से) शाम को लौटे, तो कोलेसरी से कहा—"मुझे दो-तीन दिन के लिए बाहर जाने का हुक्म मिलेगा?"

कोलेसरी—"क्यों, कहाँ जाओगे?"

श्यामसरूप—"मुफ़स्सिल (शहर के बाहर) का एक मुकदमा ले लिया है। भागलपुर जा रहा हूँ।"

कोलेसरी—"क्या अभी?"

श्यामसरूप—"कल ही दो तारीख़ है।"

छः बजे शाम की डाक से पंडित जी भागलपुर सिधारे और चार दिन तक मुक़दमे की पैरवी में मसरूफ़ रहे। तीन दिन का वादा करके आए थे, चार दिन लग गए। बारे पाँचवें दिन फ़ुरसत हुई। तीन बजे पटना पहुँचे और घर की तरफ़ चले। अपने मोहल्ले में दाख़िल हुए तो माँज गाँव का सनपत चौधरी दिखाई दिया। पंडित जी ने कहा—"चौधरी जी, कहाँ के धावे हैं?"

चौधरी ने चौंककर सिर उठाया और बोला—"पालागन, आपकी तो कल अवाई थी। देर काहे से हुई?"

पंडित जी—"कल नहीं आ सका। और तो सब ख़ैरियत है?"

चौधरी—"सब आपकी कृपा है। आज तो आपके यहाँ बड़ा जलसा है।"

पंडित जी (ताज्जुब से)—"मेरे यहाँ? कैसा जलसा?"

चौधरी—"बहूजी ने सभा करी है। हम लोगन की सब औरतें न्यौते में आई हैं।"

पंडित जी ख़ुश-ख़ुश आगे बढ़े तो सदहा आशना (सैकड़ों मित्र) सूरतें इधर-उधर आते-जाते दिखाई दीं, गोया दहक़ानियों (देहातियों) की बारात आ गई हो। सबको सलाम, बंदगी करते हुए अपने दरवाज़े पर पहुँचे तो मेला-सा लगा हुआ था। फ़र्श पर सैकड़ों आदमी बैठे हुक्का-तम्बाक़ू कर रहे थे। कोलेसरी ने औरतों को नवेद (निमंत्रण) दिया था। ये आदमी औरतों के साथ आए थे।

पंडित जी सीधे दीवानख़ाने में गए। कपड़े उतारे। नौकरों से कह दिया—"अंदर ख़बर मत करना" और खुद दीवानख़ाने की खिड़की से अंदर का तमाशा देखने लगे।

आँगन में सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था और उस पर तीन-चार सौ औरतें दहकानी अंदाज़ से बनी-सँवरी हुई बैठी हुई थीं। कोई हँसती था, कोई बातें करती थी और कोलेसरी हाथ में तश्त (थाल) लिए सबको पान और इलायची तक़सीम कर रही थी। बच्चों को खिलौने और मिठाइयाँ देती और प्यार करती थी। पान तक़सीम हो चुका तो गाना होने लगा। कोलेसरी ने आज मोटी साड़ी पहनी थी और गहने उतार दिए थे। वह ढोल लेकर बैठ गई और औरतों के साथ गाने लगी। पंडित जी बैठे ये सब क़ैफ़ियत देख रहे थे। फ़र्ते-मसर्रत (हर्षातिरेक) से दिल में गुदगुदी हो रही थी। जी यही चाहता था कि चलकर कोला को गले से लगा लूँ।

गाना ख़त्म होने के बाद कोलेसरी ने पंद्रह मिनट तक ठेठ-बोली में औरतों को उपदेश दिया और तब मजलिस बरख़ास्त हुई। कोलेसरी औरतों को गले लगा-लगाकर रुख़सत करती थी। इनमें एक औरत बहुत मुसीन (वृद्धा) थी। जब वह गले मिलने को बढ़ी तो कोलेसरी ने झुककर उसके पैरों को अपने आँचल से छुआ और आँचल को माथे से लगा लिया। उसका यह इंकिसार (विनम्रता) और यह अख़लाक़ (शिष्टाचार) देखकर पंडित जी मारे ख़ुशी के उछल पड़े और तीन-चार छलाँगें भरीं। उनसे अब ज़ब्त न हो सका। दीवान-ख़ाने से निकलकर आँगन में चले गए। कोलेसरी को इशारे से कमरे में बुलाया और गले से लगा लिया। वह ख़ैरोआफ़ियत (कुशलमंगल) पूछने लगी—"देर क्यों की?" कहने लगी—"आज तुम न आते तो मैं ख़ुद आती।" मगर पंडित जी को इन बातों के सुनने की कहाँ फ़ुर्सत! फिर गले लगा लिया और फिर लगाया। तबीयत आसूदा न हुई, फिर प्यार।

कोलेसरी ने शरमाकर कहा—"हुआ तो, अब क्या सब मोहब्बत आज ही ख़र्च कर डालोगे?"

पंडितजी—"क्या कहूँ, जी नहीं भरता। जितना प्यार करता हूँ, उतना ही प्यार करने को जी चाहता है। तुम सचमुच देवी हो।"

पंडित जी को राज तो नहीं, लेकिन कोई इलाक़ा मिल गया होता, तो हर्गिज़ इतने ख़ुश न होते। जब ख़ूब प्यार कर चुके तो आँगन में खड़े होकर औरतों से बोले—"बहनो, कोला बीमार नहीं थी। इन्होंने मुझे तुमसे मिलने-जुलने की मुमानियत (निषेध, मना करना) की थी, मगर आज इन्होंने ख़ुद बुलाया और बहनापे का नाता जोड़ा। मुझे इस वक़्त जितनी ख़ुशी है, इसका अंदाज़ नहीं हो सकता। इस ख़ुशी में मैं एक-एक हज़ार रुपए से दस गाँवों में लेन-देन की कोठियाँ खोलूँगा और वहाँ तुम लोगो को बिला सूद के रुपया दिया जाएगा। तुमको महाजनों से रुपया लेने में एक आना और दो आना रुपया सूद देना पड़ता है। इन कोठियों के खुलते ही तुम महाजनों के बंधन से छूट जाओगे और इन कोठियों का इंतज़ाम उन्हीं के सुपुर्द रहेगा, जिसनें तुम्हें आज न्यौता दिया है।"

सब औरतें हाथ उठा-उठाकर पंडित जी को जानोमाल की दुआएँ देने लगीं। कोलेसरी ने कहा—"वाह! यह ज़हमत मेरे सिर डाल दी।"

पंडित जी (मुस्कराकर)—"पानी में पैर रखा है तो आप तैरना सिखोगी।" कोलेसरी—"मुझे हिसाब-किताब कुछ आता भी है?"

पंडित जी—"सब खुद-ब-खुद आ जाएगा। तुम्हें उपदेश करना कब आता था? तुम तो औरतों से बोलती लजाती थीं। अभी दो हफ़्ते हुए, तुम्हीं ने इन लोगों से मिलने की मुमानियत की थी। आज तुम उन्हें बहन समझ रही हो। तब तुम्हारा दाँव था, अब मेरा दाँव है।"

कोलेसरी (हँसकर)—"तुमने मुझे फाँसने के लिए जाल फैलाया था।"

पंडित जी—"यह जाल दोनों तरफ़ से फैला हुआ है।"

('ज़माना,' उर्दू मासिक पत्रिका, मार्च, 1911)
('नया प्रतीक', अक्टूबर, 1976 में हिंदी लिप्यंतर प्रकाशित)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988 से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005)

CENTRE

राजा हरदौल

1

बुंदेलखंड में 'ओरछा' पुराना राज्य है। इसके राजा बुंदेले हैं। इन बुंदेलों ने पहाड़ों की घाटियों में अपना जीवन बिताया है। एक समय ओरछे के राजा जुझारसिंह थे। ये बड़े साहसी और बुद्धिमान् थे। शाहजहाँ उस समय दिल्ली के बादशाह थे। जब खानजहाँ लोदी ने बलवा किया और वह शाही मुल्क को लूटता-पाटता ओरछे की ओर आ निकला, तब राजा जुझारसिंह ने उससे मोरचा लिया। राजा के इस काम से शाहजहाँ बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि वे मनुष्य के गुणों की परख करने वाले थे। उन्होंने तुरंत ही राजा को दक्खिन के काम सौंपे। उस दिन ओरछे में बड़ा आनंद मनाया गया। शाही सफ़ीर, ख़िलत और सनद लेकर राजा के पास आया। जुझारसिंह को बड़े-बड़े काम करने का अवसर मिला। सफ़र की तैयारियाँ होने लगीं। तब राजा ने अपने छोटे भाई हरदौल सिंह को बुलाकर कहा—"भैया मैं तो जाता हूँ, अब यह राजपाट तुम्हारे सुपुर्द है। तुम भी इसे जी से प्यार करना। न्याय ही राजा का सबसे बड़ा सहायक है। न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता, चाहे वह रावण की सेना या इंद्र का बल लेकर आवे पर न्याय वही सच्चा हैं, जिसे प्रजा भी न्याय समझे। तुम्हारा काम केवल न्याय करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी दिलाना होगा और मैं तुम्हें क्या समझाऊँ, तुम स्वयं समझदार हो।" यह कहकर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी और हरदौलसिंह के सिर पर रख दी। हरदौल रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया।

इसके बाद राजा अपनी रानी से विदा होने के लिए रनवास आए। रानी दरवाज़े पर खड़ी रो रही थी। उन्हें देखते ही पैरों पर गिर पड़ी। जुझारसिंह ने उठाकर उसे छाती से लगाया और कहा—"प्यारी! यह रोने का समय नहीं है। बुंदेलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं। ईश्वर ने चाहा, तो हम तुम जल्द मिलेंगे। मुझ पर, ऐसी ही प्रीति रखना। मैंने राजपाट हरदौल को सौंपा है; वह अभी लड़का है। उसने अभी दुनिया नहीं देखी है। अपनी सलाहों से उसकी मदद करती रहना।" रानी की ज़बान बंद हो गई। वह अपने मन में कहने लगी—"हाय यह कहते हैं, बुंदेलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं। शायद उनके हृदय नहीं होता, या अगर होता है तो

उसमें प्रेम न होगा।" रानी कलेजे पर पत्थर रखकर आँसू पी गई और हाथ जोड़कर राजा की ओर मुसकुराती हुए देखने लगी, पर क्या वह मुस्कराहट थी? जिस तरह घुप्प अँधेरे मैदान में मशाल की रोशनी अँधेरे को और भी अथाह कर देती है उसी तरह रानी की मुस्कुराहट उसके मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी।

जुझारसिंह के चले जाने के बाद हरदौलसिंह राज करने लगे। थोड़े ही दिनों में उनके न्याय और प्रजावात्सल्य ने प्रजा का मन हर लिया।

लोग जुझारसिंह को भूल गए। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी, पर हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था। सब मित्र ही थे। वह ऐसा हँसमुख और मधुरभाषी था कि उससे जो ही दो बातें कर लेता, वही जीवन-भर उसका भक्त बना रहता। राज-भर में ऐसा कोई नहीं था, जो उसके पास तक न पहुँच सकता हो। रात-दिन उसके दरबार का फाटक सबके लिए खुला रहता था। ओरछे को कभी ऐसा सर्वप्रिय राजा नसीब न हुआ था। वह उदार था, न्यायी थी, विद्या और गुण का ग्राहक था, पर सबसे बड़ा गुण जो उसमें था वह उसकी वीरता थी। उसका यह गुण हद दर्जे को पहुँच गया था। जिस जाति के जीवन का अवलंब तलवार पर है, वह अपने राजा के किसी गुण पर इतना नहीं रीझती, जितना उसकी वीरता पर। हरदौल अपने गुणों से अपनी प्रजा के मन का भी राजा हो गया, जो मुल्क और माल पर राज करने से भी कठिन है। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। उधर दक्खिन में जुझारसिंह ने अपने प्रबंध से चारों ओर शाही दबदबा जमा दिया। इधर ओरछे में हरदौल ने प्रजा पर मोहनी मंत्र फूँक दिया।

2

फागुन का महीना था, अबीर और गुलाल से ज़मीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था, रबी ने खेतों में सुनहला फ़र्श बिछा रक्खा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिए थे। संतोष इस सुनहले फ़र्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिंतता इस सुनहले महल में तानें अलाप रही थी। इन्हीं दिनों में दिल्ली का नामवर फ़ेकैत क़ादिरख़ाँ ओरछे आया। बड़े-बड़े पहलवान उसका लोहा मान गए थे। दिल्ली से ओरछे तक सैकड़ों मर्दानगी के मद से मतवाले उसके सामने आए, पर कोई उससे जीत न सका। उससे लड़ना भाग से नहीं, बल्कि मौत से लड़ना था। वह किसी इनाम का भूखा न था; जैसा ही दिल का दिलेर था, वैसा ही मन का राजा था। ठीक होली के दिन उसने धूम-धाम से ओरछे में सूचना दी कि "ख़ुदा का शेर, दिल्ली का क़ादिरख़ाँ ओरछे आ पहुँचा है। जिसे अपनी जान भारी हो आकर अपने भाग का निपटारा कर ले।" ओरछे के बड़े-बड़े बुंदेले सूरमा यह घमंड-भरी वाणी सुनकर गरम हो उठे। फाग और डफ़ की तान के बदले ढोल की वीरध्वनि सुनाई देने लगी। हरदौल

का अखाड़ा ओरछे के पहलवानों और फ़केतों का सबसे बड़ा अड्डा था। संध्या को यहाँ सारे शहर के सूरमा जमा हुए। कालदेव और भालदेव बुंदेलों की नाक थे। सैकड़ों मैदान मारे हुए, यही दोनों पहलवान क़ादिरख़ाँ का घमंड चूर करने के लिए चुने गए।

दूसरे दिन किले के सामने तालाब के किनारे बड़े मैदान में ओरछे के छोटे-बड़े जमा हुए। कैसे-कैसे सजीले अलबेले जवान थे—सिर पर ख़ुशरंग बाँकी पगड़ी, माथे पर चंदन का तिलक, आँखों में मर्दानगी का सरूर, कमरों मे तलवार। और कैसे-कैसे बूढ़े थे—तनी हुई मूँछें, सादी पर तिरछी पगड़ी, कानों से बँधी हुई दाढ़ियाँ, देखने में तो बूढ़े पर काम में जवान, किसी को कुछ न समझने वाले। उनकी मर्दाना चालढाल नौजवानों को लजाती थी। हर एक के मुँह से वीरता की बातें निकल रही थीं। नौजवान कहते थे—देखें आज ओरछे की लाज रहती है या नहीं। पर बूढ़े कहते—ओरछे की हार कभी नहीं हुई और न होगी। वीरों का यह जोश देखकर राजा हरदौल ने बड़े ज़ोर से कह दिया था—"ख़बरदार, बुंदेलों की लाज रहे या न रहे, पर उनकी प्रतिष्ठा में बल न पड़ने पावे। यदि किसी ने औरों को यह कहने का अवसर दिया कि ओरछे वाले तलवार से न जीते, तो धाँधली कर बैठे, वह अपने को जाति का शत्रु समझे।"

सूर्य्य निकल आए थे। एकाएक नगाड़े पर चोब पड़ी और आशा तथा भय ने लोगों के मन को उछालकर मुँह तक पहुँचा दिया। कालदेव और क़ादिरख़ाँ दोनों लंगोट कसे शेरों की तरह अखाड़े में उतरे और गले मिल गए। तब दोनों तरफ़ से तलवारें निकलीं और दोनों के बगलों में चली गईं। फिर बादल के दो टुकड़ों से बिजलियाँ निकलने लगीं। पूरे तीन घंटे तक यही मालूम होता था कि दो अंगारे हैं। हज़ारों आदमी खड़े तमाशा देख रहे थे और मैदान में आधी रात का-सा सन्नाटा छाया था। हाँ, जब कभी कालदेव कोई गिरहदार हाथ चलाता या कोई पेंचदार वार बचा जाता, तो लोगों की गर्दनें आप ही आप उठ जातीं, पर किसी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता था, अखाड़े के अंदर तलवारों की खींचतान थी; पर दिखने वालों के लिए अखाड़े के बाहर मैदान में इससे भी बढ़कर तमाशा था। बार-बार जातीय प्रतिष्ठा के विचार से मन के भावों को रोकना और प्रसन्नता या दुःख का शब्द मुँह से बाहर न निकलने देना तलवारों के बार बचाने से अधिक कठिन काम था। एकाएक क़ादिरख़ाँ 'अल्लाहो अकबर' चिल्लाया, मानो बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी।

कालदेव के गिरते ही बुंदेलों को सब्र न रहा। हर एक चेहरे पर निर्बल क्रोध और कुचले हुए घमंड की तसवीर खिंच गई। हज़ारों आदमी जोश में आकर अखाड़े पर दौड़े, पर हरदौल ने कहा—'ख़बरदार! अब कोई आगे न बढ़े।' इस आवाज़ ने पैरों के साथ जंजीर का काम किया। दर्शकों को रोककर जब वे अखाड़े में गए और कालदेव को देखा, तो आँखों में आँसू भर आए। ज़ख़्मी शेर ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा था। उसके जीवन की तरह उसके तलवार के दो टुकड़े हो गए थे।

आज का दिन बीता। रात आई पर बुंदेलों की आँखों में नींद कहाँ? लोगों ने करवटें बदलकर रात काटी। जैसे दुःखित मनुष्य विकलता से सुबह की बाट जोहता है, उसी तरह बुंदेले रह-रहकर आकाश की तरफ़ देखते और उसकी धीमी चाल पर झुँझलाते थे। उनके जातीय घमंड पर गहरा घाव लगा था। दूसरे दिन ज्यों ही सूर्य्य निकला, तीन लाख बुंदेले तालाब के किनारे पहुँचे। जिस समय भालदेव शेर की तरह अखाड़े की तरफ़ चला, दिलों में धड़कन-सी होने लगी। कल जब कालदेव अखाड़े में उतरा था, बुंदेलों के हौसले बढ़े हुए थे, पर आज वह बात न थी। हृदयों में आशा की जगह डर घुसा हुआ था। जब क़ादिरख़ाँ कोई चुटीला बार करता तो लोगों के दिल उछल कर होठों तक आ जाते थे। सूर्य्य सिर पर चढ़ा आता था और लोगों के दिल बैठे जाते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि भालदेव अपने भाई से फुर्तीला और तेज़ था। उसने कई बार क़ादिरख़ाँ को नीचा दिखलाया, पर दिल्ली का निपुण पहलवान हर बार सम्हल जाता था। पूरे तीन घंटे तक दोनों बहादुरों में तलवारें चलती रहीं। एकाएक खट्टाके की आवाज़ हुई और भालदेव की तलवार के टुकड़े हो गए। राजा हरदौल अखाड़े के सामने खड़े थे। उन्होंने भालदेव की तरफ़ तेज़ी से अपनी तलवार फेंकी। भालदेव तलवार लेने के लिए झुका ही था कि क़ादिरख़ाँ की तलवार उसकी गर्दन पर आ पड़ी। घाव गहरा न था, केवल एक 'चरका' था, पर उसने लड़ाई का फ़ैसला कर दिया।

हताश बुंदेले अपने-अपने घरों को लौटे। यद्यपि भालदेव अब भी उड़ने को तैयार थे, पर हरदौल ने समझाकर कहा कि—"भाइयो! हमारी हार उसी समय हो गई, जब हमारी तलवार ने जवाब दे दिया। यदि हम क़ादिरख़ाँ की जगह होते तो निहत्थे आदमी पर वार न करते और जब तक हमारे शत्रु के हाथ में तलवार न आ जाती, हम उस पर हाथ न उठाते; पर क़ादिरख़ाँ में यह उदारता कहाँ? बलवान् शत्रु का सामना करने में उदारता को ताक पर रख देना पड़ता है तो भी हमने दिखा दिया है कि तलवार की लड़ाई में हम उसके बराबर हैं और अब हमको यह दिखाना रहा है कि हमारी तलवार में वैसा ही जौहर है।" इसी तरह लोगों को तसल्ली देकर राजा हरदौल रनवास को गए।

कुलीना ने पूछा—"लाला! आज दंगल का क्या रंग रहा?"

हरदौल सिर झुकाकर जवाब दिया—"आज भी वही कल का-सा हाल रहा।"

कुलीना—"क्या भालदेव मारा गया?"

हरदौल—"नहीं, जान से तो नहीं, पर हार हो गई।"

कुलीना—"तो अब क्या करना होगा?"

हरदौल—"मैं स्वयं इसी सोच में हूँ। आज तक ओरछे को कभी नीचा न देखना पड़ा था। हमारे पास धन न था, पर अपनी वीरता के सामने हम राज और धन को कोई चीज़ नहीं समझते थे। अब हम किस मुँह से अपनी वीरता का घमंड करेंगे—ओरछे की और बुंदेलों की लाज अब जाती है।"

कुलीना–"क्या अब कोई आस नहीं है?"

हरदौल–"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाज़ी ले जाए। भालदेव की हार ने बुंदेलों की हिम्मत तोड़ दी है, और आज शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अंतिम स्वाँस ले रही है, जिससे हमारा मान था। भालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है, पर बुंदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जाएगा। क़ादिरख़ाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर हमारा भालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि भालदेव के हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है, जो क़ादिरख़ाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैय्या की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी; यदि अबके भी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिए डूब जाएगा।"

कुलीना सोचने लगी। तलवार इनको दूँ या न दूँ। राजा रोक गए हैं। उनकी आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाहीं भी उस पर न पड़ने पावे। क्या ऐसी दशा में उनकी आज्ञा का उल्लंघन करूँ तो वे नाराज़ होंगे? कभी नहीं। जब वे सुनेंगे कि मैंने कैसे कठिन समय में तलवार निकाली है, तो उन्हें सच्ची प्रसन्नता होगी। बुंदेलों की आन किसको इतनी प्यारी है? उनसे ज़्यादा ओरछे की भलाई चाहने वाला कौन होगा? इस समय उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना ही आज्ञा मानना है। यह सोचकर कुलीना ने तलवार हरदौल को दे दी।

सवेरा होते ही यह ख़बर फैल गई कि राजा हरदौल क़ादिरख़ाँ से लड़ने के लिए जा रहे हैं। इतना सुनते ही लोगों में सनसनी-सी फैल गई और वे चौंक उठे। पागलों की तरह लोग अखाड़े की ओर दौड़े। हर एक आदमी कहता था कि जब तक हम जीते हैं, हम महाराज को लड़ने नहीं देंगे पर जब लोग अखाड़े के पास पहुँचे तो देखा कि अखाड़े में बिजलियाँ-सी चमक रही हैं। बुंदेलों के दिलों पर उस समय जैसी बीत रही थी, उसका अनुमान करना कठिन है। उस समय उस लंबे-चौड़े मैदान में जहाँ तक निगाह जाती थी, आदमी-ही-आदमी नज़र आते थे पर चारों तरफ़ सन्नाटा था। हर एक आँख अखाड़े की तरफ़ लगी हुई थी और हर एक का दिल हरदौल की मंगलकामना के लिए ईश्वर का प्रार्थी था। क़ादिरख़ाँ का एक-एक वार हज़ारों दिलों के टुकड़े कर देता था और हरदौल की एक-एक काट से मनों में आनंद की लहरें उठती थीं। अखाड़े में दो पहलवानों का सामना था और अखाड़े के बाहर 'आशा और निराशा' का। आख़िर घड़ियाल ने पहला पहर बजाया और हरदौल की तलवार बिजली बनकर क़ादिर के सिर पर गिरी। यह देखते ही बुंदेले मारे आनंद के उन्मत्त हो गए। किसी को किसी की सुधि न रही। कोई किसी से गले मिलता, कोई उछलता और कोई छलाँगें भरता था। हज़ारों आदमियों पर वीरता का नशा छा गया। तलवारें स्वयं म्यान

से निकल पड़ीं, भाले चमकने लगे। जीत की ख़ुशी में सैकड़ों जानें भेंट हो गईं पर जब हरदौल अखाड़े से बाहर आए और उन्होंने बुंदेलों की ओर तेज़ निगाहों से देखा तो आन-की-आन में लोग सम्हल गए। तलवारें म्यानों में जा छिपीं। ख़याल आ गया। यह ख़ुशी क्यों, यह उमंग क्यों और यह पागलपन किस लिए? बुंदेलों के लिए यह कोई नई बात नहीं हुई। इस विचार ने लोगों का दिल ठंडा कर दिया। हरदौल की इस वीरता ने उसे हर एक बुंदेले के दिल में मान-प्रतिष्ठा की उस ऊँची जगह पर जा बिठाया, जहाँ न्याय और उदारता भी उसे न पहुँचा सकती थी। वह पहले ही से सर्वप्रिय था और अब वह अपनी जाति का वीरवर और बुंदेला-दिलावरी का सिरमौर बन गया।

3

राजा जुझारसिंह ने भी दक्षिण में अपनी योग्यता का परिचय दिया। वे केवल लड़ाई में ही वीर न थे, बल्कि राज्य-शासन में भी अद्वितीय थे। उन्होंने अपने सुप्रबंध से दक्षिण प्रांत को बलवान् राज्य बना दिया और वर्ष-भर के बाद बादशाह से आज्ञा लेकर वे ओरछे की तरफ़ चले। ओरछे की याद उन्हें सदैव बेचैन करती रहीं। आह ओरछा! वह दिन कब आवेगा कि फिर तेरे दर्शन होंगे। राजा मंज़िलें मारते चले आते थे। न भूख थी, न प्यास, ओरछे वालों की मुहब्बत खींचे लिए आती थी। यहाँ तक कि ओरछे के जंगलों में आ पहुँचे। साथ के आदमी पीछे छूट गए। दोपहर का समय था। धूप तेज़ थी। वे घोड़े से उतरे और एक पेड़ की छाँह में जा बैठे। भाग्यवश आज हरदौल भी जीत की ख़ुशी में शिकार खेलने निकले थे। सैकड़ों बुंदेला सरदार उनके साथ थे। सब अभिमान के नशे में चूर थे। उन्होंने राजा जुझारसिंह को अकेले बैठे देखा, पर वे अपने धमंड में इतने डूबे हुए थे कि इनके पास तक न आए। समझे कोई यात्री होगा। हरदौल की आँखों ने भी धोखा खाया। वे घोड़े पर सवार अकड़ते हुए जुहारसिंह के सामने आए और पूछना चाहते थे कि तुम कौन हो कि भाई से आँख मिल गई। पहचानते ही घोड़े से कूद पड़े और उनको प्रणाम किया। राजा ने भी उठकर हरदौल को छाती से लगाया पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी और केवल इसीलिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ़ न दौड़ा। उसके सवारों ने दूर ही से उनकी अभ्यर्थना न की। संध्या होते-होते दोनों भाई ओरछे पहुँचे। राजा के लौटने का समाचार पाते ही नगर में प्रसन्नता की दुंदुभी बजने लगी। हर जगह आनंदोत्सव होने लगा और तुरताफुरती सारा शहर जगमगा उठा। आज रानी कुलीना ने अपने हाथों से भोजन बनाया। नौ बजे होंगे। लौंडी ने आकर कहा—"महाराज, भोजन तैयार है।" दोनों भाई भोज करने गए। सोने के थाल में राजा के लिए भोजन परोसा गया और चाँदी के थाल में हरदौल के लिए।

कुलीना ने स्वयं भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे और स्वयं ही सामने लाई थी, पर दिनों का चक्र कहो या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चाँदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया। वह वर्ष-भर से सोने के थाल में खाते-खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तिलमिला गए। ज़बान से कुछ न बोले, पर तेवर बदल गए और मुँह लाल हो गया। रानी की तरफ़ घूर कर देखा और भोजन करने लगे, पर ग्रास विष मालूम होता था। दो-चार ग्रास खाकर उठ आए। रानी उनके तीवर देखकर डर गई। आज कैसे प्रेम से उसने भोजन बनाया था, कितनी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन आया था, उसके उल्लास का कोई पारावार न था, पर राजा के तीवर देखकर उसके प्राण सूख गए। जब राजा उठ गए और उसने थाल को देखा तो कलेजा धक् से हो गया और पैर तले से मिट्टी निकल गई। उसने सिर पीट लिया। ईश्वर! आज रात कुशलपूर्वक कटे, मुझे शकुन अच्छे दिखाई नहीं देते।

राजा जुझारसिंह शीशमहल में लेटे। चतुर नाइन ने रानी का शृंगार किया और वह मुस्कुराकर बोली—"कल महाराज से इसका इनाम लूँगी।" यह कहकर वह चली गई, परंतु कुलीना वहाँ से न उठी। वह गहरे सोच में पड़ी हुई थी। उनके सामने कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ। नाइन ने नाहक मेरा शृंगार कर दिया। मेरा शृंगार देखकर वे ख़ुश भी होंगे? मुझसे इस समय अपराध हुआ है, मैं अपराधिनी हूँ, मेरा उनके पास इस समय बनाव-शृंगार करके जाना उचित नहीं। नहीं, नहीं!! आज मुझे उनके पास भिखारिनी के भेष में जाना चाहिए। मैं उनसे क्षमादान मागूँगी। इस समय मेरे लिए यही उचित है। यह सोचकर रानी बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गई। वह अप्सरा-सी मालूम होती थी। सुंदरता की कितनी ही तसवीरें उसने देखी थीं; पर उसे इस समय शीशे की तसवीर सबसे ज़्यादा ख़ूबसूरत मालूम होती थी।

सुंदरता और आत्मरुचि का साथ है। हल्दी बिना रंग के नहीं रह सकती। थोड़ी देर के लिए कुलीना सुंदरता के मद से फूल उठी। वह तनकर खड़ी हो गई। लोग कहते हैं कि सुंदरता में जादू है और वह जादू जिसका कोई उतार नहीं। धर्म्म और कर्म, तन और मन, सब सुंदरता पर न्यौछावर हैं। मैं सुंदर न सही, ऐसी कुरूपा भी नहीं हूँ। क्या मेरी सुंदरता में इतनी भी शक्ति नहीं है कि महाराज से मेरा अपराध क्षमा करा सके। ये बाहु-लताएँ जिस समय उनके गले का हार होंगी, ये आँखें जिस समय प्रेम के मद से लाल होकर देखेंगी, तब क्या मेरे सौंदर्य की शीतलता उनकी क्रोधाग्नि को ठंडा न कर देगी? पर थोड़ी देर में रानी को ज्ञान हुआ। आह! यह मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ! मेरे मन में ऐसी बातें क्यों आती हैं? मैं अच्छी हूँ या बुरी हूँ, उनकी चेरी हूँ। मुझसे अपराध हुआ है, मुझे उनसे क्षमा माँगनी चाहिए। यह शृंगार और बनाव इस समय उपयुक्त नहीं है। यह सोचकर रानी ने सब गहने उतार दिए। इतर में बसी हुई हरे रेशम की साड़ी अलग कर दी। मोतियों से भरी माँग खोल दी और वह ख़ूब

फूट-फूटकर रोई। हाय! यह मिलाप की रात बिछुड़न की रात से भी विशेष दुःखदायिनी है। भिखारिनी का भेष बनाकर रानी शीशमहल की ओर चली। पैर आगे बढ़ते थे, पर मन पीछे हटा जाता था। दरवाज़े तक आई; पर भीतर पैर न रख सकी। दिल धड़कने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो उसके पैर थर्रा रहे हैं। राजा जुझारसिंह बोले—"कौन है?—कुलीना? भीतर क्यों नहीं आ जातीं?"

कुलीना ने जी कड़ा करके कहा—"महाराज! कैसे आऊँ, मैं अपनी जगह क्रोध को बैठा हुआ पाती हूँ।"

राजा—"यह क्यों नहीं कहतीं कि मन दोषी है, इसलिए आँखें नहीं मिलाने देता।"

कुलीना—"निस्संदेह मुझसे अपराध हुआ है, पर एक अबला आपसे क्षमा का दान माँगती है।"

राजा—"इसका प्रायश्चित्त करना होगा।"

कुलीना—"क्यों कर?"

राजा—"हरदौल के ख़ून से।"

कुलीना सिर से पैर तक काँप गई। बोली—"क्या इसीलिए कि आज मेरी भूल से ज्योनार के थालों में उलट-फेर हो गया?"

राजा—"नहीं! इसीलिए कि हरदौल ने तुम्हारे प्रेम में उलट-फेर कर दिया।"

जैसे आग की आँच से लोहा लाल हो जाता है, वैसे ही रानी का मुँह लाल हो गया। क्रोध की अग्नि सद्भावों को भस्म कर देती है, प्रेम और प्रतिष्ठा, दया और न्याय, सब जल के राख हो जाते हैं। एक पल तक रानी को ऐसा मालूम हुआ, मानो दिल और दिमाग़ दोनों खौल रहे हैं पर उसने आत्मदमन की अंतिम चेष्टा से अपने को सम्हाला, केवल इतना बोली—"हरदौल को मैं अपना लड़का और भाई समझती हूँ।"

राजा उठ बैठे और कुछ नर्म स्वर से बोले—"नहीं, हरदौल लड़का नहीं है, लड़का मैं हूँ, जिसने तुम्हारे ऊपर विश्वास किया। कुलीना! मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मुझे तुम्हारे ऊपर घमंड था। मैं समझता था चाँद, सूर्य्य टल सकते हैं, पर तुम्हारा दिल नहीं टल सकता। पर आज मुझे मालूम हुआ कि यह मेरा लड़कपन था। बड़ों ने सच कहा है कि स्त्री का प्रेम पानी की धार है, जिस ओर ढाल पाता है उधर ही बह जाता है।"—सोना ज़्यादा गर्म होकर पिघल जाता है। कुलीना रोने लगी। क्रोध की आग पानी बनकर आँखों से निकल पड़ी। जब आवाज़ वश में हुई, तो बोली—"मैं आपके इस संदेह को कैसे दूर करूँ?"

राजा—"हरदौल के ख़ून से।"

रानी—"मेरे ख़ून से दाग़ न मिटेगा?"

राजा—"तुम्हारे ख़ून से और पक्का हो जाएगा।"

रानी—"और कोई उपाय नहीं हैं?"

राजा—"नहीं।"

रानी—"यह आपका अंतिम विचार है?"

राजा—"हाँ; यह मेरा अंतिम विचार है। देखो, इस पानदान में पान का बीड़ा रक्खा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को इसे अपने हाथ से खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा, जब इस घर से हरदौल की लाश निकलेगी।"

रानी ने घृणा की दृष्टि से पान के बीड़े को देखा और वह उल्टे पैर लौट आई।

रानी सोचने लगी—क्या हरदौल के प्राण लूँ? निर्दोष, सच्चरित्र, वीर हरदौल की जान से अपने सतीत्व की परीक्षा दूँ? उस हरदौल के ख़ून से अपना हाथ काला करूँ जो मुझे बहन समझता है? यह पाप किसके सिर पड़ेगा? क्या एक निर्दोष का ख़ून रंग न लाएगा? आह! अभागी कुलीना! तुझे आज अपने सतीत्व की परीक्षा देने की आवश्यकता पड़ी है और वह ऐसी कठिन। नहीं, यह पाप मुझसे न होगा। यदि राजा मुझे कुलटा समझते हैं तो समझें, उन्हें मुझ पर संदेह है तो हो। मुझसे यह पाप न होगा। राजा को ऐसा संदेह क्यों हुआ? क्या केवल थालों के बदल जाने से? नहीं, अवश्य कोई और बात है। आज हरदौल उन्हें जंगल में मिल गया था। राजा ने उसकी कमर में तलवार देखी होगी। क्या आश्चर्य है, हरदौल से कोई अपमान भी हो गया हो। मेरा अपराध क्या है? मुझ पर इतना बड़ा दोष क्यों लगाया जाता है? केवल थालों के बदल जाने से। हे ईश्वर! मैं किससे अपना दुःख कहूँ? तू ही मेरा साक्षी है। जो चाहे सो हो, पर मुझसे यह पाप न होगा।

रानी ने फिर सोचा—राजा, क्या तुम्हारा हृदय ऐसा ओछा और नीच है? तुम मुझसे हरदौल की जान लेने को कहते हो? यदि तुम से उसका अधिकार और मान नहीं देखा जाता तो क्यों साफ़-साफ़ ऐसा नहीं कहते? क्यों मरदों की लड़ाई नहीं लड़ते? क्यों स्वयं अपने हाथ से उसका सिर नहीं काटते? मुझसे वह काम करने को कहते हो। तुम ख़ूब जानते हो मैं नहीं कर सकती। यदि मुझसे तुम्हारा जी उकता गया है, यदि मैं तुम्हारी जान की जंजाल हो गई हूँ तो मुझे काशी या मथुरा भेज दो। मैं बेखटके चली जाऊँगी, पर ईश्वर के लिए मेरे सिर इतना बड़ा कलंक न लगने दो। पर मैं जीवित ही क्यों रहूँ? मेरे लिए अब जीवन में कोई सुख नहीं है। अब मेरा मरना ही अच्छा है। मैं स्वयं प्राण दे दूँगी, पर यह महापाप मुझसे न होगा। विचारों ने फिर पलटा खाया। तुमको यह पाप करना ही होगा। इससे बड़ा पाप शायद आज तक संसार में न हुआ हो, पर यह पाप तुम को करना होगा। तुम्हारे पातिव्रत पर संदेह किया जा रहा है और तुम्हें इस संदेह को मिटाना होगा। यदि तुम्हारी जान जोख़िम में होती, तो कुछ हर्ज़ न था। अपनी जान देकर हरदौल को बचा लेतीं, पर इस समय तुम्हारे पातिव्रत पर आँच आ रही है। इसीलिए तुम्हें यह पाप करना ही होगा और पाप करने के बाद हँसना और प्रसन्न रहना होगा। यदि तुम्हारा चित्त तनिक भी विचलित

हुआ, यदि तुम्हारा मुखड़ा जरा-भी मध्यम हुआ, तो इतना बड़ा पाप करने पर भी तुम संदेह मिटाने में सफल न होगी। तुम्हारे जी पर चाहे जो बीते, पर तुम्हें यह पाप करना ही पड़ेगा परंतु कैसे होगा? क्या मैं हरदौल का सिर उतारूँगी? यह सोचकर रानी के शरीर में कँपकँपी आ गई। नहीं; मेरा हाथ उस पर कभी नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल! मैं तुम्हें विष नहीं खिला सकती। मैं जानती हूँ, तुम मेरे लिए आनंद से विष का बीड़ा खा लोगे। हाँ, मैं जानती हूँ, तुम नहीं न करोगे। पर मुझसे यह महापाप नहीं हो सकता; एक बार नहीं, हज़ार बार नहीं हो सकता।

4

हरदौल को इन बातों की कुछ भी ख़बर न थी। आधी रात को एक दासी रोती हुई उसके पास गई और उसने उससे सब सनाचार अक्षर-अक्षर कह सुनाया। वह दासी पानदान लेकर रानी के पीछे-पीछे से राजमहल के दरवाज़े तक गई थी और सब बातें सुनकर आई थी। हरदौल राजा का ढंग देखकर पहले ही ताड़ गया था कि राजा के मन में कोई-न-कोई काँटा अवश्य खटक रहा है। दासी की बातों ने उसके संदेह को और भी पक्का कर दिया। उसने दासी से कड़ी मनाही कर दी कि सावधान! किसी दूसरे के कानों में इन बातों की भनक न पड़े और वह स्वयं मरने के लिए तैयार हो गया।

हरदौल बुंदेलों की वीरता का सूरज था। उसकी भौंहो के तनिक इशारे से तीन लाख बुंदेले मरने और मारने के लिए इकट्ठे हो सकते थे। ओरछा उस पर न्यौछावर था। यदि जुझारसिंह खुले मैदान उसका सामना करता, तो अवश्य मुँह की खाता। क्योंकि हरदौल भी बुंदेला था और बुंदेला अपने शत्रु के साथ किसी प्रकार की मुहँ देखी नहीं करते, मरना-मारना उनके जीवन का एक अच्छा दिल-बहलाव है। उन्हें सदा इसकी लालसा रहती है कि कोई हमें चुनौती दे, कोई हमें छेड़े। उन्हें सदा ख़ून की प्यास रहती हैं और वह प्यास कभी नहीं बुझती, परंतु उस समय एक स्त्री को उसके ख़ून की ज़रूरत थी और उसका साहस उसके कानों में कहता था कि एक निर्दोष और सती अबला के लिए अपने शरीर का ख़ून देने में मुँह न मोड़ो। यदि भैया को यह संदेह होता कि "मैं उनके ख़ून का प्यासा हूँ और उन्हें मारकर राज पर अधिकार करना चाहता हूँ" तो कुछ हर्ज़ न था। राज्य के लिए क़तल और ख़ून, दग़ा और फ़रेब सब उचित समझा गया हैं, परंतु उनके इस संदेह का निपटारा मेरे मरने के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता। इस समय मेरा धर्म्म है कि अपना प्राण देकर उनके इस संदेह को दूर कर दूँ। उनके मन में यह दुःखाने वाला संदेह उत्पन्न करके यदि मैं जीता ही रहूँ और अपने मन की पवित्रता जनाऊ तो मेरी ढिटाई है। नहीं, इस भले काम में अधिक आगा-पीछा करना अच्छा नहीं। मैं ख़ुशी से विष का बीड़ा खाऊँगा। इससे

बढ़कर शूरवीर की मृत्यु और क्या हो सकती है? क्रोध में आकर, मारू के मन बढ़ाने वाले शब्द सुनकर रणक्षेत्र में अपनी जान को तुच्छ समझना इतना कठिन नहीं है। आज सच्चा वीर हरदौल अपने हृदय के बड़प्पन पर अपनी सारी वीरता और साहस न्यौछावर करने को उद्यत है।

दूसरे दिन हरदौल ने ख़ूब तड़के स्नान किया। बदन पर अस्त्र-शस्त्र साजे और वह मुस्कुराता हुआ राजा के पास गया। राजा भी सोकर तुरंत ही उठे थे, उनकी अलसाई हुई आँखें हरदौल की मूर्ति की ओर लगी हुई थीं। सामने संगमर्मर की चौकी पर विष मिला पान सोने की तश्तरी में रक्खा हुआ था। राजा कभी पान की ओर ताकते और कभी मूर्ति की ओर, शायद उनके विचार ने इस विष की गाँठ और उस मूर्ति में एक संबंध पैदा कर दिया था। उस समय जो हरदौल एकाएक घर में पहुँचे तो राजा चौंक पड़े। उन्होंने सम्हल कर पूछा—"इस समय कहाँ चले?"

हरदौल का मुखड़ा प्रफुल्लित था। वह हँसकर बोला,—"कल आप यहाँ पधारे हैं, इसी ख़ुशी में मैं आज शिकार खेलने जाता हूँ। आपको ईश्वर ने अजीत बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"

यह कहकर हरदौल ने चौकी पर से पानदान उठा लिया और उसे राजा के सामने रखकर बीड़ा लेने के लिए हाथ बढ़ाया। हरदौल का खिला हुआ मुखड़ा देखकर राजा की ईर्ष्या की आग और भी भड़क उठी। दुष्ट! मेरे घाव पर नमक छिड़कने आया है। मेरे मान और विश्वास को मिट्टी में मिलाने पर भी तेरा जी न भरा? मुझसे विजय का बीड़ा माँगता है? यह विजय का बीड़ा है पर तेरी विजय का नहीं, मेरी विजय का।

इतना मन में कहकर जुझारसिंह ने बीड़े को हाथ में उठाया। वह एक क्षण तक कुछ सोचता रहा, फिर उसने मुस्कुराकर हरदौल को बीड़ा दे दिया। हरदौल ने सिर झुकाकर बीड़ा लिया उसे माथे पर चढ़ाया, एक बार बड़ी ही करुणा के साथ चारों ओर देखा और फिर बीड़े को मुँह में रख लिया। एक सच्चे राजपूत ने अपना पुरुषत्व दिखा दिया। विष हालाहल था, कंठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई और आँखें बुझ गईं। उसने एक ठंडी साँस ली, दोनों हाथ जोड़कर जुझारसिंह को प्रणाम किया और वह ज़मीन पर बैठ गया। उसके ललाट पर पसीने की ठंडी-ठंडी बूँदें दिखाई दे रही थीं और साँस तेज़ी से चलने लगी थी, पर चेहरे पर प्रसन्नता और सन्तोष की झलक दिखाई देती थी।

जुझारसिंह अपनी जगह से ज़रा भी न हिला। उसके चेहरे पर वीर-ईर्ष्या से भरी हुई मुस्कराहट छाई हुई थी, पर आँखों में आँसू भर आए थे। उजेले और अँधेरे का मिलाप हो गया था।

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1911*)
(*'नव-निधि', हिंदी कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, दिसंबर, 1917 से प्रस्तुत*)
(*'मानसरोवर'-6, 1946*)

बड़ी बहन

1

एक दिन मौज़ा शिवगंज में शाम के वक़्त कई औरतें एक नीम के नीचे बातें कर रही थीं। तारा ने एक ऐसे खाविंद का ज़िक्र करते हुए, जिसने अपनी बीवी को महज़ इसलिए डंडों से मारा था कि वह बिना उसकी इजाज़त के गंगा नहाने चली गई थी, गुस्से के साथ कहा—"ऐसे आदमी के मुँह में आग लग जाए।"

यह सुनकर औरतें सन्नाटे में आ गईं। किसी ने हाथ सीने पर रख लिया, किसी ने दाँतों से ज़बान दबाई—तारा को यह कहना मुनासिब नहीं था। कुंदन ने तेवरी बदलकर कहा—"तारा बहन, तुम ज़बान सँभालकर बात नहीं करतीं। अपना शौहर था, मार ही बैठा तो क्या हुआ?"

कुंदन जयगोपाल चौधरी की बीवी थी। बाबू जयगोपाल दुनिया के उन चंद खुशक़िस्मत आदमियों में थे, जिन्हें बग़ैर हाथ-पैर हिलाए दोनों वक़्त लुक़्मएतर (अच्छा भोजन, तरमाल) खाने को मिल जाता है। वह साल-भर अपने दालान में बैठे गपशप किया करते। मगर यह गाँव इनकी मौरूसी मिल्कियत नहीं थी। मौरूसी जायदाद तो बाबू मदनगोपाल मरहूम के ज़माने ही में खुर्द-बुर्द हो चुकी थी। जयगोपाल के ससुर ने उन्हें तकलीफ़ में देखकर यह गाँव गुज़ारे के लिए दे दिया था। वह इसके अलावा हर महीने में अपने दामाद की इमदाद करता रहता था। जयगोपाल की ख़ूब आराम से कटती थी और आइंदा के लिए उन्हें कोई अंदेशा नहीं था। बूढ़ा ससुर लावलद (निःसन्तान) था। उसके आँख मूँदते ही बीस हज़ार सालाना नफ़ा की जायदाद हाथ लगेगी। ऐसे खुशनसीब आदमी दुनिया में कितने होते हैं? यह तो नहीं कहा जा सकता कि जयगोपाल अपने ससुर की मुबारक मौत के ख़्वास्तगार (इच्छुक) थे, मगर साल में दो-तीन बार वह इस रोज़े-सईद (शुभ-व्रत) की आरजू में सत्यनारायण का पाठ ज़रूर करवाते थे।

खैर! जयगोपाल के दस साल बड़े आराम से गुज़रे। तीन बच्चे हुए। पेट ने गुम्बदनुमा सूरत अख़्तियार की। चाँद के बाल झड़ने लगे, खुशक़िस्मती के आने का रास्ता साफ़ होने लगा। मगर आना किसे था और आया कौन! जो बात नहीं होनी

चाहिए थी, वह हो गई और उसने जयगोपाल का मुसतकबिल (भविष्य) स्याह कर दिया। साठ बरस के सिन (आयु) में बूढ़े ससुर के एक बच्चा हो गया। जयगोपाल ने सुना और सिर पीट कर रह गए। कुंदन ने बूढ़े बाप को ख़ूब जी-भर कर कोसा और इस तिफ़्लेनौज़ाईदा (नवजात शिशु) की लाश देखने की तमन्ना ज़ाहिर की। कहने लगी—"बूढ़ा साठ बरस का हुआ, मगर हविस नहीं गई। अब उसे गले से बाँधे।" यह सआदतमंद (सुयोग्य, आज्ञाकारी) बेटी थी। खुदग़र्ज़ी! वाह ऐ खुदगर्ज़ी!

एक बच्चे ने जयगोपाल की बेफ़िक्रियों और ऐशपरस्तियों का ख़ात्मा कर दिया। अपनी नन्हीं-सी मुट्ठी से उसने जयगोपाल की सारी उम्मीदें और आरज़ूएँ, हौसले और अरमान मसल डाले। सुसराल से नवेद आया, मगर वो शरीक न हो सके। उन्हें अब अपनी रोज़ी की फ़िक्र दामनगीर हुई। आसाम चले गए और एक चाय के कारख़ाने में मुलाज़मत कर ली। ज़िंदगी में पहली बार इतना दूरदराज सफ़र करना पड़ा। वह अब तक कभी तनहा नहीं रहे थे। बीवी और बच्चे उनकी ज़िंदगी का जुज़ू (अंग) बन गए थे। कई माह तक उनकी तबीयत न जमी। ज्यूँ-ज्यूँ दिन गुज़रते गए, त्यूँ-त्यूँ घर का ख़याल कमज़ोर होता गया। साल-भर मुश्किल से गुज़रा होगा कि जयगोपाल के दिल में एक नया जोश पैदा हुआ और वह यह था कि घर की हालत सुधारनी चाहिए। मोहब्बत की जगह इरादों ने छीन ली। पहले हफ़्तावार ख़तूत जाते थे, फिर पन्द्रहवें दिन जाने लगे। यहाँ तक कि दूसरा साल गुज़रते-गुज़रते यह नौबत हो गई कि महीने में एक ख़त लिखने की भी फ़ुर्सत न मिलती थी।

मगर कुंदन की कैफ़ियत इसके बिलकुल बरअक्स (विपरीत) थी। जयगोपाल से उसे वही मोहब्बत थी, जो आमतौर पर बीवियों को होती, यानी शौहर की ख़िदमत दिलोजान से करती थी। वह मोहब्बत जो दिल को बेचैन करती है, जो आँखों को रुलाती और जिगर को तड़पाती है, वह पुरजोश जज़्बा जो दिल के कुल एहसासात पर हावी हो जाता है, कुंदन को नहीं था। वह कभी अपने शौहर से अलग नहीं हुई थी और इसलिए उन एहसासात से, उन हसरतों से जो कुछ फ़िराक़ ही में अपना ज़ोर दिखाते हैं, वह मानूस (परिचित) नहीं थीं। रिश्ते-ए-मोहब्बत में गाँठ थी, मगर ढीली, लेकिन जुदाई के इस झटके ने इस गाँठ को मज़बूत कर दिया। मोहब्बत की आग, जो दबी हुई पड़ी थी, जुदाई की हवा पाकर भड़क उठी। कुंदन के दिल में एक नई और पुरजोश मोहब्बत ने उद (जन्म) किया। वह अक्सर ख़ामोश और उदास रहने लगी। तनहाई से उसकी तबीयत मायूस होने लगी, कभी-कभी अकेले में रोया करती। ख़तूत ज़्यादा पुरशौक (लालसायुक्त) होने लगे। वह सोचती—बला से मुझे मोटे कपड़े पहनने पड़ेंगे। मैं गाढ़ा पहनूँगी। बला से, मैं तकलीफ़ सहूँगी। कुंदन अगर्चे कई बच्चों की माँ थी, मगर इस वक़्त उसके दिल में एक नशा ए-शबाब (यौवन का उल्लास) की मतवाली नाज़नीन (सुंदर स्त्री) का जोशे-मोहब्बत उमड़ने लगा। उसको कितनी ही ऐसी बातें याद थीं, जो उसने जयगोपाल का दिल दुःखाने के लिए कही थीं। कितनी

बार उनसे लड़ी थी। इन बातों को याद करके वह रोती थी। उनसे सच्चे मानूमाना (निर्दोष) जोश के साथ अपने दिल मे अहद किया कि अब मैं उन्हें कुछ नहीं कहूँगी। वह जैसे रखेंगे, वैसे ही रहूँगी।

2

बुढ़ापे की औलाद बहुत प्यारी होती है। इस नौज़ाईदा बच्चे ने, जिसका नाम नौनीचंद रखा गया था, अपने बूढ़े माँ-बाप की क़िस्मत जगा दी। उनकी मोहब्बत चारों तरफ़ से सिमट कर उस पर जम गई। वह लड़का नहीं था, उनकी मुद्दत-उल-उमर (जीवन भर की) की दुआओं और आरज़ूओं ने इंसानी शक़्ल अख़्तियार कर ली थी।

मगर बूढ़े माँ-बाप की तक़दीर में बच्चे का मुख देखना नहीं बदा था। तीसरे साल उसकी माँ बीमार पड़ी। उसे मालूम हुआ कि अब मैं नहीं बचूँगी। तब उसने कुंदन को बुलाया। कुंदन जाने से ज़रूर इंकार कर देती, क्योंकि अब उसे अपने माँ-बाप से नफ़रत हो गई थी, मगर उन दिनों शिवगंज में प्लेग फैला हुआ था। कुंदन को इंकार करने की जुर्रत न हो सकी।

कुंदन की माँ उसे देखकर बहुत ख़ुश हुई और ख़ूब रोई। बाप ने हज़ारों दुआएँ दीं, मगर मकान की महरियाँ और लौंडियाँ इस मेहमान को देखकर जल गईं और उसकी तरफ़ तंजओज (व्यंग्य-भरी) निगाहों से देखतीं। अक्सर उससे बेअदबी कर बैठतीं। महरी कहती—"अब कोई कहाँ तक पानी भरे! दिन-भर पानी ढोते-ढोते कूल्हा रह जाता है।" महराजन कहती—"ये लड़के जाने कहाँ के मरभुक्खे हैं। चूल्हा जला नहीं कि सब आकर घेर लेते हैं।" कुंदन यह सब सुनती और पी जाती। अपनी माँ की तकलीफ़ देखकर उसका दिल कुछ-कुछ पिघल गया था। आख़िर एक रोज बूढ़ी औरत की हालत बहुत नाजुक हो गई। उसने नौनीचंद का हाथ पकड़कर कुंदन के हाथ में दिया और रोती हुई दुनिया से सिधार गई।

माँ के मरते ही कुंदन के मिजाज़ में एक ख़ुश-आयंद (ख़ुशी लाने वाली) तब्दीली वाक्या हुई। नौनीचंद से जो उसे नफ़रत थी, वह जाती रही। उस मुरझाए हुए यतीम बच्चे को देखकर उसे उस पर तरस आता। जब उसके अपने लड़के नौनी को मारते और वह आँखों में आँसू भरे हुए आता और जीजी का आँचल पकड़कर फ़रियाद करता, तो कुंदन का कलेजा मसोस उठता और नौनी को मादराना जोश (ममता) के साथ गोद में उठा लेती और कलेजे से चिपटाकर प्यार करती। कुंदन के मिजाज़ में यह तबदीली यों वाक़े हुई, शायद इसीलिए कि बूढ़ी माँ ने बच्चे को उसके सुपुर्द किया था, या मुमकिन है बेकसी के ख़याल ने नफ़रत पर फ़तह पाई हो। बहरहाल कुंदन अपने भाई को अपने बच्चे से ज़्यादा चाहने लगी। नौनी की फ़रियादें अब अकारथ नहीं जातीं। अगर कभी तिफ़लाना मुनाफ़जत (बच्चों जैसे झगड़े) में नौनी ही जसारत

(धृष्टता, पहल) करता तो भी कुंदन उसे सज़ा न देती। नौनी को रोता देखकर उसका कलेजा फटने लगता था और बच्चा भी उससे कुछ ऐसा हिला कि अपनी माँ को भूल गया।

तीन महीने के बाद कुंदन का बाप भी मरा। उसने अपनी वसीयत में जयगोपाल को नौनी का सरपरस्त क़रार दिया और गुज़ारे के लिए उसे एक गाँव भी दिया। कुंदन अब उस घर की मालिक हुई और नौनी उसके दिल का।

जयगोपाल ख़बर पाते ही आसाम से चले आए और जमींदारी का इंतज़ाम करने लगे।

3

जयगोपाल अब पहले का-सा बेफ़िक्र, आज़ाद मनिश (मनमौजी, स्वेच्छाचारी) आदमी न था। अब वह शातिर (धूर्त, चालाक) मुअल्ला फ़हीम (उच्च कोटि का बुद्धिमान, विवेकी) दुनियादार बाबू बन गया था। उसे रुपए की चाट पड़ गई थी और हरदम इसी धुन में रहता। परदेश में उसने ख़ूब कमाया और ख़ूब ख़र्च किया। चाय के बाग़ों में नाजायज़ नफ़्सपरस्तियों (अनुचित वासनातृप्ति) के बेशुमार मौक़े हैं। उनसे उसने ख़ूब दिल खोलकर फ़ायदा उठाया। ख़ुलासा यह कि उसके मिजाज में अब छिछोरापन आ गया था और कुंदन जैसी सीधी, भोली औरत, जिसकी निगाहों ने सामने ताकना नहीं सीखा था, अब उसके दिल को क़ाबू में न रख सकती थी। उसने एक अर्से-दराज़ (लंबी अवधि) के बाद अपने शौहर को फिर पाया था और उसकी दिलजोई और ख़ातिरदारी में पहले से भी ज़्यादा सरगर्म हो गई थी। मगर ज्यूँ-ज्यूँ नज़दीक आने की कोशिश करती, त्यूँ-त्यूँ जयगोपाल उससे दूर भागता था।

जयगोपाल ने पहले दिन ही से नौनीचंद के साथ मुगायरत (बेगानापन, प्रतिकूलता) का बरताव करना शुरू किया। उसकी तरफ़ देखता तो नफ़रत के साथ, बात करता तो तुर्श (कटु) लहज़े में। कुंदन भाई की मोहब्बत में शौहर को अपना शरीक़ बनाना चाहती थी, लेकिन अगर वह कभी गोद में लेकर जयगोपाल के पास चली जाती तो वह नफ़रत से मुँह फेर लेता। कुछ दिनों तक ग़रीब कुंदन ने बहुत कोशिश की कि किसी तरह जयगोपाल के दिल में सफ़ाई हो जाए; मगर आख़िरकार उसे मालूम हो गया कि उसने नौनी का क़सूर अब तक नहीं माफ़ किया और न अब इसकी तवक्को (आशा) थी और वह क़सूर क्या था? पैदा होना।

पहले जब कभी नौनी और उसके भांजों में जंग होती तो कुंदन हमेशा अपने भाई की तरफ़ रहा करती। इसलिए उनको नौनी के साथ सख़्ती से पेश आने की हिम्मत न होती थी, मगर अब अदालत का रुख़ पलट गया था। नए मुंसिफ़ ने आकर नया क़ानून ज़ारी किया था, जो फ़रियाद करता था उसी की सज़ा होती थी। जब कभी

जयगोपाल नौनी को मारते और वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भरे आहिस्ता-आहिस्ता कुंदन के पास आता तो वह उसे गोद में उठा लेती और मकान के किसी गोशे में जाकर ख़ूब रोती और जब तक नौनी उसे चुप न करता, रोया करती। ज्यों-ज्यों जयगोपाल नौनी के साथ ज़्यादा बेरहमी करते, त्यों-त्यों कुंदन के दिल में उसकी मोहब्बत ज़्यादा होती।

जयगोपाल को नौनी का रोना और बोलना सुनकर बुखार-सा आ जाता और जिस वक़्त वह नींद में होते, उस वक़्त तो नौनी की ज़बान का खुलना गोया शामत का आना था। जब वह सोते तो कुंदन अपने भाई को गोद में लेकर सबसे ऊँची मुँडेर पर चली जाती और उसे थपक-थपक कर लोरियाँ सुनाती और सुलाती। इसी बिना पर कभी-कभी जयगोपाल कुंदन को भी सख़्त-सुस्त कह बैठता था। दुर्गा-पूजा में उसने अपने लड़को के लिए रेशमी कपड़े बनवाए, मगर नौनी के लिए मामूली कपड़े भी न बनवा सका। कुंदन अपने बेकस भाई पर ज़ुल्म देखती और दिल-ही-दिल में बल खाकर रह जाती। नौनी उससे इस क़दर हिल गया था कि दोनों बज़दों (शरीरों, अस्तित्वों) में कोई फ़र्क़ न बाक़ी रहा था। कुंदन के दिल में अब जयगोपाल की इज़्ज़त रोज-बरोज़ कम होती जाती थी। वह उसे मुशतवह (संदिग्ध) निगाहों से देखती। वह कभी नौनी को उसके पास तन्हा न रहने देती। इस क़दर बदगुमान हो गई थी। वह इस मामले में बावजूद दिली कोशिश के जयगोपाल के साथ वफ़ादारी का बर्ताव नहीं कर सकती थी। जयगोपाल भी कुंदन की जानिब (ओर, तरफ़) से हद-दरजा बदज़न हो गया था। पहले वह नौनी को अपनी ख्वाबे-ज़िंदगी का परेशान करने वाला समझता था, अब कुंदन को। कुंदन ही उस रास्ते में रुकावट थी जो उसे दौलत-ओ-सरवत (धन-वैभव) की तरफ़ ले जा रहा था। उसे अपनी बीवी से अब मुत्लफ (बिलकुल) हमदर्दी न थी। कुंदन के दिल में यहीं एक मुअम्मा (उलझन, पहेली) थी, जो उसकी समझ में नहीं आता था।

4

भैया-दूज की तकरीब (शुभ अवसर, उत्सव) आई। कुंदन ने आज व्रत रखा। आज के लिए उसने पहले से ही तैयारियाँ कर रखी थीं। नौनी के लिए उसने गुलाबी रंग का रेशमी कोट, नीले किनारे की धोती, सुनहरा रेशमी दुपट्टा मँगा रखा था। सुबह उसने नौनी को उबटन से मला, नहलाया, कपड़े पहनाए और दस्तूर के मुआफ़िक़ उसके माथे पर दही और चावल का टीका लगा दिया। नौनी खुशरंग कपड़े पहने गाँव में खेलता फिरता था। साफ़गो (सपष्टवादी) तारा भी किसी काम से इस गाँव में आ गई थी। यहाँ तरह-तरह के चर्चे हो रहे थे। तारा ने सुना और गुस्से से भरी हुई कुंदन के पास आकर बोली—"बहन, क्या-क्या स्वाँग रचती हो। दिखावे के लिए तो नौनी का

ऐसा लाड़-प्यार, मगर घर-भर उसकी जान का गाहक हो रहा है। सोने के कौर में ज़हर मिलाकर दे रही हो।" कुंदन ने गुस्से से कहा—"तारा, बरस-बरस के दिन ऐसी बातें ज़बान से न निकालो।"

तारा ने जवाब दिया—"मैं कोई बात अपने मन से बनाकर थोड़े ही कहती हूँ। गाँव में जो कुछ सुना है, वह तुमसे आकर कह दिया। जिसकी बदौलत तुम्हें दुनिया का सुख मिल रहा है, उसी के लिए सब काँटे बोए जा रहे हैं। शेखूपुरा में आठ आने पर तुम्हारे भाँजे खरूद गोपाल का नाम चढ़ा दिया गया है और कई इलाक़ों में ऐसी ही चालें चली जा रही हैं। मगर याद रखो, ऐसी दौलत कभी हज़म नहीं होती। ईश्वर सब देखता है।"

कुंदन रोने लगी। जब जयगोपाल घर में आए तो उसने यह ज़िक्र छेड़ा। जयगोपाल बोले—"मैं तो चाहता था कि बात तुम्हारे कान तक न पहुँचे। मुझे खुद बड़ा धोखा हुआ। बात यूँ है कि मैंने शेखूपुरा का इंतज़ाम ख़रूद के सुपुर्द कर दिया था, मगर ख़रूद ने सरकारी लगान बाक़ी डाल दी और जब वह गाँव नीलाम पर चढ़ा तो उसे अपने नाम से ख़रीद लिया। मुझे भी तो कल मालूम हुआ।"

कुंदन—"तो तुम उज्रदारी क्यों नहीं करते?"

जयगोपाल—"उज्रदारी से अब कोई काम न चलेगा। अलावा इसके अपने भाँजे से मुक़दमेबाज़ी करना बदनामी की बात है। लोग हँसी उड़ाएँगे।"

कुंदन को इत्मीनान नहीं हुआ। वह समझ गई, सब चालें नौनी को तबाह करने के लिए चली जा रही हैं। उसकी अक़्ल अब कुछ काम नहीं करती थी। औरत इस मामलात को क्या समझे? मैं कैसे नौनी को बचाऊँ? क्या बेकसों का कोई मददगार नहीं है? क्या दुनिया में कोई इंसाफ़ करने वाला नहीं है? कोई मुझे कलक्टर साहब के पास ले चलता तो मैं उनसे सब हाल कह सुनाती। मुझे ख़ुद जाना चाहिए। मैं बड़े लाट तक फ़रियाद ले जाऊँगी। मगर नौनी पर जुल्म न होने दूँगी।

5

उसके कुछ दिनों बाद नौनी बीमार पड़ा। बरसात के दिन थे। चारों तरफ़ मलेरिया फैला हुआ था। नौनी भी उसका शिकार हुआ। तीन दिन बुखार न उतरा और न बच्चे ने आँखें खोलीं। गाँव में एक वैद्य जी थे। दोनों वक़्त आते और दवा देते, मगर उनकी दवाओं से मुतलक इफाका (रोग में कमी) न हुआ। चौथे दिन कुंदन ने जयगोपाल से कहा—"जाकर शहर से सारदा बाबू को ले आते तो अच्छा होता। नौनी का बुख़ार अब तक नहीं उतरा।"

जयगोपाल ने लापरवाही से कहा—"सारदा बाबू जाने शहर में हैं या नहीं। अभी दो-चार रोज़ और वैद्य जी की दवा खिलाओ।"

कुंदन—"वैद्यजी की दवा से कोई फ़ायदा नहीं हुआ और उसकी हालत ख़राब होती जाती है।।"

जयगोपाल—"अभी कुल तीन दिन ही तो बुखार आया है।"

कुंदन—"तुम ज़रा उसे चल के देखो तो, कैसा पीला हो गया है।"

जयगोपाल—"अच्छा, कल मैं डॉक्टर बाबू के पास जाऊँगा।"

जयगोपाल सबेरे उठे और दिन भर ग़ायब रहने के बाद शाम को ख़बर लाए कि डॉक्टर साहिब घर पर नहीं हैं, क़हीं मुफ़स्सलात (नगर के आस-पास की छोटी आबादियों) में गए हैं। कुंदन को शौहर की बातों पर यक़ीन न आया। रात को जब सब सो गए तो उसने नौनी को गोद ले लिया। गाँव से मिली हुई सारद नदी बहती थी। घाट पर आकर एक किश्ती किराए पर की और बारह बजे वह डॉक्टर साहिब के मकान पर पहुँची। सारदा बाबू उसके फ़ैमिली डॉक्टर थे। देखते ही पहचान गए। कुंदन को इस हालत में देखकर उन्हें बहुत रंज हुआ। सूरते-हाल समझ गए। कुंदन के लिए दो कमरे खाली कर दिए। एक मेहरी का इंतज़ाम किया और नौनी के मुआलजे (चिकित्सा) में मसरूफ़ हुए।

रात गुज़री। अलीअल (तड़के) जयगोपाल जामे से बाहर ग़ुस्से से काँपते हुए पहुँचे और कुंदन से कहा—"खैरियत चाहती हो तो इसी वक़्त मेरे साथ घर चलो।" कुंदन ने जवाब दिया—"तुम इसी वक़्त मेरा गला भी काट डालो तो मैं न जाऊँगी।" जयगोपाल, 'अच्छा तो अब मेरे घर मत आना, समझी!' कुंदन ने अबकी तुनक कर जवाब दिया—"तुम्हारा घर! वह घर तो मेरे भाई का है।"

जयगोपाल घूँसा तानकर रह गया। उसी वक़्त वहाँ से आकर रहने का मकान और बाग़ अपने बड़े लड़के के नाम लिखवा लिया और दूसरे दिन उसकी रजिस्ट्री भी हो गई।

कुंदन हफ़्ता भर डॉक्टर साहिब के यहाँ रही। नौनी की सेहत ठीक हो चली थी। उसका इरादा और एक हफ़्ते-भर रहने का था। मगर घर और बाग़ के बय (बिक्री) होने की ख़बर ने उसे वहाँ न ठहरने दिया। दो-डेढ़ हज़ार की जायदाद हाथ से निकली जाती है। अपने बेटे को कुंदन उस वक़्त ग़ैर समझ रही थी। भाई बेटे से भी ज़्यादा प्यारा हो गया था।

6

कलक्टर साहिब मौसिमे-सर्मा (शरद ऋतु) का दौरा कर रहे थे। शेखूपूरा में क़याम किया। सुबह के वक़्त वह अपने खेमे में सामने बैठे हुए थे। आस-पास के मवाज़आत (ग्राम समूह) से ज़मींदार और रऊसा (तअल्लुक़ेदार, अमीर) सलाम करने को हाज़िर हुए थे। बाबू जयगोपाल भी सियाह अलपाके की अचकन पहने, सफ़ेद पगड़ी बाँधे

सलाम को हाज़िर हुए। साहिब बहादुर ने उनकी ग़ैरमामूली तौर पर इज़्ज़त की और उनके लिए कुर्सी मँगाई। जयगोपाल को हफ़्तुलक्लीम (सारे संसार) की दौलत मिल गई। ऐसा ख़ुश-नसीब कौन होगा? ज्ञानपुर के चक्रवर्ती और शाहगंज के चौधरी यही अरमान लिए बैकुंठ सिधार गए। जयगोपाल ने चारों तरफ़ तफ़ाखुराना अंदाज़ (गर्वपूर्ण भंगिमा) से देखा। गाँव के बनिए और मज़दूर उनकी यह इज़्ज़त देखकर सकते (चकित होने की अवस्था) में आ गए। अफ़सोस! सामगंज के मित्र बाबू यहाँ नहीं हैं, वर्ना देखते कि मेरी कैसी इज़्ज़त है।

यकायक एक औरत सर से पैर तक चादर ओढ़े एक पाँच-साला लड़के की उँगली पकड़े आई और खड़ी हो गई। साहिब ने पूछा–"तुम कौन हो?" कुंदन बोली–"हुज़ूर, मैं इस गाँव की एक दुःखियारी औरत हूँ। आपके पास फ़रियाद लेकर आई हूँ।"

साहिब–"अच्छा, इजलास के कमरे में चलो। हम अभी आता है।"

कुंदन–"नहीं हुज़ूर, मेरी अर्ज़ यहीं सुन ली जाए।"

जयगोपाल के चेहरे पर एक रंग आता था और एक रंग जाता था। खिसियाए हुए बंदर की तरह कुंदन को घूर रहा था। अगर साहिब को खौफ़ न होता तो वह ज़रूर उस पर हमला कर बैठता।

कुंदन कहने लगी–"हुज़ूर, यह लड़का मेरा भाई है। मैं बाबू मधुसूदन की लड़की हूँ, जिनका दो साल हुए इंतक़ाल हो गया। यह बाबू साहिब, जो आपके सामने बैठे हुए हैं, मेरे शौहर हैं। मेरे बाप का जब इंतक़ाल हुआ तो उन्होंने इन बाबू साहिब को अपने नाबालिग़ बच्चे का वली (संरक्षक) क़रार दिया और अपनी ज़मींदारी का दो आना इनके गुज़ारे के लिए वसीयत में लिख गए। मगर इन बाबू साहिब की अब नीयत बदली हुई है। यह मेरे ग़रीब भाई की सारी जायदाद अपने और अपने लड़कों के नाम करते जाते हैं। कोई इनका हाथ रोकने वाला नहीं। मैं इनकी बीवी हूँ। इनके क़ाबू में हूँ, कुछ बोल नहीं सकती। इसका नतीजा यह होगा कि हुज़ूर के राज में एक यतीम पर क़हर टूट जाएगा और उसकी जायदाद दूसरों के तसर्रुफ़ (अधिकार) में आ जाएगी। इसलिए मैं आपकी ख़िदमत में हाज़िर हुई हूँ, यह लड़का आपको सौंप रही हूँ। अब इसके साथ इंसाफ़ करना आपका धर्म्म है। आप जो मुनासिब समझें, वही करें।"

यह कहकर कुंदन ख़ामोश हो गई। जयगोपाल ने फ़र्ते-गज़ब (क्रोधावेग) से बीच में कई बार छेड़ने की जुर्रत की, मगर साहिब के तेवर देखकर ख़ामोश हो गए। आख़िर साहिब ने उनसे पूछा–"यह सब सच है?" जयगोपाल बोले–"हुज़ूर, क्या अर्ज़ करूँ? बाबू मधुसूदन कर्ज़ छोड़ गए थे। सो हुज़ूर, कुछ ज़मीन मक्फूल (रेहन) करके कर्ज़ अदा किया गया।"

साहिब–"अच्छा-अच्छा, कुल काग़ज़ात हमारे सामने पेश करो।"

जयगोपाल—"बहुत अच्छा हुजूर!"

साहिब ने तब कुंदन से कहा—"अच्छा, अब तुम जाओ। हम इस मुआमले में ख़ूब कोशिश करेंगे। तुम्हारे भाई की जायदाद कोई नहीं ले सकता। तुम्हारी नेकी और मुस्तकिल मिजाजी (निश्चय की स्थिरता) से हम बहुत खुश हुआ।"

कुंदन ने झुककर ज़मीन चूमी और नौनी को गोद से उतार कर साहिब के सामने खड़ा कर दिया। नौनी रोने लगा, मगर साहिब ने उसे चुमकारा और एक टेनिस का गेंद देकर उसे बहलाया। जब कुंदन चलने लगी तो साहिब ने पूछा—"इस लड़के को अपने साथ लेती जाओ। क्या कोई खौफ़ है?"

कुंदन—"हुजूर, अब मैं उसे आपके सुपुर्द कर चुकी हूँ। मेरे साथ नहीं रह सकता।"

साहिब—"और तुम कहाँ जाओगी?"

कुंदन—"मैं अपने शौहर के साथ जाऊँगी।"

कुंदन ने नौनी को गले लगाकर प्यार किया और आँखों में आँसू भरे रूख़सत हो गई।

एक हफ़्ते में हलका कोर्ट आफ़ वार्ड्स के ज़ेरे-तहत (अधिकार में) आ गया और नौनी को पढ़ाने के लिए एक मास्टर रख लिया। जयगोपाल आसाम चले गए, मगर कुंदन को फिर किसी ने न देखा। वह जिस दिन साहिब के यहाँ से लौटी, उसी दिन उसे हैज़ा हो गया। मगर गाँव वाले अब भी इसे तसलीम नहीं करते और साफ़गो तारा अब भी कहती है कि कुंदन को हैज़ा नहीं हुआ था।

(*'अदीब', उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1911*)
(***'कादम्बिनी', जुलाई, 1980, में संपादक द्वारा हिंदी लिप्यंतर प्रकाशित एवं वहीं से प्रस्तुत***)
(*'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988*)
(*'प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005*)

आख़िरी मंज़िल

1

आह? आज तीन साल गुज़र गए, यही मकान है, यही बाग़, यही गंगा का किनारा, यही संगमरमर का हौज़। यही मैं हूँ और यही दरोदीवार। मगर अब इन चीज़ों से दिल पर कोई असर नहीं होता। वह नशा जो गंगा की सुहानी लहरों और हवा के दिलकश झोंकों से दिल पर छा जाता था, उस नशे के लिए अब जी तरस-तरस के रह जाता है! अब वह दिल नहीं रहा। वह युवती जो मेरी ज़िंदगी का सहारा थी, अब इस दुनिया में नहीं है।

मोहिनी ने बड़ा आकर्षक रूप पाया था। उसके सौंदर्य में एक आश्चर्यजनक बात थी। उसे प्यार करना मुश्किल था, वह पूजने के योग्य थी। उसके चेहरे पर हमेशा एक बड़ी लुभावनी आत्मिकता की दीप्ति रहती थी। उसकी आँखें जिनमें लाज की गंभीरता और पवित्रता का नशा था, प्रेम का स्रोत थी। उसकी एक-एक चितवन, एक-एक क्रिया, एक-एक बात उसके हृदय की पवित्रता और सच्चाई का असर दिल पर पैदा करती थी। जब वह अपनी शर्मीली आँखों से मेरी ओर ताकती तो उसका आकर्षण और उसकी गर्मी मेरे दिल में एक ज्वार-भाटा-सा पैदा कर देती थी। उसकी आँखों से आत्मिक भावों की किरनें निकलती थीं, मगर उसके होंठ प्रेम की वानी से अपरिचित थे। उसने कभी इशारे से भी उस अथाह प्रेम को व्यक्त नहीं किया, जिसकी लहरों में वह खुद तिनके की तरह बही जाती थी। उसके प्रेम की कोई सीमा न थी। वह प्रेम जिसका लक्ष्य मिलन है, प्रेम नहीं वासना है। मोहिनी का प्रेम था जो मिलन में भी वियोग के मज़े लेता है। मुझे ख़ूब याद है, एक बार जब उसी हौज़ के किनारे चाँदनी रात में मेरी प्रेम-भरी बातों से विभोर होकर उसने कहा था–''आह! वह आवाज़ अभी मेरे हृदय पर अंकित है, 'मिलन प्रेम का आदि है अंत नहीं।'' प्रेम की समस्या पर इससे ज़्यादा शानदार, इससे ज़्यादा ऊँचा ख़याल कभी मेरी नज़र से नहीं गुज़रा। वह प्रेम जो चितवनों से पैदा होता है और वियोग में भी हरा-भरा रहता है, वह वासना के एक झोंके को भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। संभव है कि यह मेरी आत्मस्तुति हो मगर वह प्रेम, जो मेरी कमज़ोरियों के बावजूद मोहिनी को मुझसे था,

उसका एक क़तरा भी मुझे बेसुध करने के लिए काफ़ी था। मेरा हृदय इतना विशाल ही न था, मुझे आश्चर्य होता था कि मुझमें वह कौन-सा गुण था, जिसने मोहिनी को मेरे प्रति प्रेम से विह्वल कर दिया था। सौंदर्य, आचरण की पवित्रता, मर्दानगी का जौहर यही वह गुण हैं जिन पर मुहब्बत निछावर होती है, मगर मै इनमें से एक पर भी गर्व नहीं कर सकता था। शायद मेरी कमज़ोरियाँ ही उस प्रेम की तड़प का कारण थीं।

मोहिनी में वह अदाएँ न थीं जिन पर रँगीली तबीयतें फ़िदा हो जाया करती हैं। तिरछी चितवन, रूप-गर्व की मस्ती से भरी हुई आँखें, दिल को मोह लेनेवाली मुस्कराहट, चंचल वाणी, इनमें से कोई चीज़ यहाँ न थी। मगर जिस तरह चाँद की मद्धिम सुहानी रोशनी में कभी-कभी फुहारें पड़ने लगती हैं, उसी तरह निश्छल प्रेम में उसके चेहरे पर एक उदास मुस्कराहट कौंध जाती और आँखें नम हो जातीं। यह अदा न थी, सच्चे भावों की तस्वीर थी जो मेरे हृदय में पवित्र प्रेम की खलबली पैदा कर देती थी।

2

शाम का वक़्त था, दिन और रात गले मिल रहे थे। आसमान पर मतवाली घटाएँ छाई हुई थीं और मैं मोहिनी के साथ उसी हौज़ के किनारे बैठा हुआ था। ठंडी-ठंडी बयार और मस्त घटाएँ हृदय के किसी कोने में सोए हुए प्रेम के भाव को जगा दिया करती हैं। वह मतवालापन जो उस वक़्त हमारे दिलों पर छाया हुआ था, उस पर मैं हज़ारों होशमंदियों को कुर्बान कर सकता हूँ। ऐसा मालूम होता था कि उस मस्ती के आलम में हमारे दिल बेताब होकर आँखों से टपक पड़ेंगे। आज मोहिनी की ज़बान भी संयम की बेड़ियों से मुक्त हो गई थी और उसकी प्रेम में डूबी हुई बातों से मेरी आत्मा को जीवन मिल रहा था।

एकाएक मोहिनी ने चौंककर गंगा की तरफ़ देखा। हमारे दिलों की तरह उस वक्त गंगा भी उमड़ी हुई थी।

पानी की उस उद्विग्न उठती-गिरती सतह पर एक दिया बहता हुआ चला जाता था और उसका चमकता हुआ अक्स थिरकता और नाचता एक पुच्छल तारे की तरह पानी को आलोकित कर रहा था। आह! उस नन्हीं-सी जान की क्या बिसात थी। काग़ज़ के चंद पुर्ज़े, बाँस की चंद तीलियाँ, मिट्टी का एक दिया कि जैसे किसी की अतृप्त लालसाओं की समाधि थी, जिस पर किसी दुख बँटानेवाले ने तरस खाकर एक दिया जला दिया था। मगर वह नन्हीं-सी जान जिसके अस्तित्त्व का कोई ठिकाना न था, उस अथाह सागर में उछलती हुई लहरों से टकराती, भँवरों से हिलकोरें खाती, शोर करती हुई लहरों को रौंदती चली जाती थी। शायद जलदेवियों ने उसकी निर्बलता पर तरस खाकर उसे अपने आँचलों में छुपा लिया था।

जब तक वह दिया झिलमिलाता और टिमटिमाता, हमदर्द लहरों से झकोरे लेता दिखाई दिया, मोहिनी टकटकी लगाए खोई-सी उसकी तरफ़ ताकती रही। जब वह आँख से ओझल हो गया तो वह बेचैनी से उठ खड़ी हुई और बोली—"मैं किनारे पर जाकर उस दिए को देखूँगी।"

जिस तरह हलवाई की मनभावन पुकार सुनकर बच्चा घर से बाहर निकल पड़ता है और चाव-भरी आँखों से देखता और अधीर आवाज़ों से पुकारता उस नेमत के थाल की तरफ़ दौड़ता है, उसी जोश और चाव के साथ मोहिनी नदी के किनारे चली।

बाग़ से नदी तक सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, हम दोनों तेज़ी के साथ नीचे उतरे और किनारे पहुँचते ही मोहिनी ने ख़ुशी के मारे उछलकर ज़ोर से कहा—"अभी है! अभी है! देखो वह निकल गया!"

वह बच्चों का-सा उत्साह और उद्विग्न अधीरता जो मोहिनी के चेहरे पर उस समय थी, मुझे कभी न भूलेगी। मेरे दिल में सवाल पैदा हुआ, उस दिए से ऐसा हार्दिक संबंध, ऐसी विह्वलता क्यों? मुझ जैसा कवित्वशून्य व्यक्ति उस पहेली को ज़रा भी न बूझ सका।

मेरे हृदय में आशंकाएँ पैदा हुईं। अँधेरी रात है, घटाएँ उमड़ी हुईं, नदी बाढ़ पर, हवा तेज़, यहाँ इस वक़्त ठहरना ठीक नहीं। मगर मोहिनी! वह चाव-भरे भोलेपन की तस्वीर, उसी दिए की तरफ़ आँखें लगाए चुपचाप खड़ी थी और वह उदास दिया ज्यों का त्यों हिलता-मचलता चला जाता था, न जाने कहाँ किस देश को!

मगर थोड़ी देर के बाद वह दिया आँखों से ओझल हो गया। मोहिनी ने निराश स्वर में पूछा—"गया! बुझ गया होगा?"

और इसके पहले कि मैं कुछ जबाव दूँ वह उस डोंगी के पास चली गई, जिस पर बैठकर हम कभी-कभी नदी की सैरें किया करते थे और प्यार से मेरे गले लिपटकर बोली—"मैं उस दिए को देखने जाऊँगी, मैं देखूँगी कि वह कहाँ जा रहा है, किस देश को।"

यह कहते-कहते मोहिनी ने नाव की रस्सी खोल ली। जिस तरह पेड़ों की डालियाँ तूफ़ान के झोकों से झकोले खाती हैं, उसी तरह यह डोंगी डावाँडोल हो रही थी। नदी का वह डरावना विस्तार, लहरों की वह भयानक छलाँगें, पानी की वह गरजती हुई आवाज़, इस ख़ौफ़नाक अँधेरे में इस डोंगी का बेड़ा क्योंकर पार होगा! मेरा दिल बैठ गया। क्या उस अभागे की तलाश में यह किश्ती भी डूबेगी! मगर मोहिनी का दिल उस वक़्त उसके बस में न था। उसी दिए की तरह उसका हृदय भी भावनाओं की विराट्, लहरों-भरी, गरज़ती हुई नदी में बहा जा रहा था। मतवाली घटाएँ झुकती चली आती थीं कि जैसे नदी से गले मिलेंगी और वह काली नदी यों उठती थी कि जैसे बादलों को छू लेगी। डर के मारे आँखें मूँदी जाती थीं। हम तेज़ी

के साथ उछलते, कगारों के गिरने की आवाज़ें सुनते, काले-काले पेड़ों का झूमना देखते चले जाते थे। आबादी पीछे छूट गई, देवताओं की बस्ती से भी आगे निकल गए। एकाएक मोहिनी चौंककर उठ खड़ी हुई और बोली—"अभी है! अभी है! देखो वह जा रहा है।"

मैंने आँख उठाकर देखा, वह दिया ज्यों का त्यों हिलता-मचलता चला जाता था।

3

उस दिए को देखते हम बहुत दूर निकल गए। मोहिनी ने यह राग अलापना शुरू किया—

मैं साजन से मिलन चली।

कैसा तड़पा देनेवाला गीत था और कैसी दर्दभरी रसीली आवाज़। प्रेम और आँसुओं में डूबी हुई। मोहक गीत में कल्पनाओं को जगाने की बड़ी शक्ति होती है। वह मनुष्य को भौतिक संसार से उठाकर कल्पना-लोक में पहुँचा देता है। मेरे मन की आँखों में उस वक़्त नदी की पुरशोर लहरें, नदी किनारे की झूमती हुई डालियाँ, सनसनाती हुई हवा सबने जैसे रूप धर लिया था और सब-की-सब तेज़ी से कदम उठाए चली जाती थीं, अपने साजन से मिलने के लिए। उत्कंठा और प्रेम से झूमती हुई एक युवती की धुँधली सपने-जैसी तस्वीर हवा में, लहरों में और पेड़ों के झुरमुट में चली जाती दिखाई देती और कहती थी—'साजन से मिलने के लिए!' इस गीत ने सारे दृश्य पर उत्कंठा का जादू फूँक दिया—

मैं साजन से मिलन चली
साजन बसत कौन-सी नगरी मैं बौरी ना जानूँ
ना मोहे आस मिलन की उससे ऐसी प्रीत भली
मैं साजन से मिलन चली।

मोहिनी ख़ामोश हुई तो चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था और उस सन्नाटे में एक बहुत मद्धिम, रसीला स्वप्निल स्वर क्षितिज के उस पार से या नदी के नीचे से या हवा के झोंकों के साथ आता हुआ मन के कानों को सुनाई देता था—

मैं साजन से मिलन चली

मैं इस गीत से इतना प्रभावित हुआ कि ज़रा देर के लिए मुझे ख़याल न रहा कि कहाँ हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। दिल और दिमाग़ में वही राग गूँज रहा था। अचानक मोहिनी ने कहा—"उस दिए को देखो।" मैंने दिए की तरफ़ देखा। उसकी

रोशनी मंद हो गई थी और आयु की पूँजी ख़त्म हो चली थी। आख़िर वह एक बार ज़रा भभका और बुझ गया। जिस तरह पानी की बूँद नदी में गिरकर ग़ायब हो जाती है, उसी तरह अँधेरे के फैलाव में उस दिए की हस्ती ग़ायब हो गई! मोहिनी ने धीमे से कहा—"अब नहीं दिखाई देता! बुझ गया।" यह कहकर उसने एक ठंडी साँस ली। दर्द उमड़ आया। आँसुओं से गला फँस गया, ज़बान से सिर्फ़ इतना निकला, क्या यही उसकी आख़िरी मंज़िल थी? और आँखों से आँसू गिरने लगे।

मेरी आँखों के सामने से पर्दा-सा हट गया। मोहिनी की बेचैनी और उत्कंठा, अधीरता और उदासी का रहस्य समझ में आ गया और बरबस मेरी आँखों से भी आँसू की चंद बूँदे टपक पड़ीं। क्या उस शोर भरे ख़तरनाक, तूफ़ानी सफ़र की यही आख़िरी मंज़िल थी?

दूसरे दिन मोहिनी उठी तो उसका चेहरा पीला था। उसे रात-भर नींद नहीं आई थी। वह कवि-स्वभाव की स्त्री थी। रात की इस घटना ने उसके दर्द-भरे भावुक हृदय पर बहुत असर पैदा किया था। हँसी उसके होंटों पर यूँ ही बहुत कम आती थी, हाँ चेहरा खिला रहता था। आज से वह हँसमुखपन भी विदा हो गया, हरदम चेहरे पर एक उदासी-सी छाई रहती और बातें ऐसी जिनसे हृदय छलनी होता था और रोना आता था। मैं उसके दिल को इन ख़यालों से दूर रखने के लिए कई बार हँसानेवाले क़िस्से लाया मगर उसने उन्हें खोलकर भी न देखा। हाँ, जब मैं घर पर न होता तो वह कवि की रचनाएँ देखा करती मगर इसीलिए नहीं कि उसके पढ़ने से कोई आनंद मिलता था, बल्कि इसलिए कि उसे रोने के लिए ख़याल मिल जाता था और वह कविताएँ जो उस ज़माने में उसने लिखीं, दिल को पिघला देनेवाले दर्द-भरे गीत हैं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो इन्हें पढ़कर अपने आँसू रोक लेगा। वह कभी-कभी अपनी कविताएँ मुझे सुनाती और जब मैं दर्द में डूबकर उनकी प्रशंसा करता तो मुझे उसकी आँखों में आत्मा के उल्लास का नशा दिखाई पड़ता। हँसी-दिल्लगी और रंगीनी मुमकिन है कुछ लोगों के दिलों पर असर पैदा कर सके, मगर वह कौन-सा दिल है, जो दर्द के भावों से पिघल न जाएगा।

एक रोज़ हम दोनों इसी बाग़ की सैर कर रहे थे। शाम का वक़्त था और चैत का महीना। मोहिनी की तबियत आज ख़ुश थी। बहुत दिनों के बाद आज उसके होठों पर मुस्कराहट की झलक दिखाई दी थी। जब शाम हो गई और पूरनमासी का चाँद गंगा की गोद से निकलकर ऊपर उठा तो हम इसी हौज़ के किनारे बैठ गए। यह मौलसिरियों की कतार और यह हौज़ मोहिनी की यादगार हैं। चाँदनी में बिसात आई और चौपड़ होने लगी। आज तबियत की ताज़गी ने उसके रूप को चमका दिया था और उसकी मोहक चपलताएँ मुझे मतवाला किए देती थीं। मैं कई बाज़ियाँ खेला और हर बार हारा। हारने में जो मज़ा था वह जीतने में कहाँ? हल्की-सी मस्ती में जो मज़ा है वह छकने और मतवाला होने में नहीं।

चाँदनी ख़ूब छिटकी हुई थी। एकाएक मोहिनी ने गंगा की तरफ़ देखा और मुझसे बोली—"वह उस पार कैसी रोशनी नज़र आ रही है?" मैंने भी निगाह दौड़ाई, चिता की आग जल रही थी लेकिन मैंने टालकर कहा—"माँझी खाना पका रहे हैं।"

मोहनी को विश्वास न हुआ। उसके चेहरे पर एक उदास मुस्कराहट दिखाई दी और आँखें नम हो गईं। ऐसे दुःख देने वाले दृश्य उसके भावुक और दर्दमंद दिल पर वही असर करते थे, जो लू की लपट फूलों के साथ करती है।

थोड़ी देर तक वह मौन, निश्चल बैठी रही फिर शोक भरे स्वर में बोली—"अपनी आख़िरी मंज़िल पर पहुँचा गया!"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अगस्त-सितंबर, 1911)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

ख़ौफ़े-रुसवाई (बदनामी का डर)

1

एक आरास्त व पैरास्त (पूर्णतः सुसज्जित) कमरे में एक नाज़ुक-अंदाम (कृशांग) नफ़ीसपोश (सुंदर वस्त्र पहने) और मेज़ के सामने रूखसारों (कपोलों) पर हाथ रखे बैठी है। वह किसी गहरे ख़याल में गर्क़ (निमग्न) है, मगर ज़ाहिरा इस ख़याल में ग़ौर की महवियत (तल्लीनता) नहीं है, बल्कि बेचैनी और इंतशार (परेशानी), इज़तराब (बेचैनी) और घबराहट के आसार (चिह्न) उसके हसीन चेहरे पर नमूदार (प्रकट) हैं।

सरला, बाबू धीरेन चौधरी की बीवी है। धीरेन कलकत्ते के एक होनहार बैरिस्टर थे। खलीक (सज्जन) और ग़रीब-नवाज़ (निर्धनों के सहायक), फ़ैशेनबिल सोसाइटी से मोहतरीज़ रहने वाले, (बचने वाले) न बॉल से रग़बत (रुचि), न घुड़-दौड़ के शैदा (आसक्त, आशिक़)। वह थियेटरों और पोलिटिकल जलसों में बहुत कम शरीक होते। उनकी औक़ात का बेशतर हिस्सा (अधिकतर समय) अपने मुक़दमात की तहकीक व ततबीक (जाँच-पड़ताल) में सर्फ़ (व्यतीत) होता था। उनके दोस्तों का हलका निहायत महदूद (सीमित) था, जहाँ तकल्लुफ़ और ज़ाहिरदारी (ऊपरी दिखावट, आडंबर) के बदले खुलूस (सरलता) और दोस्तों के मरासिम (रस्में) बरते जाते थे। धीरेन को फ़ैशन से इंतहा दर्ज़े की नफ़रत थी। बावजूद इसके कि कलकत्ते का हर एक गोशा (कोना) पोलिटिकल ख़बरों से गूँज रहा था, मगर धीरेन को उनसे सिर्फ़ इतनी हमदर्दी थी कि अख़बारों में उनका तज़करा (चर्चा) देख लिया करता था। पोलिटिक्स से उसे मुनासिबत (लगाव) न थी। वह अपने दोस्तों में एक सीधा सलीम उत्तबा (प्रसन्नचित्त) आदमी मशहूर था। इसके बरअक्स (विपरीत) सरला नेशनलिस्ट अकायद (विश्वासों) की औरत थी। उसने आला दर्ज़े की अंग्रेज़ी तालीम पाई थी और हिंदुस्तान के पोलिटिक और इक़्तिसादी (आर्थिक) मामलात से उसे बहुत ज़्यादा दिलचस्पी थी। एक बार वह अपने कॉलेज की लेडी प्रिंसिपल से सिर्फ़ इस बिना पर झगड़ पड़ी कि लेडी साहिबा ने बरसबील तज़करा (चर्चा चलने पर) हिंदुस्तानी औरत के मुताल्लिक ज़बान से कुछ इहानत-आमेज़ (अपमानजनक) क़लामत (शब्द) निकाले थे।

आज़ादी-ए-निस्वाँ (नारी-स्वातंत्र्य) के मुताल्लिक़ भी इसके ख़यालात बहुत पसीं (दृढ़, अंतिम) थे। बावजूद इन असबाब के वह हिंदुस्तानी मुहब्बत और जज़्बात की औरत थी। वजा (रीति) की पाबंद, शौहर की अदब और मुहब्बत करने वाली।

सरला सोचती थी—"क्या यह मुमकिन है? उन्हें इन मुआमलात (विषयों, बातों) से मुतलक (ज़रा भी) दिलचस्पी न थी। यह सब किसी बदख़्वाह (अहित-चिंतक) की शरारत है। किसी सियाहबातिन (पापात्मा, कलुषमना) शख़्स ने यह दरोग (झूठ) इख़्तिराअ (आविष्कार) किया है। ऐसा हरगिज़ मुमकिन नहीं।"

2

हक़ीक़त यह थी कि आज पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने कई कांस्टेबिलों के साथ धीरेन बाबू के मकान की तलाशी ली थी। मंगल के रोज़ चार बजे शाम को हैरीसन रोड के किनारे एक नौजवान बंगाली ने एक अंग्रेज़ अफ़सर पर बम गोला चलाया था। इस हौलनाक (भयानक) हादसे ने सारे शहर में खलबली मचा दी थी। ख़ाना-तलाशियों की गर्मबाज़ारी थी और सबसे अचंभे की बात यह थी कि धीरेन बाबू पर इस क़त्ल की अयानत (प्रकट) करने का जुर्म लगाया गया था। जो शख्स सुनता उसे हैरत होती। धीरेन बाबू! नहीं, वह हरगिज़ ऐसे मुआमलों में शरीक नहीं हो सकते। वह ऐसे सीधे-सादे, सलामत-पसंद, अपने काम में शबे-रोज़ (दिन-रात) महव (तल्लीन) रहने वाले आदमी थे कि किसी को उनके मुताल्लिक ऐसी मुतवहिदृश (भयानक) ख़बर सुनकर एतबार नहीं आता था और धीरेन बाबू पर यह शुबहा एक मुख़बिर के बयान की बदौलत आयद (लागू) हुआ था। मुख़बिर ने साफ़-साफ़ कहा था कि मंगल को चार बजे धीरेन बाबू हैरीसन रोड पर मौजूद थे और उन्होंने क़ातिल को अपने हाथ से बमगोला दिया था। इसी बयान की बदौलत आज धीरेन बाबू की ख़ाना-तलाशी हुई। संदूक, अलमारियाँ, काग़ज़ात, खुतूत एक भी तफतीश-कुमंदा (जाँच-पड़ताल करने वाला) अफ़सर की मुंतजस (चतुर) निगाहों से न बचा और बावजूद कि कोई सबूत ऐसा न मिला जिससे धीरेन बाबू पर आनतजुर्म के शुबहा की ताईद (पुष्टि) हो सके। ताहम सुपरिंटेंडेंट ने उन्हें ज़ेरे-हिरासत (क़ैद में) ले लिया।

सरला इन्हीं परेशान करने वाले वाक़िआत के असर से इस वक़्त बेचैन है। वह ख़याल करती थी—ज़रूर सुपरिटेंडेंट पुलिस से ग़लती हुई। उसने धोका खाया, मंगल को चार बजे धीरेन अदालत में होंगे। अदालत से इसका सबूत मिल सकता है। उनके मुवक्किल और अहबाब (मित्र) इसकी तसदीक कर सकते हैं, मगर धीरेन ने सुपरिंटेंडेंट पुलिस के रूबरू (सामने) अपनी बरीयत (रिहाई) का सबूत क्यों न दे दिया? मुमकिन है उस वक़्त घबराहट में उन्हें ख़याल न रहा हो, अब ज़रूर उन्होंने सफ़ाई कर ली होगी और ग़ालिबन आते ही होंगे।

इन ख़यालात से सरला का दिल ज़रा हल्का हुआ। इसी अस्नाय (बीच) में एक मोटर कार दरवाज़े पर आकर रुकी। सरला का कलेजा धड़कने लगा। वह मसर्रत (हर्ष) से बेताब होकर ज़ीने से नीचे उतरी। मोटर घर ही का था, मगर इसमें धीरेन बाबू की बजाय जोतिंद्र सेन बैठे थे जो धीरेन के दिली दोस्तों में थे।

सरला ने पूछा—"धीरेन कहाँ हैं? देखा, पुलिस वालों ने कैसी हिमाक़त की है! तुम जानते हो मंगल के दिन शाम के वक़्त वह हाईकोर्ट में थे। क्यों, सफ़ाई हो गई ना? कब तक आएँगे? तुम उनसे मिले थे?"

जोतिंद्र के चेहरे ने सरला के ख़याल की ताईद नहीं की। वह फ़िक्रमंद और दर्दनाक निगाहों से सरला की तरफ़ देख रहे थे। सरला ने घबराकर कहा—"जोतिन, तुम इस क़दर परेशान क्यों हो? साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते?"

जोतिन ने कुछ सोचकर कहा—"शायद धीरेन आज शब (रात) को न आ सकें। मुमकिन है, कुछ तुवक्क़ुफ़ (विलंब) हो। ज्यों ही उनकी सफ़ाई होगी, ग़ालिबन उनका तुमसे मिलना ज़रूरी है। मैं ख़याल करता हूँ...।" यह कहते जोतिन बाबू रुक गए। सरला ताड़ गई कि यह कोई मनहूस ख़बर लाए हैं। घबराकर बोली—"जोतिन, मुझसे इस वक़्त पहेलियाँ मत बुझाओ, जो कुछ कहना हो साफ़-साफ़ कहो। मुझमें अब बरदाश्त करने की ताक़त नहीं है। क्या धीरेन अभी रिहा न हो सकेंगे? क्या उन्होंने अपने बरीयत (रिहाई) के सबूत में यह नहीं कहा कि वह मंगल को चार बजे अदालत में थे? मेरे ख़याल में यह तो बहुत क़ाफ़ी सबूत था।"

जोतिंद्र ने लंबी साँस लेकर कहा—"मंगल के दिन सेपहर (तीसरे पहर) को वह अदालत में नहीं थे।"

सरला—"क्या! अदालत में नहीं थे? आख़िर तब कहाँ थे?"

जोतिंद्र—"यही तो वह बतलाते नहीं।"

सरला—"क्यों, आख़िर वजह? क्या आप ही अपने दुश्मन हुए हैं?"

जोतिंद्र—"वह मुतलक कुछ नहीं ज़ाहिर करते। अदालत में उनके दो बजे तक रहने का सबूत मिलता है। यह भी साबित होता है कि वह एक किराए की गाड़ी में बैठकर कहीं गए, मगर कहाँ गए थे और तीन बजे से छः बजे तक कहाँ रहे, इसका कुछ पता नहीं देते।"

सरला ने आलमे-वहशत (घबराई हुई अवस्था) में सिर को हाथों से थामकर कहा—"मेरी अक़्ल कुछ काम नहीं करती। धीरेन को क्या हो गया है? यह ग़ैरमुमकिन है कि वह इस साज़िश में शरीक हों। अगर वह खुद अपनी ज़बान से कहें, तब भी मुझे एतबार नहीं आ सकता। मगर वह साफ़-साफ़ हक़ीक़ते-हाल क्यों नहीं कहते? क्या तुम लोगों ने उन्हें नहीं समझाया?"

जोतिंद्र—"समझाया क्यों नहीं, घंटों बैठे सरमगजनी (माथापच्ची) करते रहे, मगर जब कुछ उनके ख़याल में आए और ऐसे कम-फ़हम (अल्पज्ञ) नहीं हैं कि हमको

उनके समझाने की ज़रूरत हो। क्या वह नहीं जानते कि यह ऐसे नाजुक मौक़े पर उनका साफ़-साफ़ न कहना जैसे ख़तरनाक नताइज (परिणाम) पैदा करेगा, मगर इस वक़्त वह किसी की नहीं सुनते। कहते हैं, बला से, मैं चंद सालों के लिए जलावतन (देश-निष्कासित) हो जाऊँगा। जलावतनी और क़ैद झेलने के लिए आमादा हैं, मगर मंगल को कहाँ थे, यह नहीं बताते। इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ कि शायद कुछ तुम्हें मालूम हो! कुछ मालूम है? वह ज़्यादातर कहाँ आते-जाते हैं?"

सरला ने सिर हिलाकर जवाब दिया—"मैंने उन्हें कहीं आते-जाते नहीं देखा। मैं तो अब तक इसी ख़याल से ख़ुश थी कि मंगल को चार वजे वह ज़रूर कचहरी में रहे होंगे। मेरी समझ में कुछ नहीं आता। आख़िर वह क्यों ख़ामोश हैं? क्या समझे हुए हैं? ज़रा मुझे उनके पास ले चलो, शायद वह मुझसे कुछ अपने दिल की बात कहें। जरूर कहेंगे, मैं उन्हें समझाऊँगी। मुझे यक़ीन है कि मैं उनकी ज़बान से हक़ीक़त-हाल सुन लूँगी। वह मेरी दरख़्वास्त को रद्द नहीं कर सकते। बस मुझे उनके पास ले चलो।"

सरला का गला भर आया। जोतिंद्र तस्कीन-दह (तसल्ली देनेवाले) लहज़े में बोले—"मेरा भी यही ख़याल है कि शायद तुमसे वह कुछ बतलाएँ। इसीलिए मैं तुम्हारे पास आया था, मब अब रात ज़्यादा हो गई है और इस वक़्त उनसे मुलाक़ात करने की कोशिश फिज़ूल है। मजिस्ट्रेट की इजाज़त मिलनी मुश्किल होगी। मैं कल तुम्हें वहाँ ले चलूँगा। ईश्वर ने चाहा तो सब अच्छा ही होगा। हाय, यह क्या? दिल को ढारस दो, घबराने की कोई बात नहीं है।"

सरला की आँखों में अश्क़ उमड़े हुए थे, मगर उसने ज़ब्त किया और जोतिन से हाथ मिलाते हुए बोली—"जोतिन, तुम्हारी इन इनायतों का शुक्रिया अदा करने के लिए मेरी ज़बान से अल्फ़ाज़ नहीं हैं, मगर मैं इन्हें फ़रामोश (विस्मृत) नहीं कर सकती।"

सरला की आवाज़ फिर रुक गई। वह कैसी खुश-खुश ज़ीने से उतरी थी। धीरेन की वापसी की उम्मीद ने उसके चेहरे को रोशन कर दिया था, मगर अब इस पर हसरती-यास (कामना व निराशा) की ज़र्दी (पीलापन) छाई हुई थी। जोतिन बाबू आहिस्ता-आहिस्ता फ़िक्रमंद कमरे से बाहर चले गए। वह सोचते जाते थे—ग़रीब! अभी उसे क्या ख़बर कि क्या बीतने वाली है। काश! वह ज़ालिम अपनी ज़बान से कुछ कह देता, मगर तब भी अजीब गोमगो (गोलमाल, ऊहापोह) का मामला है।

3

दस बज गए थे। सरला ने कुछ नहीं खाया। निवाले मुँह से बाहर निकले आते थे। वह पलंग पर गई, मगर नींद न आई थी। मेज़ के सामने अख़बार लेकर बैठी, मगर अख़बार हाथ में था और आँखें खिड़की की तरफ़। तब वह उठकर टहलने लगी।

उसका जी चाहता था कि इसी वक़्त धीरेन के पास चलूँ। चलकर मजिस्ट्रेट से कहूँ कि मुझे उनसे मुलाकात करने दो। क्या वह इंकार करेगा? हाय! धीरेन इस वक़्त क्या करते होंगे? काश, मैं उनके पहलू में होती! क्या वह मुझसे भी अपने दिल का हाल छिपाएँगे? क्या इस वक़्त मेरा ख़याल होगा? कभी-कभी उसका दिल झुँझला उठता और वह अपने शौहर को बेरहम ख़्याल करती। क्या उन्हें ख़बर नहीं कि मैं किस क़दर बेचैन हूँ! इतने दिनों तक साथ रहने पर भी उन्हें मेरे दिल का और मेरी मुहब्बत का अंदाज़ा नहीं हुआ। वह क्यों ख़ामोश हैं? क्यों?

टहलते-टहलते उसकी निगाह धीरेन्द्र की मेज़ पर पड़ी। खुतूत, काग़ज़ात अख़बारात और औराक़ (पृष्ठ) परेशान की तरह पड़े हुए थे। सरला इज़्तिरारी (व्याकुलता) तौर पर बैठ गई और उन्हें समेटने लगी। यकायक उसकी निगाह एक काग़ज़ के टुकड़े पर पड़ी जो मेज़ के नीचे गिरा हुआ था। उसने चाहा कि उसे उठाकर दूसरे खुतूत के साथ रख दे, मगर उसमें चंद ऐसे अल्फ़ाज़ नज़र आए जो खुद-बखुद उसकी आँखों में चुभ गए। वे अल्फ़ाज़ थे जिनके पर्दे में उसकी परेशानियों का राज़ पोशीदा (रहस्य छिपा हुआ) था। 'मंगल के दिन चार बजे'—सरला चौंक पड़ी। उसने पुर्ज़े को उठा लिया। मंगल के दिन चार बजे ही का तो यह वाक़या है। उसने इन अल्फ़ाज़ को फिर ग़ौर से देखा। क्या इस पुर्ज़े का इस वाक़ियात से कोई तआल्लुक़ है? क्यों, मैं न उसे पढ़ूँ, यह मुख़्तसिर-सा ख़त था। अंदाज़े-तहरीर (लिखने के ढंग) से वह मानूस (परिचित) मालूम होती थी, मगर ख़त को पढ़ूँ? सरला बावजूद कि शौहर को दिलोजान से चाहती थी, लेकिन अंग्रेज़ी तालीम के असर ने उसके दिल में यह ख़याल क़ायम कर दिया था कि मुझे अपने शौहर के पोशीदा खुतूत पढ़ने में कोई मजाज (अधिकार) नहीं है। क्या मैं इस ख़त को पढ़ लूँ तो वह मुझसे नाराज़ होंगे? यक़ीनन इससे इस मामलात पर कुछ-न-कुछ रोशनी पड़ेगी। इसमें कोई ऐसी बात हरगिज़ नहीं हो सकती जो धीरेन मुझसे छिपाना चाहते हों। बिल्फ़र्ज़ (यह मानकर) इसमें कोई मुखफ़ी (गुप्त) बात ही हो, ताहम मैं इस वक़्त इसे पढ़ने की मुस्तहक़ (अधिकारी) हूँ। तहज़ीबे-ज़दीद (आधुनिक सभ्यता) की यह क़ैद ऐसे नाज़ुक मौक़ों पर अमल में नहीं आ सकती। क्या मुझे उनके राज़दार बनने का कोई इस्तेहकाक (अधिकार) नहीं है? मैं साबित कर दूँगी कि मेरे दिल में भी बातें उसी तरह महफ़ूज़ (सुरक्षित) रह सकती हैं, जिस तरह उनके दिल में।

उसने ख़त खोलकर देखा। यह एक मुख्तसर (संक्षिप्त) सा ख़त था। सरला एक निगाह में उसे पढ़ गई और उसे ऐसा मालूम हुआ, गोया मेरे बदन में जान नहीं है। वह पत्थर की मूरत की तरह बेहिस-ओ-हरकत (स्थिर) हो गई। उसकी उँगलियों के बीच में काग़ज़ का वह पुर्ज़ा हवा के झोंकों से हिल रहा था और उसकी आँखें दीवार की तरफ़ गड़ी हुई थीं। उसका चेहरा ख़ाक की तरह ज़र्द हो गया था। अज्व-ए-मफलूज (प्राणहीन, बेजान) की तरह उसके दिल-दिमाग़ इस वक़्त बेकार हो

गए थे। ख़त का मज़मून भी ख़याल नहीं आता था। वह बहुत देर तक इसी तरह ख़ामोश खड़ी रही। यकायक उसकी निगाहों के सामने से एक पर्दा-सा हट गया और सारी क़ैफ़ियत नज़रों के सामने सूरत-पजीर (स्पष्ट) हो गई। उसने एक ठंडी साँस ली और कुर्सी पर गिर पड़ी। आह! इस ख़ामोशी के यह मायने हैं, इसलिए ज़बान पर मोहर लगी हुई है। खैर, अब मुझे क्या करना चाहिए? सरला सोचने लगी–"बेशक, यह ख़त धीरेन को इस इल्ज़ाम से बरी कर देगा जो उन पर आयद (आरोपित) है। किसी एहतमाम (प्रयत्न) की ज़रूरत नहीं। मैं इसे मजिस्ट्रेट के सामने रख दूँगी। ज़रा-सी तहक़ीकात में सारे वाक़ियात खुल पड़ेंगे और धीरेन फ़ौरन रिहा हो जाएँगे, लेकिन उसके बाद फिर कैसे निभेगी? क्या उसके बाद भी हम एक-दूसरे को मुहब्बत कर सकेंगे?"

उसे फिर ख़याल आया, क्या यह मुमकिन है कि मैं इस राज़ को इस तरह तश्ते-अज-बाम (भेद प्रकट) कर दूँ, जिनको मुखफ़ी (छिपा) रखने के लिए धीरेन यह सब कुछ झेलने को तैयार थे, लेकिन क्या यह मुमकिन है कि मैं ख़ामोशी अख़्तियार कर लूँ और उन्हें इस इल्ज़ाम का ख़ामियाज़ा उठाने दूँ, जिससे वह बिलकुल पाक हैं, उन्हें बचाना मेरा फ़र्ज़ है। आख़िर उसके दिल ने फ़ैसला कर लिया। वह खिड़की की तरफ़ गई, बाहर झाँककर देखा। फिर अपने कमरे में आकर एक चादर ओढ़कर बाहर निकल पड़ी। नौकर-चाकर सब सो गए थे। गलियों में सन्नाटा छाया हुआ था। किसी ने उसे बाहर जाते नहीं देखा।

सरला क़दम बढ़ाते हुए थोड़ी देर में एक खुबसूरत मकान के सामने आकर रुकी। कमरे में लैम्प जल रहा था और एक औरत मेज़ पर बैठी हुई कुछ लिखती दिखाई देती थी। सरला को देखते ही उस औरत ने घबराकर पूछा–"सरला! तुम यहाँ? इतनी रात गए! क्या मामला है? क्या धीरेन बीमार तो नहीं हैं?"

सरला ने मेज़ के सामने आकर कहा–"क्या तुमने नहीं सुना कि धीरेन पर हादसा-ए-बम्ब (बम्ब-दुर्घटना) में शरीक होने का जुर्म आयद हुआ है। मुखबिर का बयान है कि जिस वक़्त क़ातिल के हाथ में बम्ब दिया गया था, उस वक़्त धीरेन वहाँ मौजूद थे। यह मंगल के चार बजे दिन का वाक़िया है। धीरेन का बयान है कि मुझे इन सोनहात (दुर्घटनाओं) का मुतलक (तनिक भी) इल्म नहीं और न उस वक़्त मैं वहाँ था, लेकिन यह नहीं बताते कि उस वक़्त थे कहाँ। मैं तुमसे पूछती हूँ, मंगल के चार बजे शाम को वह कहाँ थे?"

वह औरत चौंककर उठ खड़ी हुई–"मंगल के चार बजे! उस दिन तो वह...।" कुछ कहते-कहते रुक गई और बहुत मद्धिम लहज़े में बोली–"क्यों, वह कुछ बताते नहीं क्या? सिवाय कचहरी के और कहाँ होंगे?"

सरला ने जवाब दिया–"नहीं, उस दिन वह अदालत में नहीं थे।" मगर ज़ब्त हाथ से जाता रहा, उगल पड़ी–"और इस मामले में वह इसलिए ख़ामोश हैं कि शायद

इज़हारे-हाल (स्थिति का प्रकटीकरण) किसी के नामे-नेक (प्रतिष्ठा) पर धब्बा न लगा दे। अब मेरे सामने ऐसी भोली न बनो। मैं सब जान गई हूँ। हाँ, मुझे सब-कुछ मालूम हो गया है। यह देखो!" यह कहकर उसने वही खत मेज़ पर फेंक दिया।

उस औरत ने लपककर ख़त उठा लिया और उस पर उड़ती निगाह डालकर किसी क़दर बेबाकाना (निडर) लहज़े में बोली—"मुझे किसी का ख़ौफ़ नहीं है। बेशक धीरेन को मुझसे मुहब्बत है। आज से नहीं, बहुत दिनों से।"

थोड़ी देर तक दोनों ख़ामोश रहीं। तब सरला ने तहक्कुमाना (अधिकारपूर्ण) अंदाज़ से कहा—"तो उन्हें बचा क्यों नहीं लेतीं! इस ख़त को मजिस्ट्रेट के पास भेज दो और धीरेन फ़ौरन छूट जाएँगे।" यह कहकर वह लौट पड़ी और अपने खाना-ए-महज़ूँ (शोकांवित निवास) में चली आई।

तड़का हो गया था और सरला की आँखें अभी नहीं झपकी थीं। उसे अब धीरेन की रिहाई की फ़िक्र न थी। उस फ़िक्र से अब वह आज़ाद हो गई थी, मगर जिन फ़िक्रों ने इस वक़्त उसे घेरा था, वह उससे भी ज़्यादा जाँक़न (प्राणघातक) थीं—"थोड़ी देर में यहाँ आते होंगे। मुझसे मुलाक़ात होगी। क्या मैं उनसे मिल सकूँगी? अब मैं किस दावे पर, किस बिरते पर उनसे मिलूँगी? जब यह मैं जानती हूँ कि उन्हें मुझसे न कभी मुहब्बत थी और न है, तो मैं कौन-सा मुँह लेकर उनके सामने जाऊँगी? जब तक मैं उल्फ़त का ख़्वाब देख रही थी, मुझे उन पर एतबार था। मगर अब आह! अब मेरे लिए ज़िंदगी में क्या उम्मीद है? मेरा दिल, मेरी जान, मेरी आरज़ुएँ, मेरी ज़िंदगी की खुशियाँ सब उनकी ज़ात से वाबिस्ता (जुड़ी हुई, संयुक्त) थीं। मुहब्बत से औरत का सुहाग क़ायम है, मेरा सुहाग अब कहाँ है?"

सरला की आँखें खिड़की के बाहर सब्ज़ाज़ार (हरे-भरे मैदान) की ओर लगी हुई थीं, गोया वह मुस्तक़बिल (भविष्य) के वसीअ (विस्तृत) मैदान में क़दम बढ़ाती चली जाती है। उसके दिमाग़ में अब अहसास का माद्दा न रहा था। भूख और प्यास, नींद और तकान (थकान) ये ज़रूरतें उसे बिलकुल महसूस न होती थीं। सुस्त रफ़्तार दिन चढ़ता जाता था और सरला वहीं खिड़की के सामने उन्हीं ख़्यालों में डूबी हुई थी। धीरेन की अब तक कुछ ख़बर न थी। मगर सरला को उसकी ज़्यादा तशवीश (चिंता) न थी। वह अपने शौहर को हमेशा एक हलीम और मतीन (सहनशील और दृढ़) शख़्स समझती रही। उसने बारहा उनसे बेनमकी (निर्मोहित) और बेएतनाई (उदासीनता) की शिकायत की थी, मगर इस ख़याल से उसके दिल को तस्कीन हो गई थी कि उनकी तबीयत ऐसी मतीन वाके (सिद्ध) हुई है। वह समझती थी कि वह तब्अन् (स्वभावतः) इजहारे-जज़्बात (भावाभिव्यक्ति) से मोतरिज (एतराज़ करते) रहते हैं। वह उसकी ओर से हमेशा बेतअल्लुक़ से रहते थे। कुछ परवा नहीं थी कि वह कहाँ जाती है, कैसे रहती है, किन चीज़ों का शौक है। ऐसा शाज़ (कभी) ही कभी इत्तफ़ाक हुआ था कि वह दुर्गा-पूजा के दिन सरला के लिए कोई तोहफ़ा लाए हैं। सरला समझती थी कि

मुक़द्दमात की मसरूफ़ियत इन बेएतनाइयों (उदासीनताओं) का बाइस (कारण) हैं। उसे यक़ीन था कि गो ज़ाहिर न सही, मगर दिल में वह मेरी मुहब्बत करते हैं, मगर अब इन सर्द मेहरियों (निर्दयताओं) का राज़ समझ में आ गया। वह अब दूसरी औरत के दामे-मुहब्बत (प्रेमपाश) में गिरफ़्तार हैं। जब मुहब्बत का रिश्ता न रहा तो तमद्दनी रिश्ता (शिष्टाचार व सभ्यता का संबंध) किस काम का। मगर बावजूद इन सर्द मेहरियों के वह शौहर की मुहब्बत में मख़मूर (मतवाली) थी। उसने उन्हें अपने दिल में जगह दे दी थी और अब किसी तरह हटा नहीं सकती थी, ख्वाह वह मुहब्बत उसके लिए सोहाने-रूह (आत्मा को काटने वाली) ही क्यों न हो। बेशक यह ख़्यालात हसद (ईर्ष्या) और जलन के सबब से पैदा हुए थे, मगर हसद की तेज़ी और जाँकाही (हृदय-द्रावकता) मुहब्बत की कसौटी है।

बहुत देर तक सोचने के बाद सरला इस नतीजे पर पहुँची—“मैं अब इनका दामन छोड़ दूँगी। इसके सिवा मेरे लिए अब और कोई तदबीर नहीं है। मैंने अब तक नादानिस्ता (अनजाने में) उन्हें क़ैदे-जब्र (बलपूर्वक बंधन में रखना) में रखा है। अब मैं उन्हें छोड़ दूँगी। उनका गला छूट जाएगा। उनकी ज़िंदगी आराम से गुज़रेगी। ईश्वर करे वह हमेशा ख़ुश रहें, सरसब्ज़ (प्रसन्न एवं सन्तुष्ट) हों। उन्हें ख़ुश देखकर मैं भी ख़ुश हो लिया करूँगी।”

इन्हीं ख़यालात में दस बज गए। सरला अब तक वहीं बैठी हुई थी। यकायक एक गाड़ी की आवाज़ उसके कानों में आई। उसने खिड़की से झाँककर देखा धीरेन बैठे हुए थे। सरला का कलेजा धड़कने लगा, मगर वह बेजान लावा की तरह बैठी रही। जीने पर क़दमों की आवाज़ सुनाई दी और ज़रा देर में धीरेन कमरे में दाख़िल हुए। सरला अब भी कुछ न बोली। उसे अल्फ़ाज ही न मिले। धीरेन ने उसके पास आकर आगोशे-मुहब्बत (प्रेमालिंगन) में लेना चाहा और बोले—“क्यों सरला, तुम मेरी ख़ातिर बहुत परेशान थीं।”

सरला ने मुँह फेर लिया और हट गई। धीरेन ने कुछ ख़याल न किया। कहने लगे—“पुलिस वालों ने कैसी हिमाक़ात की! खैर, जो कुछ हुआ, वह हुआ। किसी तरह खाना-ए-आफ़ियत (चैन की जगह) में तो पहुँचे। रात-भर मुसीबत में मुब्तिला (फँसा) रहा।”

सरला ख़ामोश उनके चेहरे की तरफ़ ताकती रही। कैसी मक्र (धोखे) की बातें हैं। धीरेन के बर्ताव में कोई फ़र्क़ न था। वही बेतकल्लुफ़ी, वही आज़ादी गोया कुछ हुआ ही नहीं। सरला ज़्यादा मुतहम्मिल (सहनशील) न हो सकी। तरूश (कठोर) लहज़े में बोली—“तुम यहाँ क्यों आए हो?”

धीरेन ने तआज़्जुब-आमेज़ (आश्चर्यजनक) लहज़े में कहा—“सरला, यह कैसी बातें करती हो? अपने घर के सिवा और कहाँ जाता? तुम मेरे आने से ख़ुश नहीं मालूम होतीं। क्यों, क्या बात हुई?”

सरला—"अभी उनसे मुलाक़ात की या नहीं?"

धीरेन—"किससे? तुम्हारा मतलब मैं नहीं समझा।"

सरला—"धीरेन, अब यह तजाहुल (जानकर अनजान बनना) मत जताओ। अब हीला-साज़ियों (चालाकियों) का मौक़ा नहीं हैं, बेहतर है कि हममें सफ़ाई के साथ गुफ़्तगू हो जाए। मुझ पर तुम्हारी सारी बातें रोशन हो गई हैं। एक ख़त मेरी नज़र से गुज़र चुका है, जो मुझे मेज़ के नीचे गिरा हुआ मिला। यह ख़त मैंने तुम्हारी माशूक़ा को दिखाया और ग़ालिबन उसने उसे मजिस्ट्रेट के यहाँ पेश कर दिया। इसलिए अब मुझसे दग़ल-फसल (छल-कपट) करने की ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हारी ख़ुशी में मुखिल (बाधक) नहीं होना चाहती। मैं तुम्हें शौक़ से लुत्फ़े-ज़िंदगी (जीवन-सुख) उठाने के लिए आज़ादी देती हूँ। मुझे अफ़सोस है कि यह बातें मुझे और पहले क्यों न मालूम हो गई वरना तुम्हें इतने अरसे तक क़ैदे-वेजा (अनुचित बंधन) में न रहना पड़ता।"

धीरेन बग़लें झाँकने लगा। आख़िर राज तशत-अज़-बाम (भेद खुलना) हो गया। मैंने क्या हिमाक़त की जो ख़त को चाक न कर दिया। उसने वह ख़त मजिस्ट्रेट के यहाँ देख था और हाफ़िज़े (स्मरण-शक्ति) पर बार-बार ज़ोर डाला था कि क्योंकर यह यहाँ पहुँचा। मगर याद ने कुछ काम न दिया। अब हक़ीक़त मालूम हुई और वह अपने ऊपर झुँझलाया, मगर सरला की ख़ुशामद करने लगा—"मेरी जान! मैं सख़्त नादिम (लज्जित) हूँ, वाक़ई मुझे सख़्त नदामत (लज्जा) है, मगर क्या तुम मेरी इस ख़ता को मुआफ़ नहीं कर सकतीं? अगर किसी के कान में इसकी ज़रा भी भनक पड़ गई तो मेरी ख़ैर नहीं। अभी तक यह भेद छिपा हुआ है। मजिस्ट्रेट बड़ा दाना शख़्स (बुद्धिमान व्यक्ति) है। उसने ख़त को देखकर मुझे तो रिहा कर दिया, मगर उसे अदालत में पेश नहीं किया। अभी तक यह राज़ सरबस्ता (गुप्त) है, मगर तुम ख़ूब जानती हो कि लोगों को ऐसी बातों की क्योंकर तलाश रहती है। पब्लिक को दूसरों की रुसवाई और बदनामी में मज़ा आता है। मेरी ख़ातिर से तुम इस तज़किरे (चर्चा) को ज़बान पर न लाओ। ग़लतियाँ इंसान से होती हैं। अगर तुम इसी में ख़ुश हो तो हल्फ़िया कहता हूँ कि अब कभी उसके दरवाजे पर न जाऊँगा।"

सरला—"क्यों, तुम उस पर आशिक़ नहीं हो? उसकी आबरू के खौफ़ से तुम क़ैद और जलावतनी (देश-निष्कासन) झेलने पर आमादा थे और अब तुम कहते हो, मैं उसके दरवाज़े पर न जाऊँगा। क्या इतनी जल्द दिल से नक़्शे मुहब्बत मिट गया? इन फ़रेब की बातों से कुछ हासिल नहीं। तुम शौक से खुशियाँ मनाओ, मैं ज़रा भी मुखिल (बाधक) न हूँगी। हसद का काँटा बनकर किसी के पहलू में खटकना नहीं चाहती।"

धीरेन कुर्सी पर बैठ गए और ग़मनाक (शोकपूर्ण) लहज़े में बोले—"सरला, ऐसी बातें बिलकुल बेमौक़े और बेज़रूरत हैं। जब तुम देखती हो कि मैं हद दर्जे नादिम और पशेमान (लज्जित और पश्चातापपूर्ण) हूँ और वायदा करता हूँ कि अब उससे कोई

सरोकार नहीं रखूँगा तो तुम्हें ऐसी बातें करके मेरा दिल नहीं दुःखाना चाहिए। क्या तुम नहीं जानतीं कि इन बातों को पोशीदा रखने के लिए मैं किस हद तक नुक़्सानात उठाने के लिए तैयार था? अगर्चे मेरे ख़िलाफ़ कोई सबूत नहीं था, मगर मुझे जलावतन होना गवारा था, बजाए इसके कि मंगल के दिन अपने हरकात (कार्य्यों) का पता दूँ। अब तक तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ती होतीं। यक़ीन मानो, इस रुसवाई के मुक़ाबले में मैं जलावतन होना बेहतर समझता हूँ।"

सरला—"अगर राहे-मुहब्बत में क़दम रक्खा है तो रुसवाई का क्या ख़ौफ़? अगर तुम्हारी मुहब्बत सच्ची है तो तुम्हें सोसाइटी का इस क़दर ख़ौफ़ न करना चाहिए।"

धीरेन—"कैसी बातें करती हो, सरला! सोसाइटी का ख़ौफ़ ख़ुदा के ख़ौफ़ से भी ज़्यादा है। अगर तुमने यह रविश (ढंग) अख़्तियार की तो मेरी इज़्ज़त ख़ाक में मिला दोगी और मेरा मुस्तकबिल (भविष्य) स्याह (अंधकारपूर्ण) हो जाएगा। मैं सोसाइटी की निगाहों में जलील हो जाऊँगा। सरला, तुम इस वक़्त गुस्से में हो, मगर जब तुम्हारी तबीयत ठंडी होगी, गुस्सा फरो (शांत) हो जाएगा और तुम इस मसले पर ग़ौर करोगी तो यक़ीनन मेरी यह ख़ता माफ़ कर दोगी। ऐसी बहुत कम औरतें होंगी, जिन्हें अपनी ज़िंदगी में ऐसी गुत्थियाँ न सुलझानी पड़ती हों। मैं मुबालगा (अतिशयोक्ति) नहीं करता हूँ, सोसाइटी में ऐसी बातें आए दिन हुआ करती हैं, मगर पर्दे के अंदर। मैं दूसरे का शैदा नहीं, क्या तुम्हें भी मेरी मुहब्बत नहीं? उसी मुहब्बत के सदके, तुम इन बातों को भूल जाओ। मैं पुख़्ता वायदा करता हूँ कि अब फिर ऐसा मौक़ा कभी न आएगा।"

यह कहकर धीरेन बाहर चले गए और सरला वहीं ख़ामोश बैठी सोचती रही—'सोसाइटी का शीराज़ा (व्यवस्था) ऐसे कच्चे धागे से बँधा हुआ है।'

('अदीब', उर्दू मासिक पत्रिका, सितंबर, 1911)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988 में संपादक द्वारा उर्दू से हिंदी में लिप्यंतर तथा वहीं से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005)

ग़रीब की हाय

1

मुंशी रामसेवक भौहें चढ़ाए हुए घर से निकले और बोले—"इस जीने से तो मरना भला है।" मृत्यु को प्रायः इस तरह के जितने निमंत्रण दिए जाते हैं, यदि वह सबको स्वीकार करती, तो आज सारा संसार उजाड़ दिखाई देता।

मुंशी रामसेवक चाँदपुर गाँव के एक बड़े रईस थे। रईसों के सभी गुण इनमें भरपूर थे। मानव चरित्र की दुर्बलताएँ उनके जीवन का आधार थीं। वह नित्य मुंसिफी कचहरी के हाते में एक नीम के पेड़ के नीचे काग़ज़ों का बस्ता खोले एक टूटी-सी चौकी पर बैठे दिखाई देते थे। किसी ने कभी उन्हें किसी इजलास पर क़ानूनी बहस या मुक़दमे की पैरवी करते नहीं देखा, परंतु उन्हें सब लोग मुख़्तार साहब कहकर पुकारते थे। चाहे तूफ़ान आए, पानी बरसे, ओले गिरें, पर मुख़्तार साहब वहाँ से टस-से-मस न होते। जब वह कचहरी चलते तो देहातियों के झुंड-के-झुंड उनके साथ हो लेते। चारों ओर से उन पर विश्वास और आदर की दृष्टि पड़ती। सब में प्रसिद्ध था कि उनकी जीभ पर सरस्वती विराजती है। इसे वकालत कहो या मुख़्तारी, परंतु यह केवल कुल-मर्य्यादा की प्रतिष्ठा का पालन था। आमदनी अधिक न होती थी। चाँदी के सिक्कों की तो चर्चा ही क्या, कभी-कभी ताँबे के सिक्के भी निर्भय उनके पास आने से हिचकते थे।

मुंशीजी की क़ानूनदानी में कोई सन्देह न था, परंतु 'पास' के बखेड़े ने उन्हें विवश कर दिया था। ख़ैर, जो हो, उनका यह पेशा केवल प्रतिष्ठा-पालन के निमित्त था, नहीं तो उनके निर्वाह का मुख्य साधन आस-पास की अनाथ, पर खाने-पीने में सुखी विधवाओं और भोले-भाले, किंतु धनी वृद्धों की श्रद्धा थी। विधवाएँ अपना रुपया उनके यहाँ अमानत रखतीं। बूढ़े अपने कपूतों के डर से अपना धन उन्हें सौंप देते, पर रुपया एक बार उनकी मुट्ठी में जाकर फिर निकलना भूल जाता था। वह ज़रूरत पड़ने पर कभी-कभी क़र्ज़ ले लेते थे। भला, बिना क़र्ज़ लिए किसी का काम चल सकता है? भोर को साँझ के करार पर रुपया लेते, पर वह साँझ कभी नहीं आती थी। सारांश, मुंशीजी क़र्ज़ लेकर देना सीखे नहीं थे। यह उनकी कुल-प्रथा थी।

यही सब मामले बहुधा मुंशीजी के सुख-चैन में विघ्न डालते थे। क़ानून और अदालत से तो उन्हें कोई डर न था। इस मैदान में उनका सामना करना पानी में मगर से लड़ना था, परंतु जब कोई दुष्ट उनसे भिड़ जाता, उनकी ईमानदारी पर संदेह करता और उनके मुँह पर बुरा-भला कहने पर उतारू हो जाता, तब मुंशीजी के हृदय पर बड़ी चोट लगती। इस प्रकार की दुर्घटनाएँ प्रायः होती थीं। हर जगह ऐसे ओछे लोग रहते हैं, जिन्हें दूसरों को नीचा दिखाने में ही आनंद आता है। ऐसे लोगों का सहारा पाकर कभी-कभी छोटे आदमी मुंशीजी के मुँह लग जाते थे। नहीं तो, एक कुँजड़िन की इतनी मजाल नहीं थी कि आँगन में जाकर उन्हें बुरा-भला कहे। मुंशीजी उसके पुराने गाहक थे; बरसों तक उससे साग-भाजी ली थी। यदि दाम न दिया जाए, तो कुँजड़िन को संतोष करना चाहिए था। दाम जल्दी या देर से मिल ही जाते, परंतु वह मुँहफट कुँजड़िन दो ही बरसों में घबरा गई, और उसने कुछ आने पैसों के लिए एक प्रतिष्ठित आदमी का पानी उतार लिया। झुंझलाकर मुंशीजी अपने को मृत्यु का कलेवा बनाने पर उतारू हो गए, तो इसमें उनका कुछ दोष न था।

2

इसी गाँव में मूँगा नाम की एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसका पति बर्मा की काली पलटन में हवलदार था और लड़ाई में वहीं मारा गया। सरकार की ओर से उसके अच्छे कामों के बदले मूँगा को पाँच सौ रुपए मिले थे। विधवा स्त्री और ज़माना नाजुक था, बेचारी ने सब रुपए मुंशी रामसेवक को सौंप दिए, और महीने-महीने थोड़ा-थोड़ा उसमें से माँगकर अपना निर्वाह करती रही।

मुंशीजी ने यह कर्त्तव्य कई वर्ष तक तो बड़ी ईमानदारी के साथ पूरा किया, पर जब बूढ़ी होने पर भी मूँगा नहीं मरी और मुंशीजी को यह चिंता हुई कि शायद उसमें से आधी रक़म भी स्वर्ग-यात्रा के लिए नहीं छोड़ना चाहती, तो एक दिन उन्होंने कहा—"मूँगा! तुम्हें मरना है या नहीं? साफ़-साफ़ कह दो कि मैं ही अपने मरने की फ़िक्र करूँ?" उस दिन मूँगा की आँखें खुलीं, उसकी नींद टूटी, बोली—"मेरा हिसाब कर दो।" हिसाब का चिट्ठा तैयार था। 'अमानत' में अब एक कौड़ी बाक़ी न थी। मूँगा ने बड़ी कड़ाई से मुंशीजी का हाथ पकड़ लिया और कहा—"अभी मेरे ढाई सौ रुपए तुमने दबा रखे हैं। मैं एक कौड़ी भी न छोड़ूँगी।"

परंतु अनाथों का क्रोध पटाखे की आवाज़ है, जिससे बच्चे डर जाते हैं और असर कुछ नहीं होता। अदालत में उसका कुछ ज़ोर न था। न लिखा-पढ़ी थी, न हिसाब-किताब। हाँ, पंचायत से कुछ आसरा था। पंचायत बैठी, कई गाँव के लोग इकट्ठे हुए। मुंशीजी नीयत और मामले के साफ़ थे, उन्हें पंचों का क्या डर! सभा में खड़े होकर पंचों से कहा—

"भाइयों! आप सब लोग सत्यपरायण और कुलीन हैं। मैं आप सब साहबों का दास हूँ। आप सब साहबों की उदारता और कृपा से, दया और प्रेम से मेरा रोम-रोम कृतज्ञ है और क्या आप लोग सोचते हैं कि इस अनाथिनी और विधवा स्त्री के रुपए हड़प कर गया हूँ?"

पंचों ने एक स्वर में कहा—"नहीं, नहीं! आपसे ऐसा नहीं हो सकता।"

रामसेवक—"यदि आप सब सज्जनों का विचार हो कि मैंने रुपए दबा लिए, तो मेरे लिए डूब मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं। मैं धनाढ्य नहीं हूँ, न मुझे उदार होने का घमंड है, पर अपनी कलम की कृपा से, आप लोगों की कृपा से किसी का मोहताज़ नहीं हूँ। क्या मैं ऐसा ओछा हो जाऊँगा कि एक अनाथिन के रुपए पचा लूँ?"

पंचों ने एक स्वर से फिर कहा—"नहीं, नहीं! आपसे ऐसा नहीं हो सकता।"

मुँह देखकर टीका काढ़ा जाता है। पंचों ने मुंशीजी को छोड़ दिया। पंचायत उठ गई। मूँगा ने आह भरकर संतोष किया और मन में कहा—"अच्छा, अच्छा! यहाँ न मिला तो न सही, वहाँ कहाँ जाएगा?"

3

अब कोई मूँगा का दुःख सुननेवाला और सहायक न था। दरिद्रता से जो कुछ दुःख भोगने पड़ते हैं, वह सब उसे झेलने पड़े। वह शरीर से पुष्ट थी, चाहती तो परिश्रम कर सकती थी; पर जिस दिन पंचायत पूरी हुई, उसी दिन से उसने काम करने की कसम खा ली। अब उसे रात-दिन रुपयों की रट लगी रहती। उठते-बैठते, सोते-जागते, उसे केवल एक काम था और वह मुंशी रामसेवक का भला मनाना। अपने झोपड़े के दरवाज़े पर बैठी हुई रात-दिन उन्हें सच्चे मन से असीसा करती। बहुधा अपने असीस के वाक्यों में ऐसे कविता के वाक्य और उपमाओं का व्यवहार करती कि लोग सुनकर अचंभे में आ जाते।

धीरे-धीरे मूँगा पगली हो चली। नंगे सिर, नंगे शरीर, हाथ में एक कुल्हाड़ी लिए हुए सुनसान स्थानों में जा बैठती। झोपड़ी के बदले अब वह मरघट पर, नदी के किनारे खंडहरों में घूमती दिखाई देती। बिखरी हुई लटें, लाल-लाल आँखें, पागलों-सा चेहरा, सूखे हुए हाथ-पाँव। उसका यह स्वरूप देखकर लोग डर जाते थे। अब कोई उसे हँसी में भी नहीं छेड़ता। यदि वह कभी गाँव में निकल आती, तो स्त्रियाँ घरों के किवाड़ बंद कर लेतीं। पुरुष कतराकर इधर-उधर से निकल जाते और बच्चे चीख़ मारकर भागते। यदि कोई लड़का भागता न था, तो वह रामसेवक का सुपुत्र रामगुलाम था। बाप में जो कुछ कोर-क़सर रह गई थी, वह बेटे में पूरी हो गई थी! लड़कों का उसके मारे नाक में दम था। गाँव के काने और लँगड़े आदमी उसकी सूरत से चिढ़ते थे और

गालियाँ खाने में तो शायद ससुराल में आनेवाले दामाद को भी इतना आनंद न आता हो! वह मूँगा के पीछे तालियाँ बजाता, कुत्तों को साथ लिए हुए उस समय तक रहता, जब तक वह बेचारी तंग आकर गाँव से निकल न जाती। रुपया-पैसा, होश-हवास खोकर उसे पगली की पदवी मिली और अब वह सचमुच पगली थी। अकेली बैठी अपने-आप घंटों बातें किया करती, जिसमें रामसेवक के मांस, हड्डी, चमड़े, आँखें, कलेजा आदि को खाने, मसलने, नोचने, खसोटने की बड़ी उत्कट इच्छा प्रकट की जाती थी और जब उसकी यह इच्छा सीमा तक पहुँच जाती, तो वह रामसेवक के घर की ओर मुँह करके ख़ूब चिल्लाकर और डरावने शब्दों में हाँक लगाती, तेरा लोहू पीऊँगी।

प्रायः रात के सन्नाटे में यह गरजती हुई आवाज़ सुनकर स्त्रियाँ चौंक पड़ती थीं, परंतु इस आवाज़ से भयानक उसका ठठाकर हँसना था! मुंशीजी के लहू पीने की कल्पित ख़ुशी में वह ज़ोर से हँसा करती थी। इस ठठाने से ऐसी आसुरिक उद्दंडता, ऐसी पाशविक उग्रता टपकती थी कि रात को सुनकर लोगों का ख़ून ठंडा हो जाता था। मालूम होता, मानो सैकड़ों उल्लू एक साथ हँस रहे हैं।

मुंशी रामसेवक बड़े हौसले और कलेजे के आदमी थे। न उन्हें दीवानी का डर था, न फ़ौजदारी का, परंतु मूँगा के इन डरावने शब्दों को सुनकर वह भी सहम जाते। हमें मनुष्य के न्याय का डर न हो, परंतु ईश्वर के न्याय का डर प्रत्येक मनुष्य के मन में कभी-कभी ऐसी ही भावना उत्पन्न कर देता—उनसे अधिक उनकी स्त्री के मन में। उनकी स्त्री बड़ी ही चतुर थी। वह उनको इन सब बातों में प्रायः सलाह दिया करती थी। उन लोगों की भूल थी, जो लोग कहते थे कि मुंशीजी की जीभ पर सरस्वती विराजती हैं। वह गुण तो उनकी स्त्री को प्राप्त था। बोलने में वह उतनी ही तेज़ थी, जितना मुंशीजी लिखने में थे और यह दोनों स्त्री-पुरुष प्रायः अपनी अवश दशा में सलाह करते कि अब क्या करना चाहिए?

4

आधी रात का समय था। मुंशीजी नित्य नियम के अनुसार अपनी चिंता दूर करने के लिए शराब के दो-चार घूँट पीकर सो गए थे। यकायक मूँगा ने उनके दरवाज़े पर आकर ज़ोर से हाँक लगाई, 'तेरा लहू पीऊँगी' और ख़ूब खिल-खिलाकर हँसी।

मुंशीजी यह भयावना ठहाका सुनकर चौंक पड़े। डर के मारे पैर थर-थर काँपने लगे। कलेजा धक्-धक् करने लगा। दिल पर बहुत ज़ोर डालकर उन्होंने दरवाज़ा खोला, जाकर नागिन को जगाया। नागिन ने झुँझलाकर कहा—"क्या है; क्या कहते हो?"

मुंशीजी ने दबी आवाज़ से कहा—"वह दरवाज़े पर खड़ी है।"

नागिन उठ बैठी—"क्या कहती है?"

"तुम्हारा सिर।"

"क्या दरवाज़े पर आ गई?"

"हाँ, आवाज़ नहीं सुनती हो।"

"तुम्हारा सिर।"

"क्या दरवाज़े पर आ गई?"

"हाँ, आवाज़ नहीं सुनती हो।"

नागिन मूँगा से नहीं, परंतु उसके ध्यान से बहुत डरती थी, तो भी उसे विश्वास था कि मैं बोलने में उसे ज़रूर नीचा दिखा सकती हूँ। सँभलकर बोली—"कहो तो मैं उससे दो-दो बातें कर लूँ?" परंतु मुंशीजी ने मना किया।

दोनों आदमी पैर दबाए ड्योढी में गए और दरवाज़े से झाँककर देखा, मूँगा की धुँधली मूरत धरती पर पड़ी थी और उसकी साँस तेज़ी से चलती हुई सुनाई देती थी। रामसेवक के लहू और मांस की भूख में वह अपना लहू और मांस सुखा चुकी थी। एक बच्चा भी उसे गिरा सकता था, परंतु उससे सारा गाँव थर-थर काँपता था। हम जीते मनुष्य से नहीं डरते, पर मुर्दे से डरते हैं। रात गुजरी। दरवाज़ा बंद था, पर मुंशीजी और नागिन ने बैठकर रात काटी। मूँगा भीतर नहीं घुस सकती थी, पर उसकी आवाज़ को कौन रोक सकता था। मूँगा से अधिक डरावनी उसकी आवाज़ थी।

भोर को मुंशीजी बाहर निकले और मूँगा से बोले—"यहाँ क्यों पड़ी है?"

मूँगा बोली—"तेरा लहू पीऊँगी।"

नागिन ने बल खाकर कहा—"तेरा मुँह झुलस दूँगी।"

पर नागिन के विष ने मूँगा पर कुछ असर न किया। उसने ज़ोर से ठहाका लगाया, नागिन खिसियानी-सी हो गई। हँसी के सामने मुँह बंद हो जाता है। मुंशीजी फिर बोले—"यहाँ से उठ जा।"

"न उठूँगी।"

"कब तक पड़ी रहेगी?"

"तेरा लहू पीकर जाऊँगी।"

मुंशीजी की प्रखर लेखनी का यहाँ कुछ ज़ोर न चला और नागिन की आगभरी बातें यहाँ सर्द हो गईं। दोनों घर में जाकर सलाह करने लगे, यह बला कैसे टलेगी? इस आपत्ति से कैसे छुटकारा होगा?

देवी आती है तो बकरे का ख़ून पीकर चली जाती है, पर यह डाइन मनुष्य का ख़ून पीने आई है। वह ख़ून, जिसकी अगर एक बूँद भी क़लम बनाने के समय निकल पड़ती थी, तो अठवारों और महीनों सारे कुनबे को अफ़सोस रहता और यह घटना गाँव में घर-घर फैल जाती थी। क्या वही लहू पीकर मूँगा का सूखा शरीर हरा हो जाएगा?

गाँव में यह चर्चा फैल गई, मूँगा मुंशीजी के दरवाज़े पर धरना दिए बैठी है। मुंशीजी के अपमान में गाँववालों को बड़ा मज़ा आता था। देखते-देखते सैकड़ों आदमियों की भीड़ लग गई। इस दरवाज़े पर कभी-कभी भीड़ लगी ही रहती थी। यह भीड़ रामगुलाम को पसंद न थी। मूँगा पर उसे ऐसा क्रोध आ रहा था कि यदि उसका वश चलता, तो वह इसे कुएँ में ढकेल देता। इस तरह का विचार उठते ही रामगुलाम के मन में गुदगुदी समा गई और वह बड़ी कठिनता से अपनी हँसी रोक सका। अहा! वह कुएँ में गिरती तो क्या मज़े की बात होती! परंतु वह चुड़ैल यहाँ से टलती ही नहीं, क्या करूँ?

मुंशीजी के घर में एक गाय थी, जिसे खली, दाना और भूसा तो ख़ूब खिलाया जाता, पर वह सब उसकी हड्डियों में मिल जाता, उसका ढाँचा पुष्ट होता जाता था। रामगुलाम ने उसी गाय का गोबर एक हाँड़ी में घोला और सब-का-सब बेचारी मूँगा पर उँड़ेल दिया। उसके थोड़े-बहुत छीटे दर्शकों पर भी डाल दिए। बेचारी मूँगा लदफद हो गई और लोग भाग खड़े हुए। कहने लगे, यह मुंशी रामगुलाम का दरवाज़ा है। यहाँ इसी प्रकार का शिष्टाचार किया जाता है। जल्द भाग चलो, नहीं तो अब के इससे भी बढ़कर ख़ातिर की जाएगी। इधर भीड़ कम हुई, उधर रामगुलाम घर में जाकर ख़ूब हँसा और ख़ूब तालियाँ बजाईं। मुंशीजी ने व्यर्थ की भीड़ को ऐसे सहज में और ऐसे सुंदर रूप से हटा देने के उपाय पर अपने सुशील लड़के की पीठ ठोकी। सब लोग तो चंपत हो गए, बेचारी मूँगा ज्यों-की-त्यों बैठी रह गई।

दोपहर हुई। मूँगा ने कुछ नहीं खाया। साँझ हुई। हज़ार कहने-सुनने से भी खाना नहीं खाया। गाँव के चौधरी ने बड़ी ख़ुशामद की। यहाँ तक कि मुंशीजी ने हाथ तक जोड़े, पर देवी प्रसन्न न हुई। निदान मुंशीजी उठकर भीतर चले गए। वह कहते थे कि रूठनेवाले को भूख आप ही मना लिया करती है। मूँगा ने यह रात भी बिना दाना-पानी के काट दी। लालाजी और ललाइन ने आज फिर जाग-जागकर भोर किया। आज मूँगा की गरज और हँसी बहुत कम सुनाई पड़ती थी। घरवालों ने समझा, बला टली। सबेरा होते ही जो दरवाज़ा खोलकर देखा, तो वह अचेत पड़ी थी, मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके हैं। वह इस दरवाज़े पर मरने ही आई थी। जिसने उसके जीवन की जमा-पूँजी हर ली थी, उसी को अपने जान भी सौंप दी। अपने शरीर की मिट्टी तक उसकी भेंट कर दी। धन से मनुष्य को कितना प्रेम होता है! धन अपनी जान से भी ज़्यादा प्यारा होता है, विशेषकर बुढ़ापे में। ऋण चुकाने के दिन ज्यों-ज्यों पास आते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका ब्याज बढ़ता जाता है।

यह कहना यहाँ व्यर्थ है कि गाँव में इस घटना से कैसी हलचल मची और मुंशी रामसेवक कैसे अपमानित हुए। एक छोटे-से गाँव में ऐसी असाधारण घटना होने पर जितनी हलचल हो सकती, उससे अधिक ही हुई। मुंशीजी का अपमान जितना होना

चाहिए था, उससे बाल बराबर भी कम न हुआ। उनका बचा-खुचा पानी भी इस घटना से चला गया। अब गाँव का चमार भी उनके हाथ का पानी पीने का, उन्हें छूने का रवादार न था। यदि किसी घर में कोई गाय खूँटे पर मर जाती है, तो वह आदमी महीनों द्वार-द्वार भीख माँगता फिरता है। न नाई उसकी हज़ामत बनावे, न कहार उसका पानी भरे, न कोई उसे छुए। यह गोहत्या का प्रायश्चित्त था। ब्रह्महत्या का दंड तो इससे भी कड़ा है और इसमें अपमान भी बहुत है। मूँगा यह जानती थी और इसीलिए इस दरवाज़े पर आकर मरी थी। वह जानती थी कि मैं जीते-जी तो कुछ नहीं कर सकती, मरकर उससे बहुत कुछ कर सकती हूँ। गोबर का उपला जब जलकर ख़ाक हो जाता है, तब साधु-संत उसे माथे पर चढ़ाते हैं; पत्थर का ढेला आग में जलकर आग से अधिक तीखा और मारक होता है।

5

मुंशी रामसेवक क़ानूनदाँ थे। क़ानून ने उन पर कोई दोष नहीं लगाया था। मूँगा किसी क़ानूनी दफ़ा के अनुसार नहीं मरी थी। ताजीरात हिंद में उसका कोई उदाहरण नहीं मिलता था। इसलिए जो लोग उनसे प्रायश्चित्त करवाना चाहते थे, उनकी भारी भूल थी। कुछ हर्ज़ नहीं, कहार पानी न भरे, न सही। वह आप पानी भर लेंगे। अपना काम आप करने में भला लाज ही क्या? बला से नाई बाल न बनावेगा। हज़ामत बनाने का काम ही क्या है? दाढ़ी बहुत सुंदर वस्तु है। दाढ़ी मर्द की शोभा और सिंगार है और जो फिर बालों से ऐसी घिन होगी, तो एक-एक आने में तो उस्तुरे मिलते हैं। धोबी कपड़े न धोएगा, इसकी भी कुछ परवाह नहीं। साबुन तो गली-गली कौड़ियों के मोल आता है। एक बट्टी साबुन में दरजनों कपड़े ऐसे साफ़ हो जाते हैं, जैसे बगुले के पर। धोबी क्या खाकर ऐसा साफ़ कपड़ा धोएगा? पत्थर पर पटक-पटककर कपड़ों का लत्ता निकाल लेता है। आप पहने, दूसरों को भाड़े पर पहनाए, भट्टी में चढ़ाए, रेह में भिगोए; कपड़ों की तो दुर्गति कर डालता है। जभी तो कुरते दो-तीन साल से अधिक नहीं चलते। नहीं तो दादा हर पाँचवें बरस दो-तीन अचकन और दो कुर्ते बनवाया करते थे। मुंशी रामसेवक और उनकी स्त्री ने दिन-भर तो यों ही कहकर अपने मन को समझाया। साँझ होते ही उनकी तर्कनाएँ शिथिल हो गईं।

अब उनके मन पर भय ने चढ़ाई की। जैसे-जैसे रात बीतती थी, भय भी बढ़ती जाता था। बाहर का दरवाज़ा भूल से खुला रह गया था, पर किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि जाकर बंद तो कर आए। निदान नागिन ने हाथ में दीया लिखा। मुंशीजी ने कुल्हाड़ा, रामगुलाम ने गँड़ासा, इस ढंग से तीनों आदमी चौंकते-हिचकते दरवाज़े पर आए। यहाँ मुंशीजी ने बड़ी बहादुरी से काम लिया। उन्होंने निधड़क दरवाज़े से बाहर निकलने की कोशिश की। काँपते हुए, पर ऊँची आवाज़ से नागिन से बोले—"तुम

व्यर्थ डरती हो, वह क्या यहाँ बैठी है?" पर उनकी प्यारी नागिन ने उन्हें अंदर खींच लिया और झुँझलाकर बोली–"तुम्हारा यही लड़कपन तो अच्छा नहीं।" यह दंगल जीतकर तीनों आदमी रसोई के कमरे में आए और खाना पकने लगा।

परंतु मूँगा उनकी आँखों में घुसी हुई थी। अपनी परछाई को देखकर मूँगा का भय होता था। अँधेरे कोने में मूँगा बैठी मालूम होती थी। वही हड्डियों का ढाँचा, वही बिखरे हुए बाल, वही पागलपन, वही डरावनी आँख, मूँगा का नखशिख दिखाई देता था। इसी कोठरी में आटे दाल के कई मटके रखे हुए थे, वहाँ कुछ पुराने चिथड़े भी पड़े हुए थे। एक चूहे को भूख ने बेचैन किया (मटकों ने कभी अनाज की सूरत नहीं देखी थी; पर सारे गाँव में मशहूर था कि इस घर के चूहे ग़ज़ब के डाकू हैं), तो वह उन दोनों की खोज़ में, जो मटकों से कभी नहीं गिरे थे, रेंगता हुआ इस चिथड़े के नीचे आ निकला। कपड़े में खड़खड़ाहट हुई। फैले हुए चिथड़े मूँगा की पतली टाँगे बन गईं, नागिन देखकर झिझकी और चीख उठी। मुंशी बदहवास होकर दरवाज़े की ओर लपके, रामगुलाम दौड़कर उनकी टाँगों से लिपट गया। चूहा बाहर निकल आया। उसे देखकर इन लोगों के होश ठिकाने हुए। अब मुंशीजी साहस करके मटके की ओर चले। नागिन ने कहा–"रहने भी दो, देख ली तुम्हारी मरदानगी।"

मुंशीजी अपनी प्रिय नागिन के इस अनादर पर बहुत बिगड़े–"क्या तुम समझती हो, मैं डर गया? भला डर की क्या बात थी! मूँगा मर गई; क्या वह बैठी है? मैं कल नहीं दरवाज़े के बाहर निकल गया था। तुम रोकती रहीं, मैं न माना।"

मुंशीजी की इस दलील ने नागिन को निरुत्तर कर दिया। कल दरवाज़े के बाहर निकल जाना या निकलने की कोशिश करना साधारण काम न था। जिसके साहस का ऐसा प्रमाण मिल चुका है, उसे डरपोक कौन कह सकता है? यह नागिन की हठधर्मी थी।

खाना खाकर तीनों आदमी सोने के कमरे में आए, परंतु मूँगा ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा। बातें करते थे, दिल को बहलाते थे, नागिन ने राजा हरदौल और रानी सारंधा की कहानियाँ कहीं, मुंशीजी ने फ़ौजदारी के कई मुक़दमों का हाल कह सुनाया, परंतु तो भी, इन उपायों से भी मूँगा की मूर्ति उनकी आँखों के सामने से न हटती थी। ज़रा भी खटखटाहट होती कि तीनों चौंक पड़ते। उधर पत्तियों में सनसनाहट हुई कि इधर तीनों के रोंगटे खड़े हो गए। रह-रहकर एक धीमी आवाज़ धरती के भीतर से उनके कानों में आती थी–"तेरा लहू पीऊँगी।"

आधी रात को नागिन नींद से चौंक पड़ी। वह इन दिनों गर्भवती थी। लाल-लाल आँखोंवाली, तेज़ और नुकीले दाँतोंवाली मूँगा उसकी छाती पर बैठी हुई जान पड़ती थी। नागिन चीख़ उठी। बावली की तरह आँगन में भाग आई और यकायक धरती पर चित गिर पड़ी। सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया। मुंशीजी भी

उसकी चीख़ सुनकर चौंके, पर डर के मारे आँखें न खोलीं। अँधों की तरह दरवाज़ा टटोलते रहे। बहुत देर के बाद उन्हें दरवाज़ा मिला। आँगन में आए। नागिन ज़मीन पर पड़ी हाथ-पाँव पटक रही थी। उसे उठाकर भीतर लाए, पर रात-भर उसने आँखें न खोलीं। भोर को अकबक बकने लगी। थोड़ी देर में ज्वर हो आया। बदन लाल तवा-सा हो गया। साँझ होते-होते उसे सन्निपात हो आया और आधी रात के समय जब संसार में सन्नाटा छाया हुआ था, नागिन इस संसार से चल बसी। मूँगा के डर ने उसकी जान ली। जब तक मूँगा जीती रही, वह नागिन की फुफकार से सदा डरती रही। पगली होने पर भी उसने कभी नागिन का सामना नहीं किया, पर अपनी जान देकर उसने आज नागिन की जान ले ली। भय में बड़ी शक्ति है। मनुष्य हवा में एक गिरह भी नहीं लगा सकता, पर इसने हवा में एक संसार रच डाला।

रात बीत गई। दिन चढ़ता आता था, पर गाँव का कोई आदमी नागिन की लाश उठाने को आता न दिखाई दिया। मुंशीजी घर-घर घूमे, पर कोई न निकला। भला, हत्यारे के दरवाज़े पर कौन जाए? हत्यारे की लाश कौन उठाए? इस समय मुंशीजी का रोबदाब, उनकी प्रबल लेखनी का भय और उनकी क़ानूनी प्रतिभा एक भी काम न आई। चारों ओर से हारकर मुंशी जी फिर अपने घर आए। यहाँ उन्हें अँधकार-ही-अँधकार दिखता था, दरवाज़े तक तो आए, पर भीतर पैर नहीं रखा जाता था। न बाहर ही खड़े रह सकते थे। बाहर मूँगा थी, भीतर नागिन। जी को कड़ा करके 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते हुए घर में घुसे। उस समय उनके मन पर जो बीतती थी, वही जानते थे। उसका अनुमान करना कठिन है। घर में लाश पड़ी हुई; न कोई आगे, न पीछे। दूसरा ब्याह तो हो सकता था। अभी इसी फागुन में तो पचासवाँ लगा है, पर ऐसी सुयोग्य और मीठी बोलीवाली स्त्री कहाँ मिलेगी? अफ़सोस! अब तगादा करनेवालों से बहस कौन करेगा, कौन उन्हें निरुत्तर करेगा? लेन-देन का हिसाब-किताब कौन इतनी ख़ूबी से करेगा? किसकी कड़ी आवाज़ तीर की तरह तगादेदारों की छाती में चुभेगी? यह नुकसान अब पूरा नहीं हो सकता। दूसरे दिन मुंशीजी लाश को एक ठेलेगाड़ी पर लादकर गंगाजी की तरफ़ चले।

6

शव के साथ जानेवालों की संख्या कुछ भी न थी। एक स्वयं मुंशीजी, दूसरे उनके पुत्ररत्न रामगुलामजी! इस बेइज़्ज़ती से मूँगा की लाश भी नहीं उठी थी।

मूँगा ने नागिन की जान लेकर भी मुंशीजी का पिंड न छोड़ा। उनके मन में हर घड़ी मूँगा की मूर्ति विराजमान रहती थी। कहीं रहते, उनका ध्यान इसी ओर रहा करता था। यदि दिल-बहलाव का कोई उपाय होता, तो शायद वह इतने बेचैन न होते; पर गाँव का एक पुतला भी उनके दरवाज़े की ओर न झाँकता था। बेचारे अपने हाथों

पानी भरते, आप ही बर्तन धोते। सोच और क्रोध, चिंता और भय, इतने शत्रुओं के सामने एक दिमाग़ कब तक ठहर सकता? विशेषकर वह दिमाग़, जो रोज़-रोज़ क़ानून की बहसों में ख़र्च हो जाता था।

अकेले क़ैदी की तरह उनके दस-बारह दिन तो ज्यों-त्यों करके कटे। चौदहवें दिन मुंशीजी ने कपड़े बदले और बोरिया-बस्ता लिए हुए कचहरी चले। आज उनका चेहरा कुछ खिला हुआ था। जाते ही मेरे मुवक्किल मुझे घेरे लेंगे। मेरी मातमपुर्सी करेंगे। मैं आँसुओं की दो-चार बूँदें गिरा दूँगा। फिर बैनामों, रेहननामों और सुलहनामों की भरमार हो जाएगी। मुट्ठी गर्म होगी। शाम को ज़रा नशे-पानी का रंग जम जाएगा, जिसके छूट जाने से जी और भी उचाट हो रहा था। इन्हीं विचारों में मग्न मुंशीजी कचहरी पहुँचे।

पर वहाँ रहेननामों की भरमार और बैनामों की बाढ़ और मुवक्किलों की चहल-पहल के बदले निराशा की रेतीली भूमि नज़र आई। बस्ता खोले घंटों बैठे रहे, पर कोई नज़दीक भी न आया। किसी ने इतना भी न पूछा कि आप कैसे है? नए मुवक्किल तो ख़ैर, बड़े-बड़े पुराने मुवक्किल, जिनका मुंशीजी से कई पीढ़ियों से सरोकार था, आज उनसे मुँह छिपाने लगे। वह नालायक और अनाड़ी रमजान, जिसकी मुंशीजी हँसी उड़ाते थे और जिसे शुद्ध लिखना भी न आता था, गोपियों में कन्हैया बना हुआ था। वाह रे भाग्य! मुवक्किल यों मुँह फेरे चले जाते हैं, मानो कभी की जान-पहचान ही नहीं। दिन-भर कचहरी की ख़ाक छानने के बाद मुंशीजी अपने घर चले। निराशा और चिंता में डूबे हुए ज्यों-ज्यों घर के निकट आते थे, मूँगा का चित्र सामने आता जाता था। यहाँ तक कि जब घर का द्वार खोला और दो कुत्ते, जिन्हें रामगुलाल ने बंदकर रखा था, झटपट बाहर निकले, तो मुंशीजी के होश उड़ गए, एक चीख़ मारकर ज़मीन पर गिर पड़े।

मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर भय का जितना प्रभाव होता है, उतना और किसी शक्ति का नहीं! प्रेम, चिंता, निराशा, हानि. यह सब मन को अवश्य दुःखित करते हैं; यह हवा के हल्के झोंके हैं और भय प्रचण्ड आँधी है। मुंशीजी पर इसके बाद क्या बीती, मालूम नहीं। कई दिन तक लोगों ने उन्हें कचहरी जाते और वहाँ से मुरझाए हुए लौटते देखा। कचहरी जाना उनका कर्त्तव्य था और यद्यपि वहाँ मुवक्किलों का अकाल था, तो भी तगादेवालों से गला छुड़ाने और उनको भरोसा दिलाने के लिए अब यही एक लटका रह गया था। इसके बाद वह कई महीने तक देख न पड़े। बद्रीनाथ चले गए।

एक दिन गाँव में एक साधु आया, भभूत रमाए, लंबी-लंबी जटाएँ, हाथ में कमंडल। इसका चेहरा मुंशी रामसेवक से बहुत मिलता-जुलता था। बोलचाल में भी अधिक भेद न था। वह एक पेड़ के नीचे धूनी रमाए बैठा रहा। उसी रात को मुंशी रामसेवक के घर से धुआँ उठा, फिर आग की ज्वाला दिखने लगी और आग भभक

उठी। गाँव के सैकड़ों आदमी दौड़े, आग बुझाने के लिए नहीं, तमाशा देखने के लिए। एक ग़रीब की हाय में कितना प्रभाव है! रामगुलाम मुंशीजी के गायब हो जाने पर अपने मामा के यहाँ चला गया और वहाँ कुछ दिनों रहा, पर वहाँ उसकी चाल-ढाल किसी को पसंद न आई।

एक दिन उसने किसी के खेत में मूली नोची। उसने दो-चार धौल लगाए। उस पर वह इस तरह बिगड़ा कि जब उसके चने खलिहान में आए, तो उसने आग लगा दी। सारा-का-सारा खलिहान जलकर ख़ाक हो गया। हज़ारों रुपयों का नुकसान हुआ। पुलिस ने तहकीकात की, रामगुलाम पकड़ा गया। इसी अपराध में वह चुनार के रिफार्मेटरी स्कूल में मौजूद है।

(प्रथम प्रकाशन-अज्ञात)

('प्रेम पूर्णिमा', हिंदी कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, 1918 से प्रस्तुत)

('मानसरोवर'-8, 1950)

वर्ष : 1912

आल्हा

1

आल्हा का नाम किसने नहीं सुना। पुराने ज़माने के चंदेल राजपूतों में वीरता और जान पर खेलकर स्वामी की सेवा करने के लिए किसी राजा-महाराजा को भी यह अमर कीर्ति नहीं मिली। राजपूतों के नैतिक नियमों में केवल वीरता ही नहीं थी, बल्कि अपने स्वामी और अपने राजा के लिए जान देना भी उसका एक अंग था। आल्हा और ऊदल की ज़िंदगी इसकी सबसे अच्छी मिसाल है। सच्चा राजपूत क्या होता था और उसे क्या होना चाहिए, इसे जिस ख़ूबसूरती से इन दोनों भाइयों ने दिखा दिया है, उसकी मिसाल हिंदोस्तान के किसी दूसरे हिस्से में मुश्किल से मिल सकेगी। आल्हा और ऊदल के मार्के और उनके कारनामें एक चंदेली कवि ने शायद उन्हीं के ज़माने में गाए और उसको इस सूबे में जो लोकप्रियता प्राप्त है, वह शायद रामायण को भी न हो। यह कविता आल्हा ही के नाम से प्रसिद्ध है और आठ-नौ शताब्दियाँ गुज़र जाने के बावजूद उसकी दिलचस्पी और सर्वप्रियता में अंतर नहीं आया। आल्हा गाने का इस प्रदेश में बड़ा रिवाज है। देहात में लोग हज़ारों की संख्या में आल्हा सुनने के लिए जमा होते हैं। शहरों में भी कभी-कभी यह मंडलियाँ दिखाई दे जाती हैं। बड़े लोगों की अपेक्षा सर्वसाधारण में यह किस्सा अधिक लोकप्रिय है। किसी मजलिस में जाइए हज़ारों आदमी ज़मीन के फर्श पर बैठे हुए हैं, सारी महफ़िल जैसे बेसुध हो रही है और आल्हा गानेवाला किसी मोंढ़े पर बैठा हुआ अपनी अलाप सुना रहा है। उसकी आवाज़ आवश्यकतानुसार कभी ऊँची हो जाती है और कभी मद्धिम, मगर जब वह किसी लड़ाई और उसकी तैयारियों का ज़िक्र करने लगता है तो शब्दों का प्रवाह, उसके हाथों और भावों के इशारे, ढोल की मर्दाना लय और उन पर वीरतापूर्ण शब्दों का चुस्ती से बैठना, जो लड़ाई की कविताओं ही की अपनी एक विशेषता है, यह सब चीज़ें मिलकर सुननेवालों के दिलों में मर्दाना जोश की एक उमंग-सी पैदा कर देती हैं। बयान करने का तर्ज़ ऐसा सादा और दिलचस्प और ज़बान ऐसी आमफ़हम है कि उसके समझने में ज़रा भी दिक्क़त नहीं होती। वर्णन और भावों की सादगी, कला के सौंदर्य का प्राण है।

राजा परमालदेव चंदेल ख़ानदान का आख़िरी राजा था। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में वह ख़ानदान समाप्त हो गया। महोबा जो एक मामूली कस्बा है उस ज़माने में चंदेलों की राजधानी था। महोबा की सल्तनत दिल्ली और कन्नौज से आँखें मिलाती थी। आल्हा और ऊदल इसी राजा परमालदेव के दरबार के सम्मानित सदस्य थे। यह दोनों भाई अभी बच्चे ही थे कि उनका बाप जसराज एक लड़ाई में मारा गया। राजा को अनाथों पर तरस आया, उन्हें राजमहल में ले आए और मुहब्बत के साथ अपनी रानी मलिनहा के सुपुर्द कर दिया। रानी ने उन दोनों भाइयों की परवरिश और लालन-पालन अपने लड़के की तरह किया। जवान होकर यही दोनों भाई बहादुरी में सारी दुनिया में मशहूर हुए। इन्हीं दिलावरों के कारनामों ने महोबे का नाम रौशन कर दिया है।

बड़े लड़इया महोबेवाले
जिनके बल को वार न पार।

आल्हा और ऊदल राजा परमालदेव पर जान कुर्बान करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। रानी मलिनहा ने उन्हें पाला, उनकी शादियाँ कीं, उन्हें गोद में खिलाया। नमक के हक के साथ-साथ इन एहसानों और संबंधों ने दोनों भाइयों के चंदेल राज का जाँनिसार रखवाला और राजा परमालदेव का वफ़ादार सेवक बना दिया था। उनकी वीरता के कारण आस-पास के सैकड़ों घमंडी राजा चंदेलों के अधीन हो गए। महोबा राज्य की सीमाएँ नदी की बाढ़ की तरह फैलने लगीं और चंदेलों की शक्ति दूज के चाँद से बढ़कर पूरनमासी का चाँद हो गई। यह दोनों वीर कभी चैन से न बैठते थे। रणक्षेत्र में अपने हाथ का जौहर दिखाने की उन्हें धुन थी। सुख-सेज पर उन्हें नींद न आती थी और वह ज़माना भी ऐसा ही बेचैनियों से भरा हुआ था। उस ज़माने में चैन से बैठना दुनिया के परदे से मिट जाना था। बात-बात पर तलवारें चलतीं और ख़ून की नदियाँ बहती थीं। यहाँ तक कि शादियाँ भी ख़ूनी लड़ाइयों जैसी हो गई थीं। लड़की पैदा हुई और शामत आ गई। हज़ारों सिपाहियों, सरदारों और संबंधियों की जानें दहेज में देनी पड़ती थीं। आल्हा और ऊदल उसी पुरशोर ज़माने की सच्ची तसवीरें हैं और गो कि ऐसी हालतों और ज़माने के साथ जो नैतिक दुर्बलताएँ और विषमताएँ पाई जाती हैं, उनके असर से वह भी बचे हुए नहीं हैं, मगर उनकी दुर्बलताएँ उनका क़सूर नहीं, बल्कि उनके ज़माने का क़सूर हैं।

2

आल्हा का मामा माहिल एक काले दिल का, मन में द्वेष पालनेवाला आदमी था। इन दोनों भाइयों का प्रताप और ऐश्वर्य उसके हृदय में काँटे की तरह खटका करता था। उसकी ज़िंदगी की सबसे बड़ी आरज़ू यह थी कि उनके बड़प्पन को किसी तरह ख़ाक

में मिला दे। इसी नेक काम के लिए उसने अपनी ज़िंदगी न्यौछावर कर दी थी। सैकड़ों बार किए, सैकड़ों बार आग लगाई, यहाँ तक कि आख़िरकार उसकी नशा पैदा करनेवाली मंत्रणाओं ने राजा परमाल को मतवाला कर दिया। लोहा भी पानी से कट जाता है।

एक रोज़ राजा परमाल दरबार में अकेले बैठे हुए थे कि माहिल आया। राजा ने उसे उदास देखकर पूछा, "भइया, तुम्हारा चेहरा कुछ उतरा हुआ है।" माहिल की आँखों में आँसू आ गए। मक्कार आदमी को अपनी भावनाओं पर जो अधिकार होता है, वह किसी बड़े योगी के लिए भी कठिन है। उसका दिल रोता है मगर होंठ हँसते हैं। दिल खुशियों के मज़े लेता है, मगर आँखें रोती हैं, दिल डाह की आग से जलता है मगर ज़बान से शहद और शक्कर की नदियाँ बहती हैं।

माहिल बोला–"महाराज, आपकी छाया में रहकर मुझे दुनिया में अब किसी चीज़ की इच्छा बाक़ी नहीं। मगर जिन लोगों को आपने धूल से उठाकर आसमान पर पहुँचा दिया और जो आपकी कृपा से आज बड़े प्रताप और ऐश्वर्यवाले बन गए, उनकी कृतघ्नता और उपद्रव खड़े करना मेरे लिए बड़े दुःख का कारण हो रहा है।"

परमाल ने आश्चर्य से पूछा–"क्या मेरा नमक खानेवालों में ऐसे भी लोग हैं?"

माहिल–"महाराज, मैं कुछ नहीं कह सकता। आपका हृदय कृपा का सागर है मगर उसमें एक खूँखार घड़ियाल आ घुसा है।"

–"वह कौन है?"

–"मैं।"

राजा ने आश्चर्यान्वित होकर कहा–"तुम।"

माहिल–"हाँ महाराज, वह अभागा व्यक्ति मैं ही हूँ। मैं आज खुद अपनी फ़रियाद लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। अपने संबंधियों के प्रति मेरा जो कर्त्तव्य है, वह उस भक्ति की तुलना में कुछ भी नहीं, जो मुझे आपके प्रति है। आल्हा मेरे जिगर का टुकड़ा है। उसका मांस मेरा मांस और उसका रक्त मेरा रक्त है। मगर अपने शरीर में जो रोग पैदा हो जाता है, उसे विवश होकर हकीम से कहना पड़ता है। आल्हा अपनी दौलत के नशे में चूर हो रहा है। उसके दिल में यह झूठा ख़याल पैदा हो गया है कि मेरे ही बाहु-बल से यह राज्य कायम है।"

राजा परमाल की आँखें लाल हो गईं, बोला–"आल्हा को मैंने हमेशा अपना लड़का समझा है।"

माहिल–"लड़के से ज़्यादा।"

परमाल–"वह अनाथ था, कोई उसका सरंक्षक न था। मैंने उसका पालन-पोषण किया, उसे गोद में खिलाया। मैंने उसे जागीरें दीं, उसे अपनी फ़ौज का सिपहसालार बनाया। उसकी शादी में मैंने बीस हज़ार चंदेल सूरमाओं का ख़ून बहा दिया। उसकी

माँ और मेरी मलिनहा वर्षों गले मिलकर सोई हैं और आल्हा क्या मेरे एहसानों को भूल सकता है? माहिल, मुझे तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं आता।"

माहिल का चेहरा पीला पड़ा गया। मगर सम्हलकर बोला—"महाराज, मेरी ज़बान से कभी झूठ बात नहीं निकली।"

परमाल—"मुझे कैसे विश्वास हो?"

माहिल ने धीरे से राजा के कान में कुछ कह दिया।

3

आल्हा और ऊदल दोनों चौगान के खेल का अभ्यास कर रहे थे। लंबे-चौड़े मैदान में हज़ारों आदमी इस तमाशे को देख रहे थे। गेंद किसी अभागे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता था। चोबदार ने आकर कहा—"महाराज ने याद फ़रमाया है।"

आल्हा को संदेह हुआ। महाराज ने आज बेवक़्त क्यों याद किया? खेल बंद हो गया। गेंद को ठोकरों से छुट्टी मिली। फ़ौरन दरबार में चोबदार के साथ हाज़िर हुआ और झुककर आदाब बज़ा लाया।

परमाल ने कहा—"मैं तुमसे कुछ माँगू? दोगे?"

आल्हा ने सादगी से जवाब दिया—"फ़रमाइए।"

परमाल—"इंकार तो न करोगे?"

आल्हा ने कनखियों से माहिल की तरफ़ देखा और समझ गया कि इस वक़्त कुछ-न-कुछ दाल में काला है। इसके चेहरे पर यह मुस्कराहट क्यों? गूलर में यह फूल क्यों लगे? क्या मेरी वफ़ादारी का इंतहान लिया जा रहा है? जोश से बोला—"महाराज, मैं आपकी ज़बान से ऐसे सवाल सुनने का आदी नहीं हूँ। आप मेरे सरंक्षक, मेरे पालनहार, मेरे राजा हैं। आपकी भवों के इशारे पर मैं आग में कूद सकता हूँ और मौत से लड़ सकता हूँ। आपकी आज्ञा पाकर मैं असंभव को संभव बना सकता हूँ। आप मुझसे ऐसे सवाल न करें।"

परमाल—"शाबाश, मुझे तुमसे ऐसी ही उम्मीद है।"

आल्हा—"मुझे क्या हुक्म मिलता है?"

परमाल—"तुम्हारे पास नाहर घोड़ा है?"

आल्हा ने 'जी हाँ' कहकर माहिल की तरफ़ भयानक गुस्से-भरी हुई आँखों से देखा।

परमाल—"अगर तुम्हें बुरा न लगे तो उसे मेरी सवारी के लिए दे दो।"

आल्हा कुछ जवाब न दे सका, सोचने लगा, मैंने अभी वादा किया है कि इंकार न करूँगा। मैंने बात हारी है। मुझे इंकार न करना चाहिए। निश्चय ही इस वक़्त मेरी स्वामिभक्ति की परीक्षा ली जा रही है। मेरा इंकार इस समय बहुत बे-मौक़ा और

ख़तरनाक है। इसका तो कुछ ग़म नहीं। मगर मैं इंकार किस मुँह से करूँ, बेवफ़ा न कहलाऊँगा। मेरा और राजा का संबंध केवल स्वामी और सेवक का नहीं है, मैं उनकी गोद में खेला हूँ। जब मेरे हाथ कमज़ोर थे और पाँच में खड़े होने का बूता न था, तब उन्होंने मेरे जुल्म सहे हैं, क्या मैं इंकार कर सकता हूँ?

विचारों की धारा मुड़ी—माना कि राजा के एहसान मुझ पर अनगिनती हैं। मेरे शरीर का एक-एक रोआँ उनके एहसानों के बोझ से दबा हुआ है, मगर क्षत्रिय कभी अपनी सवारी का घोड़ा दूसरे को नहीं देता। यह क्षत्रियों का धर्म्म नहीं। मैं राजा का पाला हुआ और एहसानमंद हूँ। मुझे अपने शरीर पर अधिकार है। उसे मैं राजा पर न्यौछावर कर सकता हूँ। मगर राजपूती धर्म्म पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, उसे मैं नहीं तोड़ सकता। जिन लोगों ने धर्म्म के कच्चे धागे को लोहे की दीवार समझा है, उन्हीं से राजपूतों का नाम चमक रहा है। क्या मैं हमेशा के लिए अपने ऊपर दाग़ लगाऊँ? आह! माहिल ने इस वक़्त मुझे ख़ूब जकड़ रखा हैं, सामने खूँखार शेर है, पीछे गहरी खाई या तो अपमान उठाऊँ या कृतघ्न कहलाऊँ या तो राजपूतों के नाम को डुबोऊँ या बर्बाद हो जाऊँ। ख़ैर, जो ईश्वर की मर्ज़ी, मुझे कृतघ्न कहलाना स्वीकार है, मगर अपमानित होना स्वीकार नहीं। बर्बाद हो जाना मंजूर है, मगर राजपूतों के धर्म्म में बट्टा लगाना मंजूर नहीं।

आल्हा सर नीचा किए इन्हीं ख़यालों में गोते खा रहा था। यह उसके लिए परीक्षा की घड़ी थी, जिसमें सफल हो जाने पर उसका भविष्य निर्भर था।

मगर माहिल के लिए यह मौक़ा उसके धीरज की कम परीक्षा लेनेवाला न था।

वह दिन अब आ गया जिसके इंतज़ार में कभी आँखें नहीं थकीं। खुशियों की यह बाढ़ अब संयम की लोहे की दीवार को काटती जाती थी। सिद्ध योगी पर दुर्बल मनुष्य की विजय होती जाती थी। एकाएक परमाल ने आल्हा से बुलंद आवाज़ में पूछा—“किस दुविधे में हो? क्या नहीं देना चाहते?”

आल्हा ने राजा से आँखें मिलाकर कहा—“जी नहीं।”

परमाल को तैश आ गया, कड़ककर बोला—“क्यों?”

आल्हा ने अविचल मन से उत्तर दिया—“यह राजपूतों का धर्म्म नहीं है।”

परमाल—“क्या मेरे एहसानों का यही बदला है? तुम जानते हो, पहले तुम क्या थे और अब क्या हो?”

आल्हा—“जी हाँ, जानता हूँ।”

परमाल—“तुम्हें मैंने बनाया है और मैं ही बिगाड़ सकता हूँ।”

आल्हा से अब सब्र न हो सका, उसकी आँखें लाल हो गईं और त्योरियों पर बल पड़ गए। तेज़ लहजे में बोला—“महाराज, आपने मेरे ऊपर जो एहसान किए, उनका मैं हमेशा कृतज्ञ रहूँगा। क्षत्रिय कभी एहसान नहीं भूलता। मगर आपने मेरे ऊपर एहसान किए हैं, तो मैंने भी जी तोड़कर आपकी सेवा की है। सिर्फ़ नौकरी और

नमक का हक अदा करने का भाव मुझमें वह निष्ठा और गर्मी नहीं पैदा कर सकता जिसका मैं बार-बार परिचय दे चुका हूँ। मगर ख़ैर, अब मुझे विश्वास हो गया कि इस दरबार में मेरा गुज़र न होगा। मेरा आख़िरी सलाम क़बूल हो और अपनी नादानी से मैंने जो कुछ भूल की है वह माफ़ की जाए।"

माहिल की ओर देखकर उसने कहा—"मामाजी, आज से मेरे और आपके बीच ख़ून का रिश्ता टूटता है। आप मेरे ख़ून के प्यासे हैं तो मैं भी आपकी जान का दुश्मन हूँ।"

4

आल्हा की माँ का नाम देवल देवी था। उसकी गिनती उन हौसलेवाली उच्च विचार स्त्रियों में है, जिन्होंने हिंदोस्तान के पिछले कारनामों को इतना स्पृहणीय बना दिया है। उस अँधेरे युग में भी जब कि आपसी फूट और बैर की एक भयानक बाढ़ मुल्क में आ पहुँची थी, हिंदोस्तान में ऐसी-ऐसी देवियाँ पैदा हुईं जो इतिहास के अँधेरे से अँधेरे पन्नों को भी ज्योतित कर सकती हैं। देवल देवी ने सुना कि आल्हा ने अपनी आन को रखने के लिए क्या किया तो उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने दोनों भाइयों को गले लगाकर कहा—"बेटा, तुमने वही किया जो राजपूतों का धर्म्म था। मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ कि तुम जैसे दो बात की लाज रखने वाले बेटे पाए हैं।"

उसी रोज़ दोनों भाइयों ने महोबा से कूच कर दिया। अपने साथ अपनी तलवार और घोड़ों के सिवा और कुछ न लिया। माल-असबाब सब वहीं छोड़ दिए। सिपाही की दौलत और इज़्ज़त सब कुछ उसकी तलवार है। जिसके पास वीरता की सम्पत्ति है, उसे दूसरी किसी सम्पत्ति की ज़रूरत नहीं।

बरसात के दिन थे, नदी-नाले उमड़े हुए थे। इंद्र की उदारताओं से मालामाल होकर ज़मीन फूली नहीं समाती थी। पेड़ों पर मोरों की रसीली झनकारें सुनाई देती थीं और खेतों में निश्चिंतता की शराब से मतवाले किसान मल्हार की तानें अलाप रहे थे। पहाड़ियों की घनी हरियावल, पानी की दर्पन-जैसी सतह और जंगली बेल-बूटों के बनाव-सँवार से प्रकृति पर एक यौवन बरस रहा था। मैदानों की ठंडी-ठंडी मस्त हवा, जंगली फूलों की मीठी-मीठी, सुहानी, आत्मा को उल्लास देनेवाली महक और खेतों की लहराती हुई रंग-बिरंग उपज ने दिलों में आरज़ुओं का एक तूफ़ान उठा दिया था। ऐसे मुबारक मौसम में आल्हा ने महोबा को आख़िरी सलाम किया। दोनों भाइयों की आँखें रोते-रोते लाल हो गई थीं, क्योंकि आज उनसे उनका देश छूट रहा था। इन्हीं गलियों में उन्होंने घुटनों के बल चलना सीखा था, इन्हीं तालाबों में काग़ज़ की नावें चलाई थीं, यहीं जवानी की बेफ़िक्रियों के मज़े लूटे थे। इनसे अब हमेशा के लिए नाता टूटता था।

दोनों भाई आगे बढ़ते जाते थे, मगर बहुत धीरे-धीरे। यह ख़याल था कि शायद परमाल ने रूठनेवालों को मनाने के लिए अपना कोई भरोसे का आदमी भेजा होगा। घोड़ों को सम्हाले हुए थे, मगर जब महोबे की पहाड़ियों का आख़िरी निशान आँखों से ओझल हो गया तो उम्मीद की आख़िरी झलक भी ग़ायब हो गई। उन्होंने जिनका कोई देश न था, एक ठंडी साँस ली और घोड़े बढ़ा दिए। उनके निर्वासन का समाचार बहुत जल्द चारों तरफ़ फैल गया। उनके लिए हर दरबार में जगह थी, चारों तरफ़ से राजाओं के संदेश आने लगे। कन्नौज के राजा जयचंद ने अपने राजकुमार को उनसे मिलने के लिए भेजा। संदेशों से जो काम न निकला, वह इस मुलाक़ात ने पूरा कर दिया। राजकुमार की ख़ातिरदारियाँ और आवभगत दोनों भाइयों को कन्नौज खींच ले गई। जयचंद आँखें बिछाए बैठा था। आल्हा को अपना सेनापति बना दिया।

5

आल्हा और ऊदल के चले जाने के बाद महोबे में तरह-तरह के अँधेर शुरू हुए। परमाल कमज़ोर शासक था। मातहत राजाओं ने बग़ावत का झंडा बुलंद किया। ऐसी कोई ताक़त न रही, जो उन झगड़ालू लोगों को वश में रख सके। दिल्ली के राजा पृथ्वीराज की कुछ सेना सिमता से एक सफल लड़ाई लड़कर वापस आ रही थी। महोबे में पड़ाव किया। अक्खड़ सिपाहियों में तलवार चलते कितनी देर लगती है। चाहे राजा परमाल के मुलाज़िमों की ज़्यादती हो चाहे चौहान सिपाहियों की, नतीजा यह हुआ कि चंदेलों और चौहानों में अनबन हो गई। लड़ाई छिड़ गई। चौहान संख्या में कम थे। चंदेलों ने आतिथ्य-सत्कार के नियमों को एक किनारे रखकर चौहानों के ख़ून से अपना कलेजा ठंडा किया और यह न समझे कि मुट्ठी-भर सिपाहियों के पीछे सारे देश पर विपत्ति आ जाएगी। बेगुनाहों का ख़ून रंग लाएगा। पृथ्वीराज को यह दिल तोड़नेवाली ख़बर मिली तो उसके गुस्से की कोई हद न रही। आँधी की तरह महोबे पर चढ़ दौड़ा और सिरको, जो इलाक़ा महोबे का एक मशहूर क़स्बा था, तबाह करके महोबे की तरफ़ बढ़ा। चंदेलों ने भी फ़ौज खड़ी की, मगर पहले ही मुक़ाबिले में उनके हौसले पस्त हो गए। आल्हा-ऊदल के बग़ैर फ़ौज बिन दूल्हे की बारात थी। सारी फ़ौज तितर-बितर हो गई। देश में तहलका मच गया। अब किसी क्षण पृथ्वीराज महोबे में आ पहुँचेगा, इस डर से लोगों के हाथ-पाँव फूल गए। परमाल अपने किए पर बहुत पछताया। मगर अब पछताना व्यर्थ था। कोई चारा न देखकर उसने पृथ्वीराज से एक महीने की संधि की प्रार्थना की। चौहान राजा युद्ध के नियमों को कभी हाथ से न जाने देता था। उसकी वीरता उसे कमज़ोर, बेख़बर और नामुस्तैद दुश्मन पर वार करने की इजाज़त न देती थी। इस मामले में अगर वह इन नियमों का इतनी सख़्ती से पाबंद न होता तो शहाबुद्दीन के हाथों उसे वह बुरा दिन न देखना

पड़ता। उसकी बहादुरी ही उसकी जान की गाहक हुई। उसने परमाल का पैग़ाम मंजूर कर लिया। चंदेलों की जान-में-जान आई।

अब सलाह-मशविरा होने लगा कि पृथ्वीराज से क्योंकर मुक़ाबिला किया जाए। रानी मलिनहा भी इस मशविरे में शरीक थी। किसी ने कहा–महोबे के चारों तरफ़ एक ऊँची दीवार बनाई जाए; कोई बोला–हम लोग महोबे को वीरान करके दक्खिन की ओर चलें। परमाल ज़बान से तो कुछ न कहता था, मगर समर्पण के सिवा उसे और कोई चारा न दिखाई पड़ता था। तब रानी•मलिनहा खड़ी होकर बोली–

"चंदेल वंश के राजपूतों, तुम कैसी बच्चों की-सी बातें करते हो? क्या दीवार खड़ी करके तुम दुश्मन को रोक लोगे? झाड़ू से कहीं आँधी रुकती है। तुम महोबे को वीरान करके भागने की सलाह देते हो। ऐसी कायरों जैसी सलाह औरतें दिया करती हैं। तुम्हारी सारी बहादुरी और जान पर खेलना अब कहाँ गया? अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि चंदेलों के नाम से राजे थर्राते थे। चंदेलों की धाक बँधी हुई थी, तुमने कुछ ही सालों में सैकड़ों मैदान जीते, तुम्हें कभी हार नहीं हुई। तुम्हारी तलवार की दमक कभी मंद नहीं हुई। तुम अब भी यही हो, मगर तुममें अब वह पुरुषार्थ नहीं है। वह पुरुषार्थ बनाफर वंश के साथ महोबे से उठ गया। देवल देवी के रूठने से चंडिका देवी भी हमसे रूठ गई। अब अगर कोई यह हारी हुई बाज़ी सम्हाल सकता है तो वह आल्हा है। वही दोनों भाई इस नाजुक वक़्त में तुम्हें बचा सकते हैं। उन्हीं को मनाओ, उन्हीं को समझाओ, उन पर महोबे के बहुत हक हैं। महोबे की मिट्टी और पानी से उनकी परवरिश हुई है। वह महोबे के हक कभी भूल नहीं सकते, उन्हें ईश्वर ने बल और विद्या दी है, वही इस समय विजय का बीड़ा उठा सकते हैं।"

रानी मलिनहा की बातें लोगों के दिलों में बैठ गईं।

6

जगना भाट आल्हा और ऊदल को कन्नौज से लाने के लिए रवाना हुआ। यह दोनों भाई राजकुँवर लाखन के साथ शिकार खेलने जा रहे थे कि जगना ने पहुँचकर प्रणाम किया। उसके चेहरे से परेशानी और झिझक बरस रही थी। आल्हा ने घबराकर पूछा–"कवीश्वर, यहाँ कैसे भूल पड़े? महोबे में तो सब ख़ैरियत है? हम ग़रीबों को क्योंकर याद किया?"

जगना की आँखों में आँसू भर आए, बोला–"अगर ख़ैरियत होती तो तुम्हारी शरण में क्यों आता। मुसीबत पड़ने पर ही देवताओं की याद आती है। महोबे पर इस समय इंद्र का कोप छाया हुआ है। पृथ्वीराज चौहान महोबे को घेरे पड़ा है। नरसिंह और वीरसिंह तलवारों की भेंट हो चुके हैं। सिरको सारा राख का ढेर हो गया। चंदेलों का राज वीरान हुआ जाता है। हमारे देश में कुहराम मचा हुआ है। बड़ी मुश्किलों से

एक महीने की मोहलत ली गई है और मुझे राजा परमाल ने तुम्हारे पास भेजा है। इस मुसीबत के वक़्त हमारा कोई मददगार नहीं है, कोई ऐसा नहीं है जो हमारी हिम्मत बँधाए। जब से तुमने महोबे से नाता तोड़ा है, तब से राजा परमाल के होंठों पर हँसी नहीं आई। जिस परमाल को उदास देखकर तुम बेचैन हो जाते थे, उसी परमाल की आँखें महीनों से नींद को तरसती हैं। रानी मलिनहा, जिसकी गोद में तुम खेले हो, रात-दिन तुम्हारी याद में रोती रहती है। वह अपने झरोखे से कन्नौज की तरफ़ आँखें लगाए तुम्हारी राह देखा करती है। बनाफर वंश के सपूतो! चंदेलों की नाव अब डूब रही है। चंदेलों का नाम अब मिटा जाता है। अब मौक़ा है कि तुम तलवारें हाथ में लो। अगर इस मौक़े पर तुमने डूबती हुई नाव को न सम्हाला तो तुम्हें हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा, क्योंकि इस नाम के साथ तुम्हारा और तुम्हारे नामी बाप का नाम भी डूब जाएगा।"

आल्हा ने रूखेपन से जवाब दिया—"हमें इसकी अब कुछ परवाह नहीं है। हमारा और हमारे बाप का नाम तो उसी दिन डूब गया, जब हम बेक़सूर महोबे से निकाल दिए गए। महोबा मिट्टी में मिल जाए, चंदेलों का चिराग़ गुल हो जाए, अब हमें ज़रा भी परवाह नहीं है। क्या हमारी सेवाओं का यही पुरस्कार था जो हमको दिया गया? हमारे बाप ने महोबे पर अपने प्राण-न्यौछावर कर दिए, हमने गोंडों को हराया और चंदेलों को देवगढ़ का मालिक बना दिया। हमने यादवों से लोहा लिया और कठियार के मैदान में चंदेलों का झंडा गाड़ दिया। मैंने इन्हीं हाथों से कछवाहों की बढ़ती हुई लहर को रोका। गया का मैदान हमीं ने जीता, रीवाँ का घमंड हमीं ने तोड़ा। मैंने ही मेवात से खिराज़ लिया। हमने यह सब कुछ किया और इसका हमको यह पुरस्कार दिया गया है? मेरे बाप ने दस राजाओं को गुलामी का तौक़ पहनाया। मैंने परमाल की सेवा में सात बार प्राणलेवा ज़ख्म खाए, तीन बार मौत के मुँह से निकल आया। मैंने चालीस लड़ाइयाँ लड़ीं और कभी हारकर न आया। ऊदल ने सात ख़ूनी मार्के जीते। हमने चंदेलों की बहादुरी का डंका बजा दिया। चंदेलों का नाम हमने आसमान तक पहुँचा दिया और इसका यह पुरस्कार हमको मिला है? परमाल अब क्यों उसी दग़ाबाज़ माहिल को अपनी मदद के लिए नहीं बुलाते, जिसको खुश करने के लिए मेरा देश निकाला हुआ था!"

जगना ने जवाब दिया—"आल्हा! यह राजपूतों की बातें नहीं हैं। तुम्हारे बाप ने जिस राजा पर प्राण न्यौछावर कर दिए वही राजा अब दुश्मन के पाँव तले रौंदा जा रहा है। उसी बाप के बेटे होकर भी क्या तुम्हारे ख़ून में जोश नहीं आता? वह राजपूत जो अपने मुसीबत में पड़े हुए राजा को छोड़ता है, उसके लिए नरक की आग के सिवा और कोई जगह नहीं है। तुम्हारी मातृभूमि पर बर्बादी की घटा छाई हुई है। तुम्हारी माएँ और बहनें दुश्मनों की आबरू लूटनेवाली निगाहों का निशाना बन रही हैं, क्या

अब भी तुम्हारे ख़ून में जोश नहीं आता? अपने देश की यह दुर्गत देखकर भी तुम कन्नौज में चैन की नींद सो सकते हो?"

देवल देवी को जगना के आने की ख़बर हुई। उसने फ़ौरन आल्हा को बुलाकर कहा—"बेटा, पिछली बातें भूल जाओ और आज ही महोबे चलने की तैयारी करो।"

आल्हा कुछ जवाब न दे सका, मगर ऊदल झुँझलाकर बोला—"हम अब महोबे नहीं जा सकते। क्या तुम्हें वह दिन भूल गए जब हम कुत्तों की तरह महोबे से निकाल दिए गए? महोबा डूबे या रहे, हमारा जी उससे भर गया, अब उसको देखने की इच्छा नहीं है। अब कन्नौज ही हमारी मातृभूमि है।"

राजपूतनी बेटे की ज़बान से यह पाप की बात न सुन सकी, तैश में आकर बोली—"ऊदल, तुझे ऐसी बाते मुँह से निकालते हुए शर्म नहीं आती? काश! ईश्वर मुझे बाँझ ही रखता कि ऐसे बेटों की माँ न बनती। क्या इन्हीं बनाफर वंश के नाम पर कलंक लगाने वालों के लिए मैंने गर्भ की पीड़ा सही थी। नालायक़ो, मेरे सामने से दूर हो जाओ। मुझे अपना मुँह न दिखाओ। तुम जसराज के बेटे नहीं हो, तुम जिसकी रान से पैदा हुए हो, वह जसराज नहीं हो सकता।"

यह मर्मांतक चोट थी। शर्म से दोनों भाइयों के माथे पर पसीना आ गया। दोनों उठ खड़े हुए और बोले—"माता, अब बस करो, हम ज़्यादा नहीं सुन सकते, हम आज ही महोबे जाएँगे और राजा परमाल की ख़िदमत में अपना ख़ून बहाएँगे। हम रणक्षेत्र में अपनी तलवारों की चमक से अपने बाप का नाम रोशन करेंगे। हम चौहान के मुक़ाबिले में अपनी बहादुरी के जौहर दिखाएँगे और देवल देवी के बेटों का नाम अमर कर देंगे।"

7

दोनों भाई कन्नौज से चले, देवल भी साथ थी। जब यह रूठनेवाले अपनी मातृभूमि में पहुँचे तो सूखे धानों में पानी पड़ गया, टूटी हुई हिम्मतें बँध गईं। एक लाख चंदेल इन वीरों की अगवानी करने के लिए खड़े थे। बहुत दिनों के बाद वह अपनी मातृभूमि से बिछुड़े हुए इन दोनों भाइयों से मिले। आँखों ने ख़ुशी के आँसू बहाए। राजा परमाल उनके आने की ख़बर पाते ही कीरत सागर तक पैदल आया। आल्हा और ऊदल दौड़कर उसके पाँव से लिपट गए। तीनों की आँखों से पानी बरसा और सारा मनमुटाव धुल गया।

दुश्मन सर पर खड़ा था, ज़्यादा आतिथ्य-सत्कार का मौक़ा न था। वहीं कीरत सागर के किनारे देश के नेताओं और दरबार के कर्मचारियों की राय से आल्हा फ़ौज का सेनापति बनाया गया। वहीं मरने-मारने के लिए सौगंधें खाई गईं। वहीं बहादुरों ने कसमें खाईं कि मैदान से हटेंगे तो मरकर हटेंगे। वहीं लोग एक दूसरे के गले मिले

और अपनी क़िस्मतों का फ़ैसला करने चले। आज किसी की आँखों में और चेहरे पर उदासी के चिह्न न थे। औरतें हँस-हँसकर अपने प्यारों को विदा करती थीं, मर्द हँस-हँसकर स्त्रियों से अलग होते थे, क्योंकि यह आख़िरी बाज़ी है, इसे जीतना ज़िंदगी और हारना मौत है।

उस जगह के पास जहाँ अब और कोई क़स्बा आबाद है, दोनों फ़ौजों का मुक़ाबला हुआ और अठारह दिन तक मारकाट का बाज़ार गर्म रहा। ख़ूब घमासान लड़ाई हुई। पृथ्वीराज खुद लड़ाई में शरीक था। दोनों दल दिल खोलकर लड़े। वीरों ने ख़ूब अरमान निकाले और दोनों तरफ़ की फ़ौजें वहीं कट मरीं। तीन लाख आदमियों में सिर्फ़ तीन आदमी ज़िंदा बचे—एक पृथ्वीराज, दूसरा चंदा भाट, तीसरा आल्हा। ऐसी भयानक, अटल और निर्णायक लड़ाई शायद ही किसी देश और किसी युग में हुई हो। दोनों ही हारे और दोनों ही जीते। चंदेल और चौहान हमेशा के लिए ख़ाक में मिल गए, क्योंकि थानेसर की लड़ाई का फ़ैसला भी इसी मैदान में हो गया। चौहानों में जितने अनुभवी सिपाही थे, वह सब औरई में काम आए। शहाबुद्दीन से मुक़ाबिला पड़ा तो नौसिखिए, अनुभवहीन सिपाही मैदान में लाए गए और नतीजा वही हुआ जो हो सकता है। आल्हा का कुछ पता न चला कि कहाँ गया। कहीं शर्म से डूब मरा या साधु हो गया।

जनता में अब तक यही विश्वास है कि ज़िंदा है। लोग कहते हैं कि वह अमर हो गया। यह बिलकुल ठीक है, क्योंकि आल्हा सचमुच अमर है और वह कभी मिट नहीं सकता, उसका नाम हमेशा क़ायम रहेगा।

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जनवरी, 1912*)
(*'गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत*)

WORLD KONK.. II CENTRE ... पुस्तकालय

ममता

1

बाबू रामरक्षा दास दिल्ली के एक ऐश्वर्यशाली खत्री थे, बहुत ही ठाट-बाट से रहने वाले। बड़े-बड़े अमीर उनके यहाँ नित्य आते-जाते थे। वे आए हुओं का आदर-सत्कार ऐसे अच्छे ढंग से करते थे कि इस बात की सारे महल में धूम थी। नित्य उनके दरवाज़े पर किसी-न-किसी बहाने से इष्ट-मित्र एकत्रित हो जाते। टेनिस खेलते, ताश उड़ता, हारमोनिम के मधुर स्वरों से जी बहलाते, चाय-पानी से हृदय प्रफुल्लित करते और अपने उदारशील मित्र के सद्व्यवहार की प्रशंसा करते। बाबू साहब दिन-भर में जितने रंग बदलते उस पर 'पेरिस' की 'परियों' को भी ईर्ष्या हो सकती थी। कई बैंकों में उनके हिस्से थे। कई दुकानें थीं, किंतु बाबू साहब को इतना अवकाश न था कि उनकी कुछ देखभाल करते। अतिथि-सत्कार एक पवित्र धर्म्म है। वे सच्ची देशहितैषिता के उमंग से कहा करते थे–"अतिथि-सत्कार आदिकाल से भारतवर्ष के निवासियों का एक प्रधान और सराहनीय गुण है। अभ्यागतों का आदर-सम्मान करने में हम अद्वितीय है। हम इसी से संसार में मनुष्य कहलाने योग्य हैं। हम सब कुछ खो बैठे हैं, किंतु जिस दिन हम में यह गुण शेष न रहेगा, वह दिन हिंदू जाति के लिए लज्जा, अपमान और मृत्यु का दिन होगा।"

मिस्टर रामरक्षा जातीय आवश्यकताओं से भी बेपरवाह न थे। वे सामाजिक और राजनैतिक कार्य्यों में पूर्ण रूप से योग देते थे। यहाँ तक कि प्रतिवर्ष दो, बल्कि कभी-कभी तीन वक्तृताएँ अवश्य तैयार कर लेते। भाषणों की भाषा अत्यंत उपयुक्त, ओजस्विनी और सर्वांग सुंदर होती थी। उपस्थित जन और इष्ट-मित्र उनके एक-एक शब्द पर प्रशंसासूचक शब्दों की ध्वनि प्रकट करते, तालियाँ बजाते, यहाँ तक कि बाबू साहब को व्याख्यान का क्रम स्थिर रखना कठिन हो जाता। व्याख्यान समाप्त होने पर उनके मित्र उन्हें गोद में उठा लेते और आश्चर्यचकित होकर कहते–तेरी भाषा में जादू है। इससे अधिक और क्या चाहिए? जाति की ऐसी अमूल्य सेवा कोई छोटी बात नहीं है। नीची जातियों के सुधार के लिए दिल्ली में एक सोसायटी थी। बाबू साहब उसके सेक्रेटरी थे और इस कार्य्य को असाधारण उत्साह से पूर्ण करते थे। जब उनका बूढ़ा

कहार बीमार हुआ और क्रिश्चियन मिशन के डॉक्टरों ने उसकी सुश्रूषा की, जब उसकी विधवा स्त्री ने निर्वाह की कोई आशा न देखकर क्रिश्चियन-समाज का आश्रय लिया, तब इन दोनों अवसरों पर बाबू साहब ने शोक के रेज्यूलेशन पास किए। संसार जानता है कि सेक्रेटरी का काम सभाएँ करना और रेज्यूलेशन बनाना है। इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता।

मिस्टर रामरक्षा का जातीय उत्साह यहीं तक सीमाबद्ध न था। वे सामाजिक कुप्रयोगों तथा अंधविश्वास के प्रबल शत्रु थे। होली के दिनों में जबकि महल्ले के चमार और कहार शराब से मतवाले होकर फाग गाते और डफ़ बजाते हुए निकलते तो उन्हें बड़ा शोक होता। जाति की इस मूर्खता पर उनकी आँखों में आँसू भर आते, और वे प्रायः इस कुरीति का निवारण अपने हंटर से किया करते। उनके हंटर में, जातिहितैषिता की उमंग उनकी वक्तृता से भी अधिक थी। यह उन्हीं के प्रशंसनीय प्रयत्न थे, जिन्होंने मुख्य होली के दिन दिल्ली में हलचल मचा दी, फाग गाने के अपराध में हज़ारों आदमी पुलिस के पंजे में आ गए। सैकड़ों घरों में मुख्य होली के दिन मुहर्रम का-सा शोक फैल गया। इधर उनके दरवाज़े पर हज़ारों पुरुष, स्त्रियाँ अपना दुखड़ा रो रही थीं। इधर बाबू साहब के हितैषी मित्रगण उनकी इस उच्च और निस्पृह समाज-सेवा पर हार्दिक धन्यवाद दे रहे थे। सारांश यह कि बाबू साहब का यह जातीय-प्रेम और उद्योग, केवल बनावटी, सहृदयता-शून्य, तथा फ़ैशनेविल था। हाँ! यदि उन्होंने किसी सदुद्योग में भाग लिया था तो वह सम्मिलित कुटुम्ब का विरोध था। अपने पिता के देहांत के पश्चात् वे अपनी विधवा माँ से अलग हो गए थे। इस जातीय-सेवा में उनकी स्त्री विशेष सहायक थी। विधवा माँ अपने बेटे और वहू के साथ नहीं रह सकती। इससे बहू की स्वाधीनता में विघ्न पड़ता है, और स्वाधीनता में विघ्न पड़ने से मन दुर्बल और मस्तिष्क शक्तिहीन हो जाता है। वहू को जलाना और कुढ़ाना सास की आदत है। इसलिए बाबू रामरक्षा अपनी माँ से अलग हो गए। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने मातृ-ऋण का विचार करके दस हज़ार रुपए अपनी माँ के नाम जमा कर दिए कि उसके ब्याज से उसका निर्वाह होता रहे, किंतु बेटे के इस उत्तम आचरण पर माँ का दिल ऐसा टूटा कि वह दिल्ली छोड़कर अयोध्या जा रहीं। तवसे वहीं रहती हैं। बावू साहब कभी-कभी मिसेज़ रामरक्षा से छिपाकर उनसे मिलने अयोध्या जाया करते थे, किंतु वह दिल्ली आने का कभी नाम न लेतीं। हाँ, यदि कुशल-क्षेम की चिट्ठी पहुँचने में कुछ दे हो जाती तो विवश होकर समाचार पूछ लेती थीं।

2

उसी महल्ले में एक सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनका लाखों का लेन-देन था। वे हीरे और रत्नों का व्यापार करते थे। बाबू रामरक्षा के, दूर के नाते में, साढ़ू होते थे। पुराने

ढंग के आदमी थे–प्रातःकाल यमुना-स्नान करने वाले, गाय को अपने हाथों से झाड़ने पोंछने वाले। उनसे मिस्टर रामरक्षा का स्वभाव न मिलता था, परंतु जब कभी रुपयों की आवश्यकता होती तो वे सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बेखटके मँगा लिया करते। आपस का मामला था, केवल चार अंगुल के पत्र पर रुपया मिल जाता था, न कोई दस्तावेज़, न स्टांप न साक्षियों की आवश्यकता। मोटरकार के लिए 10 हज़ार की आवश्यकता हुई। वह वहाँ से आया। घुड़दौड़ के लिए एक आस्ट्रेलियन घोड़ा डेढ़ हज़ार में लिया। उसके लिए भी रुपया सेठजी के यहाँ से आया। धीरे-धीरे कोई बीस हज़ार का मामला हो गया। सेठजी सरल हृदय के आदमी थे। समझते थे कि उसके पास दुकानें हैं। बैंकों में रुपया है। जब जी चाहेगा रुपया वसूल कर लेंगे, किंतु जब दो-तीन वर्ष व्यतीत हो गए और सेठजी के तकाजों की अपेक्षा मिस्टर रामरक्षा की माँग ही का आधिक्य रहा, तो गिरधारीलाल को संदेह हुआ। वह एक दिन रामरक्षा के मकान पर आए और सभ्य भाव से बोले–"भाईसाहब, मुझे एक हुंडी का रुपया देना है, यदि आप मेरा हिसाब कर दें तो बहुत अच्छा हो।" यह कहकर हिसाब का काग़ज़ और उनके पत्र दिखलाए। मिस्टर रामरक्षा किसी गार्डन पार्टी में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे। बोले–"इस समय क्षमा कीजिए। फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है।"

गिरधारीलाल को बाबू साहब की रुखाई पर क्रोध आ गया। वे रूष्ट होकर बोले–"आपको जल्दी नहीं है, मुझे तो है। दो सौ रुपए मासिक की मेरी हानि हो रही है।" मिस्टर रामरक्षा ने असंतोष प्रगट करते हुए घड़ी देखी। पार्टी का समय अब बहुत क़रीब था। वे बहुत विनीत भाव से बोले–"भाई साहब, मैं बड़ी जल्दी में हूँ। इस समय मेरे ऊपर कृपा कीजिए। मैं कल स्वयं उपस्थित हूँगा।"

सेठजी एक माननीय और धनसम्पन्न आदमी थे। वे रामरक्षा के इस कुरुचिपूर्ण व्यवहार पर जल गए। मैं इनका महाजन, इनसे धन में, मान में, ऐश्वर्य में, बढ़ा हुआ। चाहूँ तो ऐसों को नौकर रख लूँ। इनके दरवाज़े पर आऊँ, और आदर-सत्कार की जगह उल्टे ऐसा रूखा वर्ताव। वह हाथ बाँधे मेरे सामने न खड़ा रहे, किंतु क्या मैं पान-इलायची, इत्र आदि से भी सम्मान करने के योग्य नहीं? वे तुनक कर बोले–"अच्छा तो कल हिसाब साफ़ हो जाए।"

रामरक्षा ने अकड़कर उत्तर दिया–"हो जाएगा।"

रामरक्षा के गौरवशील हृदय पर सेठजी के इस बर्ताव का प्रभाव कुछ कम खेदजनक न हुआ। इस काठ के कुंदे ने आज मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी। वह मेरा अपमान कर गया। अच्छा तुम भी इसी दिल्ली में रहते हो और हम भी यहीं हैं। निदान दोनों में गाँठ पड़ गई। बाबू साहब की तबीअत ऐसी गिरी और हृदय में ऐसी चिंता उत्पन्न हुई कि पार्टी में जाने का ध्यान जाता रहा। वे देर तक इसी उलझन में पड़े रहे। फिर सूट उतार दिया, और सेवक से बोले–"जा मुनीम जी को बुला ला।" मुनीमजी आए। उनका हिसाब देखा गया, फिर बैंकों का एकाउंट देखा, किंतु ज्यों-ज्यों इस घाटी

में उतरते गए, त्यों-त्यों अँधेरा बढ़ता गया। बहुत कुछ टटोला, कुछ हाथ न आया। अंत में निराश होकर वे आरामकुर्सी पर पड़ गए और उन्होंने एक ठंडी साँस ले ली। दुकानों का माल बिका, किंतु रुपया बकाया में पड़ा हुआ था। कई ग्राहकों की दुकानें टूट गई और उन पर जो नक़द रुपया आया, वह डूब गया। कलकत्ते के आढ़तियों से जो माल मँगाया था, रुपए चुकाने की तिथि सिर पर आ पहुँची और यहाँ रुपया वसूल न हुआ। दुकानों का यह हाल, बैंकों का इससे भी बुरा। रात-भर वे इन्हीं चिंताओं में करवटें बदलते रहे। अब क्या करना चाहिए। गिरधारी लाल सज्जन पुरुष है। यदि सारा कच्चा हाल सुना दूँ तो अवश्य मान जाएगा, किंतु यह कष्टप्रद कार्य्य होगा कैसे? ज्यों-ज्यों प्रातःकाल समीप आता था, त्यों त्यों उनका दिल बैठा जाता था। कच्चे विद्यार्थी की जो दशा परीक्षा के सन्निकट आने पर होती है, वही हाल इस समय रामरक्षा का था। वे पलंग से न उठे। मुँह-हाथ भी न धोया, खाने की कौन कहे। इतना जानते थे कि दुःख पड़ने पर कोई किसी का साथी नहीं होता। इसलिए एक आपत्ति से बचने के लिए कहीं कई आपत्तियों का बोझा न उठाना पड़े। मित्रों को इन मामलों की ख़बर तक न दी। जब दोपहर हो गई और उनकी दशा ज्यों-की-त्यों रही तो उनका छोटा लड़का बुलाने आया। उसने बाप का हाथ पकड़ कर कहा–"लालाजी, आज काने क्यों नहीं तलते।"

रामरक्षा–"भूख नहीं है।"

"क्या काया है?"

"मन की मिठाई।"

"और क्या काया है?"

"मार।"

"किचने मारा?"

"गिरधारीलाल ने।"

लड़का रोता हुआ घर में गया और इस मार की चोट से देर तक रोता रहा। अंत में तश्तरी में रक्खी हुई दूध की मलाई ने उसकी इस चोट पर मरहम का काम दिया।

3

रोगी को जब जीने की आस नहीं रहती तो औषधि छोड़ देता है। मि. रामरक्षा जब इस गुत्थी को न सुलझा सके, तो चादर तान ली और मुँह लपेट कर सो रहे। शाम को एकाएक उठकर सेठजी के यहाँ जा पहुँचे और कुछ असावधानी से बोले–"महाशय, मैं आपका हिसाब नहीं कर सकता।"

सेठजी घबराकर बोले–"क्यों?"

रामरक्षा—"इसलिए कि मैं इस समय दरिद्र निहंग हूँ। मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। आप अपना रुपया जैसे चाहे बसूल कर लें।"

सेठ—"यह आप कैसी बाते कहते हैं?"

रामरक्षा—"बहुत सच्ची।"

सेठ—"दुकानें नहीं हैं।"

रामरक्षा—"दूकानें आप मुफ़्त ले जाइए।"

सेठ—"बैंक के हिस्से?"

रामरक्षा—"वह कब के उड़ गए।"

सेठ—"जब यह हाल था तो आपको उचित नहीं था कि मेरे गले पर छुरी फेरते।"

रामरक्षा—(अभिमान से) "मैं आपके यहाँ उपदेश सुनने के लिए नहीं आया हूँ।"

यह कहकर मि. रामरक्षा वहाँ से चल दिए। सेठजी ने तुरंत नालिश कर दी। बीस हज़ार मूल, पाँच हज़ार ब्याज, डिगरी हो गई। मकान नीलाम पर चढ़ा। पंद्रह हज़ार की ज़ायदाद पाँच हज़ार में निकल गई। दस हज़ार का मोटर चार हज़ार में बिका। सारी सम्पत्ति उड़ जाने पर कुल मिलाकर सोलह हज़ार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गई, तब भी दस हज़ार के ऋणी रह गए। मान-बड़ाई धन-दौलत सब मिट्टी में मिल गए। बहुत तेज़ दौड़नेवाला मनुष्य प्रायः मुँह के बल गिर पड़ता है।

4

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् दिल्ली म्यूनिसिपैल्टी के मेम्बरों का चुनाव आरंभ हुआ। इस पद के अभिलाषी वोटरों की पूजाएँ करने लगे, दलालों के भाग्य उदय हुए। सम्मतियाँ मोतियों के तौल बिकने लगीं। उम्मेदवार मेम्बरों के सहायक अपने-अपने मुवक्किल के गुणगान करने लगे। चारों ओर चहल-पहल मच गई। एक वकील महाशय ने भरी सभा में अपने मुवक्किल साहब के विषय में कहा—

"मैं जिस बुजुर्ग का पैरोकार हूँ, वह कोई मामूली आदमी नहीं है। यह वह शख्स है, जिसने अपने फ़रज़ंद अकबर की शादी में 25 हज़ार रुपया सिर्फ़ रक्स व सरूर में सर्फ़ कर दिया था।"

उपस्थित जनों में प्रशंसा की उच्च ध्वनि हुई।

एक-दूसरे महाशय ने अपने मुहाल के वोटरों के सम्मुख अपने मुवक्किल की प्रशंसा यों की—

"मैं यह नहीं कहता कि आप सेठ गिरधारीलाल को अपना मेम्बर बनाइए। आप अपना भला बुरा स्वयं समझते हैं और यह भी नहीं है कि सेठजी मेरे द्वारा अपनी प्रशंसा के भूखे हों। मेरा निवेदन केवल यही है कि आप जिसे मेंबर बनाएँ, पहले उसके गुण-दोषों का भली भाँति परिचय ले लें। दिल्ली में केवल एक मनुष्य है, जो गत 10 वर्षों से आपकी सेवा कर रहा है। केवल एक आदमी है कि जिसने पानी पहुँचाने और स्वच्छता के प्रबंधों में हार्दिक धर्म-भाव से सहायता की है। केवल एक पुरुष है, जिसको श्रीमान् वायसराय के दरबार में कुर्सी पर बैठनें का अधिकार प्राप्त है और आप सब महाशय उसे जानते हैं।"

उपस्थित जनों ने तालियाँ बजाईं।

सेठ गिरधारीलाल के महल्ले में उनके एक प्रतिवादी थे। नाम था मुंशी फ़ैज़ुल रहमान खाँ। बड़े ज़मींदार और प्रसिद्ध वकील थे। बाबू रामरक्षा ने अपनी दृढ़ता, साहस, बुद्धिमत्ता, और मृदु भाषण से मुंशी जी साहब की सेवा करनी आरंभ की। सेठजी को परास्त करने का यह अपूर्व अवसर हाथ आया। वे रात और दिन इसी धुन में रहते। उनकी मीठी और रोचक बातों का प्रभाव उपस्थित जनों पर बहुत ही अच्छा पड़ता। एक बार आपने असाधारण श्रद्धा की उमंग में आकर कहा—"मैं डंके की चोट कहता हूँ कि मुंशी फ़ैज़ुल रहमान से अधिक योग्य आदमी आप को दिल्ली में न मिल सकेगा। यह वह आदमी है, जिसकी ग़ज़लों पर कविजनों में वाह-वाह मच जाती है। ऐसे श्रेष्ठ आदमी की सहायता करना मैं अपना जातीय और सामाजिक धर्म्म समझता हूँ। अत्यंत शोक का विषय है कि बहुत से लोग इस जातीय और पवित्र काम को व्यक्तिगत लाभ का साधन बनाते हैं। धन और वस्तु है, श्रीमान् वायसराय के दरबार में प्रतिष्ठित होना और वस्तु। किंतु सामाजिक सेवा, जातीय चाकरी और ही चीज़ है। और वह मनुष्य जिसका जीवन व्याज प्राप्ति, बेईमानी, कठोरता तथा निर्दयता और सुखविलास में व्यतीत होता हो, वह इस सेवा के योग्य कदापि नहीं है।"

5

सेठ गिरधारीलाल इस अन्योक्ति-पूर्ण भाषण का हाल सुनकर क्रोध से आग हो गए। मैं बेईमान हूँ। व्याज का धन खानेवाला हूँ। विषयी हूँ। कुशल हुई जो तुमने मेरा नाम नहीं लिया, किंतु अब भी तुम मेरे हाथ में हो, मैं अब भी तुम्हें जिस तरह चाहूँ नचा सकता हूँ। ख़ुशामदियों ने आग पर तेल डाला। इधर रामरक्षा अपने काम में तत्पर रहे। यहाँ तक कि वोटिंग डे आ पहुँचा। मिस्टर रामरक्षा को अपने उद्योग में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। आज वे बहुत प्रसन्न थे। आज गिरधारीलाल को नीचा दिखाऊँगा। आज उसको जान पड़ेगा कि धन संसार के सब पदार्थों को इकट्ठा नहीं कर सकता। जिस समय फ़ैज़ुल रहमान के वोट अधिक निकलेंगे और मैं तालियाँ

बजाऊँगा, उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जाएगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद फिर मुझे मुँह न दिखा सके। इन्हीं विचारों में मग्न रामरक्षा शाम को टाउन-हाल में पहुँचे। उपस्थित सभ्यों ने बड़ी उमंग के साथ उनका स्वागत किया। थोड़ी देर बाद 'वोटिंग' आरंभ हुआ। मेंबरी मिलने की आशा रखनेवाले महानुभाव अपने-अपने भाग्य का अंतिम फल सुनने के लिए आतुर हो रहे थे। छः बजे चेयरमैन ने फ़ैसला सुनाया। सेठजी की हार हो गई। फ़ैजुल रहमान ने मैदान मार लिया। रामरक्षा ने हर्ष के आवेग में टोपी हवा में उछाल दी और वे स्वयं भी कई बार उछल पड़े। महल वालों को अचंभा हुआ। चाँदनी चौक से सेठजी को हटाना मेरु को स्थान से उखाड़ना था। सेठजी के चेहरे से रामरक्षा को जितनी आशाएँ थीं, वे सब पूरी हो गईं। उनका रंग फीका पड़ गया था। वे खेद और लज्जा की मूर्ति बने हुए थे। एक वकील साहब ने उनसे सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा–"सेठजी, मुझे आपकी हार का बहुत बड़ा शोक है। मैं जानता कि यहाँ ख़ुशी के बदले रंज होगा तो कभी यहाँ न आता। मैं तो केवल आपके ख़याल से यहाँ आया था।" सेठजी ने बहुत रोकना चाहा, परंतु आँखों में आँसू डबडबा ही गए। वे निस्पृह बनने का व्यर्थ प्रयत्न करके बोले–"वक़ील साहब, मुझे इसकी कुछ चिंता नहीं। कौन रियासत निकल गई। व्यर्थ उलझन, चिंता तथा झंझट रहती थी। चलो अच्छा हुआ। गला छूटा। अपने काम में हरज होता था। सत्य कहता हूँ, मुझे तो हृदय से प्रसन्नता ही हुई। यह काम तो बेकाम वालों के लिए है। घर न बैठे रहे, यही बेगार की। मेरी मूर्खता थी कि मैं इतने दिनों तक आँखें बंद किए बैठा रहा।" परंतु सेठजी की मुखाकृति ने इन विचारों का प्रमाण न दिया। मुखमंडल हृदय का दर्पण है, इसका निश्चय अलबत्ता हो गया।

किंतु बाबू रामरक्षा बहुत देर तक इस आनंद का मज़ा न लूटने पाए और न सेठजी को बदला लेने के लिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। सभा विसर्जित होते ही जब बाबू रामरक्षा सफलता के उमंग में ऐंड़ते, मोंछ पर ताव देते और चारों ओर गर्व की दृष्टि डालते हुए बाहर आए, तो दीवानी के तीन सिपाहियों ने आगे बढ़कर उन्हें गिरफ़्तारी का वारंट दिखा दिया। अब की बाबू रामरक्षा के चेहरे का रंग उतर जाने की, और सेठजी के इस मनोवांछित दृश्य से आनंद उठाने की बारी थी। गिरधारीलाल ने आनंद के उमंग में तालियाँ तो न बजाईं, परंतु मुसकुरा कर मुँह फेर लिया। रंग में भंग पड़ गया।

आज इस विजय के उपलक्ष्य में मुंशी फ़ैजुल रहमान ने पहले ही से एक बड़े समारोह से गार्डन पार्टी की तैयारियाँ की थीं। मिस्टर रामरक्षा इसके प्रबंधकर्ता थे। आज की 'आफ्टर डिनर' स्पीच उन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार की थी, किंतु इस वारंट ने सारी कामनाओं का सत्यानाश कर दिया। यों तो बाबू साहब के मित्रों में ऐसा कोई

भी न था जो 10 हज़ार रुपए की ज़मानत दे देता, अदा कर देने का तो ज़िक्र ही क्या, किंतु कदाचित् ऐसा होता भी तो, सेठजी अपने को भाग्यहीन समझते। दस हज़ार रुपया और म्यूनिसपैलिटी की प्रतिष्ठित मेम्बरी खोकर उन्हें इस समय यह हर्ष प्राप्त हुआ था।

मिस्टर रामरक्षा के घर पर ज्यों ही यह ख़बर पहुँची, कुहराम मच गया। उनकी स्त्री पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब कुछ होश में आई तो रोने लगी और रोने से छुट्टी मिली तो उसने गिरधारीलाल को कोसना आरंभ किया। देवी-देवता मनाने लगी। उन्हें रिश्वतें देने पर तैयार हुई कि वे गिरधारीलाल को किसी प्रकार निगल जाएँ। इस बड़े भारी काम में वह गंगा और यमुना से सहायता माँग रही थी, प्लेग और विसूचिका की ख़ुशामदें कर रही थी, कि ये दोनों मिलकर इस गिरधारीलाल को हड़प ले जाएँ, किंतु गिरधारीलाल का कोई दोष नहीं। दोष तुम्हारा है। बहुत अच्छा हुआ। तुम इसी पूजा के देवता थे। क्या अब दावतें न खिलाओगे? मैंने तुम्हें कितना समझाया, रोई, रूठी, बिगड़ी, किंतु तुमने एक न सुनी। गिरधारीलाल ने बहुत अच्छा किया। तुम्हें शिक्षा तो मिल गई, किंतु तुम्हारा भी दोष नहीं, यह सब आग मैंने लगाई है। मखमली स्लीपरों के बिना मेरे पाँव नहीं उठते थे। बिना जड़ाऊ कड़ों के मुझे नींद न आती थी। सेजगाड़ी मेरे ही लिए मँगवाई गई। अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए मेम साहबा को मैंने ही रक्खा। ये सब काँटे मैंने बोए ही हैं।

मिसेज रामरक्षा बहुत देर तक इन्हीं विचारों में डूबी रही। जब रात-भर करवटें बदलने के बाद वह सवेरे उठी तो उसके विचार चारों ओर से ठोकरें खाकर केवल एक ही केंद्र पर जम गए थे—"गिरधारीलाल बड़ा बदमाश है और घमंडी है। मेरा सब कुछ लेकर भी उसे संतोष नहीं हुआ। इतना भी उस निर्दयी क़साई से न देखा गया।" भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों ने मिलकर एक रूप धारण किया और क्रोधाग्नि को दहकाकर प्रबल कर दिया। ज्वालामुखी शीशे में जब सूर्य्य की किरणें एकत्र होती हैं तब अग्नि प्रकट हो जाती है। इस स्त्री के हृदय में रह-रहकर क्रोध की एक असाधारण लहर उत्पन्न होती थी। बच्चे ने मिठाई के लिए हठ की। इस पर बरस पड़ी। महरी ने चौका बरतन करके चूल्हे में आग जला दी। उसके पीछे पड़ गई। मैं तो अपने दुःखों को रो रही हूँ, इस चुड़ैल को रोटियों की धुन सवार है। निदान 9 बजे उससे न रहा गया। उसने यह पत्र लिखकर अपने हृदय की ज्वाला ठंडी की—

"सेठजी, तुम्हें अब अपने धन के घमंड ने अंधा कर दिया है, किंतु किसी का घमंड इसी तरह सदा नहीं रह सकता। कभी-न-कभी सिर अवश्य नीचा होता है। अफ़सोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद न थी; नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर देती। तुम धन के मद में भूले हुए हो। मैं उसी दम तुम्हारा नशा उतार देती। एक स्त्री के हाथों अपमानित होकर तुम

फिर किसी को मुँह दिखाने लायक़ न रहते। अच्छा इसका बदला तुम्हें किसी-न-किसी तरह ज़रूर मिल जाएगा। मेरा कलेजा उस दिन ठंडा होगा जब तुम्हारे कुल का नाम मिट जाएगा और तुम्हारा निर्वंश हो जाएगा।"

सेठजी ने यह फटकार पढ़ी तो वे क्रोध से आग हो गए। यद्यपि क्षुद्र हृदय के मनुष्य न थे; परंतु क्रोध के आवेग में सौजन्य का चिह्न भी शेष नहीं रहता। यह ध्यान न रहा कि यह एक दुःखिनी अबला की क्रंदन ध्वनि है। एक सताई हुई स्त्री का मानसिक विकार है। उसकी धनहीनता और विवशता पर उन्हें तनिक भी दया न आई। वे मरे हुए को मारने के उपाय सोचने लगे।

6

इसके तीसरे दिन सेठ गिरधारीलाल पूजा के आसन पर बैठे हुए थे कि महरा ने आकर कहा—"सरकार, कोई स्त्री आपसे मिलने आई है।" सेठजी ने पूछा—"कौन स्त्री है?" महरा ने कहा—"सरकार मुझे क्या मालूम। लेकिन है कोई भली मानुस। रेशमी साड़ी पहने हुए है। हाथों में सोने के कड़े हैं। पैरों में टाट के स्लीपर। बड़े घर की स्त्री जान पड़ती है।"

यों साधारणतः सेठजी पूजा के समय किसी से नहीं मिलते थे। चाहे कैसा ही आवश्यक काम क्यों न हो, ईश्वरोपासना में सामयिक बाधाओं को घुसने नहीं देते थे, किंतु ऐसी दशा में जब कि बड़े घर की स्त्री मिलने के लिए आवे, तो थोड़ी-सी देर के लिए पूजा में विलंब करना निंदनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसा विचार करके वे नौकर से बोले—"उन्हें बुला लाओ।"

जब वह स्त्री आई तो सेठजी स्वागत के लिए उठकर खड़े हो गए। तत्पश्चात् अत्यंत कोमल वचनों से कारुणिक शब्दों में बोले—"माता, कहाँ से आना हुआ?" और जब यह उत्तर मिला कि वह आयोध्या से आई है, तो आपने उसे फिर से दंडवत की, और चीनी तथा मिश्री से भी अधिक मधुर और नवनीत से अधिक चिकने शब्दों में कहा—"अच्छा! आप श्रीअयोध्याजी से आ रही हैं! उस नगरी का क्या कहना। देवताओं की पुरी है। बड़े भाग थे कि आपके दर्शन हुए। यहाँ आपका आगमन कैसे हुआ?" स्त्री ने उत्तर दिया—"घर तो मेरा यहीं है।" सेठजी का मुख पुनः मधुरता का चित्र बना। वे बोले—"अच्छा तो मकान आपका इसी शहर में है? तो आपने माया-जंजाल को त्याग दिया? यह तो मैं पहले ही समझ गया था। ऐसी पवित्र आत्माएँ संसार में बहुत थोड़ी हैं। ऐसी देवियों के दर्शन दुर्लभ होते हैं। आपने मुझे दर्शन दिए, बड़ी कृपा की। मैं इस योग्य नहीं जो आप जैसी विदुषियों की कुछ सेवा कर सकूँ, किंतु जो काम मेरे योग्य हो—जो कुछ मेरे किए हो सकता हो—उसके करने

के लिए मैं सब भाँति से तैयार हूँ। यहाँ सेठ-साहूकारों ने मुझे बहुत बदनाम कर रक्खा है। मैं सबकी आँखों में खटकता हूँ। उसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं कि जहाँ वे लोग लाभ पर ध्यान रखते हैं, वहाँ मैं भलाई पर ध्यान रखता हूँ। यदि कोई बड़ी अवस्था का वृद्ध मनुष्य मुझसे कुछ कहने-सुनने के लिए आता है, तो विश्वास मानो मुझसे उसका वचन टाला नहीं जाता। कुछ तो बुढ़ापे का विचार, कुछ उसके दिल टूट जाने का डर, कुछ यह ख़याल कि कहीं यह विश्वासघातियों के फंदे में न फँस जावे, मुझे उनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए विवश कर देता है। मेरा यह सिद्धांत है कि अच्छी जायदाद और कम ब्याज, किंतु इस प्रकार की बातें आपके सामने करना व्यर्थ है। आपसे तो घर का मामला है। मेरे योग्य जो कुछ कार्य्य हो इसके लिए मैं सिर-आँखों से तैयार हूँ।"

वृद्ध स्त्री—"मेरा काम आप ही से हो सकता है।"

सेठजी—(प्रसन्न होकर) "बहुत अच्छा, आज्ञा दो।"

स्त्री—"मैं आपके सामने भिखारिनी बनकर आई हूँ। आपको छोड़कर कोई मेरा सवाल पूरा नहीं कर सकता।"

सेठजी—"कहिए, कहिए।"

स्त्री—"आप रामरक्षा को छोड़ दीजिए।"

सेठजी के मुख का रंग उतर गया। सारे हवाई क़िले जो अभी-अभी तैयार हुए थे, गिर पड़े। वे बोले—"उसने मेरी बहुत हानि की है। उसका घमंड तोड़ डालूँगा, तब छोड़ूँगा।"

स्त्री—"तो क्या कुछ मेरे बुढ़ापे का, मेरे हाथ फैलाने का, कुछ अपनी बड़ाई का विचार न करोगे? बेटा, ममता बुरी होती है। संसार से नाता टूट जाए, धन जाए, धर्म्म जाए, किंतु लड़के का स्नेह हृदय से नहीं जाता। संयोग सब कुछ कर सकता है, किंतु बेटे का प्रेम माँ के हृदय से नहीं निकल सकता। इस पर हाकिम का, राजा का, यहाँ तक कि ईश्वर का भी बस नहीं है। तुम मुझ पर तरस खाओ। मेरे लड़के की जान छोड़ दो। तुम्हें बड़ा यश होगा। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हें आशीर्वाद देती रहूँगी।"

सेठजी का हृदय कुछ पसीजा। पत्थर की तह में पानी रहता है, किंतु तत्काल ही उन्हें मिसेज रामरक्षा के उस पत्र का ध्यान आ गया। वे बोले—"मुझे रामरक्षा से कोई उतनी शत्रुता नहीं थी। यदि उन्होंने मुझे न छेड़ा होता तो मैं न बोलता। आपके कहने से मैं अब भी उनका अपराध क्षमा कर सकता हूँ परंतु उनकी बीबी साहबा ने जो पत्र मेरे पास भेजा है, उसे देखकर शरीर में आग लग जाती है। दिखाऊँ आपको?" रामरक्षा की माँ ने पत्र लेकर पढ़ा तो उनकी आँखों में आँसू भर आए। वे बोलीं—"बेटा, उस स्त्री ने मुझे बहुत दुःख दिया है। उसने मुझे देश से निकाल दिया। उसका मिजाज और ज़बान उसके वश में नहीं, किंतु इस समय उसने जो गर्व दिखाया है, उसका तुम्हें

ख़याल नहीं करना चाहिए। तुम इसे भुला दो। तुम्हारा देश-देश में नाम हैं। यह नेकी तुम्हारे नाम को और भी फैला देगी। मैं तुमसे प्रण करती हूँ कि सारा समाचार रामरक्षा से लिखवाकर किसी अच्छे समाचार-पत्र में छपवा दूँगी। रामरक्षा मेरा कहना नहीं टालेगा। तुम्हारे इस उपकार को वह कभी न भूलेगा। जिस समय ये समाचार संवाद-पत्रों में छपेंगे, उस समय हज़ारों मनुष्यों को तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा होगी। सरकार में तुम्हारी बड़ाई होगी और मैं सच्चे हृदय से कहती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हें कोई न कोई पदवी मिल जाएगी। रामरक्षा की अंग्रेज़ों से बहुत मित्रता है, वे उसकी बात कभी न टालेंगे।"

सेठजी के हृदय में गुदगुदी पैदा हो गई। यदि इस व्यवहार से वह पवित्र और माननीय स्थान प्राप्त हो जाए, जिसके लिए हज़ारों खर्च किए, हज़ारों डालियाँ दीं, हज़ारों अनुनय-विनय किए, हज़ारों खुशामदें कीं, ख़ानसामों की झिड़कियाँ सहीं, बँगलों के चक्कर लगाए। अहा! इस सफलता के लिए ऐसे-ऐसे कई हज़ार मैं खर्च करता हूँ। निस्संदेह मुझे इस काम में रामरक्षा से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, किंतु इन विचारों को प्रगट करने से क्या लाभ? उन्होंने कहा–'माता, मुझे नाम नमूद की बहुत चाह नहीं है। बड़ों ने कहा है–"नेकी कर और दरिया में डाल।" मुझे तो आपकी बात का ख़याल है। पदवी मिले तो लेने से इंकार नहीं, न मिले तो उसकी तृष्णा भी नहीं। परंतु यह तो बताइए कि मेरे रुपयों का क्या प्रबंध होगा? आप को मालूम होगा कि मेरे दस हज़ार रुपए जाते हैं।"

रामरक्षा की माँ ने कहा–"तुम्हारे रुपयों की ज़मानत मैं करती हूँ। यह देखो बंगाल बैंक की पासबुक है। उसमें मेरा दस हज़ार रुपया जमा है। उस रुपए से तुम रामरक्षा को कोई व्यवसाय करा दो। तुम उस दुकान के मालिक रहोगे, रामरक्षा को उसका मैनेज़र बना देना। जब तक वह तुम्हारे कहे पर चले तब तक निभाना। नहीं तो दूकान तुम्हारी है। मुझे उसमें से कुछ नहीं चाहिए। मेरी खोज-ख़बर लेनेवाला ईश्वर है। रामरक्षा अच्छी तरह रहे, इससे अधिक मुझे और कुछ न चाहिए।" यह कहकर पासबुक सेठजी को दे दी। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठजी को विह्वल कर दिया। पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। ऐसे पवित्र दृश्य देखने के लिए जीवन में कम अवसर मिलते हैं। सेठजी के हृदय में परोपकार की एक लहर-सी उठी। उनकी आँखें डबडबा आईं। जिस प्रकार पानी के बहाव से कभी-कभी बाँध टूट जाता है, उसी प्रकार परोपकार की इस उमंग ने स्वार्थ और माया के बाँध को तोड़ दिया। वे पास-बुक वृद्धा स्त्री को वापस देकर बोले–"माता, यह अपनी किताब लो। मुझे अब अधिक लज्जित न करो। यह देखो रामरक्षा का नाम बही से उड़ा देता हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैंने अपना सब कुछ पा लिया। आज तुम्हारा रामरक्षा तुम को मिल जाएगा।"

× × ×

इस घटना के दो वर्ष उपरांत टाउन हाल में फिर एक बड़ा जलसा हुआ। बैंड बज रहा था। झंडियाँ और ध्वजाएँ वायुमंडल में लहरा रही थीं। नगर के सभी माननीय पुरुष उपस्थित थे। लैंडो, फिटन, और मोटरों से इहाता भरा हुआ था। एकाएक मुश्की घोड़ों की फिटन ने इहाते में प्रवेश किया। सेठ गिरधारीलाल बहुमूल्य वस्त्रों से सजे हुए उसमें से उतरे। उनके साथ एक फ़ैशनेबल नवयुवक अँगरेज़ी सूट पहने मुस्कुराता हुआ उतरा। ये मिस्टर रामरक्षा थे। वे अब सेठजी की एक ख़ास दूकान के मैनेज़र हैं। केवल मैनेज़र ही नहीं, किंतु उन्हें मैनेज़िंग प्रोप्राइटर समझना चाहिए। दिल्ली दरबार में सेठजी को भी राय बहादुर का पद मिला है। आज डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट नियमानुसार इसकी घोषणा करेंगे और नगर के माननीय पुरुषों की ओर से सेठजी को धन्यवाद देने के लिए यह बैठक हुई है। सेठजी की ओर से धन्यवाद का वक्तव्य मिस्टर रामरक्षा करेंगे। जिन लोगों ने उनकी वक्तृत्ताएँ सुनी हैं, वे बहुत उत्सुकता से उस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बैठक समाप्त होने पर जब सेठजी रामरक्षा के साथ अपने भवन पर पहुँचे तो मालूम हुआ कि आज वही वृद्धा फिर उनसे मिलने आई है। सेठजी दौड़कर रामरक्षा की माँ के चरणों से लिपट गए। उनका हृदय इस समय नद की भाँति उमड़ा हुआ था।

'रामरक्षा ऐंड फ्रेंड्स' चीनी बनाने का कारख़ाना बहुत उन्नति पर है। रामरक्षा अब भी उसी ठाटबाट से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, किंतु पार्टियाँ कम देते हैं और दिन-भर में तीन से अधिक सूट नहीं बदलते। वे अब उस पत्र को जो उनकी स्त्री ने सेठजी को लिखा था, संसार की एक बहुत बहुमूल्य वस्तु समझते हैं और मिसेज़ रामरक्षा को भी अब सेठजी के नाम मिटने की अधिक चाहना नहीं है, क्योंकि अभी हाल में जब उनके लड़का पैदा हुआ था तो मिसेज़ रामरक्षा ने अपना सुवर्ण कंकण धाय को उपहार दिया था और मनों मिठाई बाँटी थी।

यह सब हो गया, किंतु वह बात जो अब होनी थी, वह न हुई। रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या रहती है और अपनी पुत्रवधू की सूरत नहीं देखना चाहती।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका फ़रवरी, 1912)
('नव-निधि', हिंदी कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, दिसंबर, 1917 से प्रस्तुत)
('सप्त-सुमन', हिंदी कहानी-संग्रह,1930)
('मानसरोवर'- 5, 1946)

नसीहतों का दफ़्तर

1

बाबू अक्षयकुमार पटना के एक वकील थे और बड़े वकीलों में समझे जाते थे, यानी रायबहादुरी के क़रीब पहुँच चुके थे। जैसा कि अक्सर बड़े आदमियों के बारे में मशहूर है, इन बाबू साहब का लड़कपन भी बहुत ग़रीबी में बीता था। माँ-बाप जब अपने शैतान लड़कों को डाँटते-डपटते तो बाबू अक्षयकुमार का नाम मिसाल के तौर पर पेश किया जाता था—अक्षय बाबू को देखो, आज दरवाज़े पर हाथी झूमता है, कल पढ़ने को तेल नहीं मयस्सर होता था, पुआल जलाकर उसकी आँच में पढ़ते, सड़क की लालटेनों की रोशनी में सबक़ याद करते। विद्या इस तरह आती है। कोई-कोई कल्पनाशील व्यक्ति इस बात के भी साक्षी थे कि उन्होंने अक्षय बाबू को जुगनू की रोशनी में पढ़ते देखा है। जुगनू की दमक या पुआल की आँच में स्थायी प्रकाश हो सकता है, इसका फ़ैसला सुनने वालों की अक़्ल पर था। कहने का आशय यह कि अक्षयकुमार का बचपन का ज़माना बहुत ईर्ष्या करने योग्य न था और न वकालत का ज़माना खुशनसीबियों की वह बाढ़ अपने साथ लाया, जिसकी उम्मीद थी। बाढ़ का ज़िक्र ही क्या, बरसों तक अकाल की सूरत थी। यह आशा कि सियाह गाउन कामधेनु साबित होगा और दुनिया की सारी नेमतें उसके सामने हाथ बाँधे खड़ी रहेंगी, झूठ निकली। काला गाउन काले नसीब को रोशन न कर सका। अच्छे दिनों के इंतज़ार में बहुत दिन गुज़र गए और आख़िरकार जब अच्छे दिन आए, जब गार्डन पार्टियों में शरीक होने की दावतें आने लगीं, जब वह आम जलसों में सभापति की कुर्सी पर शोभायमान होने लगे तो जवानी विदा हो चुकी थी और बालों को खिज़ाब की ज़रूरत महसूस होने लगी थी। ख़ासकर इस कारण से कि सुंदर और हँसमुख हेमवती की ख़ातिरदारी ज़रूरी थी जिसके शुभ आगमन ने बाबू अक्षयकुमार के जीवन की अंतिम आकांक्षा को पूरा कर दिया था।

2

जिस तरह दानशीलता मनुष्य के दुर्गुणों को छिपा लेती है उसी तरह कृपणता उसके सद्गुणों पर पर्दा डाल देती है। कंजूस आदमी के दुश्मन सब होते हैं, दोस्त कोई नहीं होता। हर व्यक्ति को उससे नफ़रत होती है। वह ग़रीब किसी को नुक़सान नहीं पहुँचाता, आमतौर पर वह बहुत ही शांतिप्रिय, गंभीर, सबसे मिलजुल कर रहने वाला और स्वाभिमानी व्यक्ति होता है, मगर कंजूसी काला रंग है जिस पर दूसरा कोई रंग, चाहे कितना ही चटख क्यों न हो, नहीं चढ़ सकता। बाबू अक्षयकुमार भी कंजूस मशहूर थे, हालाँकि जैसा क़ायदा है, यह उपाधि उन्हें ईर्ष्या के दरबार से प्राप्त हुई थी। जो व्यक्ति कंजूस कहा जाता हो, समझ लो कि वह बहुत भाग्यशाली है और उससे डाह करने वाले बहुत हैं। अगर बाबू अक्षयकुमार कौड़ियों को दाँत से पकड़ते थे तो किसी का क्या नुक़सान था। अगर उनका मकान बहुत ठाट-बाट से नहीं सजा हुआ था, अगर उनके यहाँ मुफ़्तख़ोर ऊँघने वाले नौकरों की फ़ौज नहीं थी, अगर वह दो घोड़ों की फ़िटन पर कचहरी नहीं जाते थे तो किसी का क्या नुक़सान था। उनकी ज़िंदगी का उसूल था कि कौड़ियों की तुम फ़िक्र रक्खो, रुपए अपनी फ़िक्र आप कर लेंगे और इस सुनहरे उसूल का कठोरता से पालन करने का उन्हें पूरा अधिकार था। इन्हीं कौड़ियों पर ज़वानी की बहारें और दिल की उमंगें न्यौछावर की थीं। आँखों की रोशनी और सेहत जैसी बड़ी नेमत इन्हीं कौड़ियों पर चढ़ाई थी। उन्हें दाँतों से पकड़ते थे तो बहुत अच्छा करते थे, पलकों से उठाना चाहिए था।

लेकिन सुंदर, हँसमुख हेमवती का स्वभाव इसके बिलकुल उलटा था। अपनी दूसरी बहनों की तरह वह सुख-सुविधा पर जान देती थी और गो बाबू अक्षयकुमार ऐसे नादान और ऐसे रूखे-सूखे नहीं थे कि उसकी क़द्र करने के क़ाबिल कमज़ोरियों की क़द्र न करते (नहीं, वह सिंगार और सजावट की चीज़ों को देखकर कभी-कभी ख़ुश होने की कोशिश भी करते थे) मगर कभी-कभी जब हेमवती उनकी नेक सलाहों की परवाह न करके सीमा से आगे बढ़ जाती थी तो उस दिन बाबू साहब को उसकी ख़ातिर अपनी वकालत की योग्यता का कुछ-न-कुछ हिस्सा ज़रूर खर्च करना पड़ता था।

एक रोज़ जब अक्षयकुमार कचहरी से आए तो सुंदर और हँसमुख हेमवती ने एक रंगीन लिफ़ाफ़ा उनके हाथ में रख दिया। उन्होंने देखा तो अंदर एक बहुत नफ़ीस गुलाबी रंग का निमंत्रण था। हेमवती से बोले—"इन लोगों को एक-न-एक ख़ब्त सूझता ही रहता है। मेरे ख़याल में इस ड्रामैटिक परफ़ारमेंस की कोई ज़रूरत न थी।"

हेमवती इन बातों के सुनने की आदी थी, मुस्कराकर बोली—"क्यों, इससे बेहतर और कौन ख़ुशी का मौक़ा हो सकता है?"

अक्षयकुमार समझ गए कि अब बहस मुबाहिसे की ज़रूरत आ गई, सम्हल बैठे और बोले—"मेरी जान, बी.ए. के इंतहान में पास होना कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है,

हज़ारों नौजवान हर साल पास होते रहते हैं। अगर मेरा भाई होता तो मैं सिर्फ़ उसकी पीठ ठोंककर कहता कि शाबाश ख़ूब मेहनत की। मुझे ड्रामा खेलने का ख़याल भी न पैदा होता। डॉक्टर साहब तो समझदार आदमी हैं, उन्हें क्या सूझी!"

हेमवती—"मुझे तो जाना ही पड़ेगा।"

अक्षयकुमार—"क्यों, क्या वादा कर लिया है?"

हेमवती—"डॉक्टर साहब की बीवी खुद आई थीं।"

अक्षयकुमार—"तो मेरी जान, तुम भी कभी उनके घर चली जाना, परसों जाने की क्या ज़रूरत है?"

हेमवती—"अब बता ही दूँ, मुझे नायिका का पार्ट दिया गया है और मैंने उसे मंजूर कर लिया है।"

यह कहकर हेमवती ने गर्व से अपने पति की तरफ़ देखा, मगर अक्षयकुमार को इस ख़बर से बहुत ख़ुशी नहीं हुई। इससे पहले दो बार हेमवती शकुंतला बन चुकी थी। इन दोनों मौक़ों पर बाबू साहब को काफ़ी खर्च करना पड़ा था। उन्हें डर हुआ कि अबकी हफ़्ते में फिर घोष कम्पनी दो सौ का बिल पेश करेगी और इस बात की सख़्त ज़रूरत थी कि अभी से रोकथाम की जाए। उन्होंने बहुत मुलायमियत से हेमवती का हाथ पकड़ लिया और बहुत मीठे और मुहब्बत में लिपटे हुए लहज़े में बोले—"प्यारी, यह बला फिर तुमने अपने सर ले ली। अपनी तकलीफ़ और परेशानी का बिलकुल ख़याल नहीं किया। यह भी नहीं सोचा कि तुम्हारी परेशानी तुम्हारे इस प्रेमी को कितनी परेशान करती है। मेरी जान, यह जलसे नैतिक दृष्टि से बहुत आपत्तिजनक होते हैं। इन्हीं मौक़ों पर दिलों में ईर्ष्या के बीज बोये जाते हैं, यहीं पीठ पीछे बुराई करने की आदत पड़ती है और यही तानेबाज़ी और नोक-झोंक की मश्क होती है। फ़लाँ लेडी हसीन है, इसलिए उसकी दूसरी बहनों का फ़र्ज़ है कि उससे जलें। मेरी जान, ईश्वर न करे कि कोई डाही बने, मगर डाह करने के योग्य बनना तो अपने अख़्तियार की बात नहीं। मुझे भय है कि तुम्हारा दाहक सौंदर्य कितने ही दिलों को जलाकर राख कर देगा। प्यारी हेमू, मुझे दुःख है कि तुमने मुझसे पूछे बग़ैर यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मुझे विश्वास है, अगर तुम्हें मालूम होता कि मैं इसे पसंद न करूँगा तो तुम हरगिज़ स्वीकार न करतीं।"

सुंदर और हँसमुख हेमवती इस मुहब्बत में लिपटी हुई तक़रीर को बज़ाहिर बहुत ग़ौर से सुनती रही। इसके बाद जान-बूझकर अनजान बनते हुए बोली—"मैंने तो यह सोचकर मंजूर कर लिया था कि कपड़े सब पहले ही के रक्खे हुए हैं, ज़्यादा सामान की ज़रूरत न होगी, सिर्फ़ चंद घंटों की तकलीफ़ है और एहसान मुफ़्त। डॉक्टरों को नाराज़ करना भी तो अच्छी बात नहीं है। मगर अब न जाऊँगी। मैं अभी उनको अपनी मज़बूरी लिखे देती हूँ। सचमुच क्या फ़ायदा, बेकार की उलझन!"

यह सुनकर कि कपड़े सब पहले के रक्खे हुए हैं, कुछ ज़्यादा ख़र्च न होगा, अक्षयकुमार के दिल पर से एक बड़ा बोझ उठ गया। डॉक्टरों को नाराज़ करना भी तो अच्छी बात नहीं। यह जुमला भी मानों से खाली न था। बाबू साहब पछताए कि अगर पहले से यह हाल मालूम होता तो काहे को इस तरह रूखा-सूखा उपदेशक बनना पड़ता। गर्दन हिलाकर बोले—"नहीं-नहीं, मेरी जान, मेरा मंशा यह हरगिज़ नहीं कि तुम जाओ ही मत। जब तुम निमंत्रण स्वीकार कर चुकी हो तो अब उससे मुकरना इंसानियत से हटी हुई बात मालूम होती है। मेरा सिर्फ़ यह मंशा था कि जहाँ तक मुमकिन हो, ऐसे जलसों से दूर रहना चाहिए।"

मगर हेमवती ने अपना फ़ैसला वहाल रक्खा—"अब मैं न जाऊँगी। तुम्हारी बातें गिरह में बाँध लीं।"

3

दूसरे दिन शाम को अक्षयकुमार हवाख़ोरी को निकले। आनंदबाग उस वक़्त जोबन पर था। ऊँचे-ऊँचे सरो और अशोक की क़तारों के बीच में लाल बजरी से सजी हुई सड़क ऐसी ख़ूबसूरत मालूम होती थी कि जैसे कमल के पत्तों में फूल खिला हुआ है या नोकदार पलकों के बीच में लाल मतवाली आँखें ज़ेब दे रही हैं। बाबू अक्षयकुमार इस क्यारी पर हवा के हल्के-हल्के ताज़गी देनेवाले झोंको का मज़ा उठाते हुए एक साएदार कुंज में जा बैठे। यह उनकी ख़ास जगह थी। इस इनायतों की॰बस्ती में आकर थोड़ी देर के लिए उनके दिल पर फूलों के खिलेपन और पत्तों की हरियाली का बहुत ही नशीला असर होता था। थोड़ी देर के लिए उनका दिल भी फूल की तरह खिल जाता था। यहाँ बैठे उन्हें थोड़ी ही देर हुई थी, कि उन्हें एक बूढ़ा आदमी अपनी तरफ़ आता हुआ दिखाई दिया। उसने सामने आकर सलाम किया और एक मोहरदार बंद लिफ़ाफ़ा देकर गायब हो गया। अक्षय बाबू ने लिफ़ाफ़ा खोला और उसकी अंबरी महक से रूह फड़क उठी। ख़त का मज़मून यह था—

"मेरे प्यारे अक्षय बाबू, आप इस नाचीज़ के ख़त को पढ़कर बहुत हैरत में आएँगे, मगर मुझे आशा है कि आप मेरी इस ढिठाई को माफ़ करेंगे। आपके आचार-विचार, आपकी सुरुचि और आपके रहन-सहन की तारीफ़ें सुन-सुनकर मेरे दिल में आपके लिए एक प्रेम और आदर का भाव पैदा हो गया है। आपके सादे रहन-सहन ने मुझे मोहित कर लिया है। अगर हया-शर्म मेरा दामन न पकड़े होती तो मैं अपनी भावनाओं को और भी स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित करती। साल-भर हुआ कि मैंने सामान्य पुरुषों की दुर्बलताओं से निराश होकर यह इरादा कर लिया था कि शेष जीवन खुशियों का सपना देखने में काटूँगी। मैंने ढूँढा, मगर जिस दिल की तलाश थी, न मिला। लेकिन जबसे मैंने आपको देखा है, मुद्दतों की सोई हुई उमंगें जाग उठी हैं।

आपके चेहरे पर सुंदरता और जवानी की रोशनी न सही मगर कल्पना की झलक मौजूद है, जिसकी मेरी निगाह में ज़्यादा इज़्ज़त है। हालाँकि मेरा ख़याल है कि अगर आपको अपने बहिरंग की चिंता होती तो शायद मेरे अस्तित्व का दुर्बल अंश ज़्यादा प्रसन्न होता। मगर मैं रूप की भूखी नहीं हूँ। मुझे एक सच्चे, प्रदर्शन से मुफ़्त, सीने में दिल रखने वाले इंसान की चाह है और मैंने उसे पा लिया। मैंने एक चतुर पनडुब्बे की तरह समुंदर की तह में बैठकर उस रतन को ढूँढ़ निकाला है, मेरी आपसे केवल यह प्रार्थना है कि आप कल रात को डॉक्टर किचलू के मकान पर तशरीफ़ लाएँ। मैं आपका बहुत एहसान मानूँगी। वहाँ एक हरे कपड़े पहने स्त्री अशोकों के कुंज में आपके लिए आँखें बिछाए बैठी नज़र आएगी।"

इस ख़त को अक्षयकुमार ने दोबारा पढ़ा। इसका उनके दिल पर क्या असर हुआ, यह बयान करने की ज़रूरत नहीं। वह ऋषि नहीं थे, हालाँकि ऐसे नाजुक मौक़े पर ऋषियों का फिसल जाना भी असंभव नहीं। उन्हें एक नशा-सा महसूस होने लगा। ज़रूर इस परी ने मुझे यहाँ बैठे देखा होगा। मैंने आज कई दिन से आईना भी नहीं देखा, जाने चेहरे की क्या कैफ़ियत हो रही है। इस ख़याल से बेचैन होकर वह दौड़े हुए एक हौज़ पर गए और उसके साफ़ पानी में अपनी सूरत देखी, मगर संतोष न हुआ। बहुत तेज़ी से क़दम बढ़ाते हुए मकान की तरफ़ चले और जाते ही आईने पर निगाह दौड़ाई। हज़ामत साफ़ नहीं है और साफ़ा कम्बख़्त ख़ूबसरती से नहीं बाँधा। मगर तब भी मुझे कोई बदसूरत नहीं कह सकता। यह ज़रूर कोई आला दरजे की पढ़ी-लिखी, ऊँचे विचारोंवाली स्त्री है, वर्ना मामूली औरतों की निगाह में तो दौलत और रूप के सिवा और कोई चीज़ जँचती ही नहीं। तो भी मेरा यह फूहड़पन किसी सुरुचि-सम्पन्न स्त्री को अच्छा नहीं मालूम हो सकता। मुझे अब इसका ज़्यादा ख़याल रखना होगा। आज मेरे भाग्य जागे हैं। बहुत मुद्दत के बाद मेरी क़द्र करने वाला एक सच्चा जौहरी नज़र आया है। भारतीय स्त्रियाँ शर्म और हया की पुतली होती हैं। जब तक कि अपने दिल की हलचलों से मज़बूर न हो जाएँ, वह ऐसा ख़त लिखने का साहस नहीं कर सकतीं।

इन्हीं ख़यालों में बाबू अक्षयकुमार ने रात काटी। पलक तक नहीं झपकी।

4

दूसरे दिन सुबह दस बजे तक बाबू अक्षयकुमार ने शहर की सारी फ़ैशनेबुल दुकानों की सैर की। दुकानदार हैरत में थे कि आज बाबू साहब यहाँ कैसे भूल पड़े। कभी भूलकर भी नहीं झाँकते थे, यह कायापलट क्योंकर हुई? ग़रज़ आज उन्होंने बड़ी बेदर्दी से रुपया खर्च किया और जब घर चले तो फ़िटन पर बैठने की जगह न थी।

हेमवती ने उनके माथे पर से पसीना साफ़ करके पूछा—"आज सबेरे से कहाँ ग़ायब हो गए?" अक्षयकुमार ने चेहरे को ज़रा गंभीर बनाकर जवाब दिया—"आज जिगर में कुछ दर्द था, डॉक्टर चड्ढा के पास चला गया था।"

हेमवती के सुंदर हँसते हुए चेहरे पर मुस्कराहट-सी आ गई, बोली—"तुमने मुझसे बिलकुल ज़िक्र नहीं किया? जिगर का दर्द भयानक मर्ज़ है।"

अक्षयकुमार—"डॉक्टर साहब ने कहा है, कोई डरने की बात नहीं है।"

हेमवती—"इसकी दवा डॉ. किचलू के यहाँ बहुत अच्छी मिलती है। मालूम नहीं डॉक्टर चड्ढा मर्ज़ की तह तक पहुँचे भी या नहीं।"

अक्षयकुमार ने हेमवती की तरफ़ एक बार चुभती हुई निगाहों से देखा और खाना खाने लगे। इसके बाद अपने कमरे में जाकर लेटे। शाम को जब वह पार्क, घंटाघर, आनंदबाग़ की सैर करते हुए फ़िटन पर जा रहे थे तो उनके होंठों पर लाली और गालों पर जवानी की गुलाबी झलक मौजूद थी। तो भी प्रकृति के अन्याय पर, जिसने उन्हें रूप की संपदा से वंचित रक्खा था, उन्हें आज जितना गुस्सा आया, शायद और कभी न आया हो। आज वह पतली नाक के बदले अपना ख़ूबसूरत गाउन और डिप्लोमा सब कुछ देने के लिए तैयार थे।

5

डॉक्टर किचलू का ख़ूबसूरत लताओं से सजा हुआ बँगला रात के वक़्त दिन का समाँ दिखा रहा था। फाटक के खंभे, बरामदे की मेहराबें, सरो के पेड़ों की क़तारें सब बिजली के बल्बों से जगमगा रही थीं। इंसान की बिजली की कारीगरी अपना रंगारंग जादू दिखा रही थी। दरवाज़े पर शुभागमन का बंदनवार, पेड़ों पर रंग-बिरंगे पक्षी, लताओं में खिले हुए फूल, यह सब इसी बिजली की रोशनी के जलवे हैं। इसी सुहानी रोशनी में शहर के रईस इठलाते फिर रहे हैं। अभी नाटक शुरू होने में कुछ देर है। मगर उत्कंठा लोगों को अधीर करने लगी है। डॉक्टर किचलू दरवाज़े पर खड़े मेहमानों का स्वागत कर रहे हैं। आठ बजे होंगे कि बाबू अक्षयकुमार बड़ी आन-बान के साथ अपनी फ़िटन से उतरे। डॉक्टर साहब चौंक पड़े, यह आज गूलर में कैसे फूल लग गए। उन्होंने बड़े उत्साह से आगे बढ़कर बाबू साहब का स्वागत किया और सर से पाँव तक उन्हें ग़ौर से देखा। उन्हें कभी ख़याल भी न हुआ था कि बाबू अक्षयकुमार ऐसे सुंदर सज़ीले कपड़े पहने हुए गबरू नौजवान बन सकते हैं। कायाकल्प का स्पष्ट उदाहरण आँखों के सामने खड़ा था।

अक्षय बाबू को देखते ही इधर-उधर से लोग आकर उनके चारों ओर जमा हो गए। हर शख़्स हैरत से एक-दूसरे का मुँह तकता था। होंठ रूमाल की आड़ ढूँढ़ने लगे, आँखें सरगोशियाँ करने लगीं। हर शख़्स ने ग़ैरमामूली तपाक से उनका मिज़ाज पूछा।

शराबियों की मजलिस और पीने की मनाही करने वाले हज़रते वाइज़ की तशरीफ़-आवरी का नज़्ज़ारा पेश हो गया।

अक्षय बाबू बहुत झेंप रहे थे। उनकी आँखें ऊपर को न उठती थीं। इसलिए जब मिज़ाजपुर्सियों का तूफ़ान दूर हुआ तो उन्होंने अपनी हरे कपड़ों वाली स्त्री की तलाश में चारों तरफ़ एक निगाह दौड़ाई और दिल में कहा—यह शोहदे हैं, मसख़रे, मगर अभी-अभी उनकी आँखें खुली जाती हैं। मैं दिखा दूँगा कि मुझ पर भी सुंदरियों की दृष्टि पड़ती है। ऐसी सुंदरियाँ भी हैं, जो सच्चे दिल से मेरे मिज़ाज की कैफ़ियत पूछती हैं और जिनसे अपना दर्दे-दिल कहने में मैं भी रंगीन-बयान हो सकता हूँ। मगर उस हरे कपड़ों वाली प्रेमिका का कहीं पता न था। निगाहें चारों तरफ़ से घूम-घामकर नाकाम वापस आईं।

आध घंटे के बाद नाटक शुरू हुआ। बाबू साहब निराश भाव से पैर उठाते हुए थियेटर हाल में गए और कुर्सी पर बैठ गए। बैठ क्या गए, गिर पड़े। पर्दा उठा। शकुंतला अपनी दोनों सखियों के साथ सिर पर घड़ा रक्खे पौदों को सींचती हुई दिखाई दी। दर्शक बाग़-बाग़ हो गए। तारीफ़ों के नारे बुलंद हुए। शकुंतला का जो काल्पनिक चित्र खिंच सकता है, वह आँखों के सामने खड़ा था—वही प्रेमिका का खुलापन, वही आकर्षक गंभीरता, वही मतवाली चाल, वही शर्मीली आँखें। अक्षय बाबू पहचान गए, यह सुंदर हँसमुख हेमवती थी।

बाबू अक्षयकुमार का चेहरा गुस्से से लाल हो गया। इसने मुझसे वादा किया था कि मैं नाटक में न जाऊँगी। मैंने घंटों उसे समझाया। अपनी असमर्थता लिखने पर तैयार थी, मगर सिर्फ़ दूसरों को रिझाने और लुभाने के लिए, सिर्फ़ दूसरी औरतों को जलाने के लिए उसने मेरी नसीहतों का और अपने वादे का, यहाँ तक कि मेरी अप्रसन्नता का भी ज़रा भी ख़याल न किया!

हेमवती ने भी उड़ती हुई निगाहों से उनकी तरफ़ देखा। उनके बाँकपन पर उसे ज़रा भी ताज्जुब न हुआ। कम-से-कम वह मुस्कराई नहीं।

सारी महफ़िल वेसुध हो रही थी। मगर अक्षय बाबू का जी वहाँ न लगता था। वह बार-बार उठके बाहर जाते, इधर-उधर बैचैनी से आँखें फाड़-फाड़ देखते और हर बार झुंझलाकर वापस आते। यहाँ तक कि बारह बज गए और अब मायूस होकर उन्होंने अपने आप को कोसना शुरू किया—मैं भी कैसा अहमक़ हूँ। एक शोख़ औरत के चकमे में आ गया। ज़रूर इन्हीं बदमाशों में से किसी की शरारत होगी। यह लोग मुझे देख-देखकर कैसा हँसते थे! इन्हीं में से किसी मसख़रे ने यह शिगूफ़ा छोड़ा है। अफ़सोस! सैकड़ों रुपए पर पानी फिर गया, लज्जित हुआ सो अलग। कई मुक़दमे हाथ से गए। हेमवती की निगाहों में ज़लील हो गया और यह सब सिर्फ़ इन डाहियों की ख़ातिर! मुझसे बड़ा अहमक़ और कौन होगा!

इस तरह अपने ऊपर लानत भेजते, गुस्से में भरे हुए वे फिर महफ़िल की तरफ़ चले कि एकाएक एक सरो के पेड़ के नीचे वह हरित-वसना सुंदरी उन्हें इशारे से अपनी तरफ़ बुलाती हुई नज़र आई। ख़ुशी के मारे उनकी बाँछें खिल गईं, दिलोदिमाग़ पर एक नशा-सा छा गया। मस्ती से क़दम उठाते, झूमते और ऐंडते उस स्त्री के पास आए और आशिक़ाना जोश के साथ बोले—"ऐ रूप की रानी, मैं तुम्हारी इस कृपा के लिए हृदय से तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। तुम्हें देखने के शौक में इस अधमरे प्रेमी की आँखें पथरा गईं और अगर तुम्हें कुछ देर तक और यह आँखें देख न पातीं तो तुम्हें अपने रूप के मारे हुए की लाश पर हसरत के आँसू बहाने पड़ते। कल शाम ही से मेरे दिल की जो हालत हो रही है, उसका जिक्र बयान की ताक़त से बाहर है। मेरी जान, मैं कल कचहरी न गया और कई मुक़दमे हाथ से खोए। मगर तुम्हारे दर्शन से आत्मा को जो आनंद मिल रहा है, उस पर मैं अपनी जान भी न्यौछावर कर सकता हूँ। मुझे अब धैर्य्य नहीं है। प्रेम की आग ने संयम और धैर्य्य को जलाकर खाक कर दिया है। तुम्हें अपने हुस्न के दीवाने से यह पर्दा करना शोभा नहीं देता। शमा और परवाना में पर्दा कैसा? ऐ रूप की खान और एक सौंदर्य की आत्मा! तेरी मुहब्बत-भरी बातों ने मेरे दिल में आरज़ुओं का तूफ़ान पैदा कर दिया है। अब यह दिल तुम्हारे ऊपर न्यौछावर है और यह जान तुम्हारे चरणों पर अर्पित है।"

यह कहते हुए बाबू अक्षयकुमार ने आशिक़ों जैसी ढिटाई से आगे बढ़कर उस हरित-वसना सुंदरी का घूँघट उठा दिया और हेमवती को मुस्कराते देखकर बेअख़्तियार मुँह से निकला, 'अरे!' फिर कुछ मुँह से न निकला। ऐसा मालूम हुआ कि जैसे आँखों के सामने से पर्दा हट गया। बोले—"यह सब तुम्हारी शरारत थी?"

सुंदर, हँसमुख हेमवती मुस्कुराई और कुछ जवाब देना चाहती थी, मगर बाबू अक्षयकुमार ने उस वक़्त ज़्यादा सवाल-जवाब का मौक़ा न देखा। बहुत लज्जित होते हुए बोले—"हेमवती, अब मुँह से कुछ मत कहो, तुम जीतीं और मैं हार गया। यह हार कभी न भूलेगी।"

(*'जमाना', उर्दू मासिक पत्रिका, मई-जून, 1912*)
(***'गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत***)

क़ैफ़रे-कर्दार (कर्म-दंड)

1

आज़मगढ़ ज़िले में सरयू नदी के किनारे एक छोटा-सा मैदान है। उसकी दूसरी तरफ़ एक बहुत बड़ी झील है, जो यहाँ से एक मील मशरिक (पूर्व) की तरफ़ चलकर सरयू नदी से मिल गई है। तीसरी तरफ़ एक दुश्वार गुज़ार (पार होने में कठिन) अथाह दलदल है। चौथी तरफ़ नदी के नशेबो-फ़राज (ऊँची-नीची) में होती हुई एक पतली-सी पगडंडी है, जिसने इस मैदान को दुनिया का एक हिस्सा बना रखा था। इसलिए गो यह मैदान जुगराफ़ी इस्तिलाह (भौगोलिक परिभाषा) में न जज़ीरा (द्वीप) था और न जज़ीरानुमा। शायद जुगराफ़िया (भूगोल) में इसके लिए कोई इस्तिलाह (परिभाषा) मौज़ूँ नहीं है, मगर फ़िलबाकेई (सचमुच) वह एक ग़ैरआबाद, वीरान जज़ीरा (द्वीप) था जो दुनिया से बिलकुल अलग-थलग पड़ा हुआ था। कुछ अरसे से एक अहीर ने इस वीराने को आबाद कर रखा था। नहीं मालूम, ज़मींदार ने उसे गाँव से निकाल दिया या किसी वजह से इसे आबादी से दूर रहना पड़ा। इस ग़रीब ने इस दलदली मक़ाम (स्थान) में सुकूनत (निवास) इख़्तियार की थी। यहाँ एक छोटा-सा झोंपड़ा, चंद गायें, भैंसे, भेड़-बकरियों के ग़ल्ले (झुंड, रेवड़) चरते नज़र आते थे। इस हौसलामंद अहीर ने, जिसे शिवराम कहते थे, एक छोटी-सी किश्ती बना रखी थी, जिस पर बैठकर वह क़रीब के क़स्बे में ऊन, घी और दूध बेचने के लिए जाया करता था। कभी-कभी मछलियों का शिकार भी खेलता। शिवराम को उस वीराने को आबाद करना मुबारक न हुआ। यहाँ आने के थोड़े ही दिनों बाद उसकी बीवी मलेरिया की नज़र हो गई। अब उसकी सिर्फ़ एक लड़की थी, जिसके सर पर गृहस्थी का सारा बोझा था। शिवराम इस ताक़ में था कि कहीं सगाई ठहर जाए तो बेचारी गोरा के सर से यह वला टले, मगर ख़ुदा जाने क्यों, बिरादरी में लोग उसे इज़्ज़त की निगाह से नहीं देखते थे। यही सबब था कि गोरा की उसने अब तक शादी नहीं की थी। यह एक साँवले रंग की, भोली सूरत वाली नाज़नीन (सुकुमारी) थी, जिसे हसीन तो नहीं कह सकते, मगर दिलफ़रेब (मन को छलनेवाली) ज़रूर कह सकते हैं। गोरा के लिए यह झोंपड़ा क़ैदख़ाना से कम न था। सुबह से शाम तक शिवराम या तो मवेशियों के साथ

रहता या बाज़ार करने जाता या मछलियाँ पकड़ता और गोरा सारा दिन अकेली बैठी कभी घर का काम-काज करती, कभी लेटती, कभी उकता कर रोती, मगर झोंपड़े से बाहर उसे निकलने की मुमानियत थी और न वह निकल सकती थी। हाँ, अब इसे क़ैदे-तन्हाई से जल्द रिहाई मिलने वाली थी, क्योंकि गोरा की मँगनी एक नौजवान अहीर से हो गई थी, जो सरयू के लबे-साहिल एक दूसरे गाँव में रहता था, लेकिन जब गोरा सोचती कि मुझे अब यहाँ से जाना पड़ेगा तो उसका दिल बैठ जाता और वह ईश्वर से मनाती कि यह क़ैदे-तन्हाई हमेशा क़ायम रहे।

एक दिन शाम के वक़्त गोरा अपने झोंपड़े में बैठी हुई आईने में अपना मुँह देख रही थी। उसकी ससुराल से एक सुर्ख़ साड़ी उसके लिए आई थी। गोरा ने उसे जैबेतन (पहना) किया था और आईने में देख रही थी कि यह मुझ पर खिलती है या नहीं। कभी वह आँचल को आधे सर तक रखती, कभी माथे तक। उसका चेहरा बहुत शगुफ़्ता था, क्योंकि ख़ुशरंग साड़ी उसने कभी नहीं पहनी थी और न वह ख़ुद अपनी निगाहों में ऐसी हसीन मालूम हुई थी। उसे अपने भोले-भाले हुस्न का आज कुछ थोड़ा-सा अंदाज़ा हुआ, और आईने के सामने से हटी तो उसकी आँखों में इत्मीनान और ग़रूर की दिलआवेज़ झलक मौजूद थी। उसे याद नहीं आता था कि अपने से ज़्यादा अच्छी सूरत कभी देखी है या नहीं।

इतने में दरवाज़े पर किसी के पाँवों की आहट हुई। उसने समझा, मेरे बाप आ गए हैं। जल्दी से माथा छुपा लिया और आईने को उठाकर चारपाई के नीचे डाल दिया। मगर जब बजाय उसके बाप के एक अजनबी सूरत के नौजवान ने दरवाज़ा खोलकर कमरे में झाँका तो गोरा के मुँह से एक चीख निकल आई और दिल धड़कने लगा। उसने काँपती हुई आवाज़ से पूछा—"तुम कौन हो?" और यह कहकर हाथ में एक सोटा लेकर खड़ी हो गई।

नौजवान कमरे के अंदर चला आया और बहुत मिन्नत-आमेज़ लहज़े से बोला—"तुम डरो मत। मैं तुम से कुछ नहीं बोलूँगा। मुझे बहुत भूख लगी है। कुछ खाने को दो। भूख से मरा जाता हूँ।"

गोरा—"तुम कौन हो? कहाँ से आए हो?"

नौजवान—"एक बदनसीब आदमी हूँ और कौन हूँ। दिन-भर से जंगल की खाक छान रहा हूँ। सैकड़ों आदमी मेरी तलाश में घूम रहे हैं। गाँव-गाँव मेरे ख़ून का प्यासा हो रहा है। कल रात को हरदतपुर में एक बड़ा डाका पड़ा। वहाँ का नंबरदार इस डाके में मारा गया। अब मुझ ग़रीब पर लोग शुबा कर रहे हैं। मगर मैं ईश्वर से कहता हूँ कि मैं इस गुनाह में बिलकुल नहीं शरीक था। यह मेरे दुश्मनों की शरारत है। इस वक़्त मुझे क़िस्मत यहाँ ले जाई। मगर यहाँ से निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता। जिधर जाता हूँ, पानी और दलदल के सिवा कुछ नहीं सूझता। अगर उसी रास्ते से लौट जाऊँ जिधर से आया हूँ तो ज़रूर गिरफ़्तार हो जाऊँगा, क्योंकि लोग मेरी घात में लगे हुए हैं। तुम मुझे कुछ खाने को दे दो और तब मुझे यहाँ से जान

लेकर भाग निकलने का कोई रास्ता बता दो। तुम्हारे दिल में रहम है। ईश्वर तुम्हें इस नेकी का बदला देंगे।"

गोरा यह सरगुज़िश्त (घटना) सुनकर काँप उठी। उसे इस नौजवान की बेगुनाही का यक़ीन न आया—"ज़रूर यह क़ातिल है। और मैं इस सुनसान जगह में इसके सामने खड़ी हूँ। यह मुझे भी मार डाले और यहाँ की सारी चीज़ें उठा ले जाए तो क्या करूँगी? फ़रियाद भी तो नहीं कर सकती। यहाँ कौन बैठा हुआ है? दादा न मालूम कब तक आएँगे। या ईश्वर, तू मेरी मदद कर।" इस तरह दिल में सोचकर उसने नौजवान से कहा—"मैं तुम्हें खाने को दे दूँ तो तुम भाग जाओगे न? अगर जल्द न भागोगे तो मेरे बाप आकर तुम्हें पकड़ लेंगे।"

नौजवान ने जवाब दिया—"क्या तुम्हारे बाप जल्द आ जाएँगे?"

गोरा—"हाँ, वह आते ही होंगे। तुम ख़ाना खा लो और फ़ौरन भाग जाओ।"

यह कहकर उसने थोड़ा-सा दूध और चंद रोटियाँ थाली में रखकर उसे दे दीं। नौजवान खाने पर ऐसा टूटा, गोया कभी दाने की सूरत न देखी थी। जब तक वह खाता रहा, गोरा सोटा मज़बूती से पकड़े हुए उसकी तरफ़ ग़ौर से देखती रही। उसका दिल धड़क रहा था और कान शिवराम के क़दमों की आहट सुनने के लिए बेक़रार हो रहे थे। जब नौजवान खा चुका तो गोरा ने देखा कि वह इधर-उधर शरारत-आमेज़ निगाहों से ताक रहा है, गोया किसी लाठी की तलाश में है। गोरा ने डाँटकर कहा—"अब तुम यहाँ से चले जाओ।"

नौजवान—"जाने-मन! मैं घुड़कियाँ सुनने का आदी नहीं हूँ। तुम्हारे हाथ में सोटा देखकर मैं ज़रा भी नहीं डरता। मैं चाहूँ तो अभी तुम्हारे हाथ से वह हथियार छीन लूँ। मगर तुमने मेरे साथ नेकी की है, इसलिए मैं तुम्हें ज़्यादा तकलीफ़ नहीं दूँगा। तुम चलकर मुझे रास्ता बता दो।"

गोरा का ख़ून सर्द हो गया। नौजवान ने जो कुछ कहा, वह बिलकुल सही था। बोली—"यहाँ से कहाँ जाओगे? कहीं रास्ता नहीं है।"

नौजवान—"नदी के किराने कोई नाव नहीं है?"

गोरा—"मेरे बाप की नाव है। मगर तुम उसे ले जाओगे तो वापस कौन लाएगा?"

नौजवान—"उससे मुझे कुछ सरोकार नहीं है। बस, तुम मुझे उस नाव तक पहुँचा दो।"

गोरा के लिए मफ़र (बचाव) की कोई सूरत न थी। वह सोटा लिए हुए नदी के किनारे चली। नौजवान पीछे-पीछे उसके साथ चला। किनारे पर पहुँचकर यकायक वो दरशत (सख़्त) लहज़े में बोला—"अपने कपड़े उतारकर मुझे दे दो। ज़नाना लिबास में मुझे कोई न पहचान सकेगा। क्यों, क्या सोचती हो? यह मेरी शराफ़त है कि जिस चीज़ को बज़ोर ले सकता हूँ, उसके लिए तुमसे फ़कीरों की तरह सवाल करता हूँ। क्या एक इंसान की जान बचाने के लिए तुम इतनी-सी तकलीफ़ भी बरदाश्त नहीं करोगी?"

बेकस और बेबस गोरा ने इस नौजवान से ज़्यादा सवाल व जवाब करना फ़िज़ूल समझा। रोते हुए उसने अपनी खुशरंग साड़ी उतार कर उसे दे दी और जल्दी से उस साफ़े को, जिसे नौजवान ने इसकी तरफ़ फेंक दिया था, पहन लिया। तब उस ज़ालिम ने साड़ी पहनी और लंबा घूँघट निकालकर किश्ती की तरफ़ चला। यकायक कुछ सोच कर वह मुड़ा और तेज़ी से लपक कर गोरा के हाथ से डंडा छीन लिया। गोरा ख़ौफ़ से बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी और तब नौजवान ने इस बेहोशी को देर तक क़ायम रखने के लिए ज़ोर से एक डंडा उसके सिर पर मारा और किश्ती पर बैठकर एक तरफ़ को चल दिया। “अब अगर तुम्हारा बाप आया भी तो तुम न बता सकोगी कि मैं कौन हूँ और किधर गया।”

2

नौजवान डाकू तेज़ी से डाँडा चलाता हुआ चार मील तक चला आया और तब उसे किनारे पर एक गाँव के आसार नज़र आए। जाबजा (जहाँ-तहाँ) धुँधली रोशनी के चिराग़ टिमटिमा रहे थे, जिनका अक़्स पानी में गुल फ़िशानी (हिलता) करता हुआ मालूम होता था। घाट पर कुछ औरतें पानी भर रही थीं। कुछ नहा रही थीं। मल्लाहों के झोंपड़ों में चूल्हे जल रहे थे। किश्तियाँ मेखों (कीलों) से बँधी हुई पानी में हिलकोरे ले रही थीं। नौजवान ने यहाँ रात बसर करने की नीयत से किश्ती किनारे पर लगा दी और उसे एक मेख (कील) से बाँधकर लपकता हुआ गाँव में जा पहुँचा। गाँवों में बिलउमूम (प्रायः) लोग सरे-शाम ही से सो जाया करते हैं। हाँ, जाबजा (जगह-जगह) बूढ़े आदमी बैठे हुए अपने हुक्के से दिल बहलाते हुए नज़र आते थे, जिससे ज़्यादा हमदर्द और ग़मगुसार (सहानुभूति रखने वाला) आलमे-जईफ़ी (वृद्धावस्था) में और कोई नहीं हो सकता। डाकू की मंशा यह थी कि अँधेरे में कोई भला मानस मिल जाए तो उस पर हाथ साफ़ करूँ कि वहीं ठंडा हो जाए और क़िस्मत जो कुछ दिलाए उसे लेकर नदी के किनारे अपनी किश्ती पर जा बैठूँ और दो घंटे रात रहे, फिर उठकर आगे को चल दूँ। वह इन्हीं मंसूबों में था कि दफ़अतन (सहसा) एक नौजवान लालटेन हाथ में लिए सामने से आता हुआ दिखाई दिया। उसने इस जनाने डाकू को देखा तो चौंक पड़ा और बोला—“कौन है गोरा? तुम यहाँ कहाँ? ख़ैरियत तो है?” यह वही आदमी था, जिससे गोरा की मँगनी हुई थी। वह खुशरंग (सुवर्ण) साड़ी जो इस वक़्त एक क़ातिल के गुनाहों पर परदा डाले हुए थी, उसने गोरा के लिए भेजी थी। गाँव में इस वज़ा (ढंग) की साड़ी किसी दूसरी औरत के पास नहीं थी। इसलिए उसे अमन (तत्क्षण) ख़याल गुजरा कि शायद यह गोरा है। उसका बाप किसी काम से यहाँ आया होगा। उसके साथ वह भी चली आई होगी। नौजवान डाकू यह अवाज़ सुनते ही चौंका और क़दम तेज कर दिए, ताकि किसी (तारीक) अँधेरी गली में पहुँच जाए, मगर इस

देहाती नौजवान ने लपक उसका हाथ पकड़ लिया और बोला—"गोरा! इस वक़्त मत शरमाओ। तुम यहाँ कैसे आईं? तुम्हारे दादा भी आए हैं?"

डाकू ने अपने हाथों को झटका दिया, ताकि भाग जाए।

मगर उस देहकानी नौजवान ने उसे ख़ूब मज़बूत पकड़ा था। उसने घूँघट हटा दिया और एक मरद का चेहरा देखकर कहकहा मार कर हँसा—"वाह! आप तो कोई भगत जी मालूम होते हैं। यह ज़नाना भेस कब से लिया? आइए चौकीदार के यहाँ ज़रा आपकी मिजाज़पुर्सी करूँ। आज आप किसी मनहूस आदमी का मुँह देखकर उठे थे। गोवर्धन के हाथ में फँसकर चोरों का कचूमर निकल जाता है। सर का एक बाल भी नहीं रहता। वही गत तुम्हारी होगी। प्यारी गोरा के घर में सेंध डाली है। यह वही साड़ी है, जो मैंने कल उसके लिए भेजी थी। क्यों, है न यही बात?"

डाकू समझ गया कि अब यहाँ से छूटकारा पाना ग़ैरमुमकिन है। क़िस्मत ने कहाँ लाकर पटका। बोला—"ईश्वर गवाह है गोरा ने मुझ पर तरस खाकर यह साड़ी मुझे दे दी है। मैंने उसके घर में सेंध नहीं मारी। मैं चोर नहीं हूँ। ऐसी भोली औरत को मैं नुक़सान नहीं पहुँचा सकता था, चाहे चोर या क़ातिल ही क्यों न होता। जिस आदमी की हालत पर गोरा ने रहम किया है, क्या गोरा का मँगेतर उसी आदमी के गले पर छुरी फेरेगा? मैं क़िस्मत का सताया हुआ ग़रीब आदमी हूँ। भूलता-भटकता गोरा के झोंपड़े तक जा पहुँचा। उसने मेरी राम-कहानी सुनी। उसे रहम आ गया। यह साड़ी मुझे दे दी कि किसी तरह मेरी जान बच जाए। मैं बिलकुल सच कहता हूँ; ज़रा भी झूठ नहीं है। गोवर्धन फिर हँसा और बोला—"बेशक, आप बहुत सच्चे और धरमात्मा आदमी हैं। कुछ अपना हाल मुझसे भी कहो। तुम्हारा घर कहाँ है? शिवराम के मकान् पर कैसे पहुँचे? यूँ मैं नहीं छोड़ने का, समझ गए।"

डाकू—"मैं सारी कहानी कह दूँगा। कल रात को हरदतपुर में एक डाका पड़ा। लंबरदार मारा गया। डाकू भाग गए। मगर वहाँ लोगों का शुबहा है कि मैं भी उस डाके में शरीक था। मगर यह दुश्मनों की कारिस्तानी है। ख़ामख्वाह मेरे सर पर यह इल्ज़ाम थोप दिया। मज़बूर होकर मैं भाग निकला। कल सारा दिन नालों और गड्ढों में छिपता फिरा, वरना इस वक़्त तुम्हारे सामने खड़ा न होता।"

गोवर्धन—"अच्छा, तो आप हरदतपुर के डाकुओं में हैं, यह कहिए। गोरा शायद बड़ी रहमदिल है, जो डकैतों की जान बचाती फिरती है। अच्छा, यही सही। मगर उसने अपनी पुरानी साड़ी क्यों नहीं दी? वह नई साड़ी क्यों दी जो उसके लिए बरहलगंज से तीन रुपए में लाया हूँ और जिसे पहनकर वह रानी मालूम होती है। यह बताओ, कोई अपने मँगेतर की दी हुई चीज़ को यूँ लुटाता फिरता है?"

डाकू कुछ सिटपटा गया। मगर सँभलकर बोला—"तुम्हारी दी हुई साड़ी तो वह ख़ुद पहने हुए है। वह भला मुझे क्यों देगी! यह साड़ी बिलकुल उसी रंग की है। यह उसके बाप ने उसे दी है। दोनों साड़ियाँ बिलकुल एक रंग की हैं।"

गोवर्धन–"अच्छा, यह भी सही। तो उसने अपने बाप की नाव तुम्हें क्यों दे दी? क्या वह इतना नहीं जानती कि नाव आप-ही-आप अपने ठिकाने पर नहीं चली आती? इसका जवाब दीजिए। उसको अगर नुक़सान का ख्याल नहीं हुआ तो क्या अपने बाप का खौफ़ भी न हुआ?"

डाकू अब चौकन्ना हो गया था। बोला–"उसने मुझसे कहा कि तुम नाव ले जाओ। मेरे दादा पूछेंगे तो मैं कह दूँगी कि एक पुरानी नाव के खो जाने से अगर किसी बेगुनाह की जान बच जाए तो उसका अफ़सोस नहीं करना चाहिए। मैं तो ख़ुद इसे नहीं लेता था, मगर उसने ज़बरदस्ती मुझे इस पर बैठा दिया और कहने लगी–"मेरे दादा ऐसे लालची और खुदगर्ज़ नहीं हैं। तुम इसे ले जाओ। अगर हो सके तो कल तक किसी मोतबर (विश्वस्त) आदमी की मार्फ़त भेज देना।"

गोवर्धन को अपने एतराज़ात का जवाब तो मिला, मगर दिल को इत्मीनान न हुआ, बोला–"भाई सुनो! मुझे तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं आता। मुझे शक है कि तुमने ज़रूर शिवराम महतो का घर लूटा और शायद गोरा को मार भी डाला हो तो ताज्जुब नहीं। तुम डाकू हो। तुम्हारा यही पेशा है। इसलिए जब तक उसकी ज़बान पर तुम्हारी बातों की तस्दीक नहीं होगी, मैं हरग़िज न मानूँगा। अभी बहुत रात नहीं गई है। दस बजते-बजते हम लोग पहुँच जाएँगे। मुझे गोरा के देखने का एक बहाना हाथ आ जाएगा। दो-चार मीठी-मीठी बातें सुनूँगा। अच्छे-अच्छे खाने खाऊँगा, और सुबह लौट आऊँगा; लेकिन अगर तुमने उसका बाल भी बाँका किया है तो तुम्हारी जान की ख़ैर नहीं। कुत्तों से बोटी-बोटी नुचवा लूँगा।"

यह कहकर गोवर्धन ने अपनी माँ को घर में से बुलाया और चंद लफ़्ज़ों में सूरतें-हाल बयान करके बोला कि मैं शिवराम महतो के घर तक जाता हूँ। रात को न आऊँगा। किवाड़ बंद कर लेना। बुड्ढी औरत ने मना किया कि रात को मत जा। डाकू है, न जाने क्या पड़े, क्या न पड़े, सुबह को जाना। मगर गोवर्धन ने उसकी तशफ़्फ़ी (तसल्ली) की और डाकू को खींचता हुआ घाट तक लाया। उसकी किश्ती खोली और उसे उसमें बैठाकर ख़ुद डाँडा हाथ में ले लिया। पानी की धारा तेज़ थी और किश्ती को चढ़ाव की तरफ़ जाना था। आहिस्ता-आहिस्ता चलने लगी।

आध घंटे तक इन दो आदमियों में से एक भी न बोला। यकायक डाकू ने पूछा–"अगर तुम्हें साबित हो जाएगा कि मैंने शिवराम के घर में सेंध नहीं मारी तो मुझे छोड़ दोगे न?"

गोवर्धन–"मैं अभी कुछ नहीं कह सकता। वह चलकर बताऊँगा।"

डाकू–"मैं वहाँ तक इस शर्त पर चलूँगा, अगर मैंने शिवराम के घर में सेंध नहीं मारी हो और गोरा को कोई तकलीफ़ न दी हो तो तुम मुझे छोड़ दोगे। वरना मैं यहीं नदी में कूद पड़ूँगा और तैर के कहीं निकल जाऊँगा। पुलिस के हाथों में मैं नहीं जाना चाहता।"

गोवर्धन—"तुम्हारा इख़्तियार है, जी चाहे पानी में कूद पड़ो या अपना सर पटक लो, तुम्हारी ख़ातिर से इतना कहता हूँ कि अगर तुमने वहाँ कोई शरारत नहीं की है तो तुम्हें पुलिस के हवाले न करूँगा।"

डाकू—"कसम खाओ।"

गोवर्धन—"तुम्हारे सर की कसम।"

डाकू ख़ामोश हो गया। थोड़ी देर बाद किश्ती किनारे पर लगी और एक आवाज़ सुनाई दी—"दादा, आज तुमने इतनी देर क्यों की?"

गोवर्धन ने आवाज़ पहचान ली और खुश-खुश डाकू का हाथ पकड़े हुए किश्ती से उतरकर बोला—"क्या तुम्हारे दादा नहीं आए? आधी रात होने को आई है, क्या तुम यहाँ देर से खड़ी हो?"

गोरा ने गोवर्धन को डाकू के साथ देखा तो मारे शरम के अरक़-अरक़ (पानी-पानी) हो गई। उसने सर झुका लिया और वहाँ से ज़रा हट गई। गोवर्धन ने देखा कि उसकी साड़ी घुटने से ऊपर तक आ के रह गई है। घूँघट निकालने की कोशिश में उसकी पीठ खुली जाती है। गोरा इस वक़्त वहाँ से भाग जाना चाहती थी। अपने मँगेतर के सामने इस बुरी हैसियत से वह कभी नहीं आई थी, मगर गोवर्धन डाकू का हाथ पकड़े हुए गोरा के सामने आया और बोला—"देखो गोरा! इस वक़्त शरमाओ मत। जब महतो आवें तो जी भरकर लजा लेना। तुम इस औरत को जानती हो?"

गोरा ने अहिस्ता से कहा—"हाँ।"

गोवर्धन—"इसने तुम्हारे यहाँ से कोई चीज़ चुराई?"

गोरा—"नहीं।"

गोवर्धन—"तुमने अपनी साड़ी इसे दे दी?"

गोरा—"इसने मुझसे छीन ली।"

डाकू ने बोलना चाहा, मगर गोवर्धन ने डाँटकर उसे ख़ामोश कर दिया और फिर गोरा से जिरह करने लगा—"तुमने अपनी नाव इसे दी?"

गोरा—"इसने ज़बरदस्ती खोल ली। मैं तो मना करती रही।"

गोवर्धन—"तुम्हें इसने मारा तो नहीं?",

गोरा ज़बान से नहीं बोली। मगर उसकी धीमी-धीमी सिसकियाँ सुनाई दीं। गोवर्धन से अब सब्र न हो सका। उसने वही डंडा उठा लिया जो डाकू ने गोरा से छीना था और डाकू के पीछे दौड़ा। डाकू जान बचाकर भागा और उस तरफ़ जिधर अथाह दलदल था, तेज़ी से भागा हुआ चला गया। सुबह को जब लोगों ने जाकर देखा तो दलदल में उन्हें उन्हीं पैरों के निशान नज़र आए। इसके बाद एक गड्ढा-सा दिखाई दिया। लोग समझ गए कि यही उस डाकू की क़ब्र है। जैसी करनी वैसी भरनी।

('अदीब', उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1912)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988 में उर्दू से संपादक द्वारा हिंदी में लिप्यंतर एवं वहीं से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005)

मनावन

1

बाबू दयाशंकर उन लोगों में थे जिन्हें उस वक़्त तक सोहबत का मज़ा नहीं मिलता जब तक कि वह प्रेमिका की ज़बान की तेज़ी का मज़ा न उठाएँ। रूठे हुए को मनाने में उन्हें बड़ा आनंद मिलता। फिरी हुई निगाहें कभी-कभी मुहब्बत के नशे की मतवाली आँखों से भी ज़्यादा मोहक जान पड़तीं। कभी-कभी प्रेमिका की बेरुखी और तुर्शियाँ जोश और उमंग से भी ज़्यादा आकर्षक लगतीं। झगड़ों में मिलाप से ज़्यादा मज़ा आता। पानी में हलके-हलके झकोले कैसा समाँ दिखा जाते हैं। जब तक दरिया में धीमी-धीमी हलचल न हो, सैर का लुत्फ नहीं।

अगर बाबू दयाशंकर को इन दिलचस्पियों के कम मौक़े मिलते थे तो यह उनका क़सूर न था। गिरिजा स्वभाव से बहुत नेक और गंभीर थी, तो भी चूँकि उसे अपने पति की रुचि का अनुभव हो चुका था, इसलिए वह कभी-कभी अपनी तबीयत के खिलाफ़ सिर्फ़ उनकी ख़ातिर से उनसे रूठ जाती थी। मगर यह बे-नींव की दीवार हवा का झोंका भी न सम्हाल सकती। उसकी आँखें, उसके होंठ और उसका दिल यह बहुरूपिये का खेल ज़्यादा देर तक न चला सकते। आसमान पर घटाएँ आतीं मगर सावन की नहीं, कुँआर की। वह डरती, कहीं ऐसा न हो कि हँसी-हँसी में रोना आ जाए। आपस की बदमज़गी के ख़याल से उसकी जान निकल जाती थी, मगर इन मौक़ों पर बाबू साहब को जैसी-तैसी रिझानेवाली घातें सूझतीं, वह काश विद्यार्थी जीवन में सूझी होतीं तो वह कई साल तक क़ानून से सिर मारने के बाद भी मामूली क्लर्क न रहते।

2

दयाशंकर को क़ौमी जलसों से बहुत दिलचस्पी थी। इस दिलचस्पी की बुनियाद उसी ज़माने में पड़ी जब वह क़ानून की दरगाह के मुजाविर थे और वह अब तक कायम थी। रुपयों की थैली ग़ायब हो गई थी मगर कंधों में दर्द मौजूद था। इस साल कांफ्रेंस

का जलसा सतारा में होनेवाला था। नियत तारीख़ से एक रोज़ पहले बाबू साहब सतारा को रवाना हुए। सफ़र की तैयारियों में इतने व्यस्त थे कि गिरिजा से बातचीत करने की भी फुर्सत न मिलती थी। आनेवाली खुशियों की उम्मीद उस क्षणिक वियोग के ख़याल के ऊपर भारी थी।

कैसा शहर होगा! बड़ी तारीफ़ सुनते हैं। दकन सौंदर्य और संपदा की ख़ान है। ख़ूब सैर रहेगी। हज़रत तो इन दिल को खुश करनेवाले ख़यालों में मस्त थे और गिरिजा आँखों में आँसू-भरे अपने दरवाज़े पर खड़ी यह कैफ़ियत देख रही थी और ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी कि इन्हें ख़ैरियत से लाना। वह खुद एक हफ़्ता कैसे काटेगी, यह ख़याल बहुत ही कष्ट देनेवाला था।

गिरिजा इन विचारों मे व्यस्त थी और दयाशंकर सफ़र की तैयारियों में। यहाँ तक कि सब तैयारियाँ पूरी हो गईं। इक्का दरवाज़े पर आ गया। बिस्तर और ट्रंक उस पर रख दिए गए और तब विदाई भेंट की बातें होने लगीं। दयाशंकर गिरिजा के सामने आए और मुस्कराकर बोले—"अब जाता हूँ।"

गिरिजा के कलेजे में एक बर्छी-सी लगी। बरबस जी चाहा कि उनके सीने से लिपटकर रोऊँ। आँसुओं की एक बाढ़-सी आँखों में आती हुई मालूम हुई मगर ज़ब्त करके बोली—"जाने को कैसे कहूँ, क्या वक़्त आ गया?"

दयाशंकर—"हाँ, बल्कि देर हो रही है।"

गिरिजा—"मंगल को शाम की गाड़ी से आओगे न?"

दयाशंकर—"ज़रूर, किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम सिर्फ़ उसी दिन मेरा इंतज़ार करना।"

गिरिजा—"ऐसा न हो भूल जाओ। सतारा बहुत अच्छा शहर है।"

दयाशंकर—(हँसकर) "वह स्वर्ग ही क्यों न हो, मंगल को यहाँ ज़रूर आ जाऊँगा। दिल बराबर यहीं रहेगा। तुम ज़रा भी न घबराना।"

यह कहकर गिरिजा को गले लगा लिया और मुस्कराते हुए बाहर निकल आए। इक्का रवाना हो गया। गिरिजा पलंग पर बैठ गई और ख़ूब रोई। मगर इस वियोग के दुख, आँसुओं की बाढ़ अकेलेपन के दर्द और तरह-तरह के भावों की भीड़ के साथ एक और ख़याल दिल में बैठा हुआ था, जिसे वह बार-बार हटाने की कोशिश करती थी—क्या इनके पहलू में दिल नहीं है! या है तो उस पर उन्हें पूरा-पूरा अधिकार है? वह मुस्कराहट जो विदा होते वक़्त दयाशंकर के चेहरे पर लग रही थी, गिरिजा की समझ में नहीं आती थी।

3

सतारा में बड़ी धूमधाम थी। दयाशंकर गाड़ी से उतरे तो वर्दीपोश वालंटियरों ने उनका स्वागत किया। एक फिटन उनके लिए तैयार खड़ी थी। उस पर बैठकर वह कांफ्रेंस

पंडाल की तरफ़ चले। दोनों तरफ़ झंडियाँ लहरा रही थीं। दरवाज़े पर वंदनवारें लटक रही थीं। औरतें अपने झरोखों से, मर्द बरामदों में खड़े हो-होकर ख़ुशी से तालियाँ बजाते थे। इस शान-शौकत के साथ वह पंडाल में पहुँचे और एक ख़ूबसूरत ख़ेमे में उतरे! यहाँ सब तरह की सुविधाएँ एकत्र थीं। दस बजे कांफ्रेंस शुरू हुई। वक्ता अपनी-अपनी भाषा के जलवे दिखाने लगे। किसी के हँसी-दिल्लगी से भरे हुए चुटकुलों पर वाह-वाह की धूम मच गई, किसी की आग बरसानेवाली तकरीर ने दिलों में जोश की एक लहर-सी पैदा कर दी। विद्वतापूर्ण भाषणों के मुकाबले में हँसी-दिल्लगी और बात कहने की ख़ूबी को लोगों ने पसंद किया। श्रोताओं को उन भाषणों में थियेटर के गीतों का-सा आनंद आता था।

कई दिन तक यही हालत रही और भाषणों की दृष्टि से कांफ्रेंस को शानदार कामयाबी हासिल हुई। आख़िरकार मंगल का दिन आया। बाबू साहब वापसी की तैयारियाँ करने लगे। मगर कुछ ऐसा संयोग हुआ कि आज उन्हें मज़बूरन ठहरना पड़ा। बम्बई और यू. पी. के डेलीगेटों में एक हाकी मैच की ठहर गई। बाबू दयाशंकर हाकी के बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। वह भी टीम में दाख़िल कर लिए गए थे। उन्होंने बहुत कोशिश की कि अपना गला छुड़ा लूँ मगर दोस्तों ने इनकी आनाकानी पर बिलकुल ध्यान न दिया। एक साहब जो ज़्यादा बेतकल्लुफ थे, बोले—"आख़िर तुम्हें इतनी जल्दी क्यों है? तुम्हारा दफ़्तर अभी हफ़्ता भर बंद है। बीवी साहबा की नाराज़गी के सिवा मुझे इस जल्दबाज़ी का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।" दयाशंकर ने जब देखा कि जल्दी ही मुझ पर बीवी का गुलाम होने की फबतियाँ कसी जानेवाली हैं, जिससे ज़्यादा अपमानजनक बात मर्द की शान में कोई दूसरी नहीं कही जा सकती, तो उन्होंने बचाव की कोई सूरत न देखकर वापसी मुल्तवी कर दी और हाकी में शरीक हो गए। मगर दिल में यह पक्का इरादा कर लिया कि शाम की गाड़ी से ज़रूर जाएँगे, फिर चाहे कोई बीवी का गुलाम नहीं, बीवी के गुलाम का बाप कहे, एक न मानेंगे।

ख़ैर, पाँच बजे खेल शुरू हुआ। दोनों तरफ़ के खिलाड़ी बहुत तेज़ थे, जिन्होंने हाकी खेलने के सिवा ज़िंदगी में और कोई काम ही नहीं किया। खेल बड़े जोश और सरगर्मी से होने लगा। कई हज़ार तमाशाई जमा थे। उनकी तालियाँ और बढ़ावे खिलाड़ियों पर मारू बाजे का काम कर रहे थे और गेंद किसी अभागे की क़िस्मत की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता था। दयाशंकर के हाथों की तेज़ी और सफ़ाई, उनकी पकड़ और बेऐब निशानेबाज़ी पर लोग हैरान थे, यहाँ तक कि जब वक़्त ख़त्म होने में सिर्फ़ एक मिनट बाक़ी रह गया था और दोनों तरफ़ के लोग हिम्मतें हार चुके थे तो दयाशंकर ने गेंद लिया और बिजली की तरह विरोधी पक्ष के गोल पर पहुँच गए। एक पटाखें की आवाज़ हुई, चारों तरफ़ गोल का नारा बुलंद हुआ। इलाहाबाद की जीत हुई और इस जीत का सेहरा दयाशंकर के सिर था—जिसका नतीजा यह हुआ कि बेचारे दयाशंकर को उस वक़्त भी रुकना पड़ा और सिर्फ़ इतना ही नहीं, सतारा

अमेचर क्लब की तरफ़ से इस जीत की बधाई में एक नाटक खेलने का प्रस्ताव हुआ, जिससे बुध के रोज़ भी रवाना होने की कोई उम्मीद बाक़ी न रही। दयाशंकर ने दिल में बहुत पेचोताब खाया मगर ज़बान से क्या कहते। बीवी का गुलाम कहलाने का डर ज़बान बंद किए हुए था, हालाँकि उनका दिल कह रहा था कि अबकी देवी रूठेंगी तो सिर्फ़ खुशामदों से न मानेंगी।

4

बाबू दयाशंकर वादे के रोज़ के तीन दिन बाद मकान पर पहुँचे। सतारा से गिरिजा के लिए कई अनूठे तोहफ़े लाए थे। मगर उसने इन चीज़ों को कुछ इस तरह देखा कि जैसे उनसे उसका जी भर गया है। उसका चेहरा उतरा हुआ था और होंठ सूखे थे। दो दिन से उसने कुछ नहीं खाया था। अगर चलते वक़्त दयाशंकर की आँखों से आँसू की चंद बूँदे टपक पड़ी होतीं या कम-से-कम चेहरा कुछ उदास और आवाज़ कुछ भारी हो गई होती तो शायद गिरिजा उनसे न रूठती। आँसुओं की चंद बूँदे उसके दिल में इस ख़याल को तरो-ताजा रखतीं कि उनके न आने का कारण चाहे और कुछ हो, निष्ठुरता हरगिज़ नहीं है। शायद हाल पूछने के लिए उसने तार दिया होता और अपने पति को अपने सामने ख़ैरियत से देखकर वह बरबस उनके सीने से जा चिपटती और देवताओं की कृतज्ञ होती। मगर आँखों की वह बेमौक़ा कंजूसी और चेहरे की वह निष्ठुर मुस्कान इस वक़्त उसके पहलू में खटक रही थी। दिल में यह ख़याल जम गया था कि मैं चाहे इनके लिए मर भी मिटूँ मगर इन्हें मेरी परवाह नहीं है। दोस्तों का आग्रह और ज़िद केवल बहाना है। कोई ज़बरदस्ती किसी को रोक नहीं सकता। ख़ूब! मैं तो रात-की-रात बैठकर काटूँ ओर वहाँ मज़े उड़ाए जाएँ!

बाबू दयाशंकर को रूठों के मनाने में विशेष दक्षता थी और इस मौक़े पर उन्होंने कोई बात, कोई कोशिश उठा नहीं रक्खी। तोहफ़े तो लाए थे मगर उनका जादू न चला। तब हाथ जोड़कर एक पैर से खड़े हुए, गुदगुदाया, तलुवे सहलाए, कुछ शोखी और शरारत की, दस बजे तक इन्हीं सब बातों में लगे रहे। इसके बाद खाने का वक़्त आया। आज उन्होंने रूखी रोटियाँ बड़े शौक से और मामूली से कुछ ज़्यादा खाईं—"गिरिजा आज हफ़्ते भर के बाद रोटियाँ नसीब हुई हैं, सतारे में रोटियों को तरस गए। पूड़ियाँ खाते-खाते आँतों में बायगोले पड़ गए। यक़ीन मानो गिरिजा, वहाँ कोई आराम न था, न कोई सैर, न कोई लुत्फ। सैर और लुत्फ तो महज़ अपने दिल की कैफ़ियत पर मुनहसर है। बेफ़िक्री हो तो चटियल मैदान में बाग़ का मज़ा आता है और तबीयत को कोई फ़िक्र हो तो बाग़ वीराने से भी ज़्यादा उजाड़ मालूम होता है। कम्बख़्त दिल तो हरदम यहीं धरा रहता था, वहाँ मज़ा क्या ख़ाक आता। तुम चाहे इन बातों को केवल बनावट समझ लो, क्योंकि मैं तुम्हारे सामने दोषी हूँ और तुम्हें अधिकार है कि मुझे

झूठा, मक्कार, दग़ाबाज़, बेवफ़ा, बात बनानेवाला जो चाहे समझ लो, मगर सच्चाई यही है जो मैं कह रहा हूँ, मैं जो अपना वादा पूरा नहीं कर सका, उसका कारण दोस्तों की ज़िद थी।"

दयाशंकर ने रोटियों की खूब तारीफ़ की क्योंकि पहले कई बार यह तरकीब फ़ायदेमंद साबित हुई थी, मगर आज यह मंत्र भी कारगर न हुआ और गिरिजा के तेवर बदले ही रहे।

तीसरे पहर दयाशंकर गिरिजा के कमरे में गए और पंखा झलने लगे; यहाँ तक कि गिरिजा झुँझलाकर बोल उठी—"अपनी नाज़बरदारियाँ अपने ही पास रखिए। मैंने हुज़ूर से भर पाया। मैं तुम्हें पहचान गई, अब धोखा नहीं खाने की। मुझे न मालूम था कि मुझसे आप यों दग़ा करेंगे।" ग़रज़ जिन शब्दों में बेवफ़ाइयों और निष्ठुरताओं की शिकायतें हुआ करती हैं, वह सब इस वक़्त गिरिजा ने खर्च कर डाले।?

5

शाम हुई। शहर की गलियों में मोतिये और बेले की लपटें आने लगीं। सड़कों पर छिड़काव होने लगा और मिट्टी की सोंधी ख़ुशबू उड़ने लगी। गिरिजा ख़ाना पकाने जा रही थी कि इतने में उसके दरवाज़े पर एक इक्का आकर रुका और उसमें से एक औरत उतर पड़ी। उसके साथ एक महरी थी। उसने ऊपर आकर गिरिजा से कहा—"बहू जी, आपकी सखी आ रही हैं।"

यह सखी पड़ोस में रहनेवाली अहलमद साहब की बीबी थीं। अहलमद साहब बूढ़े आदमी थे। उनकी पहली शादी उस वक़्त हुई थी, जब दूध के दाँत न टूटे थे। दूसरी शादी संयोग से उस ज़माने में हुई जब मुँह में एक दाँत भी बाक़ी न था। लोगों ने बहुत समझाया कि अब आप बूढ़े हुए, शादी न कीजिए, ईश्वर ने लड़के दिए हैं, बहुए हैं, आपको किसी बात की तकलीफ़ नहीं हो सकती। मगर अहलमद साहब खुद बुढ्ढे और दुनिया देखे हुए आदमी थे, इन शुभचिंतकों की सलाहों का जवाब व्यावहारिक उदाहरणों से दिया करते थे—"क्यों, क्या मौत को बूढ़ों से कोई दुश्मनी है? बूढ़े ग़रीब उसका क्या बिगाड़ते हैं। हम बाग़ में जाते हैं तो मुरझाये हुए फूल नहीं तोड़ते, हमारी आँखें तरो-ताज़ा, हरे-भरे ख़ूबसूरत फूलों पर पड़ती हैं। कभी-कभी गजरे वग़ैरह बनाने के लिए कलियाँ तोड़ भी ली जाती हैं। यही हालत मौत की है। क्या यमराज को इतनी समझ भी नहीं है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि जवान और बच्चे बूढ़ों से ज़्यादा मरते हैं। मैं अभी ज्यों-का-त्यों हूँ, मेरे तीन जवान भाई, पाँच बहनें, बहनों के पति, तीनों भावजें, चार बेटे, पाँच बेटियाँ, कई भतीजे, सब मेरी आँखों के सामने इस दुनिया से चल बसे। मौत सबको निगल गई मगर मेरा बाल बाँका न कर सकी। यह ग़लत, बिलकुल ग़लत है कि बूढ़े आदमी जल्द मर जाते हैं। और

असल बात तो यह है कि जवान बीवी की ज़रूरत बुढ़ापे में ही होती है। बहुएँ मेरे सामने निकला न चाहें और न निकल सकती हैं, भावजें खुद बूढ़ी हुईं, छोटे भाई की बीवी मेरी परछाईं भी नहीं देख सकती हैं, बहनें अपने-अपने घर हैं, लड़के सीधे मुँह बात नहीं करते। मैं ठहरा बूढ़ा, बीमार पड़ूँ तो पास कौन फटके, एक लोटा पानी कौन दे, देखूँ किसकी आँख से, जी कैसे बहलाऊँ! क्या आत्महत्या कर लूँ! या कहीं डूब मरूँ!" इन दलीलों के मुक़ाबिले में किसी की ज़बान न खुलती थी।

ग़रज़ इस नई अहलमदिन और गिरिजा में कुछ बहनापा-सा हो गया था, कभी-कभी उससे मिलने आ जाया करती थी। अपने भाग्य पर संतोष करनेवाली स्त्री थी, कभी शिकायत या रंज की एक बात ज़बान से न निकालती। एक बार गिरिजा ने मज़ाक में कहा था कि बूढ़े और जवान का मेल अच्छा नहीं होता। इस पर वह नाराज़ हो गई और कई दिन तक न आई। गिरिजा महरी को देखते ही फ़ौरन आँगन में निकल आई और गो उसे इस वक़्त मेहमान का आना नागवार गुज़रा मगर महरी से बोली—"बहन, अच्छी आईं, दो घड़ी दिल बहलेगा।"

ज़रा देर में अहलमदिन साहब गहने से लदी हुई, घूँघट निकाले, छमछम करती हुई आँगन में आकर खड़ी हो गईं। गिरिजा ने क़रीब आकर कहा—"वाह सखी, आज तो तुम दुलहिन बनी हो। मुझसे पर्दा करने लगी हो क्या!" यह कहकर उसने घूँघट हटा दिया और सखी का मुँह देखते ही चौंककर एक क़दम पीछे हट गई। दयाशंकर ने ज़ोर से क़हक़हा लगाया और गिरिजा को सीने से लिपटा लिया और विनती के स्वर में बोले—"गिरजन, अब मान जाओ, ऐसी ख़ता फिर कभी न होगी।" मगर गिरजा अलग हट गई और रुखाई से बोली—"तुम्हारा बहुरूप बहुत देख चुकी, अब तुम्हारा असली रूप देखना चाहती हूँ।"

6

दयाशंकर प्रेम-नदी की हलकी-हलकी लहरों का आनंद तो ज़रूर उठाना चाहते थे, मगर तूफ़ान से उनकी तबीयत भी उतना ही घबराती थी जितना गिरिजा की, बल्कि शायद उससे भी ज़्यादा। हृदय-परिवर्तन के जितने मंत्र उन्हें याद थे वह सब उन्होंने पढ़े और उन्हें कारगर न होते देखकर आख़िर उनकी तबीयत को भी उलझन होने लगी। यह वे मानते थे कि बेशक मुझसे ख़ता हुई है, मगर ख़ता उनके ख़याल में ऐसी दिल जलानेवाली सज़ाओं के क़ाबिल न थी। मनाने की कला में वह ज़रूर सिद्धहस्त थे, मगर इस मौक़े पर उनकी अक्ल ने कुछ काम न दिया। उन्हें ऐसा कोई जादू नज़र नहीं आता था जो उठती हुई काली घटाओं और ज़ोर पकड़ते हुए झोंकों को रोक दे। कुछ देर तक वह इन्हीं ख़याल में ख़ामोश खड़े रहे और फिर बोले—"आख़िर गिरजन, अब तुम क्या चाहती हो?"

गिरिजा ने अत्यंत सहानुभूतिशून्य बेपरवाही से मुँह फेरकर कहा—"कुछ नहीं।"

दयाशंकर—"नहीं, कुछ तो ज़रूर चाहती हो वर्ना चार दिन तक बिना दाना-पानी के रहने का क्या मतलब! क्या मुझ पर जान देने की ठानी है? अगर यही फ़ैसला है तो बेहतर है तुम यों जान दो और मैं क़त्ल के जुर्म में फाँसी पाऊँ, किस्सा तमाम हो जाए। अच्छा होगा, बहुत अच्छा होगा, दुनिया की परेशानियों से छुटकारा हो जाएगा।"

यह मंतर बिलकुल बेअसर न रहा। गिरिजा आँखों में आँसू भरकर बोली—"तुम ख़ामख़ाह मुझसे झगड़ना चाहते हो और मुझे झगड़े से नफ़रत है। मैं न तुमसे बोलती हूँ और न चाहती हूँ कि तुम मुझसे बोलने की तकलीफ़ गवारा करो। क्या आज शहर में कहीं नाच नहीं होता, कहीं हाकी मैच नहीं है, कहीं शतरंज नही बिछी हुई है। वहीं तुम्हारी तबीयत जमती है, आप वहीं जाइए, मुझे अपने हाल पर रहने दीजिए। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ।"

दयाशंकर करुण स्वर में बोले—"क्या तुमने मुझे ऐसा बेवफ़ा समझ लिया है?"

गिरिजा—"जी हाँ, मेरा तो यही तजुर्बा है।"

दयाशंकर—"तो तुम बहुत सख़्त ग़लती पर हो। अगर तुम्हारा यही खयाल है तो मैं कह सकता हूँ कि औरतों की अंतर्दृष्टि के बारे में जितनी बातें सुनी हैं, वह सब ग़लत हैं। गिरजन, मेरे भी दिल है..."

गिरिजा ने बात काटकर कहा—"सच, आपके भी दिल है यह आज नई बात मालूम हुई!"

दयाशंकर कुछ झेंपकर बोले—"ख़ैर, जैसा तुम समझो। मेरे दिल न सही, मेरे जिगर न सही, दिमाग़ तो साफ़ ज़ाहिर है कि ईश्वर ने मुझे नहीं दिया, वर्ना वकालत में फ़ेल क्यों होता। तो गोया मेरे शरीर में सिर्फ़ पेट है, मैं सिर्फ़ खाना जानता हूँ और सचमुच है भी ऐसा ही, तुमने मुझे कभी फ़ाका करते नहीं देखा। तुमने कई बार दिन-दिन भर कुछ नहीं खाया है, मैं पेट भरने से कभी बाज़ नहीं आया। लेकिन कई बार ऐसा भी हुआ है कि दिल और जिगर जिस कोशिश में असफल रहे, वह इसी पेट ने पूरी कर दिखाई या यों कहो कि कई बार इसी पेट ने दिल और दिमाग़ और जिगर का काम कर दिखाया है और मुझे अपने इस अजीब पेट पर कुछ गर्व होने लगा था, मगर अब मालूम हुआ कि मेरे पेट की बेहयाइयाँ लोगों को बुरी मालूम होती है...इस वक़्त मेरा खाना न बने। मैं कुछ न खाऊँगा।"

गिरिजा ने पति की तरफ़ देखा, चेहरे पर हलकी-सी मुस्कराहट थी, वह यह कह रही थी कि यह आख़िरी बात तुम्हें ज़्यादा सम्हलकर कहनी चाहिए थी। गिरिजा और औरतों की तरह यह भूल जाती थी कि मर्दों की आत्मा को भी कष्ट हो सकता है। उसके ख़याल में कष्ट का मतलब शारीरिक कष्ट था। उसने दयाशंकर के साथ और चाहे जो रियायत की हो, खिलाने-पिलाने में उसने कभी भी रियायत नहीं की और जब

तक खाने की दैनिक मात्रा उनके पेट में पहुँचती जाए उसे उनकी तरफ़ से कोई ज़्यादा अंदेशा नहीं होता था। हज़म करना दयाशंकर का काम था। सब पूछिये तो गिरिजा ही की सख़्तियों ने उन्हें हाकी का शौक दिलाया, वर्ना अपने सैकड़ों भाइयों की तरह उन्हें दफ़्तर से आकर हुक्के और शतरंज से ज़्यादा मनोरंजन होता था। गिरिजा ने यह धमकी सुनी तो त्योरियाँ चढ़ाकर बोली—"अच्छी बात है, न बनेगा।"

दयाशंकर दिल में कुछ झेंप-से गए। उन्हें इस बेरहम जवाब की उम्मीद न थी। अपने कमरे में जाकर अख़बार पढ़ने लगे। इधर गिरिजा हमेशा की तरह ख़ाना पकाने में लग गई। दयाशंकर का दिल इतना टूट गया था कि उन्हें ख़याल भी न था कि गिरिजा ख़ाना पका रही होगी। इसलिए जब नौ बजे के क़रीब उसने आकर कहा कि चलो ख़ाना खा लो तो वह ताज्जुब से चौंक पड़े, मगर यह यक़ीन आ गया कि मैंने बाज़ी मार ली। जी हरा हुआ, फिर भी ऊपर से रुखाई से कहा—"मैंने तो तुमसे कह दिया था कि आज कुछ न खाऊँगा।"

गिरिजा—"चलो थोड़ा-सा खा लो।"

दयाशंकर—"मुझे ज़रा भी भूख नहीं है।"

गिरिजा—"क्यों? आज भूख क्यों नहीं लगी?"

दयाशंकर—"तुम्हें तीन दिन से क्यों भूख नहीं लगी?"

गिरिजा—"मुझे तो इस वजह से नहीं लगी कि तुमने मेरे दिल को चोट पहुँचाई थी।"

दयाशंकर—"मुछे भी इस वजह से नहीं लगी कि तुमने मुझे तकलीफ़ दी है।"

दयाशंकर ने रुखाई के साथ यह बातें कहीं और अब गिरिजा उन्हें मनाने लगी। फ़ौरन पाँसा पलट गया। अभी एक ही क्षण पहले वह उसकी खुशामदें कर रहे थे, मुज़रिम की तरह उसके सामने हाथ बाँधे खड़े थे, गिड़गिड़ा रहे थे, मिन्नतें करते थे और बाज़ी पलटी हुई थी, मुज़रिम इंसाफ की मसनद पर बैठा हुआ था। मुहब्बत की राहें मकड़ी के जालों से भी पेचीदा हैं।

दयाशंकर ने दिल में प्रतिज्ञा की थी कि मैं भी इसे इतना ही हैरान करूँगा जितना इसने मुझे किया है और थोड़ी देर तक वह योगियों की तरह स्थिरता के साथ बैठे रहे। गिरिजा ने उन्हें गुदगुदाया, तलुवे खुजलाए, उनके बालों में कंधी की, कितनी ही लुभानेवाली अदाएँ ख़र्च कीं मगर असर न हुआ। तब उसने अपनी दोनों बाँहें उनकी गर्दन में डाल दीं और याचना और प्रेम से भरी हुई आँखें उठाकर बोलीं—"चलो मेरी क़सम, खा लो।"

फूस की बाँध बह गई। दयाशंकर ने गिरिजा को गले से लगा लिया। उसके भोलेपन और भावों की सरलता ने उनके दिल पर एक अजीब दर्दनाक असर पैदा किया। उनकी आँखें भी गीली हो गईं। आह मैं कैसा ज़ालिम हूँ, मेरी बेवफ़ाइयों ने इसे कितना रुलाया है, तीन दिन तक इसके आँसू नहीं थमे, आँखें नहीं झपकीं, तीन

दिन तक इसने दाने की सूरत नहीं देखी मगर मेरे एक ज़रा से इंकार ने, झूठे नक़ली इंकार ने चमत्कार कर दिखाया। कैसा कोमल हृदय है। गुलाब की पंखुडी की तरह, जो मुरझा जाती है मगर मैली नहीं होती। कहाँ मेरा ओछापन, खुदग़र्ज़ी और कहाँ यह बेखुदी, यह त्याग, यह साहस।

दयाशंकर के सीने से लिपटी हुई गिरिजा उस वक़्त अपने प्रबल आकर्षण से उनके दिल को खींचे लेती थी। उसने जीती हुई बाज़ी हारकर आज अपने पति के दिल पर कब्जा पा लिया। इतनी ज़बर्दस्त जीत उसे कभी न हुई थी। आज दयाशंकर को मुहब्बत और भोलेपन की इस मूरत पर जितना गर्व था, उसका अनुमान लगाना कठिन है। ज़रा देर में वह उठ खड़े हुए और बोले—"एक शर्त पर चलूँगा।"

गिरिजा—"क्या?"

दयाशंकर—"अब कभी मत रूठना।"

गिरिजा—"यह तो टेढ़ी शर्त है मगर...मंजूर है।"

दो-तीन क़दम चलने के बाद गिरिजा ने उनका हाथ पकड़ लिया और बोली—"तुम्हें भी मेरी शर्त माननी पड़ेगी।"

दयाशंकर—"मैं समझ गया। तुमसे सच कहता हूँ, अब ऐसा न होगा।"

दयाशंकर ने आज गिरिजा को भी अपने साथ खिलाया। वह बहुत लजाई, बहुत हीले किए, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा, यह तुम्हें क्या हो गया है। मगर दयाशंकर ने एक न मानी और कई कौर गिरिजा को अपने हाथ से खिलाए और हर बार अपनी मुहब्बत का बेदर्दी के साथ मुआवज़ा लिया।

खाते-खाते उन्होंने हँसकर गिरिजा से कहा—"मुझे न मालूम था कि तुम्हें मनाना इतना आसान है?"

गिरिजा ने नीची निगाहों से देखा और मुस्कराई, मगर मुँह से कुछ न बोली।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1912)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

धोखे की टट्टी

1

लाल मिर्च देखने में कैसी ख़ूबसूरत होती है, मगर खाने में कैसी कड़वी! सुरेंद्रू की भी यही कैफ़ियत थी, देखने में बहुत खुशवज़ा (परंपरा पर दृढ़) ख़ुशलिबास (चारु-वेष), ज़बान का बहुत मीठा, दोस्तों में बहुत हरदिल-अज़ीज, मगर बला का नफ़्सपरवर (विषय-लोलुप, ऐयाश), बदइख़्लाक, शरीर (उपद्रवी)। मदरसे की एंट्रेंस जमात में पढ़ता था। सिन (आयु) 16 साल से ज़ियादा न था, मगर मिज़ाज में अभी से आवारगी का दख़ल हो चला था। शराब की लज़्ज़तों (मज़े, लुत्फ़) से ज़बान मानूस (भयमुक्त) हो चुकी थी और घर के संदूक खोलकर रुपए चुरा लेना तो एक मामूली बात थी। वाल्देन समझा-बुझाकर हार गए, स्कूल मास्टरों ने मारपीट, जुर्माना, सब-कुछ आज़मा देखा, मगर सुरेंद्रू ने जो रविश (चाल-चलन, आचार-व्यवहार) अख़्तियार की थी, उसमें ज़रा भी न मुड़ा। शहर में कहीं बारात आए, कहीं नाच हो, कहीं ऐशो-तरब (भोग-विलास एवं आनंद) की महफ़िल सजे, सुरेंद्रू का वहाँ पहुँचना शर्ती अम्र (अनिवार्य कार्य्य) था। उसे कभी किसी ने किताब पढ़ते न देखा, मगर ताज्जुब यह था कि वह हर साल इंतिहान में कामयाब हो जाता था। इसका राज़ वजज़ (अतिरिक्त) उसके ख़ास दोस्तों के और कोई न जानता था। हाँ, इंतिहान के दिनों में वह हेडमास्टर और दीगर मास्टरों के मुलाज़िमों से ज़ियादा रब्तोज़ब्त (मित्रता) कर लेता। आम वाल्देन उस वक़्त तक लड़कों की तरफ़ से मायूस नहीं होते, जब तक वो एक ही दर्जे में बराबर फेल न हों। सुरेंद्रू ये नौबत नहीं आने देता था और इसलिए उसके वालिद, जो एक बहुत मुत्मइन (बेफ़िक्र) आदमी थे, उससे ज़ियादा बाज़पुर्स (पूछताछ) न करते। सुरेंद्रू में एक बड़ा वस्फ़ (गुण) यह था कि उसकी निगाह इंसान के कमज़ोर हिस्से पर बहुत जल्द जा पहुँचती थी और इस वस्फ़ से उसका बहुत काम निकलता। कोई स्कूल-मास्टर ऐसा न था, जिसके दाग़ और धब्बे उस पर रोशन न हों। इस गुर ने उसे एंट्रेंस तक निभाहा। यहाँ तक कि एंट्रेंस का सालाना इंतिहान आया, सुरेंद्रू ने इस मौक़े के लिए बड़े एहतिमाम (प्रबंध) किए थे। सब स्कूल-मास्टर

उसके ख़ैर-अंदेश (शुभचिंतक) बन गए थे। कामयाबी की सब सूरतें उसके मुआफ़िक (अनुकूल) थीं। मगर ऐन उस वक़्त जबकि उसकी दुज़्दीदी निगाहें (चुराई हुई नज़रे) दौड़-दौड़कर बरसों का काम लम्हों में पूरा किए देती थीं, एक गरजती हुई आवाज़ उसके कान में आई—“सूरेंद्र, क़लम रख दो। तुम्हें अब लिखने की इज़ाज़त नहीं है।”

सुरेंद्र ने माथा पीट लिया। यह हेडमास्टर साहब थे। इश्तहारी मुज़रिम गिरफ़्तार हो गया और उसका नाम स्कूल से ख़ारिज कर दिया गया।

2

सुरेंद्र के लिए अब वजज़ (अतिरिक्त) इसके और कोई चारा न था कि कहीं और तालीम का सिलसिला क़ायम करे, मगर इस हादिसे ने उसके दिल पर कोई इस्लाहबख़्श (सुधारपूर्ण) असर नहीं पैदा किया। इसने तो मुँहमाँगी मुराद पाई। उसे अब नई दुनिया देखने का, नई दिलचस्पियों के लुत्फ़ उठाने का, नए दोस्तों की सोहबत का मौक़ा हाथ आया। किसी दूसरी सूरत में ये आरज़ुएँ मुश्किल से पूरी होतीं। अब वो ख़ुद-ब-ख़ुद उसके रूबरू दस्तबस्ता (हाथ बाँधे हुए) खड़ी थीं। वह जिस वक़्त मदरसे से चला, उसका चेहरा कुछ तमतमाया हुआ था, मगर ये ग़ुस्सा बहुत जल्द ठंडा हो गया। ख़ुश होकर कहा—“मुल्के ख़ुदा तंगनेस्त (ईश्वर की सृष्टि इतनी संकुचित नहीं है)।” लेकिन अब कलकत्ता-यूनिवर्सिटी में दाख़िला ग़ैर-मुमकिन था और इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में कोई सूरत न निकली, इसलिए सीधा लाहौर जा पहुँचा और वहाँ एक मदरसे में शरीक़ हो गया। क्रिकेट का ज़बरदस्त खिलाड़ी, फुटबॉल में मुशाक (सिद्धहस्त), शक्लो-सूरत का जेंटलमैन, फ़राखदिल (दिल खोलकर खर्च करने वाला, बुलंद-हौसला)। ऐसा तालिबे-इल्म (विद्यार्थी) जहाँ जाए, उसे दोस्तों की कमी न रहेगी। लाहौर में बहुत जल्द दोस्तों की काफ़ी तादाद हो गई और फिर वही चहचहे और कहकहे उड़ने लगे, मगर ज़रा एतिआत के साथ, शर्म का पर्दा रक्खे हुए। सुबह को बाग़ों की सैर, शाम को क्रिकेट और फुटबॉल। रात को रिंदी-ओ-मेनोशी (शराब के दौर), फिर तरन्नुम परवाजियों के मश्ग़ले (वेश्या-नृत्यों में तल्लीनता)। कभी-कभी इन्हीं अश्ग़ाल (धंधों) में रातें गुज़र जातीं, मगर ये सब आज़ादियाँ और मस्तियाँ चंद वर्जिदा (अभ्यस्त), मात्तेमद (विश्वासी) अहबाब (मित्रों) तक मददूद थीं, वरना आमतौर पर ये हज़रत बहुत फिरिश्तासिफ़्त (दैवीय गुण-सम्पन्न), मोहतात (सँभलकर चलने वाला), हलीम-ओ-सलीम (सहनशील एवं शांतिप्रिय) मशहूर थे। यहाँ तक कि कॉलेज के प्रिंसिपल मि. काटन, जबकि लड़कियों के मदरसे का मुआइना करने जाते तो कभी-कभी सुरेंद्र को अपनी इस्मदाद के लिए साथ ले जाते। मुबारक होता वो दिन जब बाँका, सजीला सुरेंद्र लड़कियों के मदरसे में दाख़िल होता, हेड मिस्ट्रेस मिस गुप्ता का मुस्कराकर उससे हाथ मिलाना, आह! उस कफ़े-बलोरीन (नर्म हथेलियों) का

उसके हाथ में आना आँखों में नशे के एक तूफ़ान का आना था। उसका दिल उमंग से फूल उठता और दिल की फ़रहत (प्रसन्नता) और शिगुफ़्तगी (लिखावट) उसकी सूरते-ज़ेबा (मनोरम आकृति) का रंग और भी चोखा कर देती। फिर ये एक कुदरती बात थी कि मिस गुप्ता को उसकी होने वाली बीवी पर रश्क़ आता।

एक दिन सुरेंद्रू कॉलेज से आ रहा था कि कलकत्ता के एक पुराने रफ़ीक़ (दोस्त) से आँखें चार हुईं। ये बाबू हरिमोहन थे। उन्हें देखते ही सुरेंद्रू का खून सर्द हो गया। हरिमोहन उसकी नाहमवारियों (अशिष्टताओं, उजड्डपन) के करिश्मे अपनी आँखों से देख चुके थे। बहुत घबराया, मगर तपाक से बढ़कर सलाम किया और ख़ैरो-आफ़ियत पूछीं। हरिमोहन ने उसे सिर से पैर तक देखा। ख़ाक़ा वही था मगर रंग नया। कुछ इधर-उधर की बातें हुईं। जब अलेहदा होने लगे तो सुरेंद्रू ने बहुत मिन्नत-आमेज़ लहज़े में कहा—"भाई साहब, जिसे खुदा ने ख़राब बनाया है, वह कभी अच्छा नहीं हो सकता। मैंने बहुत कोशिश की कि नेकबख़्त बन जाऊँ, मगर ना बन सका। हाँ, नेकबख़्ती की शोहरत हासिल कर ली। यहाँ बजज़ आपके कोई दूसरा मेरे हालत से वाक़िफ़ नहीं है। इसलिए मुझ ग़रीब पर नज़रे-इनायत रखिएगा। आप चाहें तो बात-की-बात में मेरा रंग फीका कर सकते हैं। मैं बिलकुल आपके बस में हूँ, मगर मुझे आप पर भरोसा है। आपको मैं हमेशा अपना बुज़ुर्ग और ख़ैर-अंदेश समझता रहा हूँ।"

सुरेंद्रू की बारीक निगाहें हरिमोहन के कमज़ोर हिस्से पर जा पहुँचीं। उनके चेहरे पर हमदर्दाना (सहानुभूतिपूर्ण) मुस्कराहट नज़र आई। बोले—"मुझे तुम हमेशा अपना दोस्त समझना।"

3

सुरेंद्रू ने लाहौर में एक बड़ा काम सर-अंजाम किया। उसने एक 'यंगमैन यूनियन' क़ायम कर ली और खुद उसका सेक्रेटरी बन बैठा। इस यूनियन के मक़ासद (उद्देश्य) बहुत आला थे, नौजवानों के आदाब-ओ-इख़्लाक़ की तहज़ीब, इल्मी और अमली तरक़्क़ी, इत्तिफ़ाक़े-बाहमी (पारस्परिक एकता और मैत्री) की इशाअत (प्रचार-प्रसार) वग़ैरा। मेम्बरों को कुछ माहवारी चंदा देना पड़ता और अज़रुए-हल्फ़ (शपथ के अनुसार) इक़रार करना पड़ता कि मैं इस यूनियन के किसी मेम्बर को किसी आफ़त में देखूँगा तो हर मुमकिन सूरत में उसकी मदद करूँगा। चंदा की रक़म से चंद अख़बार आते और जो कुछ बचता वो कारे-ख़ैर (भलाई के कामों) में सर्फ़ होता। इस काम में सुरेंद्रू को शानदार कामयाबी हासिल हुई। एक माह के अंदर यूनियन में 50 से ज़ियादा मेम्बर हो गए। पच्चीस रुपए माहवार चंदा आने लगा। पाँच यतीमों और कई बेवाओं की परवरिश होने लगी। इस कामयाबी का सेहरा मिस्टर सेक्रेटरी के सिर

था, जिसकी शोहरत दिन दूनी और रात चौगुनी हुई जाती थी। प्रिंसिपल कॉटन उसे पहले ही से मानते थे, अब मुरीद (भक्त) हो गए। शहर में भी यूनियन का चर्चा होने लगा, मगर ये शानदार नाम का यूनियन बजज़ शोहदों की एक जमात के और कुछ नहीं था। मुख़्तलिफ़ कॉलेजों के जितने औबास (लंपट लोग, शोहदे), आवारामिज़ाज, वदवज़ा (अशिष्ट शीलस्वभाव), बदकुमाश (दुराचारी), सैलानी तुलबा (विद्यार्थीगण) ये सब इसके मेम्बर थे। यूनियन का कमरा उनकी दिलबस्तगियों (मनोरंजन) का अखाड़ा था; यहाँ वो गाते-बजाते और यहाँ ही रिंदाना मजलिसें आरास्ता होतीं, क्योंकि फ़ने-मौसिक़ी (संगीत-कला) की इशाअत (प्रचार-प्रसार) भी यूनियन के प्रोग्राम में शामिल थी। यूनियन के सारे मेम्बर सुरेंद्र को अपना रहबर और पेशवा तस्लीम करते थे। उसने हरेक के दिल में यह बात जमा दी थी अगर तुम बिला मेहनत और मशक़्क़त (कष्ट) के इम्तिहान पास करना चाहते हो तो वजज़ इसके कोई इलाज़ नहीं कि यूनियन के रुकन (सदस्य) बन जाओ। सुरेंद्र इम्तिहानी पर्चों की सुराग़सानी में यदंतूला (अत्यधिक कुशल) था और यही उसके असर और दबाव का राज़ था। कॉलेज में सुरेंद्र की वही इज़्ज़त थी जो किसी प्रोफ़ेसर की। शहर में उसके आगे अच्छे-अच्छों के सिर झुक जाते, चूँकि कई बार उसे इस माकूला के अमली सबूत देने का मौक़ा मिल चुका था कि इत्तिफ़ाक़ एक ज़बरदस्त ताक़त है।

यूनियन के मेम्बरों की ज़िंदगी वाक़ई क़ाबिले-रश्क़ थी। इम्तिहान के दिन सिर पर आ गए थे। आम तुलबा (छात्रों) पर ख़्वाबोख़ोर (गहरी नींद) हराम हो गया था। रात-की-रात और दिन-के-दिन मशक़्क़तें और मुताला (परिश्रम और अध्ययन) के सिवा कोई काम न था। वर्जिश का मैदान, क्लब, लाइब्रेरी सब वीरान पड़े हुए थे। हर उम्मीदवार किसी संन्यासी की तरह मुराकबा (समाधि, अंतर्लीन) में बैठा हुआ नज़र आता था। जिसे देखिए अपनी कोठरी में समाधि लगाये बैठा है। इस शबानारोज़ (रात-दिन) की दीदारेज़ी (आँखों पर ज़ोर डालना, बहुत सोच-विचार) और दिमाग़सोज़ी (माथा-पच्ची) ने दर्दे-सर, दर्दे-चश्म (आँखों में दर्द), शिकले-हज़्म (अपाचनता), बुखार और दीगर अवारिज़ (अन्य बीमारियों) का तूफ़ान बरपा कर दिया है। आँखें फोड़े की तरह दुख रही हैं, मगर किताब हाथ में है। मारे दर्द के सिर फटा जाता है, मगर पेंसिल हाथ से नहीं छूटती। बुख़ार से बदन तवा हो रहा है, मगर ज़बान दर्द से मसरूफ़ है। इधर तो ये आफ़तें थीं, उधर यूनियन के मेम्बर चैन की बाँसुरी वजाते थे। कभी गाना हो रहा है, कभी चाय-पार्टी, कभी पिकनिक, जिसे देखिये बेग़म और बेफ़िक्र गुलछर्रे उड़ाता नज़र आता है। किसी को इम्तिहान की ज़र्रा-बराबर फ़िक्र नहीं। यहाँ तक कि इम्तिहान के दिन आए और यूनियन के भाग्य जाग उठे। कॉलेज के आम तुलबा बमुश्किल बीस फ़ीसदी कामयाब हुए। यूनियन के सौ मेम्बरों में सिर्फ़ 25 फेल थे। लोगों को अचंभा हो गया, मगर असल राज़ किसी की समझ में न आया। वो सुरेंद्र, जिसने ख़्वाब में भी किताब की सूरत न देखी, अव्वल दर्जा में पास हुआ।

4

इसी अस्ना (बीच) में मिस गुप्ता का तबादला हुआ और मिस रोहिणी सरकार कलकत्ता से उनकी जगह पर मुक़र्रर होकर आईं। रोहिणी हुस्नोअदा में मिस गुप्ता की नेमलबदल (पूर्णतः अनुरूप) थीं, उस पर तुर्रा ये कि दोशीज़ा (कुमारी)। सुरेंद्रू ने पहली निगाह से अपने शिकार को ताड़ लिया और रोहिणी भी पहली मुलाक़ात में उसकी मर्दाना वज़ा (ढंग), शरीफ़ाना बशरा (चेहरा) और दिलफ़रेब बेतकल्लुफ़ी से हद दर्जा मुतासिर (प्रभावित) हुईं। मिस गुप्ता ने उससे सुरेंद्रू की बेइंतिहा तारीफ़ें की थीं और इस तज़किरा (ज़िक्र) ने उसके दिल में सुरेंद्रू से एक लगाव-सा पैदा कर दिया था। उसने उसे उन तमाम औसाफ़-ओ-कमालात (गुणों, खूबियों) से आरास्ता (विभूषित) पाया, जिनका अपने शौहर में मौजूद रहना वो ज़रूरी समझती थी। सर्वो नमाक़द (ऊँचा क़द), छरेरा बदन, मुस्कराता हुआ चेहरा, ख़ुश-इख़्लाक़, ख़ुशबयान (मधुरभाषी), गो एक या दो मुलाक़ातें एक ऐसे अहम मामले में तस्फ़िया (निर्णय) करने के लिए काफ़ी नहीं हो सकतीं, मगर सुरेंद्रू ने इतनी दिनों भाड़ नहीं झोंकी थी। जब से होश-सँभाला, उसने इसी कूचे की ख़ाक छानी। इसी वहर (ढंग) की ख्वाही की। उसने देख लिया कि मछली चारा कुतरने लगी, अब फँसने में देर नहीं है।

रोहिणी दिन भर सुरेंद्रू की तारीफ़ें सुनती। यूनियन के एक सौ मेंबरों में से हरेक शख़्स मौक़ा और महल देखकर सुरेंद्रू का ज़िक्रे-ख़ैर उससे कर जाता। उनकी बीवियाँ, बहनें आतीं और उसका बख़ान करतीं। गर्ज़ सुबह से शाम तक इस तरह की बातें उसके कान में पड़ती रहतीं। यहाँ तक कि इन अमलीयात ने उस सादा बेलौस लड़की को मुहब्बत से दीवाना बना दिया। ये वशीकरण मंतर अपना काम कर.गया। अब रोहिणी को दर्दे-तन्हाई की कसक महसूस होने लगी। हर वक़्त अकेलेपन का ख़्याल दिल को सताने लगा। मकान और बाग़ और सैरगाहें सूनी मालूम होने लगीं। गर्ज़ आँखें आठों पहर सुरेंद्रू के इंतज़ार में रहने लगीं। एक भोला-भाला दिल नुमाइशात (छल-कपट) के नज़र हो गया।

जब ये मंज़िल दुश्वार तय हो गई तो मँगनी और ब्याह में क्या देर लगती? ये दोनों मरासम (रस्में) बहुत सादगी और मतानत (संजीदगी) के साथ अदा किए गए। जिस वक़्त आचार्य रस्में निकाह (विवाह-संस्कार) अदा कर रहे थे, सुरेंद्रू ऐसा मुताइयन (संजीदा) और मरऊब (दबा हुआ) नज़र आता था, गोया वो इस नई ज़िंदगी की जुम्मेदारियों के ख़्याल से दबा जाता है। जब दुआ-निकाह ख़त्म हुई तो सारे मजमा (भीड़, सभा) ने 'आमीन' (तथास्तु) कहा। सिर्फ़ हरिमोहन की ज़बान से ये दुआ न निकली। यूनियन के मेम्बरों ने शादी की खुशी में एक ज़बरदस्त और पुरशोर महफ़िल सजाई। रात-भर हूँहक़ हुआ की। शराब के खुम-के-खुम (मटके पर मटके) खाली हो

गए। खुशक़िस्मती से सुरेंद्र इसी साल बी. ए. में कामयाब हो गया। यूनियन की हैरतअंग़ेज़ कामयाबी ने सब को हैरत में डाल दिया। एक मेम्बर भी फेल न हुआ।

5

शादी हो गई। दोस्तों ने खूब दिल खोलकर मुबारकवाद दी। बिलखुसूस (मुख्यतः) मिस गुप्ता तो फूली न समाई। वो देहली से इस तक़रीब (विवाह) में शरीक होने के लिए आई। हफ़्ता-भर तक जश्न होते रहे। इसके बाद मियाँ-बीवी शिमला की सैर को रवाना हुए। यूनियन के मेंबर, गर्ल्स स्कूल का स्टाफ़ और दीग़र अहबाब रुख़सत करने के लिए स्टेशन तक आए। इसमें बाबू हरिमोहन भी थे। जब सब लोग रुख़सत हो गए और इंजन ने चीख़कर गाड़ी खींची तो हरिमोहन ने भी विदाई-मसाफ़ा किया। उनकी आँखों में आँसू और दिल में अफ़सोसनाक ख़्यालात भरे हुए थे। वो वहाँ ख़ामोश गाड़ी की तरफ़ टकटकी लगाये देर तक खड़े रहे। यहाँ तक कि वो नज़रों से ओझल हो गई। उनका दिल कहता था कि ये मुसर्रत का सफ़र नहीं, रंजोग़म का सफ़र है।

महीना-भर तक रोहिणी और सुरेंद्र शिमला में रहे और इस महीने भर में उन्हें एक-दूसरे की खू-बू का पूरा तर्जुबा हो गया। शुरू में रोहिणी ने मिस गुप्ता को जो ख़तूत लिखे, वो इश्क़ो-मुहब्बत के जज़्बात से भरे हुए थे। मिस गुप्ता इन ख़तूत को बार-बार पढ़तीं और सैर (सन्तुष्ट) ना होतीं, मगर रफ़्ता-रफ़्ता इन ख़तूत का रंग अंदो-वो-हसरत (क्लेह और निराशा) की तरफ़ माइल होने लगा। यहाँ तक कि आख़िरी खत, जिसमें लिक्खा था—"आज हम लोग यहाँ से लाहौर रवाना हो रहे हैं", बहुत दिलशिकन (हृदयद्रावक) था। उसमें आख़िरी अल्फ़ाज ये थे—"प्यारी बहन, मुझे ऐसा ख़ौफ़ होता है कि इस ख़्वाबे-मुसर्रत (आनंद के स्वप्न) से बहुत जल्द बेदार होना (जागना) पड़ेगा। जिस चीज़ को मैंने ख़ालिस सोना समझा, वो महज़ चमकता हुआ पीतल निकला। अफ़सोस, मैंने अपनी मुहब्बत की दीवार बालू पर खड़ी की थी। खुदा करे, मेरे शुब्हे ग़लत हों। खुदा न करे, मेरे ये बशोसे (निराशापूर्ण शक) सही हों, मगर प्यारी बहन, मेरा दिल बार-बार कहता है कि और कुराइन (हालात) उसकी तस्दीक़ (प्रमाणित) करते हैं कि हस्ती (अस्तित्व) का सर्माया ख़त्म हो गया। अब वक़इया ज़िंदगी रोने में कटेगी।"

मिस गुप्ता इस पुरदर्द ख़त को पढ़कर बहुत रोई। लाहौर में जब मालूम हुआ कि ये लोग वापस आ रहे हैं तो लोगों को ताज़्जुब हुआ। दो महीने का सामान करके चले थे और क़ियास (अनुमान) ये कहता था कि वहाँ की दिलफ़रेबियों से इतनी जल्दी तबीयत आसूदा (संतुष्ट) न हो, मगर इसके बरअक़्स (प्रतिकूल) ये लोग एक ही माह में उक्ता गए। ज़रूर कोई-न-कोई बात है। आख़िर मुकर्रा वक़्त आया। अहबाब

उनका ख़ैर-मक़दम करने के लिए स्टेशन पर पहुँचे। गाड़ी आई और मियाँ-बीवी उसमें उतर पड़े। न कपड़ों का बक्स था, न ट्रंक, न बिस्तर। सुरेंद्रू की आँखें शराब से सुर्ख़ हो रही थीं और रोहिणी, आह! वो नौशुगुफ़्ता (नया खिला) फूल अब मुर्झा कर ज़र्द (पीला) हो गया था। चेहरा ऐसा पसमुर्दा और अफ़्सुर्दा (निचुड़ा हुआ) था, गोया (अतृप्ति और निराशा) की तस्वीर थी। बाद को मालूम हुआ कि सारा असबाब शराब की नज़र हुआ और ज़ेवर जुए के। कान के आवेज़े (बुंदे) तक न बचे।

6

लाहौर में आकर रोहिणी तो अपने दर्सोतालीम (शिक्षा देने में) मसरूफ़ हुई और सुरेंद्रू मएक़सी (शराब पीने में) में। यूनियन का शीराज़ा (संगठन) अब बिखर गया था, इसलिए बजज़ शराब के दिलबस्तगी (मनोरंजन) का और कोई ज़रिया बाक़ी न रहा। अगर कभी रोहणी समझाने की कोशिश करती तो सुरेंद्रू के तेवर बदल जाते। प्रिंसिपल कॉटन ने ये समझकर कि बेकारी ने उसकी ये गत बना रक्खी है, उसे अकाउंटेंट के दफ़्तर में एक बहुत माक़ूल जगह दिला दी, मगर जिस शख़्स की तहसील का ज़माना (हासिल करने का समय) ख़रमस्तियों (गधे की तरह मस्तियों) में गुज़रा हो, वो सुबह से शाम तक दफ़्तर में ख़ुश्क काग़ज़ों और रूहफ़र्सा एदाद (आत्मा को तंग करने वाले हिसाब) के साथ क्यों सर मारता? एक रोज़ हेड क्लर्क ने उसे चंद एदाद (गिनतियों) का मिज़ान मरत्तब (तैयार) करने का हुक्म दिया। मिज़ान लाखों तक पहुँचता था। सूरेंद्रू एदाद की लामिन्तनाही (अंतहीन) क़तारों को देखकर ऐसा घबराया कि दफ़्तर से बेतहाशा भागा कि घर पर आकर दम लिया। इसके बाद कई माह तक वो मुख़्तलिफ़ दफ़ातर (दफ़्तरों) की ख़ाक़ छानता रहा, मगर तलून और वहशत (अनिच्छा और मूर्खता) ने कहीं क़दम न जमने दिया। यहाँ तक कि प्रिंसिपल साहब मायूस हो गए और जुमला दफ़ातर (सभी दफ़्तरों) के दरवाज़े बंद हो गए।

ग़रीब, बेकस रोहिणी अब अपने किए पर पछताती थी, मगर दिल पर जो गुज़रता, ख़ामोशी के साथ झेलती। कभी हर्फ़े-शिकायत ज़बान पर न लाती। जब उसने देखा कि सुरेंद्रू को समझाने-बुझाने की कोशिश हमेशा सख़्त क़लामियों (कठोर शब्दों) का बाइस होती है तो क़िस्मत पर शाकिर (ईश्वर को धन्यवाद देकर) होकर बैठ रही। क़िस्मत मायूसों की आड़ और बदनसीबों का सहारा है। अख़राज़ात (ख़र्चों) के बाइस मुलाज़िमों को जवाब देना पड़ा। बेचारी बेज़बान औरत दिन-भर लड़कियों को पढ़ाती और गिरिस्ती का सारा काम करती। इन मुसीबतों ने उसकी सूरत को यहाँ तक मंसख़ (बिगाड़) कर दिया था कि बाबू हरिमोहन जब मद्रास से साल-भर के बाद लौटे, तो उसे मुश्किल से पहचान सके। इसके बाद मालूम नहीं उन बदनसीबों पर क्या गुज़री। प्रिंसिपल कॉटन ने आए दिन की हुज़्ज़त-ओ-तक़रार से तंग आकर रोहिणी से

इस्तीफ़ा ले लिया और खुदा जाने किस-किस देश की ख़ाक छानते हुए बाला आख़िर वो काश्मीर पहुँची। वहाँ से रोहिणी ने मिस गुप्ता को जो ख़त लिक्खा वो निहायत दर्दनाक और जिगरदोज़ था—"बहन, मेरा हाल क्या पूछती हो? अब ज़िंदगी से जी भर गया। मुझे अपनी कुछ फ़िक्र नहीं, मगर तुम्हारे बहनोई साहब की हालत निहायत ख़राब है। खुदा गवाह है, मैं अब भी इनकी परस्तिश (पूजा) करती हूँ। मैंने अपना सब कुछ उन पर निछावर कर दिया, मगर हाय! शराब तेरा सत्यानाश हो; हाय! जुआ तेरा बुरा हो। ये दो मर्ज़ उनकी जान के ग्राहक हो रहे हैं। बस और ज़्यादा न कहूँगी। तुमसे कहते शर्म आती है और शर्म की तो इतनी परवाह नहीं, क्यूँ कि मुद्दत हुई इसे रुख़सत कर चुकी, मगर तुम्हें सुनकर रंज होगा। बस यही समझ लो कि तुम्हारी भोली-भाली रोहिणी अब अपने किए पर पछताती और ख़ून के आँसू रोती है।"

('अदीब', उर्दू मासिक पत्रिका, नवम्बर, 1912)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1,
1988 में उर्दू से संपादक द्वारा हिंदी में लिप्यंतर और वहीं से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005)

राजहठ

1

दशहरे के दिन थे, अचलगढ़ में उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। दरबारे-आम में राज्य के मंत्रियों के स्थान पर अप्सराएँ शोभायमान थीं। धर्मशालों और सरायों में घोड़े हिनहिना रहे थे। रियासत के नौकर क्या छोटे, क्या बड़े रसद पहुँचाने के बहाने से दरबारे-आम में जमे रहते थे। किसी तरह हटाए न हटते थे। दरबारे-ख़ास में पंडित और पुजारी और महंत लोग आसन जमाए पाठ करते हुए नज़र आते थे। वहाँ किसी राज्य के कर्मचारी की शकल न दिखाई देती थी। घी और पूजा की सामग्री न होने के कारण सुबह की पूजा शाम को होती थी। रसद न मिलने की वजह से पंडित लोग हवन के घी और मेवों को भोग के अग्निकुंड में डालते थे। दरबारे-आम में अंग्रेज़ी प्रबंध था और दरबारे-ख़ास में राज्य का।

राजा देवमल बड़े हौसलेमंद रईस थे। इस वार्षिक आनंदोत्सव में वह जी खोलकर रुपया ख़र्च करते। जिन दिन अकाल पड़ा, राज्य के आधे आदमी भूखों तड़पकर मर गए। बुखार, हैज़ा और प्लेग में हज़ारों आदमी हर साल मृत्यु का ग्रास बन जाते थे। राज्य निर्धन था इसलिए न वहाँ पाठशालाएँ थीं, न चिकित्सालय, न सड़कें। बरसात में रनिवास दलदल हो जाता और अँधेरी रातों में सरेशाम से घरों के दरवाज़े बंद हो जाते। अँधेरी सड़कों पर चलना जान जोखिम था। यह सब और इनसे भी ज़्यादा कष्टप्रद बातें स्वीकार थीं मगर यह कठिन था, असंभव था कि दुर्गा देवी का वार्षिक आनंदोत्सव न हो। इससे राज्य की शान में बट्टा लगने का भय था। राज्य मिट जाए, महलों की ईंटें बिक जाएँ मगर यह उत्सव ज़रूर हो। आसपास के राजे-रईस आमंत्रित होते, उनके शामियानों से मीलों तक संगमरमर का एक शहर बस जाता, हफ्तों तक ख़ूब चहल-पहल धूम-धाम रहती। इसी की बदौलत अचलगढ़ का नाम अटल हो गया था।

2

मगर कुँवर इंदरमल को राजा साहब की इन मस्ताना कार्रवाइयों में बिलकुल आस्था न थी। वह प्रकृति से एक बहुत गंभीर और सीधा-सादा नवयुवक था। यों ग़ज़ब का दिलेर, मौत के सामने भी ताल ठोंककर उतर पड़े, मगर उसकी बहादुरी ख़ून की प्यास से पाक थी। उसके वार बिना पर की चिड़ियों या बेज़बान जानवरों पर नहीं होते थे। उसकी तलवार कमज़ोरों पर नहीं उठती थी। ग़रीबों की हिमायत, अनाथों की सिफ़ारिशें, निर्धनों की सहायता और भाग्य के मारे हुओं के घाव की मरहम-पट्टी इन कामों से उसकी आत्मा को सुख मिलता था। दो साल हुए वह इंदौर कॉलेज से ऊँची शिक्षा पाकर लौटा था और तब उसे उसका यह जोश असाधारण रूप से बढ़ा हुआ था, इतना कि वह साधारण समझदारी की सीमाओं को लांघ गया था। चौबीस साल का लंबा-तड़ंगा, हैकल जवान, धन-ऐश्वर्य के बीच पला हुआ, जिसे चिंताओं की कभी हवा तक न लगी, अगर रुलाया तो हँसी ने, वह ऐसा नेक हो, उसके मर्दाना चेहरे पर चिंतन का पीलापन और झुर्रियाँ नज़र आएँ यह एक असाधारण बात थी। उत्सव का शुभ दिन पास आ पहुँचा था, सिर्फ़ चार दिन बाक़ी थे। उत्सव का प्रबंध पूरा हो चुका था, सिर्फ़ अगर कसर थी तो कहीं-कहीं दोबारा नज़र डाल देने की। तीसरे पहर का वक़्त था, राजा साहब रनिवास में बैठे हुए कुछ चुनी हुई अप्सराओं का गाना सुन रहे थे। उनकी सुरीली तानों से जो ख़ुशी हो रही थी, उससे कहीं ज़्यादा ख़ुशी यह सोचकर हो रही थी यह तराने पोलिटिकल एजेंट को भड़का देंगे। वह आँखें बंद करके सुनेगा और मारे ख़ुशी के उछल-उछल पड़ेगा।

इस विचार से जो प्रसन्नता होती थी वह तानसेन की तानों में भी नहीं हो सकती थी। आह, उसकी ज़बान से अनजाने ही वाह-वाह निकल पड़ेगी। अजब नहीं कि उठकर मुझसे हाथ मिलाए और मेरे चुनाव की तारीफ़ करे। इतने में कुँवर इंदरमल बहुत सादा कपड़े पहने सेवा में उपस्थित हुए और सर झुकाकर अभिवादन किया। राजा साहब की आँखें शर्म से झुक गईं, मगर कुँवर साहब का इस समय आना अच्छा नहीं लगा। गानेवालियों को वहाँ से उठ जाने का इशारा किया।

कुँवर इंदरमल बोले—"महाराज, क्या मेरी बिनती पर बिलकुल ध्यान न दिया जाएगा?"

राजा साहब गद्दी के उत्तराधिकारी राजकुमार की इज़्ज़त करते थे और मुहब्बत तो कुदरती बात थी, तो भी उन्हें यह बेमौक़ा हठ पसंद न आता था। वह इतने संकीर्ण बुद्धि न थे कि कुँवर साहब की नेक सलाहों की कद्र न करें। इससे निश्चय ही राज्य पर बोझ बढ़ता जाता था और रिआया पर बहुत ज़ुल्म करना पड़ता था। मैं अंधा नहीं हूँ कि ऐसी मोटी-मोटी बातें न समझ सकूँ। मगर अच्छी बातें भी मौक़ा-महल देखकर की जाती हैं। आख़िरकार नाम और यश, इज़्ज़त और आबरू भी तो कोई चीज़ है?

रियासत में संगमगर की सड़कें बनवा दूँ, गली-गली मदरसे खोल दूँ, घर-घर कुएँ खोदवा दूँ, दवाओं की नहरें जारी कर दूँ, मगर दशहरे की धूम-धाम से रियासत की जो इज़्ज़त और नाम है वह इन बातों से कभी हासिल नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि धीरे-धीरे यह खर्च घटा दूँ मगर एकबारगी ऐसा करना न तो उचित है और न संभव। जवाब दिया–"आख़िर तुम क्या चाहते हो? क्या दशहरा बिलकुल बंद कर दूँ?"

इंदरमल ने राजा साहब के तेवर बदले हुए देखे, तो बड़े आदरपूर्वक बोले–"मैंने कभी दशहरे के उत्सव के ख़िलाफ़ मुँह से एक शब्द नहीं निकाला, यह हमारा जातीय पर्व है, यह विजय का शुभ दिन है, आज के दिन खुशियाँ मनाना हमारा जातीय कर्त्तव्य है। मुझे सिर्फ़ इन अप्सराओं से आपत्ति है, नाच-गाने से इस दिन की गंभीरता और महत्ता डूब जाती है।"

राजा साहब ने व्यंग्य के स्वर में कहा–"तुम्हारा मतलब है कि रो-रोकर जश्न मनाएँ, मातम करें!"

इंदरमल ने तीखे होकर कहा–"यह न्याय के सिद्धांतों के खिलाफ़ बात है कि हम तो उत्सव मनाएँ और हज़ारों आदमी उसकी बदौलत मातम करें। बीस हज़ार मज़दूर एक महीने से मुफ़्त में काम कर रहे हैं, क्या उनके घरों में खुशियाँ मनाई जा रही हैं? जो पसीना बहाएँ वह रोटियों को तरसें और जिन्होंने हरामकारी को अपना पेशा बना लिया है, वह हमारी महफ़िलों की शोभा बनें। मैं अपनी आँखों से यह अन्याय और अत्याचार नहीं देख सकता। मैं इस पाप-कर्म में योग नहीं दे सकता। इससे तो यही अच्छा है कि मुँह छिपाकर कहीं निकल जाऊँ। ऐसे राज में रहना, मैं अपने उसूलों के ख़िलाफ़ और शर्मनाक समझता हूँ।"

इंदरमल ने तैश में यह धृष्टतापूर्ण बातें कीं मगर पिता के प्रेम को जगाने की कोशिश ने राजहठ के सोए हुए काले देव को जगा दिया। राजा साहब गुस्से से भरी हुई आँखों से देखकर बोले–"हाँ मैं भी यही ठीक समझता हूँ। तुम अपने उसूलों के पक्के हो तो मैं भी अपनी धुन का पूरा हूँ।"

इंदरमल ने मुस्कराकर राजा साहब को सलाम किया। उसका मुस्कराना घाव पर नमक हो गया। राजकुमार की आँखों में कुछ बूँदें शायद मरहम का काम देतीं।

3

राजकुमार ने इधर पीठ फेरी, उधर राजा साहब ने फिर अप्सराओं को बुलाया और चित्त को प्रफुल्लित करनेवाले गानों की आवाज़ें गूँजने लगीं। उनके संगीत-प्रेम की नदी कभी इतने ज़ोर-शोर से न उमड़ी थी, वाह-वाह की बाढ़ आई हुई थी, तालियों का शोर मचा हुआ था और सुर की किश्ती उस पुरशोर दरिया में हिंडोले की तरह झूल रही थी।

यहाँ तो नाच-गाने का हंगामा गरम था और रनिवास में रोने-पीटने का। रानी भानकुँवर दुर्गा की पूजा करके लौट रही थीं कि एक लौंडी ने आकर यह मर्मांतक समाचार दिया। रानी ने आरती का थाल ज़मीन पर पटक दिया। वह एक हफ़्ते से दुर्गा का व्रत रखती थीं। मृगछाले पर सोती और दूध का आहार करती थीं। पाँव थर्राये, ज़मीन पर गिर पड़ीं। मुरझाया हुआ फूल हवा के झोंके को न सह सका। चेरियाँ सम्हल गई और रानी के चारों तरफ़ ग़ोल बाँधकर छाती और सिर पीटने लगीं। कोहराम मच गया। आँखों में आँसू न सही, आँचलों से उनका पर्दा छिपा हुआ था, मगर गले में आवाज़ तो थी। इस वक़्त उसी की ज़रूरत थी। उसी की बुलंदी और गरज में इस समय भाग्य की झलक छिपी हुई थी।

लौंडियाँ तो इस प्रकार स्वामिभक्ति का परिचय देने में व्यस्त थीं और भानकुँवर अपने ख़यालों में डूबी हुई थी। कुँवर से ऐसी बेअदबी क्योंकर हुई, यह ख़याल में नहीं आता। उसने कभी मेरी बातों का जवाब नहीं दिया, ज़रूर राजा की ज़्यादती है।

उसने इस नाच-रंग का विरोध किया होगा, किया ही चाहिए। उन्हें क्या, जो कुछ बनेगी-बिगड़ेगी उसके ज़िम्मे लगेगी। यह गुस्सेवर हैं ही। झल्ला गए होंगे। उसे सख़्त-सुस्त कहा होगा। बात की उसे कहाँ बर्दाश्त, यही तो उसमें बड़ा ऐब है, रूठकर कहीं चला गया होगा। मगर गया कहाँ? दुर्गा! तुम मेरे लाल की रक्षा करना, मैं तुम्हारे सुपुर्द करती हूँ। अफ़सोस, यह ग़ज़ब हो गया। मेरा राज्य सूना हो गया और इन्हें अपने राग-रंग की सूझी हुई है। यह सोचते-सोचते रानी के शरीर में कँपकँपी आ गई, उठकर गुस्से से काँपती हुई वह बेधड़क नाच-गाने की महफ़िल की तरफ़ चलीं। क़रीब पहुँचीं तो सुरीली तानें सुनाई दीं। एक बरछी-सी जिगर में चुभ गई। आग पर तेल पड़ गया।

रानी को देखते ही गानेवालियों में एक हलचल-सी मच गई। कोई किसी कोने जा छिपी, कोई गिरती-पड़ती दरवाज़े की तरफ़ भागी। राजा साहब ने रानी की तरफ़ घूरकर देखा। भयानक गुस्से का शोला सामने दहक रहा था। उनकी त्योरियों पर भी बल पड़ गए। ख़ून बरसाती हुई आँखें आपस में मिलीं। मोम ने लोहे का सामना किया।

रानी थर्रायी हुई आवाज़ में बोली—"मेरा इंदरमल कहाँ गया?" यह कहते-कहते उसकी आवाज़ रुक गई और होंठ काँपकर रह गए।

राजा ने बेरूखी से जवाब दिया—"मैं नहीं जानता।"

रानी सिसकियाँ भरकर बोली—"आप नहीं जानते कि वह कल तीसरे पहर से ग़ायब है और उसका कहीं पता नहीं। आपकी इन जहरीली नागिनों ने यह विष बोया है। अगर उसका बाल भी बाँका हुआ तो उसके ज़िम्मेदार आप होंगे।"

राजा ने तुर्शी से कहा—"वह बड़ा घमंडी और बिनकहा हो गया है, मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता।"

रानी कुचले हुए साँप की तरह ऐंठकर बोली—"राजा, तुम्हारी ज़बान से यह बातें निकल रही हैं! हाय मेरा लाल, मेरी आँखों की पुतली, मेरे जिगर का टुकड़ा, मेरा सब कुछ यों आलोप हो जाए और इस बेरहम का दिल ज़रा भी न पसीजे! मेरे घर में आग लग जाए और यहाँ इंद्र का अखाड़ा सजा रहे! मैं ख़ून के आँसू रोऊँ और यहाँ खुशी के राग अलापे जाएँ!"

राजा के नथुने फड़कने लगे, कड़ककर बोले—"रानी भानकुँवर, अब ज़बान बंद करो। मैं इससे ज़्यादा नहीं सुन सकता। बेहतर होगा कि तुम महल में चली जाओ।"

रानी ने बिफरी हुई शेरनी की तरह गर्दन उठाकर कहा—"हाँ, मैं खुद जाती हूँ। मैं हुज़ूर के ऐश में विघ्न नहीं डालना चाहती, मगर आपको इसका भुगतान करना पड़ेगा। अचलगढ़ में या तो भानकुँवर रहेगी या आपकी ज़हरीली, विषैली परियाँ!"

राजा पर इस धमकी कोई असर न हुआ। गैंडे की ढाल पर कच्चे लोहे का असर क्या हो सकता है! जी में आया कि साफ़-साफ़ कह दें, भानकुँवर चाहे रहे या न रहे यह परियाँ ज़रूर रहेंगी, लेकिन अपने को रोककर बोले—"तुमको अख़्तियार है, जो ठीक समझो वह करो।"

रानी कुछ क़दम चलकर फिर लौटी और बोली—"त्रिया-हठ रहेगा या राजहठ?" राजा ने निष्कंप स्वर में उत्तर दिया—"इस वक़्त तो राजहठ ही रहेगा।"

4

रानी भानकुँवर के चले जाने के बाद राजा देवमल फिर अपने कमरे में आ बैठे, मगर चिंतित और मन बिलकुल बुझा हुआ, मुर्दे के समान। रानी की सख़्त बातों से दिल के सबसे नाजुक हिस्सों में टीस और जलन हो रही थी। पहले तो वह अपने ऊपर झुँझलाए कि मैंने उसकी बातों को क्यों इतने धीरज से सुना, मगर जब ज़रा गुस्से की आग धीमी हुई और दिमाग़ का संतुलन फिर असली हालत पर आया तो उन घटनाओं पर अपने मन में विचार करने लगे। न्यायप्रिय स्वभाव के लोगों के लिए क्रोध एक चेतावनी होता है, जिससे उन्हें अपने कथन और आचार की अच्छाई और बुराई को जाँचने और आगे के लिए सावधान हो जाने का मौक़ा मिलता है। इस कड़वी दवा से अक़्सर अनुभव को शक्ति, दृष्टि को व्यापकता और चिंतन को सजगता प्राप्त होती है। राजा सोचने लगे—बेशक रियासत के अंदरूनी हालात के लिहाज़ से यह सब नाच-रंग बेमौक़ा है। बेशक वह रिआया के साथ अपना फ़र्ज़ नहीं अदा कर रहे थे। वह इन ख़र्चों और इस नैतिक धब्बे को मिटाने के लिए तैयार थे, मगर इस तरह कि नुक़्ताचीनी करनेवाली आँखें उसमें कुछ मतलब न निकाल सकें। रियासत की शान कायम रहे। इतना इंदरमल से उन्होंने साफ़ कह दिया था कि अगर इतने पर भी वह अपनी ज़िद से बाज़ नहीं आता तो यह उसकी ढिठाई है। हर एक मुमकिन पहलू से

ग़ौर करने पर राजा साहब के इस फ़ैसले में ज़रा भी फेर-फार न हुआ। कुँवर का यों ग़ायब हो जाना ज़रूर चिंता की बात है और रियासत के लिए उसके ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं, मगर वह अपने आप को इन नतीजों की ज़िम्मेदारियों से बिलकुल बरी समझते थे। वह यह मानते थे कि इंदरमल के चले जाने के बाद उनका यह महफ़िलें जमाना बेमौक़ा और दूसरों को भड़कानेवाला था, मगर इसका कुँवर के आख़िरी फ़ैसले पर क्या असर पड़ सकता है। कुँवर ऐसा नादान, नातजुर्बेकार और बुज़दिल तो नहीं है कि आत्महत्या कर ले, हाँ वह दो-चार दिन इधर-उधर आवारा घूमेगा और अगर ईश्वर ने कुछ भी विवेक उसे दिया तो वह दुःखी और लज्जित होकर ज़रूर चला आएगा। मैं खुद उसे ढूँढ़ निकालूँगा। वह ऐसा कठोर नहीं है कि अपने बूढ़े बाप की मजबूरी पर कुछ भी ध्यान न दे।

इंदरमल से फ़ारिग़ होकर राजा साहब का ध्यान रानी की तरफ़ पहुँचा और जब उसकी आग की तरह दहकती हुई बातें याद आईं तो गुस्से से बदन में पसीना आ गया और वह बेताब होकर उठकर टहलने लगे। बेशक, मैं उसके साथ बेरहमी से पेश आया। माँ को अपनी औलाद ईमान से भी ज़्यादा प्यारी होती है और उसका रुष्ट होना उचित था मगर इन धमकियों के क्या माने? इसके सिवा कि वह रूठकर मैके चली जाए और मुझे बदनाम करे, वह मेरा और क्या कर सकती है? अक़्लमंदों ने कहा है कि औरत की ज़ात बेवफ़ा होती है, वह मीठे पानी की चंचल, चुलबुली-चमकीली धारा है, जिसकी गोद में चहकती और चिपटती है, उसे बालू का ढेर बनाकर छोड़ती है। यही भानकुँवर है जिसकी नाज़बरदारियाँ मुहब्बत का दर्जा रखती हैं। आह, क्या वह पिछली बातें भूल जाऊँ! क्या उन्हें क़िस्सा समझकर दिल को तसकीन दूँ।

इसी बीच में एक लौंडी ने आकर कहा कि महारानी ने हाथी मँगवाया है और न जाने कहाँ जा रही हैं। कुछ बताती नहीं। राजा ने सुना और मुँह फेर लिया।

5

शहर इंदौर से तीन मील उत्तर की तरफ़ घने पेड़ों के बीच में एक तालाब है, जिसके चाँदी-जैसे चेहरे से काई का हरा मख़मली घूँघट कभी नहीं उठता। कहते हैं कि किसी ज़माने में उसके चारों तरफ़ पक्के घाट बने हुए थे। मगर इस वक़्त तो सिर्फ़ यह जनश्रुति बाक़ी थी जो कि इस दुनिया में अक़्सर ईंट-पत्थर की यादगारों से ज़्यादा टिकाऊ हुआ करती है।

तालाब के पूरब में एक पुराना मंदिर था, उसमें शिवजी राख की धूनी रमाए ख़ामोश बैठे हुए थे। अबाबीलें और जंगली कबूतर उन्हें मीठी बोलियाँ सुनाया करते। मगर उस वीराने में भी उनके भक्तों की कमी न थी। मंदिर के अंदर भरा हुआ पानी और बाहर बदबूदार कीचड़, इस भक्ति के प्रमाण थे। वह मुसाफ़िर जो इस तालाब

में नहाता उसके एक लोटे पानी से अपने ईश्वर की प्यास बुझाता था। शिव जी खाते कुछ न थे मगर पानी बहुत पीते थे। उनकी न बुझनेवाली प्यास कभी न बुझती थी।

तीसरे पहर का वक़्त था। क्वाँर की धूप तेज़ थी। कुँवर इंदरमल अपने हवा की चालवाले घोड़े पर सवार इंदौर की तरफ़ से आए और एक पेड़ की छाया में ठहर गए। वह उदास थे। उन्होंने घोड़े को पेड़ से बाँध दिया और ख़ुद ज़ीन के ऊपर डालनेवाला कपड़ा बिछाकर लेट रहे। उन्हें अचलगढ़ से निकले आज तीसरा दिन है मगर चिंताओं ने पलक तक नहीं झपकने दी। रानी भानकुँवर उसके दिल से एक पल के लिए भी दूर न होती थी। इस वक़्त ठंडी हवा लगी तो नींद आ गई। सपने में देखने लगा कि जैसे रानी आई हैं और उसे गले लगाकर रो रही हैं। चौंककर आँखें खोलीं तो रानी सचमुच सामने खड़ी उसकी तरफ़ आँसू-भरी आँखों से ताक रही थीं। वह उठ बैठा और माँ के पैरों को चूमा। मगर रानी ने ममता से उठाकर गले लगा लेने के बजाय अपने पाँव हटा लिए और मुँह से कुछ न बोली।

इंदरमल ने कहा—"माँ जी, आप मुझसे नाराज़ हैं?"

रानी ने रुखाई से जवाब दिया—"मैं तुम्हारी कौन होती हूँ!"

कुँवर—"आपको यक़ीन आए न आए, मैं जबसे अचलगढ़ से चला हूँ एक पल के लिए भी आपका ख़याल दिल से दूर नहीं हुआ। अभी आप ही को सपने में देख रहा था।"

इन शब्दों ने रानी का गुस्सा ठंडा किया। कुँवर की ओर से निश्चिंत होकर वह राजा का ध्यान कर रही थी। उसने कुँवर से पूछा—"तुम तीन दिन कहाँ रहे?"

कुँवर ने जवाब दिया—"क्या बताऊँ, कहाँ रहा। इंदौर चला गया था। वहाँ पोलिटिकल एजेंट से सारी कथा कह सुनाई।"

रानी ने सुना तो माथा पीटकर बोली—"तुमने ग़ज़ब कर दिया। आग लगा दी।"

इंदरमल—"क्या करूँ, खुद पछताता हूँ, उस वक़्त यही धुन सवार थी।"

रानी—"मुझे जिन बातों का डर था वह सब हो गईं। अब कौन मुँह लेकर अचलगढ़ जाएँगे।"

इंदरमल—"मेरा जी चाहता है कि अपना गला घोट लूँ।"

रानी—"गुस्सा बुरी बला है। तुम्हारे आने के बाद मैंने रार मचाई और कुछ यही इरादा करके इंदौर जा रही थी, रास्ते में तुम मिल गए।"

यह बातें हो रही थीं कि सामने से बहलियों और साँड़नियों की लंबी कतार आती हुई दिखाई दी। साँडनियों पर मर्द सवार थे। सुरमा-लगी आँखोंवाले, पेचदार जुल्फ़ोंवाले। बहलियों में हुस्न के जलवे थे। शोख निगाहें, बेधड़क चितवनें, यह उन नाच-रंग वालों का क़ाफ़िला था जो अचलगढ़ से निराश और खिन्न चला आता था। उन्होंने रानी की सवारी देखी और कुँवर का घोड़ा पहचान लिया। घमंड से सलाम

किया मगर बोले नहीं। जब वह दूर निकल गए तो कुँवर ने ज़ोर से क़हक़हा मारा। यह विजय का नारा था।

रानी ने पूछा–"यह क्या कायापलट हो गई। यह सब अचलगढ़ से लौटे आते हैं और ऐन दशहरे के दिन?"

इंदरमल बड़े गर्व से बोले–"यह पोलिटिकल एजेंट के इनकारी तार के करिश्में हैं, मेरी चाल बिलकुल ठीक पड़ी।"

रानी का संदेह दूर हो गया। ज़रूर यही बात है। यह इनकारी तार की करामात है। वह बड़ी देर तक बेसुध-सी ज़मीन की तरफ़ ताकती रही और उसके दिल में बार-बार यह सवाल पैदा होता था, क्या इसी का नाम राजहठ है?

आख़िर इंदरमल ने ख़ामोशी तोड़ी–"क्या आज चलने का इरादा है कि कल?"

रानी–"कल शाम तक हमको अचलगढ़ पहुँचना है, महाराज घबराते होंगे।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, दिसंबर, 1912)

('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

वर्ष : 1913

त्रिया-चरित्र

1

सेठ लगनदासजी के जीवन की बगिया फलहीन थी। कोई ऐसा मानवीय, आध्यात्मिक या चिकित्सात्मक प्रयत्न न था जो उन्होंने न किया हो। यों शादी में एक-पत्नीव्रत के क़ायल थे, मगर ज़रूरत और आग्रह से विवश होकर एक-दो नहीं पाँच शादियाँ कीं, यहाँ तक कि उम्र के चालीस साल गुज़र गए और अँधेरे घर में उजाला न हुआ। बेचारे बहुत रंजीदा रहते। यह धन-संपत्ति, यह ठाट-बाट, यह वैभव और ऐश्वर्य क्या होंगे। मेरे बाद इनका क्या हाल होगा, कौन इनको भोगेगा। यह ख़याल बहुत अफ़सोसनाक था। आख़िर यह सलाह हुई कि किसी लड़के को गोद लेना चाहिए, मगर यह मसला पारिवारिक झगड़ों के कारण कई सालों तक स्थगित रहा। जब सेठजी ने देखा कि बीवियों में अब तक बदस्तूर कशमकश हो रही है तो उन्होंने नैतिक साहस से काम लिया और एक होनहार अनाथ लड़के को गोद ले लिया। उसका नाम रखा गया मगनदास। उसकी उम्र पाँच-छः साल से ज़्यादा न थी। बला का ज़हीन और तमीज़दार। मगर औरतें सब कुछ कर सकती हैं, दूसरे के बच्चे को अपना नहीं समझ सकतीं। यहाँ तो पाँच औरतों का साँझा था। अगर एक उसे प्यार करती तो बाक़ी चार औरतों का फ़र्ज़ था कि उससे नफ़रत करें। हाँ, सेठजी उसके साथ बिलकुल अपने लड़के की-सी मुहब्बत करते थे। पढ़ाने को मास्टर रक्खे, सवारी के लिए घोड़े। रईसी खयाल के आदमी थे। राग-रंग का सामान भी मुहैया था। गाना सीखने का लड़के ने शौक किया तो उसका भी इंतज़ाम हो गया। ग़रज़ जब मगनदास जवानी पर पहुँचा तो रईसाना दिलचस्पियों में उसे कमाल हासिल था। उसका गाना सुनकर उस्ताद लोग कानों पर हाथ रखते। शहसवार ऐसा कि दौड़ते हुए घोड़े पर सवार हो जाता। डीलडौल, शक्लसूरत में उसका-सा अलबेला जवान दिल्ली में कम होगा। शादी का मसला पेश हुआ। नागपुर के करोड़पति सेठ मक्खनलाल बहुत लहराए हुए थे। उनकी लड़की से शादी हो गई। धूमधाम का ज़िक्र किया जाए तो क़िस्सा वियोग की रात से भी लंबा हो जाए। मक्खनलाल का उसी शादी में दीवाला निकल गया। इस वक़्त

मगनदास से ज़्यादा ईर्ष्या के योग्य आदमी और कौन होगा? उसकी ज़िंदगी की बहार उमंगों पर थी और मुरादों के फूल अपनी शबनमी ताज़गी में खिल-खिलकर हुस्न और ताज़गी का समाँ दिखा रहे थे। मगर तक़दीर की देवी कुछ और ही सामान कर रही थी। वह सैर-सपाटे के इरादे से जापान गया हुआ था कि दिल्ली से ख़बर आई कि ईश्वर ने तुम्हें एक भाई दिया है। मुझे इतनी ख़ुशी है कि ज़्यादा अर्से तक ज़िंदा न रह सकूँ। तुम बहुत जल्द लौट आओ।

मगनदास के हाथ से तार का काग़ज़ छूट गया और सर में ऐसा चक्कर आया कि जैसे किसी ऊँचाई से गिर पड़ा है।

2

मगनदास का किताबी ज्ञान बहुत कम था। मगर स्वभाव की सज्जनता से वह खाली न था। हाथों की उदारता ने, जो समृद्धि का वरदान है, हृदय को भी उदार बना दिया था। उसे घटनाओं की इस कायापलट से दुःख तो ज़रूर हुआ, आख़िर इंसान ही था, मगर उसने धीरज से काम लिया और एक आशा और भय की मिली-जुली हालत में देश को रवाना हुआ।

रात का वक़्त था। जब अपने दरवाज़े पर पहुँचा तो नाच-गाने की महफ़िल सजी देखी। उसके क़दम आगे न बढ़े, लौट पड़ा और एक दुकान के चबूतरे पर बैठकर सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए। इतना तो उसे यक़ीन था कि सेठजी उसके साथ उसी भलमंसी और मुहब्बत से पेश आएँगे, बल्कि शायद अब और भी कृपा करने लगें। सेठानियाँ भी अब उसके साथ ग़ैरों का-सा बर्ताव न करेंगी। मुमकिन है, मझली बहू जो इस बच्चे की खुशनसीब माँ थीं, उससे दूर-दूर रहे, मगर बाक़ी चारों सेठानियों की तरफ़ से सेवा-सत्कार में कोई शक नहीं था। उनकी डाह से वह फ़ायदा उठा सकता था। ताहम उसके स्वाभिमान ने गवारा न किया कि जिस घर में मालिक की हैसियत से रहता था, उसी घर में अब एक आश्रित की हैसियत से ज़िंदगी बसर करे। उसने फ़ैसला कर लिया कि अब यहाँ रहना न मुनासिब है, न मसलहत। मगर जाऊँ कहाँ? न कोई ऐसा फ़न सीखा, न कोई ऐसा इल्म हासिल किया जिससे रोज़ी कमाने की सूरत पैदा होती। रईसाना दिलचस्पियाँ उसी वक़्त तक क़द्र की निगाह से देखी जाती हैं, जब तक कि वे रईसों के आभूषण रहें। जीविका बनकर वे सम्मान के पद से गिर जाती हैं। अपनी रोज़ी हासिल करना तो उसके लिए कोई ऐसा मुश्किल काम न था। किसी सेठ-साहूकार के यहाँ मुनीम बन सकता था, किसी कारख़ाने की तरफ़ से एजेंट हो सकता था, मगर उसके कंधे पर एक भारी जुआ रक्खा हुआ था, उसे क्या करे। एक बड़े सेठ की लड़की जिसने लाड़-प्यार में परवरिश पाई, उससे यह कंगाली की तकलीफ़ें क्योंकर झेली जाएँगी। क्या मक्खनलाल की लाड़ली बेटी एक

ऐसे आदमी के साथ रहना पसंद करेगी, जिसे रात की रोटी का भी ठिकाना नहीं! मगर इस फ़िक्र में अपनी जान क्यों खपाऊँ। मैंने अपनी मर्ज़ी से शादी नहीं की। मैं बराबर इंकार करता रहा। सेठजी ने ज़बर्दस्ती मेरे पैरों में बेड़ी डाली है। अब वही इसके ज़िम्मेदार हैं। मुझसे कोई वास्ता नहीं। लेकिन जब उसने दुबारा ठंडे दिल से इस मसले पर ग़ौर किया तो बचाव की कोई सूरत नज़र नहीं आई। आख़िरकार उसने यह फ़ैसला किया कि पहले नागपुर चलूँ, ज़रा उन महारानी के तौर-तरीके को देखूँ, बाहर-ही-बाहर उनके स्वभाव की, मिजाज की जाँच करूँ। उस वक़्त तय करूँगा कि मुझे क्या करना चाहिए। अगर रईसी की बू उनके दिमाग़ से निकल गई है और मेरे साथ रूखी रोटियाँ खाना उन्हें मँजूर है, तो इससे अच्छा फिर और क्या, लेकिन अगर वह अमीरी ठाट-बाट के हाथों बिकी हुई हैं तो मेरे लिए रास्ता साफ़ है। फिर मैं हूँ और दुनिया का ग़म। ऐसी जगह जाऊँ, जहाँ किसी परिचित की सूरत सपने में भी न दिखाई दे। ग़रीबी की ज़िल्लत ज़िल्लत नहीं रहती, अगर अजनबियों में ज़िंदगी बसर की जाए! यह जानने-पहचाननेवालों की कनखियाँ और कनबतियाँ हैं जो ग़रीबी को यंत्रणा बना देती हैं। इस तरह दिल में ज़िंदगी का नक्शा बनाकर मगनदास अपनी मर्दाना हिम्मत के भरोसे पर नागपुर की तरफ़ चला, उस मल्लाह की तरह जो किश्ती और पाल के बग़ैर नदी की उमड़ती हुई लहरों में अपने को डाल दे।

3

शाम के वक़्त सेठ मक्खनलाल के सुंदर बाग़ीचे में सूरज की पीली किरणें मुरझाए हुए फूलों से गले मिलकर विदा हो रही थीं। बाग़ के बीच में एक पक्का कुआँ था और एक मौलसिरी का पेड़। कुएँ के मुँह पर अँधेरे की नीली-सी नक़ाब थी, पेड़ के सिर पर रोशनी की सुनहरी चादर। इसी पेड़ के नीचे एक बुढ़िया मालिन बैठी हुई फूलों के हार और गजरे गूँथ रही थी। इतने में एक नौजवान थका-माँदा कुएँ पर आया और लोटे से पानी भरकर पीने के बाद जगत पर बैठ गया। मालिन ने पूछा—"कहाँ जाओगे?" मगनदास ने जवाब दिया कि जाना तो था बहुत दूर, मगर यहीं रात हो गई। यहाँ कहीं ठहरने का ठिकाना मिल जाएगा?

मालिन—"चले जाओ सेठजी के धर्मशाले में, बड़े आराम की जगह है।"

मगनदास—"धर्मशाले में तो मुझे ठहरने का कभी संयोग नहीं हुआ। कोई हर्ज न हो तो यहीं पड़ रहूँ। यहाँ कोई रात को रहता है?"

मालिन—"यहाँ ठहरने को न कहूँगी। यह मिली हुई बाई जी की बैठक है। झरोखे में बैठकर सैर किया करती हैं। कहीं देख-भाल लें तो मेरे सिर में एक बाल भी न रहे।"

मगनदास—"बाई जी कौन?"

मालिन—"यही सेठजी की बेटी। इंदिराबाई।"

मगनदास—"यह गजरे उन्हीं के लिए बना रही हो क्या?"

मालिन—"हाँ, और सेठजी के यहाँ है ही कौन? फूलों के गहने बहुत पसंद करती हैं।"

मगनदास—"शौकीन औरत मालूम होती हैं?"

मालिन—"भाई, यही तो बड़े आदमियों की बातें हैं। वह शौक न करें तो हमारा-तुम्हारा निबाह कैसे हो और धन है किसलिए? अकेली जान पर दस लौंडियाँ हैं। सुना करती थी कि भागवान आदमी का हल भूत जोतता है, वह आँखों देखा। आप-ही-आप पंखा चलने लगे। आप-ही-आप सारे घर में दिन का-सा उजाला हो जाए। तुम झूठ समझते होगे, मगर मैं आँखों देखी बात कहती हूँ।"

उस गर्व की चेतना के साथ जो किसी नादान आदमी के सामने अपनी जानकारी के बयान करने में होता है, बूढ़ी मालिन अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन करने लगी। मगनदास ने उकसाया—"होगा भाई, बड़े आदमी की बातें निराली होती हैं। लक्ष्मी के बस में सब कुछ है। मगर अकेली जान पर दस लौंडियाँ? समझ में नहीं आता।"

मालिन बुढ़ापे के चिड़चिड़ेपन से जवाब दिया—"तुम्हारी समझ मोटी हो तो कोई क्या करे! कोई पान लगाती है, कोई पंखा झलती है, कोई कपड़े पहनाती है, दो हज़ार रुपए में तो सेजगाड़ी आई थी, चाहो तो मुँह देख लो, उस पर हवा खाने जाती हैं। एक बंगालिन गाना-बजाना सिखाती है, मेम पढ़ाने आती है, शास्त्री जी संस्कृत पढ़ाते हैं, क़ागद पर ऐसी मूरत बनाती हैं कि अब बोली और अब बोली। दिल की रानी है, बेचारी के भाग फूट गए। दिल्ली के सेठ लगनदास के गोद लिए हुए लड़के से ब्याह हुआ था। मगर राम जी की लीला, सत्तर बरस के मुर्दे को लड़का दिया, कौन पतियायेगा। जब से यह सुनावनी आई है, तब से बहुत उदास रहती हैं। एक दिन रोती थीं। मेरे सामने की बात है। बाप ने देख लिया। समझाने लगे। लड़की को बहुत चाहते हैं। सुनती हूँ, दामाद को यहीं बुलाकर रक्खेंगे। नारायन करे, मेरी रानी दूधों नहाए पूतों फले। माली मर गया था, उन्होंने आड़ न ली होती तो घर-भर के टुकड़े माँगती।"

मगनदास ने एक ठंडी साँस ली। बेहतर है, अब यहाँ से अपनी इज़्ज़त-आबरू लिए हुए चल दो। यहाँ मेरा निबाह न होगा। इंदिरा रईसज़ादी है। तुम इस क़ाबिल नहीं हो कि उसके शौहर बन सको। मालिन से बोला—"तो धर्मशाले में जाता हूँ। जाने वहाँ खाट-वाट मिल जाती है कि नहीं, मगर रात ही तो काटनी है, किसी तरह कट जाएगी। रईसों के लिए मखमली गद्दे चाहिए, हम मज़दूरों के लिए पुआल ही बहुत है।"

यह कहकर उसने लुटिया उठाई, डंडा सम्हाला और दर्द-भरे दिल से एक तरफ़ को चल दिया।

उस वक़्त इंदिरा अपने झरोखे पर बैठी हुई इन दोनों की बातें सुन रही थी। कैसा संयोग है कि स्त्री को स्वर्ग की सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं और उसका पति आवारों की तरह मारा-मारा फिर रहा है। उसे रात काटने का ठिकाना नहीं।

4

मगनदास निराश विचारों में डूबा हुआ शहर से बाहर निकल आया और एक सराय में ठहरा जो सिर्फ़ इसलिए मशहूर थी कि वहाँ शराब की दुकान थी। यहाँ आस-पास से मज़दूर लोग आ-आकर अपने दुःख को भुलाया करते थे। जो भूले-भटके मुसाफ़िर यहाँ ठहरते, उन्हें होशियारी और चौकसी का व्यावहारिक पाठ मिल जाता था। मगनदास थका-माँदा था ही, एक पेड़ के नीचे चादर बिछाकर सो रहा और जब सुबह को नींद खुली तो उसको किसी पीर-औलिया के ज्ञान की सजीव दीक्षा का चमत्कार दिखाई पड़ा, जिसकी पहली मंज़िल वैराग्य है। उसकी छोटी-सी पोटली जिसमें दो-एक कपड़े और थोड़ा-सा रास्ते का ख़ाना और लुटिया-डोर बँधी हुई थी, ग़ायब हो गई। उन कपड़ों को छोड़कर जो उसके बदन पर थे, अब उसके पास कुछ भी न था और भूख जो कंगाली में और भी तेज़ हो जाती है, उसे बेचैन कर रही थी। मगर दृढ़ स्वभाव का आदमी था, उसने क़िस्मत का रोना नहीं रोया, किसी तरह गुज़र करने की तदबीरें सोचने लगा। लिखने और गणित में उसे अच्छा अभ्यास था, मगर इस हैसियत में उससे फ़ायदा उठाना असंभव था। उसने संगीत का बहुत अभ्यास किया था। किसी रसिक रईस के दरबार में उसकी क़दर हो सकती थी। मगर उसके पुरुषोचित अभिमान ने इस पेशे को अख़्तियार करने की इजाज़त न दी। हाँ, वह आला दर्जे का घुड़सवार था और यह फ़न मज़े में पूरी शान के साथ उसकी रोज़ी का साधन बन सकता था। यह पक्का इरादा करके उसने हिम्मत से क़दम आगे बढ़ाए। ऊपर से देखने पर यह बात यक़ीन के क़ाबिल नहीं मालूम होती मगर वह अपना बोझ हलका हो जाने से इस वक़्त बहुत उदास नहीं था। मर्दाना हिम्मत का आदमी ऐसी मुसीबतों को उसी निगाह से देखता है, जिससे एक होशियार विद्यार्थी परीक्षा के प्रश्नों को देखता है। उसे अपनी हिम्मत आज़माने का, एक मुश्किल से जूझने का मौक़ा मिल जाता है। उसकी हिम्मत अनजाने ही मज़बूत हो जाती है। अक्सर ऐसे मार्के मर्दाना हौसले के लिए प्रेरणा का काम देते हैं। मगनदास इस जोश से क़दम बढ़ाता चला जाता था कि जैसे कामयाबी की मंज़िल सामने नज़र आ रही है। मगर शायद वहाँ के घोड़ों ने शरारत और बिगड़ैलपन से तोबा कर ली थी या वे स्वाभाविक रूप से बहुत मज़े में धीमे-धीमे चलनेवाले थे। वह जिस गाँव में जाता, निराशा को उकसानेवाला जवाब पाता। आख़िरकार शाम के वक़्त जब सूरज अपनी आख़िरी मंज़िल पर जा पहुँचा था,

उसकी कठिन मंज़िल तमाम हुई। नागरघाट के ठाकुर अटल सिंह ने उसकी जीविका की चिंता को समाप्त किया।

यह एक बड़ा गाँव था। पक्के मकान बहुत थे, मगर उनमें प्रेतात्माएँ आबाद थीं। कई साल पहले प्लेग ने आबादी के बड़े हिस्से को इस क्षणभंगुर संसार से उठाकर स्वर्ग में पहुँचा दिया था। इस वक़्त प्लेग के बचे-खुचे लोग गाँव के नौजवान और शौकीन ज़मींदार साहब और हलक़े के कारगुज़ार और रोबीले थानेदार साहब थे। उनकी मिली-जुली कोशिशों से गाँव में सतयुग का राज था। धन-दौलत को लोग जान का अज़ाब समझते थे। उसे गुनाह की तरह छिपाते थे। घर-घर में रुपए रहते हुए लोग क़र्ज़ ले-लेकर खाते और फटेहालों रहते थे। इसी में निबाह था। काजल की कोठरी थी, सफ़ेद कपड़े पहनना उन पर धब्बा लगाना था। हुकूमत और ज़बर्दस्ती का बाज़ार गर्म था। अहीरों के यहाँ आँजन के लिए भी दूध न था। थाने में दूध की नदी बहती थी। मवेशीख़ाने के मुहर्रिर दूध की कुल्लियाँ करते थे। इसी अंधेरनगरी को मगनदास ने अपना घर बनाया। ठाकुर साहब ने असाधारण उदारता से काम लेकर उसे रहने के लिए एक मकान भी दे दिया, जो केवल बहुत व्यापक अर्थों में मकान कहा जा सकता था। इसी झोंपड़ी में वह एक हफ़्ते से ज़िंदगी के दिन काट रहा है। उसका चेहरा ज़र्द है और कपड़े मैले हो रहे हैं। मगर ऐसा मालूम होता है कि उसे अब इन बातों की अनुभूति ही नहीं रही। ज़िंदा है मगर ज़िंदगी रुख़सत हो गई है। हिम्मत और हौसला मुशकिल को आसान कर सकते हैं, आँधी और तूफान से बचा सकते हैं मगर चेहरे को खिला सकना उनके सामर्थ्य से बाहर है। टूटी हुई नाव पर बैठकर मल्हार गाना हिम्मत का काम नहीं हिमाक़त का काम है।

एक रोज़ जब शाम के वक़्त वह अँधेरे में खाट पर पड़ा हुआ था, एक औरत उसके दरवाज़े पर आकर भीख माँगने लगी। मगनदास को आवाज़ परिचित जान पड़ी। बाहर आकर देखा तो वही चंपा मालिन थी। कपड़े तार-तार, मुसीबत की रोती हुई तसवीर। बोला—"मालिन? तुम्हारी यह क्या हालत है? मुझे पहचानती हो?"

मालिन ने चौंककर देखा और पहचान गई। रोकर बोली—"बेटा, अब बताओ मेरा कहाँ ठिकाना लगे? तुमने मेरा बना-बनाया घर उजाड़ दिया। न उस दिन तुमसे बातें करती, न मुझ पर यह बिपत पड़ती। बाई ने तुम्हें बैठे देख लिया, बातें भी सुनीं, सुबह होते ही मुझे बुलाया और बरस पड़ीं—"नाक कटवा लूँगी, मुँह में कालिख लगवा दूँगी, चुड़ैल, कुटनी, तू मेरी बात किसी ग़ैर-आदमी से क्यों चलाए? तू दूसरों से मेरी चर्चा क्यों करे? वह क्या तेरा दामाद था, जो तू उससे मेरा दुखड़ा रोती थी? जो कुछ मुँह में आया बकती रही।" मुझसे भी न सहा गया। रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी! बोली—"बाई जी, मुझसे क़सूर हुआ, लीजिए अब जाती हूँ। छींकते नाक कटती है तो मेरा निबाह न होगा। ईश्वर ने मुँह दिया है तो अहार भी देगा। चार घर से माँगूँगी तो मेरे पेट को हो जाएगा। उस छोकरी ने मुझे खड़े-खड़े निकलवा दिया। बताओ मैंने

तुमसे उसकी कौन-सी शिकायत की थी? उसकी क्या चर्चा की थी? मैं तो उसका बखान कर रही थी, मगर बड़े आदमियों का गुस्सा भी बड़ा होता है। अब बताओ मैं किसकी होकर रहूँ? आठ दिन इसी तरह टुकड़े माँगते हो गए। एक भतीजी उन्हीं के यहाँ लौंडियों में नौकर थी, उसी दिन उसे भी निकाल दिया। तुम्हारी बदौलत, जो कभी न किया था, वह करना पड़ा। तुम्हें काहे को दोष लगाऊँ, क़िस्मत में जो कुछ लिखा था, वह देखना पड़ा।"

मगनदास सन्नाटे में आ गया। आह, मिज़ाज का यह घमंड, यह शान! मालिन को इत्मीनान दिलाया। उसके पास अगर दौलत होती तो उसे मालामाल कर देता। सेठ मक्खनलाल की बेटी को भी मालूम हो जाता कि रोज़ी की कुंजी उसी के हाथ में नहीं है। बोला—"तुम फ़िक्र मत करो, मेरे घर में आराम से रहो। अकेले मेरा जी भी नहीं लगता। सच कहो तो मुझे तुम्हारी तरह एक औरत की तलाश थी, अच्छा हुआ तुम आ गईं।"

मालिन ने आँचल फैलाकर असीस दिया—"बेटा तुम जुग-जुग जियो, बड़ी उमिर हो, यहाँ कोई घर मिले तो मुझे दिलवा दो। मैं यहाँ रहूँगी तो मेरी भतीजी कहाँ जाएगी। वह बेचारी शहर में किसके आसरे रहेगी।"

मगनदास के खून में जोश आया। उसके स्वाभिमान को चोट लगी। उन पर यह आफ़त मेरी लाई हुई है। उनकी इस आवारगर्दी का ज़िम्मेदार मैं हूँ। बोला—"कोई हर्ज न हो तो उसे भी यहीं ले आओ। मैं दिन को यहाँ बहुत कम रहता हूँ। रात को बाहर चारपाई डालकर पड़ रहा करूँगा। मेरी वजह से तुम लोगों को कोई तकलीफ़ न होगी। यहाँ दूसरा मकान मिलना मुश्किल है। यही झोंपड़ा बड़ी मुश्किलों से मिला है। यह अंधेरनगरी है। जब तुम्हारा सुभीता कहीं लग जाए तो चली जाना।"

मगनदास को क्या मालूम था कि हज़रत इश्क़ उसकी ज़बान पर बैठे हुए उससे यह बातें कहला रहे हैं। क्या यह ठीक है कि इश्क़ पहले माशूक़ के दिल में पैदा होता है?

5

नागपुर इस गाँव से बीस मील की दूरी पर था। चंपा उसी दिन चली गई और तीसरे दिन रंभा के साथ लौट आई। यह उसकी भतीजी का नाम था। उसके आने से झोंपड़े में जान-सी पड़ गई। मगनदास के दिमाग़ में मालिन की लड़की की जो तस्वीर थी उसका रंभा से कोई मेल न था। वह सौंदर्य नाम की चीज़ का अनुभवी जौहरी था मगर ऐसी सूरत जिस पर जवानी की ऐसी मस्ती और दिल का चैन छीन लेनेवाला ऐसा आकर्षण हो उसने पहले कभी न देखा था। उसकी जवानी का चाँद अपनी सुनहरी और गंभीर शान के साथ चमक रहा था। सुबह का वक़्त था। मगनदास दरवाज़े पर पड़ा ठंडी-ठंडी

हवा का मज़ा उठा रहा था। रंभा सिर पर घड़ा रक्खे पानी भरने को निकली। मगनदास ने उसे देखा और एक लंबी साँस खींचकर उठ बैठा। चेहरा-मोहरा बहुत ही मोहक। ताज़े फूल की तरह खिला हुआ चेहरा, आँखों में गंभीर सरलता। मगनदास को उसने भी देखा। चेहरे पर लाज की लाली दौड़ गई। प्रेम ने पहला वार किया।

मगनदास सोचने लगा—क्या तक़दीर यहाँ कोई गुल खिलानेवाली है! क्या दिल मुझे यहाँ भी चैन न लेने देगा। रंभा, तू यहाँ नाहक आई, नाहक एक ग़रीब का ख़ून तेरे सर पर होगा। मैं अब तो तेरे हाथों बिक चुका, मगर क्या तू भी मेरी हो सकती है? लेकिन नहीं, इनती जल्दबाज़ी ठीक नहीं। दिल का सौदा सोच-समझकर करना चाहिए। तुमको अभी ज़ब्त करना होगा। रंभा सुंदरी है मगर झूठे मोती की आब और ताब उसे सच्चा नहीं बना सकती। तुम्हें क्या ख़बर कि उस भोली लड़की के कान प्रेम के शब्द से परिचित नहीं हो चुके हैं। कौन कह सकता है कि उसके सौंदर्य की वाटिका पर किसी फूल चुननेवाले के हाथ नहीं पड़ चुके हैं। अगर कुछ दिनों की दिलबस्तगी के लिए कुछ चाहिए तो तुम आज़ाद हो मगर यह नाजुक मामला है, ज़रा सम्भल के क़दम रखना। पेशेवर ज़ातों में दिखाई पड़नेवाला सौंदर्य अक्सर नैतिक बंधनों से मुक्त होता है।

तीन महीने गुज़र गए। मगनदास रंभा को ज्यों-त्यों बारीक-से-बारीक निगाहों से देखता, त्यों-त्यों उस पर प्रेम का रंग गाढ़ा होता जाता था। वह रोज़ उसे कुएँ से पानी निकालते देखता, वह रोज़ घर में झाड़ू देती, रोज़ ख़ाना पकाती। आह, मगनदास को उन ज्वार की रोटियों में जो मज़ा आता था वह अच्छे-से-अच्छे व्यंजनों में भी न आया था। उसे अपनी कोठरी हमेशा साफ-सुथरी मिलती। न जाने कौन उसके बिस्तर बिछा देता। क्या यह रंभा की कृपा थी? उसकी निगाहें कैसी शर्मीली थीं। उसने उसे कभी अपनी तरफ़ चंचल आँखों से ताकते नहीं देखा। आवाज़ कैसी मीठी। उसकी हँसी की आवाज़ कभी उसके कान में नहीं आई। अगर मगनदास उसके प्रेम में मतवाला हो रहा था तो कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। उसकी भूखी निगाहें बेचैनी और लालसा में डूबी हुई हमेशा रंभा को ढूँढ़ा करतीं। वह जब किसी दूसरे गाँव को जाता तो मीलों तक उसकी ज़िद्दी और बेताब आँखें मुड़-मुड़कर झोंपड़े के दरवाज़े की तरफ़ आतीं। उसकी ख्याति आस-पास फैल गई थी मगर उसके स्वभाव की मुरौवत और उदारहृदयता से अक़्सर लोग अनुचित लाभ उठाते थे। इंसाफ़-पसंद लोग तो स्वागत-सत्कार से काम निकाल लेते और जो लोग ज़्यादा समझदार थे, वे लगातार तक़ाजों का इंतज़ार करते। चूँकि मगनदास इस फ़न को बिलकुल न जानता था, बावजूद दिन-रात की दौड़-धूप के ग़रीबी से उसका गला न छूटता। जब वह रंभा को चक्की पीसते हुए देखता तो गेहूँ के साथ उसका दिल भी पिस जाता था। वह कुएँ से पानी निकालती तो उसका कलेजा निकल आता। जब वह पड़ोस की औरतों के कपड़े सीती तो कपड़ों के साथ मगनदास का दिल छिद जाता। मगर कुछ बस था न क़ाबू।

मगनदास की हृदयवेधी दृष्टि को इसमें तो कोई संदेह नहीं था कि उसके प्रेम का आकर्षण बिलकुल बेअसर नहीं है, वर्ना रंभा की उन वफ़ा से भरी हुई ख़ातिरदारियों की तुक कैसे बिठाता। वफ़ा ही वह जादू है जो रूप के गर्व का सिर नीचा कर सकता है। मगर प्रेमिका के दिल में बैठने का माद्दा उसमें बहुत कम था। कोई दूसरा मनचला प्रेमी अब तक अपने वशीकरण में कामयाब हो चुका होता, लेकिन मगनदास ने दिल आशिक़ का पाया था और ज़बान माशूक़ की।

एक रोज़ शाम के वक़्त चंपा किसी काम से बाज़ार गई हुई थी और मगनदास हमेशा की तरह चारपाई पर पड़ा सपने देख रहा था कि रंभा अद्‌भुत छटा के साथ आकर उसके सामने खड़ी हो गई। उसका भोला चेहरा कमल की तरह खिला हुआ था और आँखों से सहानुभूति का भाव झलक रहा था। मगनदास ने उसकी तरफ़ पहले आश्चर्य और फिर प्रेम की निगाहों से देखा और दिल पर ज़ोर डालकर बोला—"आओ रंभा, तुम्हें देखने को बहुत दिन से आँखें तरस रही थीं।"

रंभा ने भोलेपन से कहा—"मैं यहाँ न आती तो तुम मुझसे कभी न बोलते।"

मगनदास का हौसला बढ़ा, बोला—"बिना मर्ज़ी पाए तो कुत्ता भी नहीं आता।"

रंभा मुस्कराई, कली खिल गई—"मैं तो आप ही चली आई।"

मगनदास का कलेजा उछल पड़ा। उसने हिम्मत करके रंभा का हाथ पकड़ लिया और भावावेश से काँपती हुई आवाज़ में बोला—"नहीं रंभा, ऐसा नहीं है। यह मेरी महीनों की तपस्या का फल है।"

मगनदास ने बेताब होकर उसे गले से लगा लिया। जब वह चलने लगी तो अपने प्रेमी की ओर प्रेमभरी दृष्टि से देखकर बोली—"अब यह प्रीत हमको निभानी होगी।"

पौ फटने के वक़्त जब सूर्य्य देवता के आगमन की तैयारियाँ हो रही थीं, मगनदास की आँख खुली। रंभा आटा पीस रही थी। उस शांतिपूर्ण सन्नाटे में चक्की की घुमर-घुमर बहुत सुहानी मालूम होती थी और उससे सुर मिलाकर अपने प्यारे ढंग से गाती थी—

झुलनियाँ मोरी पानी में गिरी
मैं जानूँ पिया मोको मनैहैं
उलटी मनावन मोको पड़ी
झुलनियाँ मोरी पानी में गिरी...

साल-भर गुज़र गया। मगनदास की मुहब्बत और रंभा के सलीक़े ने मिलकर उस वीरान झोपड़े को कुंज बाग़ बना दिया। अब वहाँ गायें थीं, फूलों की क्यारियाँ थीं और कई देहाती ढंग के मोढ़े थे। सुख-सुविधा की अनेक चीज़ें दिखाई पड़ती थीं।

एक रोज़ सुबह के वक्त मगनदास कहीं जाने के लिए तैयार हो रहा था कि एक सम्भ्रांत व्यक्ति अंग्रेज़ी पोशाक पहने उसे ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचा और उसे देखते ही दौड़कर गले से लिपट गया। मगनदास और वह दोनों एक साथ पढ़ा करते थे। वह अब वकील

हो गया था। मगनदास ने भी अब उसे पहचाना और कुछ झेंपता और कुछ झिझकता उससे गले लिपट गया। बड़ी देर तक दोनों दोस्त बातें करते रहे। बातें क्या थीं, घटनाओं और संयोगों की एक लंबी कहानी थी। कई महीने हुए सेठ लगनदास का छोटा बच्चा चेचक की नज़र हो गया। सेठजी ने दुःख के मारे आत्महत्या कर ली और अब मगनदास सारी जायदाद, कोठी, इलाके और मकानों का एकछत्र स्वामी था। सेठानियों में आपसी झगड़े हो रहे थे। कर्मचारियों ने ग़बन को अपना ढंग बना रक्खा था। बड़ी सेठानी उसे बुलाने के लिए खुद आने को तैयार थीं, मगर वकील साहब ने उन्हें रोका था। जब मगनदास ने मुस्कराकर पूछा—"तुम्हें क्योंकर मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ," तो वकील साहब ने फरमाया—"महीने-भर से तुम्हारी ही टोह में हूँ, सेठ मक्खनलाल ने अता-पता बतलाया। तुम दिल्ली पहुँचे और मैंने अपना महीने-भर का बिल पेश किया।"

रंभा अधीर हो रही थी कि यह कौन है और इनमें क्या बातें हो रही हैं? दस बजते-बजते वकील साहब मगनदास से एक हफ़्ते के अंदर आने का वादा लेकर विदा हुए। उसी वक़्त रंभा आ पहुँची और पूछने लगी—"यह कौन थे, इनका तुमसे क्या काम था?"

मगनदास ने जवाब दिया—"यमराज का दूत।"

रंभा—"क्या असगुन बकते हो!"

मगन—"नहीं रंभा, यह असगुन नहीं है, यह सचमुच मेरी मौत का दूत था। मेरी खुशियों के बाग़ को रौंदनेवाला, मेरी हरी-भरी खेती को उजाड़नेवाला, रंभा मैंने तुम्हारे साथ दग़ा की है, मैंने तुम्हें अपने फ़रेब के जाल में फँसाया है, मुझे माफ़ करो। मुहब्बत ने मुझसे यह सब करवाया। मैं मगनसिंह ठाकुर नहीं हूँ; मैं सेठ लगनदास का बेटा और सेठ मक्खनलाल का दामाद हूँ।"

मगनदास को डर था कि रंभा यह सुनते ही चौंक पड़ेगी और शायद उसे ज़ालिम, दग़ाबाज़ कहने लगे, मगर उसका ख़याल ग़लत निकला। रंभा ने आँखों में आँसू भरकर सिर्फ़ इतना कहा—"तो क्या तुम मुझे छोड़कर चले जाओगे?"

मगनदास ने उसे गले लगाकर कहा—"हाँ।"

रंभा—"क्यों?"

मगन—"इसलिए कि इंदिरा बहुत होशियार, सुंदर और धनी है।"

रंभा—"मैं तुम्हें न छोड़ूँगी। कभी इंदिरा की लौंडी थी, अब उनकी सौत बनूँगी। तुम जितनी मेरी मुहब्बत करोगे उतनी इंदिरा की तो न करोगे, क्यों?"

मगनदास इस भोलेपन पर मतवाला हो गया। मुस्कराकर बोला—"अब इंदिरा तुम्हारी लौंडी बनेगी, मगर सुनता हूँ वह बहुत सुंदर है। कहीं मैं उसकी सूरत पर लुभा न जाऊँ। मर्दों का हाल तुम नहीं जानतीं, मुझे अपने ही से डर लगता है।"

रंभा ने विश्वासभरी आँखों से देखकर कहा—"क्या तुम भी ऐसा करोगे? उँह, जो जी में आए करना, मैं तुम्हें न छोड़ूँगी। इंदिरा रानी बने, मैं लौंडी हूँगी क्या इतने पर भी मुझे छोड़ दोगे?"

मगनदास की आँखें डबडबा गईं, बोला—"प्यारी, मैंने फ़ैसला कर लिया है कि दिल्ली न जाऊँगा। यह तो मैं कहने ही को न पाया कि सेठजी का स्वर्गवास हो गया। बच्चा उनसे पहले ही चल बसा था। अफ़सोस, सेठजी के आख़िरी दर्शन भी न कर सका। अपना बाप भी इतनी मुहब्बत नहीं कर सकता। उन्होंने मुझे अपना वारिस बनाया है। वकील साहब कहते थे कि सेठानियों में अनबन है। नौकर-चाकर लूटमार मचा रहे हैं। वहाँ का यह हाल है और मेरा दिल वहाँ जाने पर राज़ी नहीं होता। दिल तो यहाँ है, वहाँ कौन जाए।" रंभा ज़रा देर तक सोचती रही, फिर बोली—"तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगी। इतने दिन तुम्हारे साथ रही, ज़िंदगी का सुख लूटा, अब जब तक जिऊँगी इस सुख का ध्यान करती रहूँगी। मगर तुम मुझे भूल तो न जाओगे? साल में एक बार देख लिया करना और इसी झोंपड़े में।"

मगनदास ने बहुत रोका मगर आँसू न रुक सके, बोले—"रंभा, यह बातें न करो, कलेजा बैठा जाता है। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, इसलिए नहीं कि तुम्हारे ऊपर कोई एहसान है। तुम्हारी ख़ातिर नहीं, अपनी ख़ातिर। वह शांति, वह प्रेम, वह आनंद जो मुझे यहाँ मिलता है और कहीं नहीं मिल सकता। ख़ुशी के साथ ज़िंदगी बसर हो, यही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। मुझे ईश्वर ने वह ख़ुशी यहाँ दे रक्खी है तो मैं उसे क्यों छोड़ूँ। धन-दौलत को मेरा सलाम है, मुझे उसकी हवस नहीं है।"

रंभा फिर गंभीर स्वर में बोली—"मैं तुम्हारे पाँव की बेड़ी न बनूँगी। चाहे तुम अभी न छोड़ो, लेकिन थोड़े दिनों में तुम्हारी यह मुहब्बत न रहेगी।"

मगनदास को कोड़ा लगा। जोश से बोला—"तुम्हारे सिवा इस दिल में अब कोई और जगह नहीं पा सकता।"

रात ज़्यादा आ गई थी। अष्टमी का चाँद सोने जा चुका था। दोपहर के कमल की तरह साफ़ आसमान में सितारे खिले हुए थे। किसी खेत के रखवाले की बाँसुरी की आवाज़, जिसे दूरी ने तासीर, सन्नाटे ने सुरीलापन और अँधेरे ने आत्मिकता का आकर्षण दे दिया था, कानों में आ रही थी कि जैसे कोई पवित्र आत्मा नदी के किनारे बैठी हुई पानी की लहरों से या दूसरे किनारे के ख़ामोश और अपनी तरफ़ खींचनेवाले पेड़ों से अपनी ज़िंदगी की ग़म की कहानी सुना रही है। मगनदास सो गया, मगर रंभा की आँखों में नींद न आई।

6

सुबह हुई तो मगनदास उठा और रंभा-रंभा पुकारने लगा। मगर रंभा रात ही को अपनी चाची के साथ वहाँ से कहीं चली गई। मगनदास को उस मकान के दरो-दीवार पर एक हसरत-सी छाई हुई मालूम हुई कि जैसे घर की जान निकल गई हो। वह घबराकर उस

कोठरी में गया, जहाँ रंभा रोज़ चक्की पीसती थी, मगर अफ़सोस आज चक्की एकदम निश्चल थी। फिर वह कुएँ की तरफ़ दौड़ गया, लेकिन ऐसा मालूम हुआ कि कुएँ ने उसे निगल जाने के लिए अपना मुँह खोल दिया है। तब वह बच्चों की तरह चीख उठा और रोता हुआ फिर उसी झोंपड़ी में आया, जहाँ कल रात तक प्रेम का वास था। मगर आह, उस वक़्त वह शोक का घर बना हुआ था। जब ज़रा आँसू थमे तो उसने घर में चारों तरफ़ निगाह दौड़ाई। रंभा की साड़ी अरगनी पर पड़ी हुई थी। एक पिटारी में वह कंगन रक्खा हुआ था जो मगनदास ने उसे दिया था। बर्तन सब रखे हुए थे, साफ़ और सुथरे। मगनदास सोचने लगा—रंभा, तूने रात को कहा था—मैं तुम्हें छोड़ दूँगी। क्या तूने वह बात दिल से कही थी? मैंने तो समझा था, तू दिल्लगी कर रही है, नहीं तो मैं तुझे कलेजे में छिपा लेता। मैं तो तेरे लिए सब कुछ छोड़े बैठा था। तेरा प्रेम मेरे लिए सब कुछ था। आह, मैं यों बेचैन हूँ, क्या तू बेचैन नहीं है? हाय तू रो रही है। मुझे यकीन है कि तू अब भी लौट आएगी। फिर सजीव कल्पनाओं का एक जमघट उसके सामने आया—वह नाज़ुक अदाएँ, वह मतवाली आँखें, वह भोली-भोली बातें, वह अपने को भूली हुई-सी मेहरबानियाँ, वह जीवनदाई मुस्कान, वह आशिकों जैसी दिलजोइयाँ, वह प्रेम का नशा, वह हमेशा खिला रहनेवाला चेहरा, वह लचक-लचककर कुएँ से पानी लाना, वह इंतज़ार की सूरत, वह मुहब्बत से भरी हुई बेचैनी—यह सब तस्वीरें उसकी निगाहों के सामने हसरतनाक बेताबी के साथ फिरने लगीं। मगनदास ने एक ठंडी साँस ली और आँसुओं और दर्द की उमड़ती हुई नदी को मर्दाना ज़ब्त से रोककर उठ खड़ा हुआ। नागपुर जाने का पक्का फ़ैसला हो गया। तकिए के नीचे से संदूक की कुंजी उठाई तो काग़ज़ का एक टुकड़ा निकल आया। यह रंभा की विदा की चिट्ठी थी—

प्यारे,

मैं बहुत रो रही हूँ। मेरे पैर नहीं उठते, मगर मेरा जाना ज़रूरी है। तुम्हें जगाऊँगी तो तुम जाने न दोगे। आह कैसे जाऊँ, अपने प्यारे पति को कैसे छोड़ूँ! क़िस्मत मुझसे यह आनंद का घर छुड़वा रही है, मुझे बेवफ़ा न कहना, मैं तुमसे फिर कभी मिलूँगी। मैं जानती हूँ कि तुमने मेरे लिए यह सब कुछ त्याग दिया है। मगर तुम्हारे लिए ज़िंदगी में बहुत कुछ उम्मीदें हैं। मैं अपनी मुहब्बत की धुन में तुम्हें उन उम्मीदों से क्यों दूर रक्खूँ। अब तुमसे जुदा होती हूँ। मेरी सुध मत भूलना। मैं तुम्हें हमेशा याद रखूँगी। यह आनंद के दिन कभी न भूलेंगे। क्या तुम मुझे भूल सकोगे?

तुम्हारी प्यारी

रंभा

7

मगनदास को दिल्ली आए तीन महीने गुज़र चुके हैं। इस बीच उसे सबसे बड़ा जो निजी अनुभव हुआ था कि रोज़ी की फ़िक्र और धंधों की बहुतायत से उमड़ती हुई भावनाओं का ज़ोर कम किया जा सकता है। डेढ़ साल पहले का बेफ़िक्र नौजवान अब एक समझदार और सूझ-बूझ रखनेवाला आदमी बन गया था। सागर घाट के कुछ दिनों के रहने से उसे रिआया की उन तकलीफों का निजी ज्ञान हो गया था, जो कारिंदों और मुख़्तारों की सख़्तियों की बदौलत उन्हें उठानी पड़ती हैं। उसने उसे रियासत के इंतज़ाम में बहुत मदद दी और गो कर्मचारी दबी ज़बान से उसकी शिकायत करते थे और अपनी क़िस्मतों और ज़माने के उलट-फेर को कोसते थे मगर रिआया ख़ुश थी। हाँ, जब वह सब धंधों से फुरसत पाता तो एक भोली-भाली सूरतवाली लड़की उसके ख़याल के पहलू में आ बैठती और थोड़ी देर के लिए सागर घाट का वह हरा-भरा झोंपड़ा और उसकी मस्तियाँ आँखों के सामने आ जातीं। सारी बातें एक सुहाने सपने की तरह याद आ-आकर उसके दिल को मसोसने लगतीं, लेकिन कभी-कभी खुद-बखुद उसका ख़्याल इंदिरा की तरफ़ भी जा पहुँचता! गो उसके दिल में रंभा की वही जगह थी, मगर किसी तरह उसमें इंदिरा के लिए भी एक कोना निकल आया था। जिन हालतों और आफ़तों ने उसे इंदिरा से बेज़ार कर दिया था, वह अब रुख़सत हो गई थीं। अब उसे इंदिरा से कुछ हमदर्दी हो गई थी। अगर उसके मिज़ाज में घमंड है, हुकूमत है, तकल्लुफ है, शान है तो यह उसका क़सूर नहीं, यह रईसज़ादों की आम कमज़ोरियाँ हैं। यही उनकी शिक्षा है। वे बिलकुल बेबस और मजबूर हैं। इन बदले हुए और संतुलित भावों के साथ जहाँ वह बेचैनी के साथ रंभा की याद को ताजा किया करता था, वहाँ इंदिरा का स्वागत करने और उसे अपने दिल में जगह देने के लिए तैयार था। वह दिन भी दूर नहीं था जब उसे उस आज़माइश का सामना करना पड़ेगा। उसके कई आत्मीय अमीराना शान-शौकत के साथ इंदिरा को विदा कराने के लिए नागपुर गए हुए थे। मगनदास की तबीयत आज तरह-तरह के भावों के कारण, जिनमें प्रतीक्षा और मिलन की उत्कंठा विशेष थी, उचाट-सी हो रही थी। जब कोई नौकर आता तो वह सम्हल बैठता कि शायद इंदिरा आ पहुँची। आख़िर शाम के वक़्त, जब दिन और रात गले मिल रहे थे, जनानख़ाने में ज़ोर-शोर के गाने की आवाज़ों ने बहू के पहुँचने की सूचना दी।

सुहाग की सुहानी रात थी। दस बज गए थे। खुले हुए हवादार सहन में चाँदनी छिटकी हुई थी, वह चाँदनी जिसमें नशा है, आरजू है और खिंचाव है। गमलों में खिले हुए गुलाब और चंपे के फूल चाँद की सुनहरी रोशनी में ज़्यादा गंभीर और ख़ामोश नज़र आते थे। मगनदास इंदिरा से मिलने के लिए चला। उसके दिल में लालसाएँ ज़रूर थीं, मगर एक पीड़ा भी थी। दर्शन की उत्कंठा थी, मगर प्यास से खाली।

मुहब्बत नहीं, प्राणों का खिंचाव था, जो उसे खींचे लिए जाता था। उसके दिल में बैठी हुई रंभा शायद बार-बार बाहर निकलने की कोशिश कर रही थी। इसीलिए दिल में धड़कन हो रही थी। वह सोने के कमरे के दरवाज़े पर पहुँचा। रेशमी पर्दा पड़ा हुआ था। उसने पर्दा उठा दिया। अंदर एक औरत सफेद साड़ी पहने खड़ी थी। हाथ में चंद ख़ूबसूरत चूड़ियों के सिवा उसके बदन पर एक ज़ेवर भी न था। ज्यों ही पर्दा उठा और मगनदास ने अंदर क़दम रक्खा, वह मुस्कराती हुई उसकी तरफ़ बढ़ी। मगनदास ने उसे देखा और चकित होकर बोला, 'रंभा!' और दोनों प्रेमावेश से लिपट गए। दिल में बैठी हुई रंभा बाहर निकल आई थी।

साल-भर गुज़रने के बाद एक दिन इंदिरा ने अपने पति से कहा—"क्या रंभा को बिलकुल भूल गए? कैसे बेवफ़ा हो! कुछ याद है, उसने चलते वक़्त तुमसे क्या विनती की थी?"

मगनदास ने कहा—"ख़ूब याद है। वह आवाज़ भी कानों में गूँज रही है। मैं रंभा को भोली-भाली लड़की समझता था। यही जानता था कि यह त्रिया-चरित्र का जादू है। मैं अपनी रंभा को अब भी इंदिरा से ज़्यादा प्यार करता हूँ। तुम्हें डाह तो नहीं होती?"

इंदिरा ने हँसकर जवाब दिया—"डाह क्यों हो। तुम्हें रंभा है तो क्या मेरा मगनसिंह नहीं है। मैं अब भी उस पर मरती हूँ।"

दूसरे दिन दोनों दिल्ली से एक राष्ट्रीय समारोह में शरीक होने का बहाना करके रवाना हो गए और सागर घाट जा पहुँचे। वह झोंपड़ा, वह मुहब्बत का मंदिर, वह प्रेम-भवन फूल और हरियाली से लहरा रहा था। चंपा मालिन उन्हें वहाँ मिली। गाँव के ज़मींदार उनसे मिलने के लिए आए, कई दिन तक फिर मगनसिंह को घोड़े निकालना पड़े। रंभा कुएँ से पानी लाती, ख़ाना पकाती, फिर चक्की पीसती और गाती। गाँव की औरतें फिर उससे अपने कुर्ते और बच्चों की लेसदार टोपियाँ सिलातीं। हाँ, इतना ज़रूर कहतीं कि उसका रंग कैसा निखर आया है, हाथ-पाँव कैसे मुलायम पड़ गए हैं, किसी बड़े घर की रानी मालूम होती है। मगर स्वभाव वही है, वही मीठी बोली है, वही मुरौवत, वही हँसमुख चेहरा।

इस तरह एक हफ़्ते तक इस सरल और पवित्र जीवन का आनंद उठाने के बाद दोनों दिल्ली वापस आए और अब दस साल गुज़रने पर भी साल में एक बार उस झोंपड़े के नसीब जागते हैं। वह मुहब्बत की दीवार अभी तक उन दोनों प्रेमियों को अपनी छाया में आराम देने के लिए खड़ी है।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जनवरी, 1913)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

अमृत

1

मेरी उठती जवानी थी जब मेरा दिल-दर्द के मज़े से परिचित हुआ। कुछ दिनों तक शायरी का अभ्यास करता रहा और धीरे-धीरे इस शौक ने तल्लीनता का रूप ले लिया। सारे सांसारिक संबंधों से मुँह मोड़कर अपनी शायरी की दुनिया में आ बैठा और तीन ही साल की मश्क़ ने मेरी कल्पना के जौहर खोल दिए। कभी-कभी मेरी शायरी उस्तादों के मशहूर कलाम से टक्कर खा जाती थी। मेरे क़लम ने किसी उस्ताद के सामने सर नहीं झुकाया। मेरी कल्पना एक अपने आप बढ़नेवाले पौधे की तरह छंद और पिंगल की क़ैदों से आज़ाद बढ़ती रही और मेरे कलाम का ढंग बिलकुल निराला था। मैंने अपनी शायरी को फारस से बाहर निकालकर यूरोप तक पहुँचा दिया। यह मेरा अपना रंग था, इस मैदान में न मेरा कोई प्रतिद्वंद्वी था, न बराबरी करनेवाला। बावजूद इस शायरों-जैसी तल्लीनता के मुझे मुशायरों की वाह-वाह और सुभानअल्लाह से नफ़रत थी। हाँ, काव्य-रसिकों से बिना अपना नाम बताए हुए अक़्सर अपनी शायरी की अच्छाइयों और बुराइयों पर बहस किया करता। गो मुझे शायरी का दावा न था, मगर धीरे-धीरे मेरी शोहरत होने लगी और जब मेरी मसनवी 'दुनियाए हुस्न' प्रकाशित हुई तो साहित्य की दुनिया में हलचल-सी मच गई। पुराने शायरों ने काव्य-मर्मज्ञों की प्रशंसा-कृपणता में पोथे रंग दिए हैं, मगर मेरा अनुभव इसके बिलकुल विपरीत था। मुझे कभी-कभी यह ख़याल सताया करता कि मेरे कद्रदानों की यह उदारता दूसरे कवियों की लेखनी की दरिद्रता का प्रमाण है। यह ख़याल हौसला तोड़नेवाला था। बहरहाल, जो कुछ हुआ 'दुनियाए हुस्न' ने मुझे शायरी का बादशाह बना दिया। मेरा नाम हरेक ज़बान पर था। मेरी चर्चा हर एक अख़बार में थी, शोहरत अपने साथ दौलत भी लाई। मुझे दिन-रात शेरो-शायरी के अलावा और कोई काम न था। अक़्सर बैठे-बैठे रातें गुज़र जातीं और जब कोई चुभता हुआ शेर क़लम से निकल जाता तो मैं ख़ुशी के मारे उछल पड़ता। मैं अब तक शादी-ब्याह की क़ैदों से आज़ाद था, यों कहिए कि मैं उसके उन मज़ों से अपरिचित था, जिनमें रंग की तल्ख़ी भी है

और ख़ुशी की नमकीनी भी। अक़्सर पश्चिमी साहित्यकारों की तरह मेरा भी ख़याल था कि साहित्य के उन्माद और सौंदर्य में पुराना बैर है। मुझे अपनी ज़बान से कहते हुए शर्मिंदा होना पड़ता है कि मुझे अपनी तबीयत पर भरोसा न था। जब कभी मेरी आँखों में कोई मोहिनी सूरत खुब जाती तो मेरे दिल-दिमाग़ पर एक पागलपन-सा छा जाता। हफ़्तों तक अपने को भूला हुआ-सा रहता। लिखने की तरफ़ तबीयत किसी तरह न झुकती। ऐसे कमज़ोर दिल में सिर्फ़ एक इश्क की जगह थी। इसी डर से मैं अपनी रंगीन तबीयत के खिलाफ आचरण शुद्ध रखने पर मज़बूर था। कमल की एक पंखुड़ी, श्यामा के एक गीत, लहलहाते हुए एक मैदान में मेरे लिए जादू का-सा आकर्षण था, मगर किसी औरत के दिलफ़रेब हुस्न को मैं चित्रकार या मूर्तिकार की बेलौस आँखों से नहीं देख सकता था। सुंदर स्त्री मेरे लिए एक रंगीन, क़ातिल नागिन थी जिसे देखकर आँखें ख़ुश होती हैं, मगर दिल डर से सिमट जाता है।

ख़ैर, 'दुनियाए हुस्न' को प्रकाशित हुए दो साल गुज़र चुके थे। मेरी ख्याति बरसात की उमड़ी हुई नदी की तरह बढ़ती चली जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि जैसे मैंने साहित्य की दुनिया पर कोई वशीकरण कर दिया है। इस दौरान में मैंने फुटकर शेर तो बहुत कहे, मगर दावतों और अभिनंदनपत्रों की भीड़ ने मार्मिक भावों को उभरने न दिया। प्रदर्शन और ख्याति एक राजनीतिज्ञ के लिए कोड़े का काम दे सकते हैं, मगर शायर की तबीयत अकेले शांति से एक कोने में बैठकर ही अपना जौहर दिखलाती है। चुनाँचे मैं इन रोज़-ब-रोज़ बढ़ती हुई बेहूदा बातों से गला छुड़ाकर भागा और पहाड़ के एक कोने में जा छिपा। 'नैरंग' ने वहीं जन्म लिया।

2

'नैरंग' के शुरू करते ही मुझे एक आश्चर्यजनक और दिल तोड़नेवाला अनुभव हुआ। ईश्वर जाने क्यों मेरी अक़्ल और मेरे चिंतन पर एक पर्दा पड़ गया। घंटों तबीयत पर ज़ोर डालता मगर एक शेर भी ऐसा न निकलता कि दिल फड़क उठे। सूझते भी तो दरिद्र, पिटे हुए विषय, जिनसे मेरी आत्मा भागती थी। मैं अक़्सर झुँझलाकर उठ बैठता, काग़ज़ फाड़ डालता और बड़ी बेदिली की हालत में सोने लगता कि क्या मेरी काव्य-शक्ति का अंत हो गया, क्या मैंने वह खजाना जो प्रकृति ने मुझे सारी उम्र के लिए दिया था, इतनी जल्दी मिटा दिया। कहाँ वह हालत थी कि विषयों की बहुतायत और नाज़ुक ख़यालों की रवानी क़लम को दम नहीं लेने देती थी। कल्पना का पंछी उड़ता तो आसमान का तारा बन जाता था। और कहाँ अब यह पस्ती! यह करुण दरिद्रता! मगर इसका कारण क्या है? यह किस क़सूर की सज़ा है। कारण और कार्य्य का दूसरा नाम दुनिया है। जब तक हमको क्यों का जवाब न मिले, दिल को किसी तरह सब्र नहीं होता, यहाँ तक कि मौत को भी इस क्यों का जवाब देना पड़ता है।

आख़िर मैंने एक डॉक्टर से सलाह ली। उसने आम डॉक्टरों की तरह आबहवा बदलने की सलाह दी। मेरी अक़्ल में भी यह बात आई कि मुमकिन है नैनीताल की ठंडी आबहवा से शायरी की आग ठंडी पड़ गई हो। छः महीने तक लगातार घूमता-फिरता रहा। अनेक आकर्षक दृश्य देखे, मगर उनसे आत्मा पर वह शायराना कैफ़ियत न छाती थी कि प्याला छलक पड़े और ख़ामोश कल्पना ख़ुद-ब-ख़ुद चहकने लगे। मुझे अपना खोया हुआ लाल न मिला। अब मैं ज़िंदगी से तंग था। ज़िंदगी अब मुझे सूखे रेगिस्तान जैसी मालूम होती जहाँ कोई जान नहीं, ताज़गी नहीं, दिलचस्पी नहीं। हरदम दिल पर एक मायूसी-सी छाई रहती और दिल खोया-खोया रहता। दिल में यह सवाल पैदा होता कि क्या वह चार दिन की चाँदनी ख़त्म हो गई और अँधेरा पाख आ गया। आदमी की संगत से बेज़ार, हमजिंस की सूरत से नफ़रत, मैं एक गुमनाम कोने में पड़ा हुआ ज़िंदगी के दिन पूरे कर रहा था। पेड़ों की चोटियों पर बैठनेवाली, मीठे राग गानेवाली चिड़िया क्या पिंजरे में ज़िंदा रह सकती है? मुमकिन है कि वह दाना खाए, पानी पिये, मगर उसकी इस ज़िंदगी और मौत में कोई फ़र्क नहीं है।

आख़िर जब मुझे अपनी शायरी के लौटने की कोई उम्मीद न रही, तो मेरे दिल में यह इरादा पक्का हो गया कि अब मेरे लिए शायरी की दुनिया में मर जाना ही बेहतर होगा। मुर्दा तो हूँ, इस हालत में अपने को ज़िंदा समझना बेवकूफी है। आख़िर मैंने एक रोज़ कुछ दैनिक पत्रों को अपने मरने की ख़बर दे दी। उसके छपते ही मुल्क में कोहराम मच गया, एक तहलका पड़ गया। उस वक़्त मुझे अपनी लोकप्रियता का कुछ अंदाज़ा हुआ। यह आम पुकार थी, कि शायरी की दुनिया में किश्ती मझधार में डूब गई। शायरी की महफ़िल उखड़ गई। पत्र-पत्रिकाओं में मेरे जीवन-चरित प्रकाशित हुए जिनको पढ़कर मुझे एडीटरों की आविष्कार-बुद्धि का क़ायल होना पड़ा। न तो मैं किसी रईस का बेटा था और न मैंने रईसी की मसनद छोड़कर फ़क़ीरी अख़्तियार की थी। उनकी कल्पना वास्तविकता पर छा गई थी। मेरे मित्रों में एक साहब ने, जिन्हें मुझसे आत्मीयता का दावा था, मुझे पीने-पिलाने का प्रेमी बना दिया था। वह जब कभी मुझसे मिलते, उन्हें मेरी आँखें नशे से लाल नज़र आतीं। अगरचे इसी लेख में आगे चलकर उन्होंने मेरी इस बुरी आदत की बहुत उदारहृदयता से सफ़ाई दी थी क्योंकि रूखा-सूखा आदमी ऐसी मस्ती के शेर नही कह सकता था। ताहम हैरत है कि उन्हें यह सरीहन ग़लत बात कहने की हिम्मत कैसे हुई?

ख़ैर, इन ग़लत-बयानियों की तो मुझे परवाह न थी। अलबत्ता यह बड़ी फ़िक्र थी, फ़िक्र नहीं एक प्रबल जिज्ञासा थी, कि मेरी शायरी पर लोगों की ज़बान से क्या फ़तवा निकलता है। हमारी ज़िंदगी के कारनामे की सच्ची दाद मरने के बाद ही मिलती है, क्योंकि उस वक़्त वह ख़ुशामद और बुराइयों से पाक-साफ़ होती है। मरनेवाले की ख़ुशी या रंज की कौन परवाह करता है। इसीलिए मेरी कविता पर जितनी आलोचनाएँ निकली हैं, उनको मैंने बहुत ही ठंडे दिल से पढ़ना शुरू किया। मगर कविता को

समझनेवाली दृष्टि की व्यापकता और उसके मर्म को समझनेवाली रुचि का चारों तरफ़ अकाल-सा मालूम होता था। अधिकांश जौहरियों ने एक-एक शेर को लेकर उनसे बहस की थी और इसमें शक नहीं कि वे पाठक की हैसियत से उस शेर के पहलुओं को ख़ूब समझते थे, मगर आलोचक का कहीं पता न था। नज़र की गहराई ग़ायब थी। समग्र कविता पर निगाह डालनेवाला, कवि के गहरे भावों तक पहुँचनेवाला कोई आलोचक न दिखाई दिया।

3

एक रोज़ मैं प्रेतों की दुनिया से निकलकर घूमता हुआ अजमेर की पब्लिक लाइब्रेरी में जा पहुँचा। दोपहर का वक़्त था। मैंने मेज़ पर झुककर देखा कि कोई नई रचना हाथ आ जाए तो दिल बहलाऊँ। यकायक मेरी निगाह एक सुंदर पत्र की ओर गई जिसका नाम था 'कलामे अख़्तर'। जैसे भोला बच्चा खिलौने की तरह लपकता है, उसी तरह झपटकर मैंने उस किताब को उठा लिया। उसकी लेखिका मिस आयशा आरिफ़ थीं। दिलचस्पी और भी ज़्यादा हुई। मैं इत्मीनान से बैठकर उस किताब को पढ़ने लगा। एक ही पन्ना पढ़ने के बाद दिलचस्पी ने बेताबी की सूरत अख़्तियार की। फिर मैं तो बेसुधी की दुनिया में पहुँच गया। मेरे सामने गोया सूक्ष्म अर्थों की एक नदी लहरें मार रही थी। कल्पना की उठान, रुचि की स्वच्छता, भाषा की नर्मी, काव्य-दृष्टि की व्यापकता, किस-किस की तारीफ़ करूँ। उसकी एक-एक कल्पना ऐसी थी कि हृदय धन्य-धन्य कह उठता। मैं एक पैराग्राफ़ पढ़ता, फिर विचार की ताज़गी से प्रभावित होकर एक लंबी साँस लेता और तब सोचने लगता। इस किताब को सरसरी तौर पर पढ़ना असंभव था। यह औरत थी या सुरुचि की देवी। उसके इशारों से मेरा कलाम बहुत कम बचा था, मगर जहाँ उसने मुझे दाद दी थी, वहाँ सच्चाई के मोती बरसा दिए थे। उसके एतराजों में हमदर्दी और प्रशंसा में भक्ति थी। शायर के कलाम को दोषों की दृष्टि से नहीं, खूबियों की दृष्टि से देखना चाहिए। उसने क्या नहीं किया, यह ठीक कसौटी नहीं। उसने क्या किया, यह ठीक कसौटी है। बस यही जी चाहता था कि लेखिका के हाथ और क़लम चूम लूँ। 'सफ़ीर' भोपाल के दफ़्तर से यह पत्रिका प्रकाशित हुई थी। मेरा पक्का इरादा हो गया, तीसरे दिन शाम के वक़्त मैं मिस आयशा के ख़ूबसूरत बँगले के सामने हरी-हरी घास पर टहल रहा था। मैं नौकरानी के साथ एक कमरे में दाख़िल हुआ। उसकी सजावट बहुत सादी थी। पहली चीज़ जिस पर मेरी निगाह पड़ी वह मेरी तस्वीर थी, जो दीवार से लटक रही थी। सामने एक आईना रक्खा हुआ था। मैंने खुदा जाने क्यों उसमें अपनी सूरत देखी। मेरा चेहरा पीला और कुम्हलाया हुआ था, बाल उलझे हुए, कपड़ों पर गर्द की मोटी तह जमी हुई, परेशानी की ज़िंदा तस्वीर खड़ी थी।

उस वक़्त मुझे अपनी बुरी शक्ल पर सख़्त शर्मिंदगी हुई। मैं सुंदर न सही, मगर इस वक़्त तो सचमुच चेहरे पर फटकार बरस रही थी। अपने लिबास के ठीक होने का यकीन हमें खुशी देता है। अपने फूहड़पन का ज़िस्म पर इतना असर नहीं होता जितना दिल पर। हम बुज़दिल और बेहौसला हो जाते हैं।

मुझे मुश्किल से पाँच मिनट गुज़रे होंगे कि मिस आयशा तशरीफ लाईं। साँवला रंग था, चेहरा एक गंभीर घुलावट से चमक रहा था। बड़ी-बड़ी नरगिसी आँखों से सदाचार की, संस्कृति की रोशनी झलकती थी। क़द मझोले से कुछ कम। अंग-प्रत्यंग छरहरे, सुथरे, ऐसी हल्की-फुल्की कि जैसे प्रकृति ने उसे इस भौतिक संसार के लिए नहीं, किसी काल्पनिक संसार के लिए सिरजा है। कोई चित्रकार कला की उससे अच्छी तस्वीर नहीं खींच सकता था।

मिस आयशा ने मेरी तरफ़ दबी निगाहों से देखा, मगर देखते-देखते उसकी गर्दन झुक गई और उसके गालों पर लाज की एक हल्की-सी परछाई नाचती हुई मालूम हुई। ज़मीन से उठकर उसकी आँखें मेरी तस्वीर की तरफ़ गईं और फिर सामने पर्दे की तरफ़ जा पहुँचीं। शायद उसकी आड़ में छिपना चाहती थीं।

मिस आयशा ने मेरी तरफ़ दबी निगाहों से देखकर पूछा—"आप स्वर्गीय अख़्तर के दोस्तों में हैं?"

मैंने सर नीचा किए हुए जवाब दिया—"मैं ही बदनसीब अख़्तर हूँ।"

आयशा एक बेख़ुदी के आलम में कुर्सी पर से उठ खड़ी हुई और मेरी तरफ़ हैरत से देखकर बोली—"'दुनियाए हुस्न' के लिखनेवाले?"

अंधविश्वास के सिवा और किसने इस दुनिया से चले जानेवाले को देखा है। आयशा ने मेरी तरफ़ कई बार शक से भरी हुई निगाहों से देखा। उनमें अब शर्म और हया की जगह के बजाय हैरत समाई हुई थी। मेरे क़ब्र से निकलकर भागने का तो उसे यकीन आ ही नहीं सकता था, शायद वह मुझे दीवाना समझ रही थी। उसने दिल में फ़ैसला किया कि यह आदमी मरहूम शायर का कोई क़रीबी अज़ीज़ है। शकल जिस तरह मिल रही थी, वह दोनों के एक खानदान के होने का सबूत थी। मुमकिन है कि भाई हो। इस अचानक सदमे से पागल हो गया है। शायद उसने मेरी किताब देखी होगी और हाल पूछने के लिए चला आया। अचानक उसे ख़याल गुज़रा कि किसी ने अख़बारों को मेरे मरने की झूठी ख़बर दे दी हो और मुझे उस ख़बर को काटने का मौक़ा न मिला हो। उस ख़याल से उसकी उलझन दूर हुई, बोली—"अख़बारों में आपके बारे में एक निहायत मनहूस ख़बर छप गई थी?" मैंने जवाब दिया—"वह ख़बर सही थी।"

अगर पहले आयशा को मेरे दीवानेपन में कुछ शक था तो वह दूर हो गया। आख़िर मैंने थोड़े लफ़्ज़ों में अपनी दास्तान सुनाई और जब उसको यकीन हो गया कि 'दुनियाए हुस्न' का लिखनेवाला अख़्तर अपने इंसानी चोले में है तो उसके चेहरे पर

ख़ुशी की एक हलकी सुर्ख़ी दिखाई दी और यह हल्का रंग बहुत जल्द ख़ुद्दारी और रूप-गर्व के शोख रंग से मिलकर कुछ-का-कुछ हो गया। ग़ालिबन वह शर्मिंदा थी कि क्यों उसने अपनी क़द्रदानी को हद से बाहर जाने दिया। कुछ देर की शर्मीली ख़ामोशी के बाद उसने कहा—"मुझे अफ़सोस है कि आपको ऐसी मनहूस ख़बर निकालने की ज़रूरत हुई।"

मैंने जोश में भरकर जवाब दिया—"आपके क़लम की ज़बान से दाद पाने की कोई सूरत न थी। इस तनक़ीद के लिए मैं ऐसी-ऐसी कई मौतें मर सकता था।"

मेरे इस बेधड़क अंदाज़ ने आयशा की ज़बान को भी शिष्टाचार और संकोच की क़ैद से आज़ाद किया, मुस्कराकर बोली—"मुझे बनावट पसंद नहीं है। डॉक्टरों ने कुछ बतलाया नहीं?" उसकी इस मुस्कराहट ने मुझे दिल्लगी करने पर आमादा किया, बोला—"अब मसीह के सिवा इस मर्ज़ का इलाज और किसी के हाथ से नहीं हो सकता।"

आयशा इशारा समझ गई, हँसकर बोली—"मसीह चौथे आसमान पर रहते हैं।"

मेरी हिम्मत ने अब और क़दम बढ़ाये—"रूहों की दुनिया से चौथा आसमान बहुत दूर नहीं है।"

आयशा के लिखे हुए चेहरे से संजीदगी और अजनबियत का हल्का रंग उड़ गया। ताहम, मेरे इन बेधड़क इशारों को हद से बढ़ते देखकर उसे मेरी ज़बान पर रोक लगाने के लिए किसी क़दर ख़ुद्दारी बरतना पड़ी। जब मैं कोई घंटे-भर के बाद उस कमरे से निकला तो बजाय इसके कि वह मेरी तरफ़ अपनी अंग्रेज़ी तहज़ीब के मुताबिक हाथ बढ़ाए उसने चोरी-चोरी मेरी तरफ़ देखा। फैला हुआ पानी जब सिमटकर किसी जगह से निकलता है तो उसका बहाव बहुत तेज़ और ताकत कई गुना ज़्यादा हो जाती है। आयशा की उन निगाहों में अस्मत की तासीर थी। उनमें दिल मुस्कराता था और जज़्बा नाचता था। आह! उनमें मेरे लिए दावत का एक पुरजोश पैग़ाम भरा हुआ था। जब मैं मुस्लिम होटल में पहुँचकर इन वाक़यात पर ग़ौर करने लगा तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गो मैं ऊपर से देखने पर यहाँ अब तक अपरिचित था, लेकिन भीतरी तौर पर शायद मैं उसके दिल के कोने तक पहुँच चुका था।

4

जब मैं ख़ाना खाकर पलंग पर लेटा तो बावजूद दो दिन रात-रात भर जागने के नींद आँखों से कोसों दूर थी। जज़्बात की कशमकश में नींद कहाँ। आयशा की सूरत, उसकी ख़ातिरदारियाँ और उसकी वह छिपी-छिपी निगाह दिल में एहसासों का तूफ़ान-सा बरपा कर रही थी। उस आख़िरी निगाह ने दिल में तमन्नाओं की रूम-धूम

मचा दी। वह आरज़ुएँ, जो बहुत अरसा हुआ, मर मिटी थीं फिर जाग उठीं और आरज़ुओं के साथ कल्पना ने भी मुँदी हुई आँखें खोल दीं।

दिल में जज़्बात और कैफ़ियात का एक नया बेचैन करनेवाला जोश महसूस हुआ। यही आरज़ुएँ, यही बेचैनियाँ और यही शोरिशें कल्पना के दीपक के लिए तेल हैं। जज़्बात की हरारत ने कल्पना को गरमाया। मैं क़लम लेकर बैठ गया और एक ऐसी नज़्म लिखी जिसे मैं अपनी सबसे शानदार दौलत समझता हूँ।

मैं एक होटल में रह रहा था, मगर किसी न किसी हीले से दिन में कम-से-कम एक बार ज़रूर उसके दर्शन का आनंद उठाता। गो आयशा ने कभी मेरे यहाँ तक आने की तकलीफ नहीं की तो भी मुझे यह यकीन करने के लिए शहादतों की ज़रूरत न थी कि वहाँ किस क़दर सरगर्मी से मेरा इंतज़ार किया जाता था। मेरे क़दमों की पहचानी हुई आहट पाते ही उसका चेहरा कमल की तरह खिल जाता था और आँखों से कामना की किरणें निकलने लगती थीं।

यहाँ छः महीने गुज़र गए। इस ज़माने को मेरी ज़िंदगी की बहार समझना चाहिए। मुझे वह दिन भी याद है जब मैं आरज़ुओं और हसरतों के ग़म से आज़ाद था। मगर दरिया की शांतिपूर्ण रवानी में थिरकती हुई लहरों की बहार कहाँ। अब अगर मुहब्बत का दर्द था तो उसका प्राणदायी मज़ा भी था। अगर आरज़ुओं की घुलावट थी तो उनकी उमंग भी थी। आह! मेरी यह प्यासी आँखें उस रूप के स्रोत से किसी तरह तृप्त न होतीं। जब मैं अपनी नशे में डूबी हुई आँखों से उसे देखता तो मुझे एक आत्मिक तरावट-सी महसूस होती। मैं उसके दीदार के नशे से बेसुध-सा हो जाता और मेरी रचना-शक्ति का तो कुछ हद-हिसाब न था। ऐसा मालूम होता था कि जैसे दिल में मीठे भावों का सोता खुल गया था। अपनी कवित्व शक्ति पर खुद अचंभा होता था। क़लम हाथ में ली और रचना का सोता-सा बह निकला। 'नैरंग' में ऊँची कल्पनाएँ न हों, बड़ी गूढ़ बातें न हों, मगर उसका एक-एक शेर प्रवाह और रस, गर्मी और घुलावट की दाद दे रहा है। यह उस दीपक का वरदान है, जो अब मेरे दिल में जल गया था और रोशनी दे रहा था। यह उस फूल की महक थी जो मेरे दिल में खिला हुआ था। मुहब्बत रूह की खुराक है। यह वह अमृत की बूँद है जो मरे हुए भावों को ज़िंदा कर देती है। मुहब्बत आत्मिक वरदान है। यह ज़िंदगी की सबसे पाक, सबसे ऊँची, सबसे मुबारक बरकत है। यही अक्सीर थी जिसकी अनजाने ही मुझे तलाश थी। वह रात कभी न भूलेगी जब आयशा दुल्हन बनी हुई मेरे घर में आई। 'नैरंग' उसी मुबारक ज़िंदगी की यादगार है। 'दुनियाए हुस्न' एक कली थी, 'नैरंग' खिला हुआ फूल है और उस कली को खिलानेवाली कौन-सी चीज़ है? वही जिसकी मुझे अनजाने ही तलाश थी और जिसे मैं अब पा गया था।

('ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, मार्च, 1913)

('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

अमावस्या की रात्रि

1

दिवाली की संध्या थी। श्रीनगर के घूरों और खँडहरों के भी भाग्य चमक उठे थे। क़स्बे के लड़के, लड़कियाँ स्वेत थालियों में दीपक लिये मंदिर की ओर जा रहे थे। दीपों से अधिक उनके मुखारविंद प्रकाशमान थे। प्रत्येक गृह रोशनी से जगमगा रहा था। केवल पंडित देवदत्त का सप्तघरा भवन अंधकार में काली घटा की भाँति गंभीर और भयंकर रूप में खड़ा था। गंभीर इसलिए कि उसे अपनी उन्नति के दिन भूले न थे। भयंकर इसलिए कि यह जगमगाहट, मानो उसे चिढ़ा रही थी। एक समय वह था जब कि ईर्ष्या भी उसे देख-देखकर हाथ मलती थी और एक समय यह है जबकि घृणा भी उस पर कटाक्ष करती है। द्वार पर द्वारपाल की जगह अब मदार और एरंड के वृक्ष खड़े थे। दीवानख़ाने में एक मतंग साँड़ अकड़ता था। ऊपर के घरों में जहाँ सुंदर रमणियाँ मनोहारिणी संगीत गाती थीं; वहाँ आज जंगली कबूतरों के मधुर स्वर सुनाई देते थे। किसी अँगरेज़ी मदरसे के विद्यार्थी के आचरण की भाँति उसकी जड़ें हिल गई थीं और दीवारें किसी विधवा स्त्री के हृदय की भाँति विदीर्ण हो रही थीं, पर समय को हम कुछ कह नहीं सकते, समय की निंदा व्यर्थ और भूल है, यह मूर्खता और अदूरदर्शिता का फल था।

अमावस्या की रात्रि थी। प्रकाश से पराजित होकर, मानो अंधकार ने उसी विशाल भवन में शरण ली थी। पंडित देवदत्त अपने अर्द्धअंधकार वाले कमरे में मौन परंतु चिंता में निमग्न थे। आज एक महीने से उनकी पत्नी 'गिरिजा' की ज़िंदगी को निर्दय काल ने खिलवाड़ बना लिया है। पंडितजी दरिद्रता और दुःख को भुगतने के लिए तैयार थे। भाग्य का भरोसा उन्हें धैर्य्य बँधाता था, किंतु यह नई विपत्ति सहनशक्ति से बाहर थी। बेचारे दिन-के-दिन गिरिजा के सिरहाने बैठ के उसके मुरझाये हुए मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। गिरिजा जब अपने जीवन से निराश होकर रोती तो वह उसे समझाते—"गिरिजा रोवो मत, तुम शीघ्र अच्छी हो जाओगी।"

पंडित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन-देन किया करते थे। अधिकतर उनके व्यवहार बड़े-बड़े चकलेदारों और रजवाड़ों के साथ थे। उस

मय ईमान इतना सस्ता नहीं बिकता था, सादे पत्रों पर लाखों की बातें हो जाती थीं। गर सन् 57 ईस्वी के बलवे ने कितनी ही रियासतों और राज्यों को मिटा दिया और नके साथ तिवारियों का यह अन्नधनपूर्ण परिवार भी मिट्टी में मिल गया। ख़ज़ाना टूट गया, बहीखाते पंसारियों के काम आए। जब कुछ शांति हुई, रियासतें फिर सँभलीं ो समय पलट चुका था। वचन लेख के आधीन हो रहा था, तथा लेख में सादे और गीन का भेद होने लगा था।

जब देवदत्त ने होश सँभाला तब उसके पास इस खँडहर के अतिरिक्त और ोई सम्पत्ति न थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय न था। कृषि में परिश्रम और ष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या भी ऐसी नहीं ी कि कहीं नौकरी करते, परिवार की प्रतिष्ठा दान लेने में बाधक थी। अस्तु, साल ें दो-तीन बार अपने पुराने व्यवहारियों के घर बिन बुलाये पाहुनों की भाँति जाते और ो कुछ विदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुज़रान करते। पैतृक प्रतिष्ठा का चिह्न दि कुछ शेष था तो वह पुरानी चिट्ठी-पत्रियों का ढेर तथा हुंडियों का पुलिंदा, जिनकी स्याही भी उनके मंद भाग्य की भाँति फीकी पड़ गई थी। पंडित देवदत्त उन्हें ाण से भी अधिक समझते थे। द्वितीया के दिन जब घर-घर लक्ष्मी की पूजा होती है, ंडितजी ठाटबाट से इन पुलिंदों की पूजा करते। लक्ष्मी न सही, लक्ष्मी का स्मारक चिह्न ी सही। दूज का दिन पंडितजी की प्रतिष्ठा के श्राद्ध का दिन था। इसे चाहे विडंबना कहो, चाहे मूर्खता, परंतु श्रीमान् पंडित महाशय को उन पत्रों पर बड़ा अभिमान था। जब गाँव में कोई विवाद छिड़ जाता तो यह सड़े-गले काग़ज़ों की सैन्य ही बहुत काम कर जाती और प्रतिवादी शत्रु को हार माननी पड़ती। यदि सत्तर पीढ़ियों से शस्त्र की सूरत न देखने पर भी लोग क्षत्रिय होने का अभिमान करते तो पंडित देवदत्त का उन लेखों पर अभिमान करना अनरीत नहीं कहा जा सकता जिनमें सत्तर लाख रुपयों की रक़म छिपी हुई थी।

2

वही अमावस्या की रात्रि थी, किंतु दीपमालिका अपनी अल्प जीवनी समाप्त कर चुकी थी। चोरों और जुआरियों के लिए यह शकुन की रात्रि थी, क्योंकि आज की हार साल भर की हार होती है। लक्ष्मी के आगम की धूम थी। कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं। भट्टियों में शराब के बदले पानी बिक रहा था। पंडित देवदत्त के अतिरिक्त क़स्बा में कोई ऐसा मनुष्य नहीं था; जो दूसरों की कमाई समेटने की धुन में हो। आज भोर ही से गिरिजा की अवस्था शोचनीय थी। विषम ज्वर उसे एक-एक क्षण में मूर्च्छित कर रहा था। एकाएक उसने चौंककर आँखें खोलीं और वह अत्यंत क्षीण स्वर में बोली—“आज तो दिवाली है।”

देवदत्त ऐसा निराश हो रहा था कि गिरिजा को चैतन्य देखकर भी उसे आनंद नहीं हुआ। बोला—"हाँ, आज दिवाली है।" गिरिजा ने आँसू-भरी दृष्टि से इधर-उधर देख कर कहा—"हमारे घर में क्या दिए न जलेंगे?"

देवदत्त फूट-फूटकर रोने लगा। गिरिजा ने फिर उसी स्वर में कहा—"देखो आज बरस-बरस के दिन घर अँधेरा रह गया। मुझे उठा दो मैं भी अपने घर में दीये जलाऊँगी।"

ये बातें देवदत्त के हृदय में चुभी थीं। मनुष्य की अंतिम घड़ी लालसाओं और भावनाओं में व्यतीत होती है।

इस नगर में लाला शंकरदास अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। वे अपने प्राण-संजीवन औषधालय में दवाओं के स्थान पर छापने का प्रेस रक्खे हुए थे। दवाइयाँ कम बनती थीं, किंतु इश्तहार अधिक प्रकाशित होते थे।

वे कहा करते थे कि बीमारी केवल एक रईसों का ढकोसला है और पोलिटकल एकानोमी (अर्थशास्त्र) के मतानुसार इस विलास पदार्थ से जितना अधिक संभव हो टैक्स लेना चाहिए। यदि कोई निर्धन है, तो हो। कोई मरता है, तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ़्त में दवा करावे। भारतवर्ष की यह दशा मुफ़्त दवा कराने से हुई है। इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है। देवदत्त महीने-भर से नित्य उनके निकट दवा लेने आता था, परंतु वैद्यजी कभी उसकी ओर इतना ध्यान नहीं देते थे कि वह अपनी शोचनीय दशा प्रकट कर सके। वैद्यजी के हृदय के कोमल भाग तक पहुँचने के लिए देवदत्त ने बहुत कुछ हाथ-पैर चलाए। वह आँखों में आँसू-भरे आता, किंतु वैद्यजी का हृदय ठोस था, उसमें कोमल भाग था ही नहीं।

वही अमावस्या की डरावनी रात थी। गगनमंडल में तारे आधी रात के बीतने पर और भी अधिक प्रकाशित हो रहे थे, मानो श्रीनगर की बुझी हुई दीपावली पर कटाक्षयुक्त आनंद के साथ मुस्करा रहे थे। देवदत्त एक बेचैनी की दशा में गिरिजा के सिरहाने से उठे और वैद्यजी के मकान की ओर चले। वे जानते थे कि लालाजी बिना फ़ीस लिए कदापि नहीं आएँगे, किंतु हताश होने पर भी आशा पीछा नहीं छोड़ती। देवदत्त क़दम आगे बढ़ाते चले जाते थे।

3

हकीम जी उस समय अपने रामबाण 'बिंदु' का विज्ञापन लिखने में व्यस्त थे। उस विज्ञापन की भावप्रद भाषा तथा आकर्षण शक्ति को देखकर कह नहीं सकते कि वे वैद्यशिरोमणि थे या सुलेखक विद्यावारिधि।

पाठक, आप उनके उर्दू विज्ञापन का साक्षात् दर्शन कर लें।

"नाज़रीन! आप जानते हैं कि मैं कौन हूँ? आपका ज़र्द चेहरा, आपका तने लागिर, आपका ज़री-सी मेहनत में बेदम हो जाना, आपका लज्ज़ात दुनियाँ से महरूम

हना, आपकी ख़ाना तारीकी, यह सब इस सवाल का नफ़ी में जवाब देते हैं। सुनिए, i कौन हूँ? मैं वह शख़्स हूँ, जिसने इमराज़ इंसानी को पर्दे दुनियाँ से ग़ायब कर देने का बीड़ा उठाया है। जिसने इश्तिहारबाज़, जौ फ़रोश गंदुमनुमा बने हुए हकीमों को बख व बुन से खोदकर दुनियाँ को पाक कर देने का अज्म बिल्-जज्म कर लिया है। मैं वह हैरतअंगेज़ इंसान ज़ईफुल बियान हूँ जो नाशाद को दिलशाद, नामुराद को बामुराद, भगोड़े को दिलेर, गीदड़ को शेर बनाता हूँ और यह किसी जादू से नहीं, मंत्र से नहीं, यह मेरी ईजाद करदा 'अमृतबिंदु' के अदना करश में हैं। अमृतबिंदु क्या है, इसे कुछ मैं ही जानता हूँ। महर्षि अगस्त ने धनवंतरि के कान में इसका नुस्ख़ा बतलाया था। जिस वक़्त आप वी. पी. पार्सल खोलेंगे, आप पर उसकी हक़ीक़त रोशन हो जाएगी। यह आबे-हयात है। यह मर्दानगी का जौहर, फ़रज़ानगी का अक्सीर, अक्ल का मुम्बा और ज़ेहन का सीक़ल है। अगर वर्षों की मुशायराबाज़ी ने भी आपको शायर नहीं बनाया, अगर शाबाना रोज़ के रटंत पर भी आप इम्तिहान में कामयाब नहीं हो सके, अगर दलालों की ख़ुशामद और मुवक्किलों की नाज़बर्दारी के बावजूद भी आप अहाते अदालत में भूखे कुत्ते की तरह चक्कर लगाते फिरते हैं, अगर आप गला फाड़-फाड़ चीखने और मेज़ पर हाथ-पैर पटकने पर भी अपनी तकरीर से कोई असर पैदा नहीं कर सकते तो आप अमृतबिंदु का इस्तेमाल कीजिए। इसका सबसे बड़ा फ़ायदा जो पहले ही दिन मालूम हो जाएगा यह है कि आपकी आँखें खुल जाएँगी और आप फिर कभी इश्तिहारबाज़ हकीमों के दामफ़रेब में न फँसेंगे।"

वैद्यजी इस विज्ञापन को समाप्त कर उच्च स्वर से पढ़ रहे थे। उनके नेत्रों में उचित अभिमान और आशा झलक रही थी कि इतने में देवदत्त ने बाहर से आवाज़ दी। वैद्यजी बहुत ख़ुश हुए। रात के समय उनकी फ़ीस दुगुनी थी। लालटेन लिए हुए बाहर निकले तो देवदत्त रोता हुआ उनके पैरों में लिपट गया और बोला—"वैद्यजी, इस समय मुझ पर दया कीजिए। गिरिजा अब कोई सायत की पाहुनी है। अब आप ही उसे बचा सकते हैं। यों तो मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होगा, किंतु इस समय तनिक चलकर आप देख लें तो मेरे दिल की दाह मिट जाएगी। मुझे धैर्य्य हो जाएगा कि उसके लिए मुझसे जो कुछ हो सकता था, मैंने किया। परमात्मा जानता है कि मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ, किंतु जब तक जीऊँगा आपका यश गाऊँगा। और आपके इशारों का गुलाम बना रहूँगा।"

हकीमजी को पहले कुछ तरस आया, किंतु यह जुगनू की चमक थी, जो शीघ्र ही स्वार्थ के विशाल अंधकार में विलीन हो गई।

4

वही अमावस्या की रात्रि थी। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। जीतनेवाले अपने बच्चों को नींद से जगा-जगाकर इनाम देते थे। हारनेवाले अपनी रुष्ट और क्रोधित

स्त्रियों से क्षमा के लिए प्रार्थना कर रहे थे। इतने में घंटों के लगातार शब्द, वायु और अंधकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्ध अवस्था में अत्यंत भली प्रतीत होती थी। यह शब्द समीप होते गए और अंत में पंडित देवदत्त के समीप आकर उसके खंडहरों में डूब गए। पंडितजी उस समय निराशा के अथाह समुद्र में गोते खा रहे थे। शोक में इस योग्य भी नहीं थे कि प्राणों से भी अधिक प्यारी गिरिजा की दवा-दरपन कर सकें। क्या करें? इस निष्ठुर वैद्य को यहाँ कैसे लावें? ज़ालिम, मैं सारी उमर तेरी गुलामी करता। तेरे इश्तहार छापता। तेरी दवाइयाँ कूटता। आज पंडितजी को यह ह्रासमय ज्ञान हुआ है कि सत्तर लाख की चिट्ठी-पत्रियाँ इतनी कौड़ियों के मोल की भी नहीं। पैतृक प्रतिष्ठा का अहंकार अब आँखों से दूर हो गया। उन्होंने उस मखमली थैले को संदूक से बाहर निकाला और उन चिट्ठी-पत्रियों को जो बाप-दादे की कमाई की शेषांश थीं, और जिनकी, प्रतिष्ठा की भाँति रक्षा की जाती थी, वे एक-एक करके दीया को अर्पण करने लगे। जिस तरह सुख और आनंद से पालित शरीर चिता की भेट हो जाता है, उसी प्रकार यह काग़ज़ी पुतलियाँ भी उस प्रज्वलित दीया के धधकते हुए मुँह की ग्रास बनती थीं। इतने में किसी ने बाहर से पंडितजी को पुकारा। उन्होंने चौंक कर सिर उठाया। वे नींद से जागे, अँधेरे में टटोलते हुए दरवाज़े तक आए तो देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिए हुए खड़े है और एक हाथी अपनी सूँड़ से उन एरंड के वृक्षों को उखाड़ रहा है, जो द्वार पर द्वारपालों की भाँति खड़े थे। हाथी पर एक सुंदर युवक बैठा हुआ है, जिसके सिर पर केसरिया रंग की रेशमी पाग है। माथे पर अर्द्धचंद्राकार चंदन, भाले की तरह तनी हुई नोकदार मूँछें, मुखारविंद से प्रभाव और प्रकाश टपकता हुआ, कोई सरदार मालूम पड़ता था। उसका कलीदार अँगरखा और चुनावदार पैजामा, कमर में लटकती हुई तलवार, और गर्दन में सुनहरे कंठे और ज़ंजीर उसके सजीले शरीर पर अत्यंत शोभा पा रहे थे। पंडितजी को देखते ही उसने रकाब पर पैर रक्खा और नीचे उतर कर उनकी वंदना की। उसके इस विनीत भाव से कुछ लज्जित होकर पंडितजी बोले—"आपका आगमन कहाँ से हुआ?"

नवयुवक ने बड़े नम्र शब्दों में जवाब दिया। उसके चेहरे से भलमनसाहत रसती थी—"मैं आपका पुराना सेवक हूँ। दास का घर राजनगर में है। मैं वहाँ का जागीरदार हूँ। मेरे पूर्वजों पर आपके पूर्वजों ने बड़े अनुग्रह किए हैं। मेरी इस समय जो कुछ प्रतिष्ठा तथा संपदा है सब आपके पूर्वजों की कृपा और दया का परिणाम है। मैंने अपने अनेक स्वजनों से आपका नाम सुना था और मुझे बहुत दिनों से आपके दर्शनों की कांक्षा थी। आज वह सुअवसर भी मिल गया। अब मेरा जन्म सफल हुआ।" पंडित देवदत्त की आँखों में आँसू भर आए। पैतृक प्रतिष्ठा का अभिमान उनके हृदय का कोमल भाग था।

वह दीनता जो उनके मुख पर छाई हुई थी, थोड़ी देर के लिए विदा हो गई। वे गंभीर भाव धारण करके बोले—"यह आपका अनुग्रह है, जो ऐसा कहते हैं। नहीं तो मुझ

जैसे कपूत में तो इतनी भी योग्यता नहीं है जो अपने को उन लोगों की संतति कह सकूँ।" इतने में नौकरों ने रमने में फ़र्श बिछा दिया। दोनों आदमी उस पर बैठे और बातें होने लगीं, वे बातें जिनका प्रत्येक शब्द पंडितजी के मुख को इस तरह प्रफुल्लित कर रहा था जिस तरह प्रातःकाल की वायु फूलों को खिला देती है। पंडित जी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को पच्चीस सहस्त्र रुपए कर्ज़ दिए थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहता था, इसलिए ज़रूरी था कि उनके ज़िम्मे जो कुछ ऋण हो उसकी एक-एक कौड़ी चुका दी जाए। ठाकुर को पुराने बहीखाते में यह ऋण दिखाई दिया। पच्चीस के अब पचहत्तर हज़ार हो चुके थे। वही ऋण चुका देने के लिए ठाकुर दो सौ मील से आया था। धर्म्म ही वह शक्ति है जो अंतःकरण में ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हाँ, इस विचार को कार्य्य में लाने के लिए एक पवित्र और बलवान् आत्मा की आवश्यकता है। नहीं तो वे ही विचार क्रूर और पापमय हो जाते हैं। अंत में ठाकुर ने पूछा—"आपके पास तो वे चिट्ठियाँ होंगी?"

देवदत्त का दिल बैठ गया। वे सँभलकर बोले—"संभवतः हों। कुछ कह नहीं सकते।" ठाकुर ने लापरवाही से कहा—"ढूँढ़िए, यदि मिल जाएँ तो हम लेते जाएँगे।"

पंडित देवदत्त उठे, लेकिन हृदय ठंडा हो रहा था। शंका होने लगी कि कहीं भाग्य हरे बाग़ न दिखा रहा हो। कौन जाने वह पुर्ज़ा जलकर राख हो गया या नहीं। यह भी तो नहीं मालूम कि वह पहले भी था या नहीं। यदि न मिला तो रुपए कौन देता है। शोक! दूध का प्याला सामने आकर हाथ से छूटा जाता है। हे भगवान्! वह पत्री मिल जाए। हमने अनेक कष्ट पाए हैं। अब हम पर दया करो। इस प्रकार आशा और निराशा की दशा में देवदत्त भीतर गए और दीया के टिमटिमाते हुए प्रकाश में बचे हुए पत्रों को उलट-पुलटकर देखने लगे। वे उछल पड़े और उमंग में भरे हुए बौड़हों की भाँति आनंद की अवस्था में दो-तीन बार कूदे। तब दौड़ कर गिरिजा को गले से लगा लिया, और बोले—"प्यारी, यदि ईश्वर ने चाहा तो तू अब बच जाएगी।" इस उन्मत्तता में उन्हें एकदम यह नहीं जान पड़ा कि 'गिरिजा' अब वहाँ नहीं है, केवल उसकी लोथ है।

देवदत्त ने पत्री को उठा लिया और द्वार तक वे इस तेजी से आए, मानो पाँव में पर लग गए हैं, परंतु यहाँ उन्होंने अपने को रोका और हृदय में आनंद की उमड़ती हुई तरंग को रोककर कहा—"यह लीजिए, यह पत्री मिल गई। संयोग की बात है, नहीं तो सत्तर लाख के काग़ज़ दीमकों के आहार बन गए।"

आकस्मिक सफलता में कभी-कभी संदेह बाधा डालता है। जब ठाकुर ने उस पत्री के लेने को हाथ बढ़ाया तो देवदत्त को संदेह हुआ कि कहीं वह उसे फाड़कर फेंक न दे। यद्यपि यह संदेह निरर्थक था, किंतु मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है। ठाकुर ने उनके मन के भाव को ताड़ लिया। उसने बेपरवाही से पत्री को लिया और मशाल के प्रकाश में देखकर कहा—"अब मुझे पूर्ण विश्वास हुआ। यह लीजिए आपका रुपया आपके समक्ष है, आर्शीवाद दीजिए कि मेरे पूर्वजों की मुक्ति हो जाए।"

यह कहकर उसने अपने कमर से एक थैला निकाला और उसमें से एक-एक हज़ार के पचहत्तर नोट निकाल कर देवदत्त को दे दिए। पंडितजी का हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था। नाटिका तीव्र गति से कूद रही थी। उन्होंने चारों ओर से चौकन्नी दृष्टि से देखा कि कहीं कोई दूसरा तो नहीं खड़ा है और तब काँपते हुए हाथों से नोटों को ले लिया। अपनी उच्चता प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा में उन्होंने नोटों की गणना भी नहीं की। केवल उड़ती हुई दृष्टि से देखकर उन्हें समेटा और जेब में डाल दिया।

5

वही अमावस्या की रात्रि थी। स्वर्गीय दीपक भी धुँधले हो चले थे, उनकी यात्रा सूर्य्यनारायण के आने की सूचना दे रही थी। उदयाचल फ़िरोजा बाना पहन चुका था। अस्ताचल में भी हलके स्वेत रंग की आभा दिखाई दे रही थी। पंडित देवदत्त ठाकुर को विदा करके घर में चले। उस समय उनका हृदय उदारता के निर्मल प्रकाश से प्रकाशित हो रहा था। कोई प्रार्थी उस समय उनके घर से निराश नहीं जा सकता था। 'सत्यनारायण की कथा' धूमधाम से सुनने का निश्चय हो चुका था। गिरिजा के लिए कपड़े और गहने के विचार ठीक हो गए। अंतःपुर में पहुँचते ही उन्होंने शालिग्राम के सन्मुख मनसा, वाचा, कर्मणा से सिर झुकाया और तब शेष चिट्ठी-पत्रियों को समेटकर उसी मखमली थैले में रख दिया, किंतु अब उनका यह विचार नहीं था कि संभवतः उन मुर्दों में भी कोई जीवित हो उठे। वरन् जीविका से निश्चिंत हो अब वे पैतृक प्रतिष्ठा पर अभिमान कर सकते थे। उस समय वे धैर्य्य और उत्साह के नशे में मस्त थे। बस, अब मुझे ज़िंदगी में अधिक संपदा की ज़रूरत नहीं। ईश्वर ने मुझे इतना दे दिया है, इसमें मेरी और गिरिजा की ज़िंदगी आनंद से कट जाएगी। उन्हें क्या ख़बर थी कि गिरिजा की ज़िंदगी पहले ही कट चुकी है। उनके दिल में यह विचार गुदगुदा रहा था कि जिस समय गिरिजा इस आनंद-समाचार को सुनेगी उस समय अवश्य उठ बैठेगी। चिंता और कष्ट ही ने उसकी ऐसी दुर्गति बना दी है। जिसे कभी भर पेट रोटी नसीब न हुई, जो कभी नैराश्यमय धैर्य्य और निर्धनता के हृदय विदारक बंधन से मुक्त न हुई, उसकी दशा इसके सिवा और हो ही क्या सकती है? यह सोचते हुए वे गिरिजा के पास गए और अहिस्ता से हिलाकर बोले—"गिरिजा, आँखें खोलो! देखो, ईश्वर ने तुम्हारी विनती सुन ली और हमारे ऊपर दया की। कैसी तबीयत है?"

किंतु जब गिरिजा तनिक भी न मिनकी तब उन्होंने चादर उठा दी और उसके मुँह की ओर देखा। हृदय से एक करुणोत्पादक ठंडी आह निकली। वे वहीं सर थाम कर बैठ गए। आँखों से शोणित-बूँद टपक पड़े। आह! क्या यह संपदा इतने महँगे मूल्य पर मिली है? क्या परमात्मा के दरबार से मुझे इस प्यारी जान का मूल्य दिया गया है? ईश्वर, तुम ख़ूब न्याय करते हो। मुझे गिरिजा की आवश्यकता है, रुपयों की आवश्यकता नहीं। यह सौदा बड़ा महँगा है।

6

अमावास्या की अँधेरी रात गिरिजा के अंधकारमय जीवन की भाँति समाप्त हो चुकी थी। खेतों में हल चलानेवाले किसान ऊँचे और सुहावने स्वर से गा रहे थे। सर्दी से काँपते हुए बच्चे सूर्य्य देवता से बाहर निकलने की प्रार्थना कर रहे थे। पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थीं–पानी भरने के लिए, हँसने के लिए। कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नक़ल कर रही थी। कोई खंभों से चिपटी हुई अपनी सहेली से मुसकुरा-मुसकुराकर प्रेमरहस्य की बातें करती थी। बूढ़ी स्त्रियाँ रोते हुए पोतों को गोद में लिए अपनी बहुओं को कोस रही थीं कि घंटा-भर हुए अब तक कुएँ से नहीं लौटी, किंतु राजवैद्य लाला शंकरदास अभी तक मीठी नींद ले रहे थे। खाँसते हुए बच्चे और कराहते हुए बूढ़े उनके औषधालय के द्वार पर जमा हो चले थे। इस भीड़-भब्भड़ से कुछ दूर हट कर दो-तीन सुंदर किंतु मुर्झाये हुए नवयुवक टहल रहे थे और वैद्यजी से एकांत में कुछ बातें करना चाहते थे। इतने में पंडित देवदत्त नंगे सर, नंगे वदन, आँखें लाल, डरावनी सूरत, काग़ज़ का एक पुलिंदा लिए दौड़ते हुए आए और औषधालय के द्वार पर इतने ज़ोर से हाँक लगाने लगे कि वैद्यजी चौंक पड़े और कहार को पुकारकर बोले कि–दरवाज़ा खोल दे। ये महात्मा बड़ी रात गए किसी बिरादरी की पंचायत से लौटे थे। उन्हें दीर्घ निद्रा का रोग था, जो वैद्यजी के लगातार भाषण और फटकार की औषधियों से भी कम न होता था। आप ऐंड़ते हुए उठे और किवाड़ खोलकर हुक्का-चिलम की चिंता में आग ढूँढ़ने चले गए। हकीमजी उठने की चेष्टा कर रहे थे कि सहसा देवदत्त उनके सम्मुख जाकर खड़े हो गए और नोटों का पुलिंदा उनके आगे पटक कर बोले–"वैद्यजी, ये पचहत्तर हज़ार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फ़ीस है। आप चलकर गिरिजा को देख लीजिए, और ऐसा कुछ कीजिए कि वह केवल एक बार आँखें खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है! केवल एक दृष्टि पर! आपको रुपए मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष हैं। मुझे गिरिजा की एक चितवन इन रुपयों से कई गुनी प्यारी है।"

वैद्यजी ने लज्जामय सहानुभूति से देवदत्त की ओर देखा और केवल इतना कहा, "मुझे अत्यंत शोक है। मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ, किंतु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है। सचमुच महाशोक है।"

ये बातें वैद्यजी के अंतःकरण से निकली थीं।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1913)
('नव-निधि', प्रथम संस्करण, दिसंबर 1917 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'-6, 1946)

सगे-लैला (लैला का कुत्ता)

1

मिस लैला ने अपने आशिक-ज़ार मिस्टर बारटन से कहा—"आज की चाँदनी रात कैसी सुहानी है।"

बारटन ने किसी कदर शायराना नसरफ़ के साथ जवाब दिया—"हाँ, ऐसा मालूम होता है कि आफ़ताब मुँह पर एक सुनहरी नक़ाब डाले है।"

इतने में एक तीसरा शख़्स कमरे में दाख़िल हुआ। वह एक निहायत ख़ुशवजा (परम्परावादी) और सजीला जवान था, जिसके बशरा (चेहरे) से अमारात और रियासत की आसार नुमायाँ थे। आते ही उसने मिस लैला को मुख़ातिब होकर कहा—"इस वक़्त अफ़रीका के रेगिस्तान में अज़ब बहार होगी।"

बारटन तो ऐसा ख़ुशलबास आदमी न था, जैसा यह ताज़ावारिद (नवागत) नौजवान लार्ड हरबर्ट, मगर उसके चेहरे से मतानत (धीरता) और शराफ़त टपक रही थी। उसके ख़्यालात शायराना ज़रूर थे, मगर ज़बान में लसानी न थी, यही वजह थी कि साल-भर से मिस लैला के इश्क में घुल रहा था, लेकिन यह हौसला न हुआ कि उससे अपने दर्दे-दिल की दास्तान कहता और जख़्मे-जिग़र पर मरहम रखवाता। या तो इसे कभी मुनासिब मौक़ा ही न मिलता या ख़यालात दिल से निकलकर होठों तक आते और वहीं से लौट जाते।

अलावा बरी (इसके) इसकी ज़बान में वह शोख़ी और तरारी भी न थी जो बेसाख़्ता दिलों को अपनी तरफ़ खींच लेती है। इसकी बरअक़्स लार्ड हरबर्ट निहायत रंगीन-मिजाज और रसीला आदमी था। ज़बान में वो रवानी थी कि घंटो गुफ़्तग़ानी (समृद्ध बातचीत) किया करता। मिजाज़ में शोख़ी और जुर्रत का मादा भरा हुआ था। वो सैयाह (यात्री) भी था और रूहे-ज़मीन के बेश्तर मुक़ामात के हालात से वाकिफ़ था। यह सैयाहत (यात्रा-वृत्ति) उसके सिलसिलाए-तक़रीर की ताज़गी और रुवानी में बहुत मदद करती थी। उसने मिस लैला को पेरिस में देखा था। तब से साया की तरह उसके पीछे लगा हुआ था। बारटन को रोज़-बरोज़ अपना पहलू कमज़ोर होता नज़र आता था। जिस वक़्त हरबर्ट कमरे में आता, लैला उसकी तरफ़ हमातनगोश (आकर्षित) हो जाती और उसकी

सियाहत के वाक़्ये बड़े ग़ौर से सुनती व उसकी एक-एक बात पर मुस्कराती। इसके आते ही लैला का चेहरा शगुफ़्ता हो जाता और वह बुलबुल की तरह चहकने लगती। बारटन इन्हीं वजू से हरबर्ट की हरक़त से बेज़ार था। उसने कई बार हरबर्ट से ड्यूलबाज़ी का इरादा किया, लेकिन महज़ लैला के ख़ौफ से बाज़ रहा। जिस वक़्त लार्ड हरबर्ट मौजूद होता, बारटन के होंठों पर सुकूत (चुप्पी) की एक मज़बूत मुहर लग जाती थी। वह गहरे ख़्याल में डूब जाता और दिल-ही-दिल में कहने लगता—"क्या यह हुस्नपरस्त लौंडा मेरी सारी ज़िंदगी की आरज़ुओं को ख़ाक में मिला देगा। मैं यह ख़ूब जानता हूँ कि इसके दिल में लैला की मुहब्बत नहीं है। उसमें अब इश्क की काबलियत ही नहीं। वो सिर्फ़ लैला की दौलत का आशिक है, मगर अफ़सोस है कि लैला उसके दम में रोज़-बरोज़ आती जाती है। क्या वह इतना भी नहीं देख सकती? इसे इतनी भी तमीज़ नहीं? अगर इसमें इतना अहसास नहीं है तो वह इस क़ाबिल नहीं कि मैं इस पर जान दूँ। मगर अब मैं ज़ल्द तस्फ़िया (फ़ैसला) कर लूँगा। अब यह आए-दिन की कोफ़्त मुझ से नहीं सही जाती। हरबर्ट की चालों का एक बार मैं उससे ज़िक्र करूँगा। लैला को शायद यह मालूम नहीं कि यह हज़रत फ़ाक़ामस्त हैं। जो कुछ रियासत और दौलत है, वह लस्सानी (लफ़्फ़ाज़ी) है। वह इसकी चिकनी-चुपड़ी बातों, तुमतुराक़ (शानो-शौक़त) और नुमायशी हरक़तों पर फ़रेफ़्ता (आसक्त) हो गई है। मैं अब इस तिलिस्म को खोले बग़ैर नहीं रह सकता।

2

एक रोज़ बारटन अपने कमरे में बैठा हुआ था कि मिस लैला का ख़ानसामा दौड़ा हुआ आया और कहने लगा—"मिस्टर बारटन ज़रा बाहर आइए, आपको एक तमाशा दिखाऊँ। लार्ड हरबर्ट की सूरत इस वक़्त देखने के क़ाबिल है।"

बारटन—"क्यों? बात क्या है? हरबर्ट को क्या हो गया?"

ख़ानसामा (हँसकर)—"आपके कुत्ते ने उनका क़ाफ़िया तंग कर रखा है। ये हज़रत कुत्तों से डरते बहुत हैं। मैं इन्हें बचपन से जानता हूँ। कुत्तों की सूरत देखी और लर्ज़ा (कँपकँपी) आ गई। इस वक़्त आपका राबिन चुपचाप चला आता था।"

लार्ड साहब इसे देखते ही भागे। भागना था कि राबिन ने देख लिया और पीछे पड़ गया। एक घुड़दौड़-सी हो गई। आगे-आगे ज़ाते-शरीफ़ (महापुरुष), परेशान चेहरा फ़क़, बदहवास। भागते जाते हैं, पीछे-पीछे कुत्ता गुर्राता हुआ तेज़ी से दौड़ता चला जाता है। डर के मारे अब गिरे, जब गिरे। ख़ैरियत हुई कि सामने एक दरख़्त मिल गया। फिर क्या था। आप बड़ी फुर्ती से उस दरख़्त पर चढ़ गए। चलकर ज़रा आप उनकी क़ता (हालत) तो देखिए।"

बारटन को इस वक़्त बड़ी ख़ुशी हुई, जो अपने रक़ीब की ज़िल्लत पर हर इंसान के दिल में हुआ करती है। बाहर आए और लपके हुए बाग़ में जा पहुँचे। देखते

क्या हैं कि लार्ड हरबर्ट दोनों हाथों से एक ठूँठ पकड़े दरख़्त से चिपके बैठे हैं और राबिन ऊपर सर उठाये उन्हें नीचे ललकार-ललकारकर इशारा कर रहा है। "यह क्या आसमान पर जा बैठे। दम-ख़म हो तो आ जाओ नीचे।" अपनी पुरखुरोश (कोलाहलपूर्ण) अंदाज़ में राबिन इन्हीं ख़्यालात की तस्वीर खींच रहा था। बारटन को देखना था कि लार्ड साहब भर्राई हुई आवाज़ में चीख कर बोले—"बारटन। इस मूज़ी (ज़ालिम) को किसी तरह यहाँ से दूर करो। तुमने अच्छा जानवर पाल रखा है। अगर मैं इस दरख़्त पर न चढ़ जाता तो इसने मेरी टाँग पकड़ ली होती। इसे ज़ल्द यहाँ से दूर करो। खुदा के लिए मुझ पर यह करम करो।"

बारटन (हँस कर)—"आप नाहक इससे डरते हैं। यह ग़रीब कभी किसी को नहीं काटता। बच्चे तो इससे खेला करते हैं।"

हरबर्ट (लजाजत से)—"भाई जान, बातें न बनाओ। मेरी रूह फ़ना हुई जाती है। (दबी ज़बान से) और तुम्हें दिल्लगी सूझी हुई है।"

राबिन ने अपने आक़ा को देखा तो दुम हिलाता हुआ उसके पास आ गया। बारटन ने इसके गले का तस्मा पकड़कर इसे वहाँ से हटाया और हरबर्ट की इस दुर्गति का क़िस्सा सुनाने के लिए वह मिस लैला के पास जाना चाहता था कि तार वाले ने आकर उसके हाथों में एक लिफ़ाफ़ा रख दिया। बारटन ने खोलकर पढ़ा तो चेहरा ज़र्द हो गया। लिखा था—"जल्द आओ, तुम्हारे वालिद सख़्त बीमार हैं।"

बारटन अपने कमरे में आया और अपना सामान तैयार करके मिस लैला से रुख़सत लेने गया। मोटरकार दरवाज़े पर खड़ी थी। लैला ने यह ख़बर सुनी तो मायूस होकर बोली—"कब तक आओगे?"

बारटन : "ज़ल्द ही आऊँगा।"

लैला—"मगर राबिन को न ले जाओ। इसे यहीं मेरे पास छोड़ जाओ। इस प्यारे रफ़ीक़ (दोस्त) के बग़ैर मुझे लम्हा भर चैन न आएगा। मुत्मइन (बेफ़िक्र) रहें, इसे मैं बहुत आराम से रखूँगी। ऐसा प्यारा कुत्ता मैंने नहीं देखा।"

बारटन खुशी से फूल गया और दिल-ही-दिल कहने लगा—"अगर तुम्हारी मर्जी पाऊँ तो तुम्हारे क़दमों पर मैं खुद क़ुरबान हो जाऊँ। यह कुत्ता क्या चीज़ है। काश, मुझे भी राबिन की-सी क़िस्मत मिली होती? प्यारे राबिन। मुझे तुझ पर रश्क आता है।" (लैला से मुख़ातिब होकर) "मुझे इसको छोड़ जाने में कोई हर्ज़ नहीं है। यह मेरे लिए ऐन खुशी का बाइस है।"

लैला—"मिस्टर बारटन, मैं तुम्हारी इस इनायत का काफ़ी शुक्रिया नहीं अदा कर सकती।"

मोटरकार तैयार थी। बारटन उसमें बैठ गया। इसकी झिझक ने उसे इस वक़्त फिर धोखा दिया और इज़हारे-मुहब्बत का एक नादिर (उत्तम) मौक़ा फिर हाथ से निकल गया। मगर इस वक़्त अपनी परेशानियों में इसे अब इन बातों को सोचने को कहाँ फुरसत थी।

3

लार्ड हरबर्ट को जब जॉन बारटन की रुख़सत हो जाने की ख़बर मिली तो उसके दिल से एक बोझ-सा उतर गया। उसने ख़्याल किया कि राबिन को वह अपने साथ ले गया होगा। ये दो हफ़्ते आफ़ियत (सुख-चैन) से गुज़रेंगे। क़िस्मत ने यावरी (मदद) की तो इस अरसे में मैं अपने दिल के अरमान निकाल लूँगा और कमबख़्त राबिन की सूरत देखने की मुझे कोई ज़रूरत न होगी। यह सोचते हुए आप मिस लैला के कमरे में आए और चेहरे को रंजीदा बना कर बोले–"मिस लैला। मुझे सुनकर कमाल (बहुत) अफ़सोस हुआ कि जान बारटन के वालिद सख़्त बीमार हैं। मैंने अभी उन्हें मोटरकार..."

यह कहते-कहते लार्ड हरबर्ट चौंक पड़ा, क्योंकि उसने राबिन को बाहर से आते देखा। उसका रंग फ़क्क़ हो गया और इधर-उधर बगलें झाँकने लगा। मगर मिस लैला ने कुत्ते को गोद में ले लिया और बोली–"तू अब तक कहाँ था? यह नाक में मिट्टी कहाँ लगाई। आ, तेरी नाक साफ़ कर दूँ।" यह कहकर उसने अपना रेशमी रूमाल निकाल लिया और उससे राबिन के नथुने साफ़ करने लगी। फिर लार्ड हरबर्ट से बोली–"क्यों, आप इस कुत्ते को पसंद करते हैं या नहीं? बारटन इसे लिए जाते थे, मगर मैंने रोक लिया। देखिए, कैसी प्यारी सूरत है। आप इससे खुश हैं?"

हरबर्ट (खौफ़ज़दगी को ज़ब्त करते हुए)–"जी हाँ, बेशक-बेशक। जी हाँ, आप सही कहती हैं।"

लैला–"आप इस ख़्याल को कहाँ तक सही समझते हैं कि हर एक इंसान की शराफ़त का अंदाज़ा उस से किया जा सकता है कि कुत्ते उससे किस क़दर मानूस (निर्भय) हो जाते हैं?"

हरबर्ट (साबिक की तरह ज़ब्त करते हुए)–"आप का ख़्याल सही है। बेशक यह कुत्ता अब मिस्टर बारटन के आने तक यहीं रहेगा, ग़ालेबन अस्तबल इसके लिए बहुत अच्छी जगह होगी।"

लैला (चीं ब जबीं होकर)–"यह आप क्या कहते हैं? मेरा प्यारा राबिन अस्तबल के कुत्तों में नहीं रहेगा, मैं उसे हमेशा अपने साथ रखूँगी। क्यों, आपका चेहरा उदास क्यों हो गया?" हरबर्ट–"कुछ नहीं। मुझे मकान पर एक ज़रूरी काम करना है। अभी-अभी ख़्याल आ गया। माफ़ कीजिएगा, मैं फिर ज़ल्द हाज़िरे-खिदमत होऊँगा।"

यह कहकर लार्ड साहब उठे। राबिन उनकी तरफ़ घूरकर खों-खों करने लगा। इस गुरगुराहट को सुनते ही हरबर्ट के होश उड़ गए। अपनी क़िस्मत को और इस मनहूस कुत्ते को कोसते हुए आप फ़ौरन बाहर निकल आए। अहाते में लैला के ख़ानसामे से मुलाक़ात हो गई। उनका बशरा (चेहरा) देखते ही वह ताड़ गया कि इस वक़्त हज़रत के होश उड़े हुए हैं। कुत्ते से यक़ीनी पाला पड़ा है। हमदर्द बनकर लगे कहने–"लार्ड हरबर्ट साहब। आप इस वक़्त कहाँ तशरीफ़ लिए जाते हैं। आज

कम्बख़्त राबिन ने आप को बहुत दिक़ किया। अगर ठूँठ पर न जा बैठते तो वह ज़रूर आप को काट लेता।"

हरबर्ट—"मिस्टर काक सच कहते हो। तुम तो मेरे पुराने रफ़ीक़ (दोस्त) हो।"

काक—"जी, मैं आपका नमकख़्वार हूँ। आप मुझे अपना गुलाम समझें। मेरे लायक जो काम हो वह बेतकल्लुफ़ फरमाएँ।"

हरबर्ट—"तुम तो जानते हो मुझे कुत्तों की सूरत से नफ़रत है।"

काक—"जी हाँ, मैं ख़ूब जानता हूँ। इन्हें देखते ही आपकी रूह काँपने लगती है।"

हरबर्ट—"खैर, यू ही सही। इस शैतान राबिन ने मेरा नाक में दम कर रखा है। इसे किसी तरह यहाँ से दफ़ा कर दो।"

काक—"यह क्योंकर हो सकता है?"

हरबर्ट—"बस ज़हर दे दो।"

काक—"अरे हुज़ूर, यह क्या फरमाते हैं?"

हरबर्ट—"मैं दस पाउंड दूँगा, समझे।"

काक—"हुज़ूर..."

हरबर्ट—"अच्छा बीस पाउंड सही।"

काक—"हुज़ूर, बहुत मुश्किल काम है।"

हरबर्ट—"इंकार मत करो। पच्चीस पाउंड मिल जाएँगे।"

इतने में उधर से मिस लैला के चचा को आते देखकर हरबर्ट ज़ल्दी से बाहर चला गया।

4

इसके दो दिन बाद लार्ड हरबर्ट के पास काक गया। लार्ड साहब बहुत अफ़्सुर्दा ख़ातिर (उदास मन) नज़र आते थे। किसी फ़लसफ़ी का कौल है कि बाज़औक़ात बहुत खफ़ीफ़ (अधम) वाक़्यात इंसान की ज़िंदगी में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ कर देते हैं। लार्ड हरबर्ट की ज़िंदगी की आरजुएँ, हौसले और खुशियाँ सब एक मनहूस कुत्ते के हाथों तबाह हुई जाती थीं। इन्हें अपनी क़ामयाबी में कोई शक बाकी न रहा था। लैला उसकी बातों से कैसी महफूज़ (निरापद) होती थी। मगर इस राबिन ने सारा ख़्वाब परेशान कर दिया। यह क्योंकर मुमकिन था कि इस खौफ़नाक कुत्ते की तेज़ चमकीली आँखों के सामने उनकी रुआनी तक़रीर जारी रहती। ऐसी हालत में गुफ़्तगूँ का मज़ा किरकिरा हुआ जाता है। काक ने लार्ड साहब के बहुत ताज़ीम (आदर) से सर झुका लिया और कहने लगा—"हुज़ूर ने एक काम के लिए मुझे पच्चीस पाउंड देने का वायदा फ़रमाया था।"

लार्ड हरबर्ट का चेहरा खिल उठा। मक़सद बरारी की सूरत निकलती हुई मालूम हुई है। बेसब्री के साथ बोले—"हाँ-हाँ, मुझे याद है।"

काक–"मैंने इस मसले पर ग़ौर किया, मगर इसे ख़तरा से भरा हुआ पाता हूँ। ख़ुदा जाने बाद को क्या हो-कहीं मुआमला खुल जाए तो लेने के देने पड़ जाएँ, इसलिए मैंने एक दूसरी तरक़ीब सोची है कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। मेरा एक दोस्त है–राबर्ट। वह ऐसा कारीगर है कि जिस जानवर की सूरत चाहता है, तब्दील कर देता है। ऐसे रंग-रोगन लगाता है कि बड़े-बड़े भी नहीं भाँप सकते। इसके पास राबिन के कद्दोकामात (कद और शरीर) का ख़ूबसूरत कुत्ता है बहुत अच्छा। लड़के इससे खेल करते हैं। इसका रंग इस वक़्त सफ़ेद है। मगर राबर्ट कहता है कि मैं इसे बिलकुल राबिन से मिला दूँगा। कोई पहचान न कर सकेगा। बस, जब दूसरा राबिन तैयार हो जाएगा तो असल राबिन को जंजीर में बाँध कर राबर्ट के घर में क़ैद कर दूँगा और नक़ली राबिन मिस लैला को दे दिया जाएगा।"

हरबर्ट ने सोचकर जवाब दिया–"क्या ऐसा मुमकिन है?"

काक–"हूज़र, मैंने खुद अपनी आँखों से राबर्ट को घोड़ों की सूरत तब्दील करते देखा है।"

हरबर्ट–"मगर लैला पहचान गई तो?"

काक–"यह सिर्फ़ मुमकिन है, राबर्ट निहायत होशियार आदमी है। बस सिर्फ़ मुआवज़ा तय हो जाना चाहिए।"

हरबर्ट–"अगर मेरी ख़ातिरख़्वाह (मनोवांछित) काम हो गया तो तुम दोनों को चार-चार पाउंड दूँगा।"

काक (हँसकर)–"हुज़ूर दिल्लगी करते हैं। पच्चीस पाउंड तो महज़ ज़हर खिलाने के लिए देते थे जो बिलकुल सीधा-सा आसान काम है। हुलिया पेंट निहायत मुश्किल काम है। सौ पाउंड से कम नहीं चलेगा।"

हरबर्ट–"ओफ्फ़ो, सौ पाउंड और इतने से काम के लिए?"

काक–"हुज़ूर, पच्चीस पाउंड तो सिर्फ़ रोगन और मसाला में लग जाएँगे।"

हरबर्ट–"नहीं, भई इस क़दर मैं नहीं दे सकता, यह सौदा न पटेगा।"

काक–"अच्छा तो रहने दीजिए। बंदा अब जाता है।"

हरबर्ट (घबरा कर)–"नहीं-नहीं, जाओ मत। ठहरो। पचास पाउंड में तय कर लो।"

काक–"न, सौ से कौड़ी कम नहीं।"

हरबर्ट–"अच्छा फिर पचहत्तर...अस्सी...इसे लो, तुम्हारा ही कहना सही। मगर मैं पहले इस कुत्ते को देख लूँगा।"

काक (ख़ुश होकर)–"हुज़ूर-ग़ौर से से देख लीजिएगा। क्या मजाल कि ज़रा भी कोई पहचान सके।"

हरबर्ट–"और वह राबर्ट वाला कुत्ता सीधा है न?"

काक—"हुज़ूर, ऐसा सीधा और नेक जैसे गाय। इसके मुँह में उँगली डाल दीजिए तो भी न काटेगा और गुर्राना तो सीखा ही नहीं। लाकर दिखाऊँ हुज़ूर को।"

हरबर्ट—"हाँ,-हाँ, ज़रूर लाओ। पहले ज़रा मैं भी इससे मिल लूँ।"

थोड़ी देर में चालाक काक एक सफ़ेद रंग का मैला-कुचैला कुत्ता लेकर हाज़िर हुआ। हरबर्ट ने कहा—"यह कुत्ता राबिन नहीं बन सकता।"

काक—"इसे हुज़ूर, रोगन तो लग जाने दीजिए। हिम्मत क्यों हारते हैं। हाँ, आशिकी में तो हिम्मत ही दरकार है।"

हरबर्ट—"अच्छा, इसके सर पर हाथ तो रखो।"

काक—"हुज़ूर खुद ही रख लें। ज़रा भी न बोलेगा।"

यह कहकर उसने डरते-डरते उस कुत्ते का पहले एक कान पकड़ लिया। फिर ज़रा ढीठ होकर उठा लिया, मगर कुत्ते के मुँह से आवाज़ तक न निकली। तब लार्ड साहब को और ज़ुर्रत हुई। आपने डरते-डरते (गोया शेर का बच्चा है) आहिस्ता से उसके सर पर हाथ रखा। कुत्ते ने ख़ाइफ़ (भयभीत) और दुज़्दीदी निगाहों (कनखियों) से देखा और ज़रा दुम हिलाकर रह गया। हरबर्ट मारे ख़ुशी के उछल पड़े और कहा—"आज शाम तक काम बन जाए, वरना फिर एक पाउंड भी न दूँगा।"

काक—"बस, आज ही शाम को लीजिए।"

5

एक दिन की बजाए दो दिन गुज़र गए और काक आता ही नहीं है। अड़तालीस घंटे लार्ड हरबर्ट ने बड़ी उम्मीद-ओ-पैहम (निरंतर आशा) में काटे। कभी तो बिलकुल यक़ीन न आता और वह सोचते कि काक ने मुझ से शरारत की है और कभी उम्मीद ज़्यादा खुशगवार सूरत अख़्तयार कर लेती। आख़िर तीसरे दिन काक आ धमका तो आप कहने लगा—"सुना जी, हमारा-तुम्हारा वायदा एक दिन का था। आज तीसरा दिन है। अब मैं एक कौड़ी भी न दूँगा। समझे।"

काक—"हुज़ूर, काम मुकम्मिल हो गया।"

हरबर्ट (उछल कर)—"सच, ज़ाहिर तो नहीं होता।"

काक—"अब हुज़ूर खुद इसका फ़ैसला कर लें।"

दोनों आदमी मिस लैला के अहाते में आए। राबिन की शक्ल-सूरत और रंग का एक कुत्ता पड़ा सो रहा था। हरबर्ट इसे देखकर बोले—"बख़ुदा, यह तो राबिन है, तू मुझे धोख़ा दे रहा है।"

काक—"हुज़ूर, धोख़ा क्या दूँगा। यह कारीगर की उस्तादी है। इससे दो दिन लग गए। ज़रा इसके सर पर हाथ तो रखिए।"

हरबर्ट—"तुम खुद रखो। मुझे यक़ीन नहीं आता।"

काक ने नक़ली राबिन के सर पर हाथ रखा। उसने पड़े-पड़े एक बार आँख खोली और फिर बंद कर ली। अब लार्ड साहब ने फ़िर जुर्रत करके गरदन थपथपाई। कुत्ते ने भी आहिस्ता से दुम हिलाने के अलावा और कोई बेज़ा हरकत नहीं की। लार्ड साहब का चेहरा ख़ुशी से फूल पड़ा। बोले—"बेशक, कमाल किया है। कमाल। किसको दुआ दूँ।"

काक—"हुज़ूर, अब पाउंड..."

हरबर्ट—"ऐसी क्या ज़ल्दी है।"

काक—"हुज़ूर, राबर्ट सख़्त तकाज़ा कर रहा है। मुझे तो ऐसी कोई ज़रूरत नहीं है।"

लार्ड हरबर्ट ने बड़ी फ़राख़दिली से सौ पाउंड का एक चैक निकालकर काक के हवाले कर दिया और थोड़ी देर के बाद ग़ैर-मामूली सज-धज के साथ अकड़ते-झूमते आप मिस लैला के कमरे में दाख़िल हुए। लैला ने इन्हें देखते ही शिकायत की—"लार्ड हरबर्ट। मेरे कुत्ते को आज खुदा जाने क्या हो गया है। न मेरे बुलाने से आता है, न मेरे पास बैठता है। बस बरामदे में चुपचाप पड़ा हुआ है।"

लार्ड हरबर्ट (निहायत हमदर्दाना लहजा में दिलहिदी के तौर पर)—"बदहज़मी हो गई होगी। दो-एक दिन में अच्छा हो जाएगा।" यह कहकर आपने जाकर राबिन के सर पर हाथ रखा और बहुत ग़मगुसारी (सहानुभूति) के साथ बोले—"बेचारा बहुत निढाल हो गया है। वरना क्या हरदम खेलता रहता था। मगर आप घबड़ाएँ नहीं। दो-एक दिन में इसकी तबियत साफ़ हो जाएगी।"

आज शाम तक मिस लैला के साथ रहे और एक लम्हे के लिए भी ज़बान बंद नहीं की। कभी अपनी जवाँमरदी का, कभी अपने सैरों-सफ़र का, कभी अज़ीबो-ग़रीब मुनाज़र (शास्त्रार्थ) का तज़्करा करते रहे और लैला भी कोई रफ़ीक़ न रहने के सबब से या सनकी सज-धज की कशिश के बाइस आज उनसे ग़ैरमामूली अखलाक़ (शिष्टाचार) से पेश आई।

दूसरे दिन आप अल्लसबा सुबह ही फ़र्ते मसर्रत (हर्षातिरेक) से हैट हिलाते हुए, मिस लैला के कमरे में दाख़िल हुए तो देखा कि बाग़ीचा की तरफ़ खरामे-खरामे जा रही है और राबिन उसके पीछे चला जाता है। आप फ़ौरन बाग़ीचा की तरफ़ चले और लपककर लैला के सामने जा पहुँचे। 'गुड मार्निंग' के बाद पहला सवाल आपने यही किया—"राबिन की तबियत अब कैसी है?"

लैला—"कुछ अच्छी नहीं मालूम होती। रात-भर बहुत सुस्त रहा।"

हरबर्ट—"वाकई?"

लैला—"जी हाँ, नहीं मालूम क्या खा गया है या ख़ुदा जाने क्या बीमारी पैदा हो गई है। अगर यही हाल रहा तो मिस्टर बारटन को क्या जवाब दूँगी?"

हरबर्ट ने दर्दमंद निगाहों से राबिन को देखा, और नज़दीक आकर दिलेरी के साथ उसका कान पकड़कर खींचा, गोया नींद से जगाने की कोशिश कर रहे हैं। यह

एक बहुत मामूली बात थी, मगर दूसरा एक निहायत ग़ैरमामूली नतीज़ा निकला। एक बम का गोला फट गया और हवा अज़ीबो-ग़रीब आवाज़ से गूँज उठी। राबिन एक रबड़ की गेंद की तरह उछल पड़ा और हरबर्ट की तरफ़ लपका। लार्ड हरबर्ट को अब बग़ैर चारों खाने चित्त गिरने के और कोई सूरत नज़र न आई। आप गिरे नीचे, आप ऊपर कुर्सी और जब इस बम के गोले के सदमे के बाद होश आया तो क्या देखते हैं कि राबिन शोलाबाज़ आँखों से इनकी तरफ़ घूर-घूरकर गुर्रा रहा है और लैला ज़ोर से इसके गरदन का तसमा पकड़कर रोके हुए हैं। आप ज़ल्दी से उठ खड़े हुए।

मिस लैला ने बिगड़कर कहा—"आपने क्यों इसका कान खींचा? मैंने कहा नहीं था कि वह बीमार हैं?"

लार्ड हरबर्ट (बदहवासी से)—"मुझे मुझे ख्याल..."

लैला ने हाँफकर कहा—"भागो, दौड़ो—मैं छोड़े देती हूँ। मुझ से नहीं सँभल सकता। और तेज़ भागो, तेज़ निकल जाओ।" लार्ड हरबर्ट भागे। पसीना में शराबोर। हाथ-पाँव थर-थर काँप रहे थे और दिल धड़क रहा था। दिल-ही-दिल में कहे जाते हैं—"आज सख़्त खफ़ीफ़ (लज्जित) हुए। अब मेरा रंग जमना मुहाल (नामुमकिन) है। अब बाज़ी हाथ से जाती रही। यह सब बदमाश हरामख़ोर काक की शरारत है।"

यह ख़्याल आते ही आप बाहर निकल आए। सिगरेट जलाया और काक के मकान की तरफ़ चले तो क्या देखा कि वह सफ़ेद कुत्ता, जिसे काक ने कल दिखाया था, आहिस्ता-आहिस्ता सर झुकाए चला जा रहा है। पूरा यकीन हो गया कि जालिम काक ने पटेबाज़ी की, मगर कहरे दरवेश बर जाने दरवेश—(ग़रीब का गुस्सा ग़रीब की जान पर)। फिर भी वो काक के पास गए। झल्लाए, चिल्लाए। लानत-ओ-मलामत की, धमकाया, दग़ाबाज, हरामख़ोर, सब कुछ कहा, मगर यह सब हारे हुए जुवारी का गुस्सा था।

काक ने परवाह तक न की। बोला—"हुजूर, मैंने रंग तब्दीली करने के लिए रुपए लिए थे। मिजाज़ का तब्दील करना इंसान के अख़्तियार से बाहर है। खुदा जाने मिस साहब कुत्तों को क्या सिखा देती हैं कि कैसा ही सीधा कुत्ता हो, उनके साथ रहते ही शेर हो जाता है।"

6

दो हफ़्ते के बाद एक मोटरकार मिस लिली के दरवाज़े पर आकर रुकी और जान बारटन नीचे उतरा। ख़ानसामा ने आकर ताज़ीम (अदब) से सलाम किया। बारटन ने पूछा—"कहो, यहाँ क्या हाल है?"

काक—"हुज़ूर सब ख़ैरियत है। मिस साहबा झील के किनारे टहलने गई हैं। राबिन भी उनके साथ है। आप तो ख़ैरियत से हैं?"

बारटन –"और लार्ड हरबर्ट कहाँ हैं?"

काक (मुस्कराकर)–"उनका कुछ हाल न पूछिए। राबिन ने उनका मोरचा हटा दिया।"

बारटन–"क्या अब वो यहाँ नहीं हैं?"

काक–"जी, उन्हें गए तो आज आठवाँ दिन है।"

बारटन की ज़ान में जान आई। उसने झील तक जाकर मिस लिली से मुलाक़ात करने का इरादा किया और झिझकता हुआ जा पहुँचा। मिस लिली झील के किनारे खड़ी राबिन को बत्तखों पर दौड़ने के लिए इशारा कर रही थी। बारटन को देखकर उसने सर्दमेहरी (बेदिली) के साथ, जो बारटन के हौसलों को खाक़ में मिला दिया करता था, इसके सलाम का जवाब दिया। मगर राबिन दौड़ा-दौड़ा दुम हिलाकर बड़ी सरगर्मी से इज़हारे -मुसर्रत करने लगा। लिली की यही मतानत (संजीदगी), यही रुखाई बारटन को सर्द कर दिया करती थी।

मिस लिली ने कहा–"कहिए मिस्टर बारटन। मिजाज़ कैसा है? मैंने आपके कुत्ते को बड़े आराम से रखा है।"

लाज़िम था कि इसके जवाब में बारटन कोई पुरमानी (अनेकार्थी), पुरमज़ाक़ (ज़िंदादिल) जुमला कहता, मगर ऐसा न पहले कभी हुआ था और न इस वक़्त हो सका।

मिस लिली ने राबिन को प्यार करके कहा–"अब तुम मिस्टर बारटन के पास न जाने पाओगे। क्यों, मेरे पास रहेगा न? तुझे बड़े आराम से रखूँगी।"

यह अल्फाज़ बहुत सादा और बेरंग थे और बिला किसी ख़ास निशाने के कहे गए थे, मगर उन्होंने जान बारटन पर गज़ब का असर पैदा किया। उन्होंने इस रूखी मतानत का ख़्याल दूर कर दिया जो इसकी हिम्मतों को तोड़ दिया करती थी। उन अल्फाज़ में इसे खुशगुवार इशारा, एक महशर-अंगेज़ तहरीक (प्रलयंकारी प्रवृत्ति) का असर महसूस हुआ, जिसने इसकी झिझक और शर्मीलेपन को ग़ायब कर दिया। खौफ़ की बजाय दिल में उम्मीद की ताक़त महसूस हुई। इसने जल्दी से झुककर मिस लिली को प्यार किया और नशाए-मुहब्बत से मख़सूर (उन्मत्त) होकर बोला–"राबिन अकेला नहीं रह सकता, मैं भी इसके साथ हूँ।"

लिली ने शर्मीली अदा से सर झुकाकर जवाब दिया–"खैर, कुत्ता तुम्हारा रहनुमा तो साबित हुआ।"

('अदीब' उर्दू मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1913)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988,
उर्दू से संपादक द्वारा हिंदी में लिप्यन्तर एवं वहीं से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ', 2005)

धर्म-संकट

1

"पुरुषों और स्त्रियों में बड़ा अंतर है, तुम लोगों का हृदय शीशे की तरह कठोर होता है और हमारा हृदय नरम, वह विरह की आँच नहीं सह सकता।"

"शीशा ठेस लगते ही टूट जाता है। नरम वस्तुओं में लचक होती है।"

"चलो, बातें न बनाओ। दिन-भर तुम्हारी राह देखूँ, रात-भर घड़ी की सुइयाँ, तब कहीं आपके दर्शन होते है।"

"मैं तो सदैव तुम्हें अपने हृदय-मंदिर में छिपाए रखता हूँ।"

"ठीक बतलाओ, कब आओगे?"

"ग्यारह बजे, परंतु पिछला दरवाज़ा खुला रखना।"

"उसे मेरे नयन समझो।"

"अच्छा, तो अब विदा।"

2

पंडित कैलाशनाथ लखनऊ के प्रतिष्ठित बैरिस्टरों में से थे। कई सभाओं के मंत्री, कई समितियों के सभापति, पत्रों में अच्छे-अच्छे लेख लिखते, प्लेटफॉर्म पर सारगर्भित व्याख्यान देते। पहले-पहले जब वह यूरोप से लौटे थे, तो यह उत्साह अपनी पूरी उमंग पर था; परंतु ज्यों-ज्यों बैरिस्टरी चमकने लगी, इस उत्साह में कमी आने लगी और यह ठीक भी था, क्योंकि अब बेकार न थे, जो बेगार करते। हाँ, क्रिकेट का शौक़ अब ज्यों-का-त्यों बना था। वह कैसर क्लब के संस्थापक और क्रिकेट के प्रसिद्ध खिलाड़ी थे।

यदि मि. कैलाश को क्रिकेट की धुन थी, तो उनकी बहिन कामिनी को टेनिस का शौक था। इन्हें नित नवीन आमोद-प्रमोद की चाह रहती थी। शहर में कहीं नाटक हो, कोई थिएटर आए, कोई सरकस, कोई बायस्कोप हो, कामिनी उनमें न सम्मिलित हो, यह असंभव बात थी। मनोविनोद की कोई सामग्री उसके लिए उतनी ही आवश्यक थी, जितना वायु और प्रकाश।

मि. कैलाश पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह में बहनेवाले अपने अन्य सहयोगियों की भाँति हिंदू जाति, हिंदू सभ्यता, हिंदी भाषा और हिंदुस्तान के कट्टर विरोधी थे। हिंदू सभ्यता, उन्हें दोषपूर्ण दिखाई देती थी। अपने इन विचारों को ये अपने ही तक परिमित न रखते थे, बल्कि बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में इन विषयों पर लिखते और बोलते थे। हिंदू सभ्यता के विवेकी भक्त उनके इन विवेकशून्य विचारों पर हँसते थे; परंतु उपहास और विरोध तो सुधारक के पुरस्कार हैं। मि. कैलाश उनकी कुछ परवाह न करते थे। वे कोरे वाक्य-वीर ही न थे, कर्मवीर भी पूरे थे। कामिनी की स्वतंत्रता उनके विचारों का प्रत्यक्ष स्वरूप थी। सौभाग्यवश कामिनी के पति गोपालनारायण भी इन्हीं विचारों में रंगे हुए थे। वे साल-भर से अमेरिका में विद्याध्ययन करते थे। कामिनी, भाई और पति के उपदेशों से पूरा-पूरा लाभ उठाने में कमी न करती थी।

3

लखनऊ में अलफ्रेड थिएटर कंपनी आई हुई थी। शहर में जहाँ देखिए, उसी के तमाशे की चर्चा थी। कामिनी की रातें बड़े आनंद से कटती थीं। रात-भर थिएटर देखती, दिन को कुछ सोती और कुछ देर वही थिएटर के गीत अलापती। सौंदर्य और प्रीति के नवरमणीय संसार में रमण करती थी, जहाँ का दुःख और क्लेश भी इस संसार के सुख और आनंद से बढ़कर मोददायी है। यहाँ तक कि तीन महीने बीत गए। प्रणय की नित्य नई मनोहर शिक्षा और प्रेम के आनंदमय आलाप-विलाप का हृदय पर कुछ-न-कुछ असर होना ही चाहिए था, सो भी इस चढ़ती जवानी में। वह असर हुआ। इसका श्रीगणेश उसी तरह हुआ, जैसा कि बहुधा हुआ करता है।

थिएटर हाल में एक सुधरे सजीले युवक की आँखें कामिनी की ओर उठने लगीं। वह रूपवती और चंचला थी, अतएव पहले उसे चितवन में किसी रहस्य का ज्ञान न हुआ। नेत्रों का सुंदरता से बड़ा घना संबंध है। घूरना पुरुष का और लजाना स्त्री का स्वभाव है। कुछ दिनों के बाद कामिनी को इस चितवन में कुछ गुप्त भाव झलकने लगे। मंत्र अपना काम करने लगा। फिर नयनों में परस्पर बातें होने लगीं। नयन मिल गए। प्रीति गाढ़ी हो गई। कामिनी एक दिन के लिए भी यदि किसी दूसरे उत्सव में चली जाती, तो वहाँ उसका मन न लगता। जी उचटने लगता। आँखें किसी को ढूँढ़ा करतीं।

अंत में लज्जा का बाँध टूट गया। हृदय के विचार स्वरूपवान हुए। मौन का ताला टूटा। प्रेमालाप होने लगा। पद्य के बाद गद्य की की बारी आई और फिर दोनों मिलन-मंदिर के द्वार पर आ पहुँचे। इसके पश्चात् जो कुछ हुआ, उसकी झलक हम पहले ही देख चुके हैं।

4

इस नवयुवक का नाम रूपचंद था। पंजाब का रहनेवाला, संस्कृति का शास्त्री, हिंदी साहित्य का पूर्ण पंडित, अंग्रेज़ी का एम.ए., लखनऊ के एक बड़े लोहे के कारख़ाने का मैनेज़र था। घर में रूपवती स्त्री, दो प्यारे बच्चे थे। अपने साथियों में सदाचरण के लिए प्रसिद्ध था। न जवानी की उमंग, न स्वभाव का छिछोरापन। घर-गृहस्थी में जकड़ा हुआ था। मालूम नहीं, वह कौन-सा आकर्षण था, जिसने उसे इस तिलस्म में फँसा लिया, जहाँ की भूमि अग्नि और आकाश ज्वाला है, जहाँ घृणा और पाप है और अभागी कामिनी को क्या कहा जाए, जिसकी प्रीति की बाढ़ ने धीरता और विवेक का बाँध तोड़कर अपनी तरल-तरंग में नीति और मर्य्यादा की टूटी-फूटी झोंपड़ी को डुबा दिया। वह पूर्वजन्म के संस्कार थे।

रात के दस बज गए थे। कामिनी लैंप के सामने बैठी हुई चिट्ठियाँ लिख रही थी। पहला पत्र रूपचंद के नाम था :

कैलाश भवन, लखनऊ

प्राणाधार!

तुम्हारे पत्र को पढ़कर प्राण निकल गए। उफ़! अभी एक महीना लगेगा। इतने दिनों में कदाचित् तुम्हें यहाँ मेरी राख भी न मिलेगी। तुमसे अपने दुःख क्या रोऊँ! बनावट के दोषारोपण से डरती हूँ। जो कुछ बीत रही है, वह मैं ही जानती हूँ, लेकिन बिना विरह-कथा सुनाए दिल की जलन कैसे जाएगी? यह आग कैसे ठंडी होगी? अब मुझे मालूम हुआ कि यदि प्रेम दहकती हुई आग है, तो वियोग उसके लिए घृत है। थिएटर अब भी जाती हूँ, पर विनोद के लिए नहीं, रोने और बिसूरने के लिए। रोने में ही चित्त को कुछ शांति मिलती है, आँसू उमड़े चले आते हैं। मेरा जीवन शुष्क और नीरस हो गया है। न किसी से मिलने को जी चाहता है, न आमोद-प्रमोद में मन लगता है। परसों डॉक्टर केलकर का व्याख्यान था, भाई साहब ने बहुत आग्रह किया, पर मैं न जा सकी। प्यारे! मौत से पहले मत मारो। आनंद के इन गिने-गिनाए क्षणों में वियोग का दुःख मत दो। आओ, यथासाध्य शीघ्र आओ, और गले से लगकर मेरे हृदय का ताप बुझाओ, अन्यथा आश्चर्य नहीं कि विरह का यह अथाह सागर मुझे निगल जाए।

तुम्हारी
कामिनी

इसके बाद कामिनी ने दूसरा पत्र पति को लिखा :

माई डियर गोपाल!

अब तक तुम्हारे दो पत्र आए। परंतु खेद, मैं उनका उत्तर न दे सकी। दो सप्ताह से सिर की पीड़ा से असह्य वेदना सह रही हूँ। किसी भाँति चित्त को शांति नहीं

मिलती है, पर अब कुछ स्वस्थ हूँ। कुछ चिंता मत करना। तुमने जो नाटक भेजे, उनके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। स्वस्थ हो जाने पर पढ़ना आरंभ करूँगी। तुम वहाँ के मनोहर दृश्यों का वर्णन मत किया करो। मुझे तुम पर ईर्ष्या होती है। यदि मैं आग्रह करूँ तो भाई साहब वहाँ तक पहुँचा तो देंगे, परंतु इनके ख़र्च इतने अधिक हैं कि इनसे नियमित रूप से सहायता मिलना कठिन है और इस समय तुम पर भार देना भी कठिन है। ईश्वर चाहेगा तो वह दिन शीघ्र देखने में आएगा, जब मैं तुम्हारे साथ आनंदपूर्वक वहाँ की सैर करूँगी। मैं इस समय तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं देना चाहती, पर अपनी आवश्यकताएँ किससे कहूँ? मेरे पास अब कोई अच्छा गाउन नहीं रहा। किसी उत्सव में जाते लजाती हूँ। यदि तुमसे हो सके तो मेरे लिए एक अपने पसंद का गाउन बनवाकर भेज दो। आवश्यकता तो और भी कई चीज़ों की है, परंतु इस समय तुम्हें अधिक कष्ट देना नहीं चाहती! आशा है, तुम सकुशल होगे।

तुम्हारी
कामिनी

5

लखनऊ के सेशन जज के इजलास में बड़ी भीड़ थी। अदालत के कमरे ठसाठस भर गए थे। तिल रखने की जगह न थी। सबकी दृष्टि बड़ी उत्सुकता के साथ जज के सम्मुख खड़ी एक सुंदर लावण्यमयी मूर्ति पर लगी हुई थी। यह कामिनी थी। उसका मुँह धूमिल हो रहा था। ललाट पर स्वेद-बिन्दु झलक रहे थे। कमरे में घोर निस्तब्धता थी। केवल वकीलों की कानाफूसी और सैन कभी-कभी इस निस्तब्धता को भंग कर देती थी। अदालत का हाता आदमियों से इस तरह भर गया था कि जान पड़ता था, मानो सारा शहर सिमिटकर यहीं आ गया है। था भी ऐसा ही। शहर की प्रायः दुकानें बंद थीं और जो एक-आध खुली भी थीं, उन पर लड़के बैठे ताश खेल रहे थे, क्योंकि कोई ग्राहक न था।

शहर से कचहरी तक आदमियों का ताँता लगा हुआ था। कामिनी को निमिष-मात्र देखने के लिए, उसके मुँह से एक बात सुनने के लिए, इस समय प्रत्येक आदमी अपना सर्वस्व निछावर करने पर तैयार था। वे लोग जो कभी पंडित दातादयाल शर्मा जैसे प्रभावशाली वक्ता की वक्तृता सुनने के लिए घर से बाहर नहीं निकले, वे जिन्होंने नौजवान मनचले बेटों को अलफ्रेड थिएटर में जाने की आज्ञा नहीं दी, वे एकांतप्रिय जिन्हें वायसराय के शुभागमन तक की ख़बर न हुई थी, वे शांति के उपासक, जो मुहर्रम की चहल-पहल देखने को अपनी कुटिया से बाहर न निकलते थे, वे भी आज गिरते-पड़ते, उठते-बैठते, कचहरी की ओर दौड़े चले जा रहे थे। बेचारी स्त्रियाँ अपने भाग्य को कोसती हुई अपनी-अपनी अटारियों पर चढ़कर विवशतापूर्ण

उत्सुक दृष्टि से उस तरफ़ ताक रही थीं, जिधर उनके विचार में कचहरी थी, पर उनकी ग़रीब आँखें निर्दय अट्टालिकाओं की दीवार से टकराकर लौट आती थीं।

यह सब कुछ इसलिए हो रहा था कि आज अदालत में एक बड़ा मनोहर अद्भुत अभिनय होनेवाला था, जिस पर अलफ्रेड थिएटर के हज़ारों अभिनय बलिदान थे। आज एक गुप्त रहस्य खुलनेवाला था, जो अँधेरे में राई है, पर प्रकाश में पर्वताकार हो जाता है। इस घटना के संबंध में लोग टीका-टिप्पणी कर रहे थे। कोई कहता था, यह असंभव है कि रूपचंद जैसा शिक्षित व्यक्ति ऐसा दूषित कर्म करे। पुलिस का यह बयान है, तो हुआ करे। गवाह पुलिस के बयान का समर्थन करते हैं, तो किया करें। यह पुलिस का अत्याचार है, अन्याय है। कोई कहता था, भाई, सत्य तो यह है कि यह रूप-लावण्य, यह 'खंजन-गंजन-नयन' और यह हृदयहारिणी सुंदर सलोनी छवि जो कुछ न करे, वह थोड़ा है। श्रोता इन बातों को बड़े चाव से इस तरह आश्चर्यावित हो मुँह बनाकर सुनते थे, मानो देववाणी हो रही है। सबकी जीभ पर यही चर्चा थी। खूब नमक-मिर्च लपेटा जाता था, परंतु इसमें सहानुभूति या संवेदना के लिए ज़रा भी स्थान न था।

6

पंडित कैलाशनाथ का बयान ख़त्म हो गया और कामिनी इजलास पर पधारी। इसका बयान बहुत संक्षिप्त था—मैं अपने कमरे में रात को सो रही थी। कोई एक बजे के क़रीब चोर-चोर का हल्ला सुनकर मैं चौंक पड़ी और अपनी चारपाई के पास चार आदमियों को हाथापाई करते देखा। मेरे भाई साहब अपने दो चौकीदारों के साथ अभियुक्त को पकड़ते थे और वह जान छुड़ाकर भागना चाहता था। मैं शीघ्रता से उठकर बरामदे में निकल आई। इसके बाद मैंने चौकीदारों को अपराधी के साथ पुलिस स्टेशन की ओर जाते देखा।

रूपचंद ने कामिनी का बयान सुना और एक ठंडी साँस ली। नेत्रों के आगे से पर्दा हट गया। कामिनी, तू ऐसी कृतघ्न, ऐसी अन्यायी, ऐसी पिशाचिनी, ऐसी दुरात्मा है! क्या तेरी वह प्रीति, वह विरह-वेदना, वह प्रेमोद्गार, सब धोखे की टट्टी थी! तूने कितनी बार कहा है कि दृढ़ता प्रेम-मंदिर की पहली सीढ़ी है। तूने कितनी बार नयनों में आँसू भरकर इसी गोद में मुँह छिपाकर मुझसे कहा है कि मैं तुम्हारी हो गई, मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ में है, परंतु हाय! आज प्रेम-परीक्षा के समय तेरी वह सब बातें खोटी उतरीं। आह! तूने दग़ा दिया और मेरा जीवन मिट्टी में मिला दिया।

रूपचंद तो विचार-तरंगों में निमग्न था। उसके वकील ने कामिनी से जिरह करनी प्रारंभ की।

वकील—"क्या तुम सत्यनिष्ठा के साथ कह सकती हो कि रूपचंद तुम्हारे मकान पर अकसर नहीं जाया करता था?"

कामिनी—"मैंने कभी उसे अपने घर पर नहीं देखा।"

वकील—"क्या तुम शपथपूर्वक कह सकती हो कि तुम उसके साथ कभी थिएटर देखने नहीं गईं?"

कामिनी—"मैंने उसे कभी नहीं देखा।"

वकील—"क्या तुम शपथ लेकर कह सकती हो कि तुमने उसे प्रेम-पत्र नहीं लिखे?"

शिकार के चंगुल में फँसे हुए पक्षी की तरह पत्र का नाम सुनते ही कामिनी के होश-हवास उड़ गए, हाथ-पैर फूल गए। मुँह न खुल सका। जज ने, वकील ने और दो सहस्र आँखों ने उसकी तरफ़ उत्सुकता से देखा।

रूपचंद का मुँह खिल गया। उसके हृदय में आशा का उदय हुआ। जहाँ फूल था, वहाँ काँटा पैदा हुआ। मन में कहने लगा—कुलटा कामिनी! अपने सुख और अपने कपट मान-प्रतिष्ठा पर मेरे और परिवार की हत्या करने वाली कामिनी!! तू अब भी मेरे हाथ में है। मैं अब भी मुझे इस कृतघ्नता और कपट का दंड दे सकता हूँ। तेरे पत्र, जिन्हें तूने सत्य हृदय से लिखा है या नहीं, मालूम नहीं, परंतु जो मेरे हृदय के ताप को शीतल करने के लिए मोहिनी मंत्र थे, वह सब मेरे पास हैं और वह इसी समय तेरा सब भेद खोल देंगे। इस क्रोध से उन्मत्त होकर रूपचंद ने अपने कोट के पाकेट में हाथ डाला। जज ने, वकीलों ने और दो सहस्र नेत्रों ने उसकी तरफ़ चातक की भाँति देखा।

तब कामिनी की विकल आँखें चारों ओर से हताश होकर रूपचंद की ओर पहुँचीं। उनमें इस समय लज्जा थी, दया-भिक्षा की प्रार्थना थी और व्याकुलता थी। मन-ही-मन कहती थी—मैं स्त्री हूँ, अबला हूँ, ओछी हूँ, तुम पुरुष हो, बलवान हो, साहसी हो, यह तुम्हारे स्वभाव के विपरीत है। मैं कभी तुम्हारी थी और यद्यपि समय मुझे तुमसे अलग किए देता है, किंतु मेरी लाज तुम्हारे हाथ में है, तुम मेरी रक्षा करो। आँखें मिलते ही रूपचंद उसके मन की बात ताड़ गए। उनके नेत्रों ने उत्तर दिया—यदि तुम्हारी लाज मेरे हाथों में है, तो उस पर कोई आँच नहीं आने पाएगी। तुम्हारी लाज पर आज मेरा सर्वस्व निछावर है।

अभियुक्त के वकील ने कामिनी से पुनः वही प्रश्न किया—"क्या तुम शपथपूर्वक कह सकती हो कि तुमने रूपचंद को प्रेमपत्र नहीं लिखे?"

कामिनी ने कातर स्वर में उत्तर दिया—"मैं शपथपूर्वक कहती हूँ कि मैंने उसे कभी कोई पत्र नहीं लिखा और अदालत से अपील करती हूँ कि वह मुझे इन घृणास्पद अश्लील आक्रमणों से बचाए।"

अभियोग की कार्रवाई समाप्त हो गई। अब अपराधी के लिए बयान की बारी आई। उसकी तरफ़ सफ़ाई के कोई गवाह न थे, परंतु वकीलों को, जज को और अधीर जनता को पूरा-पूरा विश्वास था कि अभियुक्त का बयान पुलिस के मायावी महल को क्षण-मात्र में छिन्न-भिन्न कर देगा। रूपचंद इजलास के सम्मुख आया। उसके मुखारविंद पर आत्मबल का तेज़ झलक रहा था और नेत्रों से साहस और शांति। दर्शक-मंडली उतावली होकर अदालत के कमरे में घुस पड़ी। रूपचंद इस समय का चाँद था या देवलोक का दूत। सहस्त्रों नेत्र उसकी ओर लगे थे, किंतु हृदय को कितना कौतूहल हुआ, जब रूपचंद ने अत्यंत शांत चित्त से अपना अपराध स्वीकार कर लिया। लोग एक दूसरे को मुँह ताकने लगे।

अभियुक्त का बयान समाप्त होते ही कोलाहल मच गया। सभी इसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। सबके मुँह पर आश्चर्य था, संदेह था और निराशा थी। कामिनी की कृतघ्नता और निष्ठुरता पर धिक्कार हो रही थी। प्रत्येक मनुष्य शपथ खाने पर तैयार था कि रूपचंद सर्वथा निर्दोष है। प्रेम ने उसके मुँह पर ताला लगा दिया है, पर कुछ ऐसे भी दूसरे के दुःख में प्रसन्न होनेवाले स्वभाव के लोग थे, जो उसके इस साहस पर हँसते और मज़ाक़ उड़ाते थे।

दो घंटे बीत गए। अदालत में पुनः एक बार शांति का राज्य हुआ। जज साहब फ़ैसला सुनाने के लिए खड़े हुए। फ़ैसला बहुत संक्षिप्त था। अभियुक्त जवान है, शिक्षित है और सभ्य है, अतएव आँखों वाला अंधा है। इसे शिक्षाप्रद दंड देना आवश्यक है। अपराध स्वीकार करने से उसका दंड कम नहीं होता। अतः मैं उसे पाँच वर्ष के सपरिश्रम कारावास की सजा देता हूँ।

दो हज़ार मनुष्यों ने हृदय थामकर फ़ैसला सुना। मालूम होता था कि कलेजे में भाले चुभ गए हैं। सभी का मुँह निराशाजनक क्रोध से रक्तवर्ण हो रहा था। यह अन्याय है, कठोरता है और बेरहमी है, परंतु रूपचंद के मुँह पर शांति विराज रही थी।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, मई, 1913)
('प्रेम-पूर्णिमा', हिंदी कहानी संग्रह, 1918 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'-8, 1950)

शंखनाद

1

भानु चौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाँव में उनका बड़ा मान था। दारोग़ाजी उन्हें टाट बिना ज़मीन पर न बैठने देते। मुखिया साहब की ऐसी धाक बँधी हुई थी कि उनकी मर्ज़ी बिना गाँव में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता था। कोई घटना, चाहे वह सास-बहू का विवाद हो, चाहे मेड़ या खेत का झगड़ा, चौधरी साहब के शासनाधिकार को पूर्ण रूप से सचेत करने के लिए काफ़ी थी। वह तुरंत घटनास्थल पर जा पहुँचते, तहक़ीक़ात होने लगती, गवाह और सबूत के सिवा किसी अभियोग को सफलता सहित चलाने में जिन बातों की ज़रूरत होती है, उन सब पर विचार होता और चौधरीजी के दरबार से फ़ैसला हो जाता। किसी को अदालत तक जाने की ज़रूरत न पड़ती। हाँ, इस कष्ट के लिए चौधरी साहब कुछ फ़ीस ज़रूर लेते थे। यदि किसी अवसर पर फ़ीस मिलने में असुविधा के कारण उन्हें धीरज से काम लेना पड़ता, तो गाँव में आफ़त मच जाती थी; क्योंकि उनके धीरज और दारोग़ाजी के क्रोध में कोई घनिष्ठ संबंध था। सारांश यह कि चौधरीजी से उनके दोस्त-दुश्मन सभी चौकन्ने रहते थे।

2

चौधरी महाशय के तीन सुयोग्य पुत्र थे। बड़े लड़के वितान एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तख़त कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीतिकुशल। मिर्ज़ई की जगह कमीज़ पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता था। यद्यपि उनके ये दुर्व्यसन बूढ़े चौधरी को नापसंद थे, पर बेचारे विवश थे; क्योंकि अदालत और क़ानून के मामले वितान के हाथों में थे। वह क़ानून का पुतला था। क़ानून की दफ़ाएँ ज़बान पर रक्खी रहती थीं। गवाह गढ़ने में वह पूरा उस्ताद था। मझले लड़के शान चौधरी कृषि-विभाग के अधिकारी थे, बुद्धि के मंद, लेकिन शरीर से बड़े परिश्रमी। जहाँ घास न जमती हो, वहाँ केसर जमा दें। तीसरे लड़के का नाम गुमान था। यह बड़ा रसिक, साथ ही उद्दंड भी था। मुहर्रम में ढोल इतने ज़ोरों

से बजाता कि कान के पर्दे फट जाते। मछली फँसाने का बड़ा शौकीन था। बड़ा रँगीला जवान था। खँजड़ी बजा-बजाकर जब वह मीठे स्वर से ख़याल गाता, तो रंग जम जाता। उसे दंगल का ऐसा शौक था कि कोसों तक धावा मारता पर घरवाले कुछ ऐसे शुष्क थे कि उसके इन व्यसनों से तनिक भी सहानुभूति न रखते थे। पिता और भाइयों ने तो उसे ऊसर खेत समझ रक्खा था। घुड़की-धमकी, शिक्षा और उपदेश, स्नेह और विनय, किसी का उस पर कुछ भी असर न हुआ। हाँ, भावजें अभी तक उसकी ओर से निराश न हुई थीं। वे अभी तक उसे कड़वी दवाइयाँ पिलाए जाती थीं, पर आलस्य वह राजरोग है, जिसका रोगी कभी नहीं सँभलता। ऐसा कोई बिरला ही दिन जाता होगा कि बाँके गुमान को भावजों के कटु वाक्य न सुनने पड़ते हों। ये विषैले शर कभी-कभी उसके कठोर हृदय में चुभ भी जाते, किंतु यह घाव रात-भर से अधिक न रहता। भोर होते ही थकन के साथ ही यह पीड़ा भी शांत हो जाती। तड़का हुआ, उसने हाथ-मुँह धोया, बंसी उठाई और तालाब की ओर चल खड़ा हुआ। भावजें फूलों की वर्षा किया करतीं, बूढ़े चौधरी पैतरे बदलते रहते और भाई लोग तीखी निगाह से देखा करते; पर अपनी धुन का पूरा बाँका गुमान उन लोगों के बीच से इस तरह अकड़ता चला जाता, जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से निकल जाता है। उसे सुमार्ग पर लाने के लिए क्या-क्या उपाय नहीं किए गए। बाप समझाता—"बेटा, ऐसी राह चलो, जिसमें तुम्हें भी चार पैसे मिलें और गृहस्थी का भी निबाह हो। भाइयों के भरोसे कब तक रहोगे? मैं पका आम हूँ—आज टपक पड़ूँ या कल। फिर तुम्हारा निबाह कैसे होगा? भाई बात भी न पूछेंगे, भावजों का रंग देख ही रहे हो। तुम्हारे भी दो लड़के-बाले हैं, उनका भार कैसे सँभालोगे? खेती में जी न लगे, कहो कानिस्टिबली में भरती करा दूँ।" बाँका गुमान खड़ा-खड़ा यह सब सुनता, लेकिन पत्थर का देवता था—कभी न पसीजता। इन महाशय के अत्याचार का दंड उनकी स्त्री बेचारी को भोगना पड़ता था। कड़ी मेहनत के घर के जितने काम होते, वे उसी के सिर थोपे जाते। उपले पाथती, कुएँ से पानी लाती, आटा पीसती और इस पर भी जेठानियाँ सीधे मुँह बात न करतीं, वाक्य-बाणों से छेदा करतीं। एक बार जब वह पति से कई दिन रूठी रही, तो बाँके गुमान कुछ नर्म हुए। बाप से जाकर बोले—"मुझे कोई दूकान खुलवा दीजिए।" चौधरी ने परमात्मा को धन्यवाद दिया। फूले न समाए। कई सौ रुपए लगाकर कपड़े की दुकान खुलवा दी। गुमान के भाग जगे। तनज़ेब के चुन्नटदार कुरते बनवाए, मलमल का साफ़ा धानी रंग में रँगवाया। सौदा बिके या न बिके, उसे लाभ ही होता था। दूकान खुली हुई है, दस-पाँच गाढ़े मित्र जमे हुए हैं, चरस के दम और ख़याल की ताने उड़ रही हैं—

"चल झटपट री, जमुना-तट री, खड़ी नटखट री",

इस तरह तीन महीने चैन से कटे। बाँके गुमान ने ख़ूब दिल खोलकर अरमान निकाले। यहाँ तक कि सारी लागत लाभ हो गई। टाट के टुकड़े के सिवा और कुछ

न बचा। बूढ़े चौधरी कुएँ में गिरने चले, भावजों ने घोर आंदोलन मचाया—अरे राम! हमारे बच्चे और इन चीथड़ों को तरसे, गाढ़े का एक कुरता भी न नसीब हो, और इतनी बड़ी दूकान इस निखट्टू का कफ़न बन गई। अब कौन मुँह दिखावेगा? कौन मुँह लेकर घर पैर रक्खेगा? किंतु बाँके गुमान के तेवर ज़रा भी मैले न हुए। वही मुँह लिए वह फिर घर आया, और फिर वही पुरानी चाल चलने लगा। क़ानूनदाँ वितान उसके ये ठाट-बाट देखकर जल जाता। मैं सारे दिन पसीना बहाऊँ, मुझे नैनसुख का कुरता भी न मिले, यह अपाहिज सारे दिन चारपाई तोड़े और यों बन-ठनकर निकले! ऐसे वस्त्र तो शायद मुझे अपने ब्याह में भी न मिले होंगे। मीठे शान के हृदय में भी कुछ ऐसे ही विचार उठते थे। अंत में यह जलन न सही गई और अग्नि भड़की, तो एक दिन क़ानूनदाँ वितान की पत्नी गुमान के सारे कपड़े उठा लाई और उन पर मिट्टी का तेल उड़ेलकर आग लगा दी। ज्वाला उठी। सारे कपड़े देखते-देखते जलकर राख हो गए। गुमान रोते थे। दोनों भाई खड़े तमाशा देखते थे। बूढ़े चौधरी ने यह दृश्य देखा और सिर पीट लिया। यह द्वेषाग्नि है। घर को जलाकर तब बुझेगी।

3

यह ज्वाला तो थोड़ी देर में शांत हो गई, परंतु हृदय की आग ज्यों-की-त्यों दहकती रही। अंत में एक दिन बूढ़े चौधरी ने घर के सब मेंबरों को एकत्रित किया और इस गूढ़ विषय पर विचार करने लगे कि बेड़ा कैसे पार हो। वितान से बोले—"बेटा, तुमने आज देखा कि बात-बात में सैकड़ों रुपयों पर पानी फिर गया। अब इस तरह निर्वाह होना असंभव है। तुम समझदार हो, मुक़दमे-मामले करते हो, कोई ऐसी राह निकालो कि घर डूबने से बचे। मैं तो यह चाहता था कि जब तक चोला रहे, सबको समेटे रहूँ; मगर भगवान के मन में कुछ और ही है।"

वितान की नीतिकुशलता अपनी चतुर सहगामिनी के सामने लुप्त हो जाती थी। वह अभी इसका उत्तर सोच ही रहे थे कि श्रीमतीजी बोल उठीं—"दादाजी! अब समझाने-बुझाने से काम न चलेगा। सहते-सहते हमारा कलेजा पक गया। बेटे की जितनी पीर बाप को होगी, भाइयों को उतनी क्या, उसकी आधी भी नहीं हो सकती। मैं तो साफ़ कहती हूँ—गुमान का तुम्हारी कमाई में हक है, उन्हें कंचन के कौर खिलाओ और चाँदी के हिंडोले में झुलाओ। हममें इतना बूता है न इतना कलेजा। हम अपनी झोंपड़ी अलग बना लेंगे। हाँ, जो कुछ हमारा हो, वह हमको मिलना चाहिए। बाँट-बखरा कर दीजिए। बला से चार आदमी हँसेंगे, अब कहाँ तक दुनिया की लाज ढोवें।"

नीतिज्ञ वितान पर इस प्रबल वक्रता का असर हुआ। वह उनके विकसित और प्रमुदित चेहरे से झलक रहा था। उनमें स्वयं इतना साहस न था कि इस प्रस्ताव को इतनी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते। नीतिज्ञ महाशय गंभीरता से बोले—"जायदाद मुश्तरका,

मन्कूला या ग़ैरमन्कूला, आपके हीन-हयात तक़सीम की जा सकती है, इसकी नज़ीरें मौजूद हैं। ज़मींदार को साक़ितुल् मिल्कियत करने का कोई इस्तहक़ाक़ नहीं है।"

अब मंदबुद्धि शान की बारी आई। पर बेचारा किसान, बैलों के पीछे आँखें बंद करके चलनेवाला, ऐसे गूढ़ विषय पर कैसे मुँह खोलता। दुविधा में पड़ा हुआ था। तब उसकी सत्यवक्ता धर्मपत्नी ने अपनी जेठानी का अनुसरण कर यह कठिन कार्य्य संपन्न किया। बोली—"बड़ी बहन ने जो कुछ कहा; उसके सिवा और दूसरा उपाय नहीं। कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमाए, मगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढाकने को वस्त्र तक न मिलें और कोई सुख नींद सोवे, हाथ बढ़ा-बढ़ाके खाय! ऐसी अंधेरनगरी में अब हमारा निबाह न होगा।"

शान चौधरी ने भी इस प्रस्ताव का मुक्त कंठ से अनुमोदन किया। अब बूढ़े चौधरी गुमान से बोले—"क्यों बेटा, तुम्हें भी मंजूर है? अभी कुछ नहीं बिगड़ा। यह आग अब भी बुझ सकती है। काम सबको प्यारा होता है, चाम किसी को नहीं। बोलो, क्या कहते हो? कुछ काम-धंधा करोगे या अभी आँखें नहीं खुलीं?"

गुमान में धैर्य्य की कमी न थी। बातों को इस कान सुन उस कान उड़ा देना उसका नित्यकर्म था, किंतु भाइयों की इस 'ज़न-मुरीदी' पर उसे क्रोध आ गया। बोला—"भाइयों की जो इच्छा है, वही मेरे मन से लगी हुई है। मैं भी इस जंजाल से अब भागना चाहता हूँ, मुझसे न मजूरी हुई, न होगी। जिसके भाग्य में चक्की पीसना बदा हो, वह पीसे। मेरे भाग्य में तो चैन करना लिखा है, मैं क्यों अपना सिर ओखली मे दूँ? मैं तो किसी से काम करने को नहीं कहता? आप लोग क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हैं! अपनी-अपनी फ़िक्र कीजिए, मुझे आध सेर आटे की कमी नहीं है।"

इस तरह की सभाएँ कितनी बार हो चुकी थीं; परंतु इस देश की सामाजिक और राजनीतिक सभाओं की तरह इनसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता था। दो-तीन दिन गुमान ने घर पर ख़ाना नहीं खाया। जतनसिंह ठाकुर शौकीन आदमी थे, उन्हीं की चौपाल में पड़ा रहता। अंत में बूढ़े चौधरी गए और मना के लाए। अब फिर वह पुरानी गाड़ी अड़ती, मचलती, हिलती चलने लगी।

4

पाँडे के घर के चूहों की तरह चौधरी के घर के बच्चे भी सयाने थे। उनके लिए मिट्टी के घोड़े और लकड़ी की नावें, काग़ज़ की नावें थीं। फलों के विषय में उनका ज्ञान असीम था। गूलर और जंगली बेर के सिवा कोई ऐसा फल न था, जिसे वे बीमारियों का घर न समझते हों। लेकिन गुरदीन के खोंचे में ऐसा प्रबल आकर्षण था कि उसकी ललकार सुनते ही उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता था। साधारण बच्चों की तरह यदि वे सोते भी हों, तो चौंक पड़ते थे। गुरदीन उस गाँव में साप्ताहिक फेरे लगाता था।

उसके शुभागमन की प्रतीक्षा और आकांक्षा में कितने ही बालकों को बिना किंडर-गार्टन की रंगीन गोलियों के ही, संख्याएँ और दिनों के नाम याद हो गए थे। गुरदीन बूढ़ा-सा मैला-कुचैला आदमी था, किंतु आस-पास में उसका नाम उपद्रवी लड़कों के लिए हनुमान-मंत्र से कम न था। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके ख़ोंचे पर बालकों का ऐसा धावा होता कि मक्खियों की असंख्य सेना को भी रणस्थल से भागना पड़ता था और जहाँ बच्चों के लिए मिठाइयाँ थीं, वहाँ गुरदीन के पास माताओं के लिए इससे भी ज़्यादा मीठी बातें थीं। माँ कितना ही मना करती रहे, बार-बार पैसे न रहने का बहाना करे, पर गुरदीन चटपट मिठाइयों का दोना बच्चे के हाथ में रख ही देता और स्नेह-पूर्ण भाव से कहता—"बहूजी, पैसों की कुछ चिंता न करो, फिर मिल रहेंगे, कहीं भागे थोड़े ही जाते हैं। नारायण ने तुमको बच्चे दिए हैं, तो मुझे भी उनकी न्योछावर मिल जाती है, उन्हीं की बदौलत मेरे बाल-बच्चे जीते हैं। अभी क्या, ईश्वर इनका मौर तो दिखावे, फिर देखना, कैसे ठनगन करता हूँ।"

गुरदीन का यह व्यवहार चाहे वाणिज्य-नियमों के प्रतिकूल ही क्यों न हो, चाहे 'नौ नगद सही, तेरह उधार नहीं' वाली कहावत अनुभव-सिद्ध ही क्यों न हो, किंतु मिष्टभाषी गुरदीन को कभी अपने इस व्यवहार पर पछताने या उसमें संशोधन करने की ज़रूरत नहीं हुई।

मंगल का शुभ दिन था। बच्चे बड़ी बेचैनी से अपने दरवाज़ों पर खड़े गुरदीन की राह देख रहे थे। कई उत्साही लड़के पेड़ों पर चढ़ गए और कोई-कोई अनुराग से विवश होकर गाँव से बाहर निकल गए थे। सूर्य्य भगवान् अपना सुनहरा थाल लिए पूरब से पच्छिम में जा पहुँचे थे, इतने ही में गुरदीन आता हुआ दिखाई दिया। लड़कों ने दौड़कर उसका दामन पकड़ा और आपस में खींचातानी होने लगी। कोई कहता था, मेरे घर चलो। कोई अपने घर का न्योता देता था। सबसे पहले भानु चौधरी का मकान पड़ा। गुरदीन के अपना ख़ोंचा उतार दिया। मिठाइयों की लूट शुरू हो गई। बालकों और स्त्रियों का ठट्ठ लग गया। हर्ष और विषाद, संतोष और लोभ, ईर्ष्या और जलन की नाट्यशाला सज गई। क़ानूनदाँ वितान की पत्नी अपने तीनों लड़कों को लिए हुए निकली। शान की पत्नी भी अपने दोनों लड़कों के साथ उपस्थित हुई। गुरदीन ने मीठी बातें करनी शुरू कीं। पैसे झोली में रक्खे, धेले-धेले की मिठाई दी और धेले-धेले का आशीर्वाद। लड़के दोने लिए उछलते-कूदते घर में दाख़िल हुए। अगर सारे गाँव में कोई ऐसा बालक था, जिसने गुरदीन की उदारता से लाभ न उठाया हो, तो वह बाँके गुमान का लड़का धान था।

यह कठिन था कि बालक धान अपने भाइयों-बहनों को हँस-हँस और उछल-उछलकर मिठाइयाँ खाते देखे और सब्र कर जाए। उस पर तुर्रा यह कि वे उसे मिठाइयाँ दिखा-दिखाकर ललचाते और चिढ़ाते थे। बेचारा धान चीख़ता और अपनी माता का आँचल पकड़-पकड़कर दरवाज़े की तरफ़ खींचता था, पर वह अबला क्या

करे? उसका हृदय बच्चे के लिए ऐंठ-ऐंठकर रह जाता था। उसके पास एक पैसा भी नहीं था। अपने दुर्भाग्य पर, जेठानियों की निठुरता पर और सबसे ज़्यादा अपने पति के निखट्टूपन पर कुढ़-कुढ़कर रह जाती थी। अपना आदमी ऐसा निकम्मा न होता, तो क्यों दूसरों का मुँह देखना पड़ता, क्यों दूसरों के धक्के खाने पड़ते? उसने धान को गोद में उठा लिया और प्यार से दिलासा देने लगी—"बेटा रोओ मत, अब की गुरदीन आवेगा, तो मैं तुम्हें बहुत-सी मिठाई ले दूँगी, मैं इससे अच्छी मिठाई बाज़ार से मँवा दूँगी, तुम कितनी मिठाई खाओगे?" यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं। आह! यह मनहूस मंगल आज ही फिर आवेगा और फिर ये ही बहाने करने पड़ेंगे! हाय! अपना प्यारा बच्चा धेले की मिठाई को तरसे और घर में किसी का पत्थर-सा कलेजा न पसीजे! वह बेचारी तो इन चिंताओं में डूबी हुई थी और धान किसी तरह चुप ही न होता था। जब कुछ वश न चला, तो माँ की गोद से ज़मीन पर उतरकर लोटने लगा और रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। माँ ने बहुत बहलाया, फुसलाया, यहाँ तक कि उसे बच्चे के इस हठ पर क्रोध भी आ गया। मानव-हृदय के रहस्य कभी समझ में नहीं आते। कहाँ तो बच्चे को प्यार से चिपटाती थी, कहाँ ऐसी झल्लाई कि उसे दो-तीन थप्पड़ ज़ोर से लगाए और घुड़ककर बोली—"चुप रह अभागे! तेरा ही मुँह मिठाई खाने का है? अपने दिन को नहीं रोता, मिठाई खाने चला है!"

बाँका गुमान अपनी कोठरी के द्वार पर बैठा हुआ यह कौतुक बड़े ध्यान से देख रहा था। वह इस बच्चे को बहुत चाहता था। इस वक़्त के थप्पड़ उसके हृदय में तेज़ भाले के समान लगे और चुभ गए। शायद उनका अभिप्राय भी यही था। धुनियाँ रुई को धुनकने के लिए ताँत पर चोट लगाता है।

जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं। गुमान की आँखें भर आईं, आँसू की बूँदें बहुधा हमारे हृदय की मलिनता को उज्ज्वल कर देती हैं। गुमान सचेत हो गया। उसने जाकर बच्चे को गोद में उठा लिया और अपनी पत्नी से करुणोत्पादक स्वर में बोला—"बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो? तुम्हारा दोषी मैं हूँ, मुझको जो दंड चाहे दो। परमात्मा ने चाहा, तो कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल-बच्चों का भी आदर करेंगे। तुमने आज मुझे सदा के लिए इस तरह जगा दिया, मानो मेरे कान में शंखनाद कर मुझे कर्म-पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया।"

(*'हमदर्द' उर्दू मासिक पत्रिका, जून, 1913*)
(*'प्रभा' हिंदी मसिक पत्रिका, फ़रवरी, 1915*)
(*'प्रेम-पूर्णिमा' हिंदी कहानी-संग्रह, 1918*)
(***'प्रेम-द्वादशी' हिंदी कहानी-संग्रह, 1926 से प्रस्तुत***)
(*'पंच-प्रसून' हिंदी कहानी-संग्रह, 1934*)
(*'मानसरोवर'-7, 1947*)

मिलाप

1

लाला ज्ञानचंद बैठे हुए हिसाब-किताब जाँच रहे थे कि उनके सुपुत्र बाबू नानकचंद आए और बोले—"दादा, अब यहाँ पड़े-पड़े जी उकता गया, आपकी आज्ञा हो तो मैं सैर को निकल जाऊँ। दो-एक महीने में लौट आऊँगा।"

नानकचंद बहुत सुशील और सुंदर नवयुवक था। रंग पीला, आँखों के गिर्द हलक़े, कंधे झुके हुए। ज्ञानचंद ने उसकी तरफ़ तीखी निगाह से देखा और व्यंग्पूर्ण स्वर में बोले—"क्यों, क्या यहाँ तुम्हारे लिए कुछ कम दिलचस्पियाँ हैं?"

ज्ञानचंद ने बेटे को सीधे रास्ते पर लाने की बहुत कोशिश की थी, मगर सफल न हुए। उनकी डाँट-फटकार और समझाना-बुझाना बिलकुल बेकार हुआ। उसकी संगति अच्छी न थी, पीने-पिलाने और राग-रंग में डूबा रहता था। उन्हें यह नया प्रस्ताव क्यों पसंद आने लगा, लेकिन नानकचंद उनके स्वभाव से परिचित था। बेधड़क बोला—"अब यहाँ जी नहीं लगता। कश्मीर की बहुत तारीफ़ सुनी है, अब वहीं जाने की सोचता हूँ।"

ज्ञानचंद—"बेहतर है, तशरीफ ले जाइए।"

नानकचंद—(हँसकर) "रुपए तो दिलवाइए। इस वक़्त पाँच सौ रुपए की सख़्त ज़रूरत है।"

ज्ञानचंद—"ऐसी फ़िज़ूल बातों का मुझसे ज़िक्र न किया करो, मैं तुमको बार-बार समझा चुका।"

नानकचंद ने हठ करना शुरू किया और बूढ़े लाला इनकार करते रहे, यहाँ तक कि नानकचंद झुँझलाकर बोला—"अच्छा, कुछ मत दीजिए, मैं यों ही चला जाऊँगा।"

ज्ञानचंद ने कलेजा मज़बूत करके कहा—"बेशक, तुम ऐसे ही हिम्मतवर हो। वहाँ भी तुम्हारे भाई-बंद बैठे हुए हैं न!"

नानकचंद—"मुझे किसी की परवाह नहीं है। आपका रुपया आपको मुबारक रहे।"

नानकचंद की यह चाल कभी पट नहीं पड़ती थी। अकेला लड़का था, बूढ़े लाला साहब ढीले पड़ गए। रुपया दिया, ख़ुशामद की और उसी दिन नानकचंद कश्मीर की सैर के लिए रवाना हुआ।

2

मगर नानकचंद यहाँ से अकेला न चला। उसकी प्रेम की घातें आज सफल हो गई थीं। पड़ोस में बाबू रामदास रहते थे। बेचारे सीधे-सादे आदमी थे, सुबह को दफ़्तर जाते और शाम को आते और इस बीच नानकचंद अपने कोठे पर बैठा हुआ उनकी बेवा लड़की से मुहब्बत के इशारे किया करता। यहाँ तक कि अभागी ललिता उसके जाल में आ फँसी। भाग जाने के मंसूबे हुए।

आधी रात का वक़्त था, ललिता एक साड़ी पहने अपनी चारपाई पर करवटें बदल रही थी। ज़ेवरों को उतारकर उसने एक संदूकचे में रख दिया था। उसके दिल में इस वक़्त तरह-तरह के ख़याल दौड़ रहे थे और कलेजा ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। मगर चाहे और कुछ न हो, नानकचंद की तरफ़ से उसे बेवफ़ाई का ज़रा भी गुमान न था। जवानी की सबसे बड़ी नेमत मुहब्बत है और इस नेमत को पाकर ललिता अपने को ख़ुशनसीब समझ रही थी। रामदास बेसुध सो रहे थे कि इतने में कुंडी खटकी। ललिता चौंककर उठ खड़ी हुई। उसने ज़ेवरों का संदूकचा उठा लिया। एक बार इधर-उधर हसरत-भरी निगाहों से देखा और दबे पाँव चौंक-चौंककर क़दम उठाती दहलीज़ में आई और कुंडी खोल दी। नानकचंद ने उसे गले से लगा लिया। बग्घी तैयार थी, दोनों उस पर जा बैठे।

सुबह को बाबू रामदास उठे, ललिता न दिखाई दी। घबराए, सारा घर छान मारा, कुछ पता न चला। बाहर की कुंडी खुली देखी। बग्घी के निशान नज़र आए। सर पीटकर बैठ गए, मगर अपने दिल का दर्द किससे कहते। हँसी और बदनामी का डर ज़बान पर मोहर हो गया। मशहूर किया कि वह अपने ननिहाल चली गई, मगर लाला ज्ञानचंद सुनते ही भाँप गए कि कश्मीर की सैर के कुछ और ही माने थे। धीरे-धीरे यह बात सारे मुहल्ले में फैल गई। यहाँ तक कि बाबू रामदास ने शर्म के मारे आत्महत्या कर ली।

3

मुहब्बत की सरगर्मियाँ नतीजे की तरफ़ से बिलकुल बेख़बर होती हैं। नानकचंद जिस वक़्त बग्घी में ललिता के साथ बैठा तो उसे इसके सिवाय कोई ख़याल न था कि एक युवती मेरे बग़ल में बैठी है, जिसके दिल का मैं मालिक हूँ। उसी धुन में वह मस्त था।

बदनामी का डर, क़ानून का खटका, जीविका के साधन, इन समस्याओं पर विचार करने की उसे उस वक़्त फ़ुरसत न थी। हाँ, उसने कश्मीर का इरादा छोड़ दिया। कलकत्ते जा पहुँचा। किफ़ायतशरी का सबक़ न पढ़ा था। जो कुछ जमा-जथा थी, दो महीनों में खर्च हो गई। ललिता के गहनों पर नौबत आई लेकिन नानकचंद में इतनी शराफ़त बाकी थी। दिल मज़बूत करके बाप को ख़त लिखा, मुहब्बत को गालियाँ दीं और विश्वास दिलाया कि अब आपके पैर चूमने के लिए जी बेक़रार है, कुछ खर्च भेजिए। लाला साहब ने ख़त पढ़ा, तसकीन हो गई कि चलो ज़िंदा है और ख़ैरियत से है। धूम-धाम से सत्यनारायण की कथा सुनी। रुपया रवाना कर दिया, लेकिन जवाब में लिखा—“ख़ैर, जो कुछ तुम्हारी क़िस्मत में था वह हुआ। अभी इधर आने का इरादा मत करो। बहुत बदनाम हो रहे हो। तुम्हारी वजह से मुझे बिरादरी से नाता तोड़ना पड़ेगा। इस तूफ़ान को उतर जाने दो। तुम्हें ख़र्च की तकलीफ़ न होगी। मगर इस औरत की बाह पकड़ी है तो उसका निबाह करना, उसे अपनी ब्याहता स्त्री समझो।”

नानकचंद के दिल पर से चिंता का बोझ उतर गया। बनारस से माहवार वज़ीफ़ा मिलने लगा। इधर ललिता की कोशिश ने भी कुछ दिल को खींचा और गो शराब की लत न छूटी और हफ़्ते में दो दिन ज़रूर थियेटर देखने जाता तो भी तबीयत में स्थिरता और कुछ संयम आ चला था। इस तरह कलकत्ते में उसने तीन साल काटे। इसी बीच उसे एक प्यारी लड़की के बाप बनने का सौभाग्य हुआ, जिसका नाम उसने कमला रक्खा।

4

तीसरा साल गुज़रा ही था कि नानकचंद के उस शांतिमय जीवन में हलचल पैदा हुई। लाला ज्ञानचंद का पचासवाँ साल था जो हिंदोस्तानी रईसों की प्राकृतिक आयु है। उनका स्वर्गवास हो गया और ज्यों ही यह ख़बर नानकचंद को मिली वह ललिता के पास जाकर चीखें मार-मारकर रोने लगा। ज़िंदगी के नए-नए मसले अब उसके सामने आए। इस तीन साल की सँभली हुई ज़िंदगी ने उसके दिल से शोहदेपन और नशेबाज़ी के ख़याल बहुत कुछ दूर कर दिए थे। उसे अब यह फ़िक्र सवार हुई कि चलकर बनारस में अपनी जायदाद का कुछ इंतज़ाम करना चाहिए, वर्ना सारा कारोबार धूल में मिल जाएगा। लेकिन ललिता को क्या करूँ। अगर इसे वहाँ लिए चलता हूँ तो तीन साल की पुरानी घटनाएँ ताज़ी हो जाएँगी और फिर हलचल पैदा होगी जो मुझे हुक्काम और हमजोलियों में ज़लील कर देगी। इसके अलावा उसे अब क़ानूनी औलाद की ज़रूरत भी नज़र आने लगी। यह हो सकता था कि वह ललिता को अपनी ब्याहता स्त्री मशहूर कर देता, लेकिन इस आम खयाल को दूर करना असंभव था कि उसने उसे भगाया है। ललिता से नानकचंद को अब वह मुहब्बत न थी, जिसमें दर्द होता है

और बेचैनी होती है। वह अब एक साधारण पति था जो गले में पड़े हुए ढोल को पीटना ही अपना धर्म्म समझता है, जिसे बीबी की मुहब्बत उसी वक़्त याद आती है, जब वह बीमार होती है और इसमें अचरज की कोई बात नहीं है अगर ज़िंदगी की नई-नई उमंगों ने उसे उकसाना शुरू किया। वे मंसूबे पैदा होने लगे जिनका दौलत और बड़े लोगों के मेल-जोल से संबंध है। मानव भावनाओं की यही साधारण दशा है। नानकचंद अब मज़बूत इरादे के साथ सोचने लगा कि यहाँ से क्योंकर भागूँ। अगर इजाज़त लेकर जाता हूँ, तो दो-चार दिन में सारा पर्दाफ़ाश हो जाएगा। अगर लीला किए जाता हूँ तो आज के तीसरे दिन ललिता बनारस में मेरे सर पर सवार होगी। कोई ऐसी तरक़ीब निकालूँ, कि इन संभावनाओं से मुक्ति मिले। सोचते-सोचते उसे आख़िर एक तदबीर सूझी। वह एक दिन शाम को दरिया की सैर का बहाना करके चला और रात को घर पर न आया। दूसरे दिन सुबह को एक चौकीदार ललिता के पास आया और उसे थाने में ले गया। ललिता हैरान थी कि क्या माजरा है। दिल में तरह-तरह की दुश्चिंताएँ पैदा हो रही थीं। वहाँ जाकर जो कैफ़ियत देखी, तो दुनिया आँखों में अँधेरी हो गई। नानकचंद के कपड़े ख़ून में तर-ब-तर पड़े थे। उसकी वही सुनहरी घड़ी, वही ख़ूबसूरत छतरी, वही रेशमी साफ़ा, सब वहाँ मौजूद था। जेब में उसके नाम के छपे हुए कार्ड थे। कोई संदेह न रहा कि नानकचंद को किसी ने क़त्ल कर डाला। दो-तीन हफ़्ते तक थाने में तहकीक़ातें होती रहीं और आख़िरकार ख़ूनी का पता चल गया। पुलिस के अफसरों को बड़े-बड़े इनाम मिले, इसको जासूसी का एक बड़ा आश्चर्य समझा गया। ख़ूनी ने प्रेम की प्रतिद्वंद्विता के जोश में यह काम किया। मगर इधर तो ग़रीब, बेगुनाह ख़ूनी सूली पर चढ़ा हुआ था और वहाँ बनारस में नानकचंद की शादी रचाई जा रही थी।

5

लाला नानकचंद की शादी एक रईस घराने में हुई तब धीरे-धीरे फिर वही पुराने उठने-बैठनेवाले आने शुरू हुए। फिर वही मजलिसें जमीं और फिर वही साग़र-ओ-मीना के दौर चलने लगे। संयम का कमज़ोर अहाता, इन विषय-वासना के बटमारों को न रोक सका। हाँ, अब इस पीने-पिलाने में कुछ परदा रखा जाता है और ऊपर से थोड़ी-सी गंभीरता बनाये रखी जाती है। साल-भर इसी बहार में गुज़रा। नवेली बहू घर में कुढ़-कुढ़कर मर गई। तपेदिक ने उसका काम तमाम कर दिया। तब दूसरी शादी हुई। मगर इस स्त्री में नानकचंद की सौंदर्य-प्रेमी आँखों के लिए कोई आकर्षण न था। इनका भी वही हाल हुआ। कभी बिना रोये कौर मुँह में नहीं दिया। तीन साल में चल बसीं। तब तीसरी शादी हुई। यह औरत बहुत सुंदर थी, अच्छे आभूषणों से सुसज्जित। उसने नानकचंद के दिल में जगह कर ली। एक बच्चा भी पैदा हुआ और नानकचंद

गार्हस्थिक आनंदों से परिचित होने लगा, दुनिया के नाते-रिश्ते अपनी तरफ़ खींचने लगे। मगर प्लेग के ही हमले ने सारे मंसूबे धूल में मिला दिए। पतिप्राणा स्त्री मरी, तीन बरस का प्यारा लड़का हाथ से गया और दिल पर ऐसा दाग़ छोड़ गया, जिसका कोई मरहम न था। उच्छृंखलता भी चली गई, ऐयाशी का भी ख़ात्मा हुआ। दिल पर रंजोग़म छा गया और तबीयत संसार से विरक्त हो गई।

6

जीवन की दुर्घटनाओं में अक्सर बड़े महत्त्व के नैतिक पहलू छिपे हुआ करते हैं। इन सदमों ने नानचंद के दिल में मरे हुए इंसान को जगा दिया। जब वह निराशा के यातनापूर्ण अकेलेपन में पड़ा हुआ इन घटनाओं को याद करता तो उसका दिल रोने लगता और ऐसा मालूम होता कि ईश्वर ने मुझे मेरे पापों की सज़ा दी है। धीरे-धीरे यह ख़याल उसके दिल में मज़बूत हो गया—उफ्! मैंने उस मासूम औरत पर कैसा ज़ुल्म किया। कैसी बेरहमी की! यह उसी का दंड है। यह सोचते-सोचते ललिता की मासूम तस्वीर उसकी आँखों के सामने खड़ी हो जाती और प्यारे मुखड़ेवाली कमला अपने मरे हुए सौतेले भाई के साथ उसकी तरफ़ प्यार से दौड़ती हुई दिखाई देती। इस लंबी अवधि में नानकचंद को ललिता की याद तो कई बार आई थी, मगर भोग-विलास, पीने-पिलाने की उन कैफ़ियतों ने कभी उस ख़याल को जमने न दिया। एक धुँधला-सा सपना दिखाई दिया और बिखर गया। मालूम नहीं, दोनों मर गईं या ज़िंदा हैं। अफ़सोस! ऐसी बेकसी की हालत में छोड़कर मैंने उनकी सुध तक न ली। उस नेकनामी पर धिक्कार है, जिसके लिए ऐसी निर्दयता की क़ीमत देनी पड़े। यह ख़याल आख़िर उसके दिल पर इस बुरी तरह बैठा कि एक रोज़ वह कलकत्ता के लिए रवाना हो गया।

सुबह का वक़्त था। वह कलकत्ते पहुँचा और अपने उसी पुराने घर को चला। सारा शहर कुछ-से-कुछ हो गया था। बहुत तलाश के बाद उसे अपना पुराना घर नज़र आया। उसके दिल में ज़ोर से धड़कन होने लगी और भावनाओं में हलचल पैदा हो गई। उसने एक पड़ोसी से पूछा—"इस मकान में कौन रहता है?"

एक बूढ़ा बंगाली था, बोला—"हाम यह नहीं कह सकता, कौन है कौन नहीं है। इतना बड़ा मुलुक में कौन किसको जानता है? हाँ, एक लड़की और उसका बूढ़ा माँ, दो औरत रहता है। विधवा है, कपड़े की सिलाई करता है। जब से उसका आदमी मर गया, तब से यही काम करके अपना पेट पालता है।"

इतने में दरवाज़ा खुला और एक तेरह-चौदह साल की सुंदर लड़की किताब लिए हुए बाहर निकली। नानकचंद पहचान गया कि यह कमला है। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए, बेअख़्तियार जी चाहा कि उस लड़की को छाती से लगा ले। कुबेर

की दौलत मिल गई। आवाज़ को सम्हालकर बोला—"बेटी, जाकर अपनी अम्माँ से कह दो कि बनारस से एक आदमी आया है।" लड़की अंदर चली गई और थोड़ी देर में ललिता दरवाज़े पर आई। उसके चेहरे पर घूँघट था और गो सौंदर्य की ताज़गी न थी मगर आकर्षण अब भी था। नानकचंद ने उसे देखा और एक ठंडी साँस ली। पातिव्रत और धैर्य्य और निराशा की सजीव मूर्ति सामने खड़ी थी। उसने बहुत ज़ोर लगाया, मगर ज़ब्त न हो सका, बरबस रोने लगा। ललिता ने घूँघट की आड़ से उसे देखा और आश्चर्य के सागर में डूब गई। वह चित्र जो हृदय-पट पर अंकित था और जो जीवन के अल्पकालिक आनंदों की याद दिलाता रहता था, जो सपनों में सामने आ-आकर कभी ख़ुशी के गीत सुनाता था और कभी रंज के तीर चुभाता था, इस वक़्त सजीव, सचल सामने खड़ा था। ललिता पर एक बेहोशी-सी छा गई, कुछ वही हालत जो आदमी को सपने में होती है। वह व्यग्र होकर नानकचंद की तरफ़ बढ़ी और रोती हुई बोली—"मुझे भी अपने साथ ले चलो। मुझे अकेले किस पर छोड़ दिया है! मुझसे अब यहाँ नहीं रहा जाता।"

ललिता को इस बात की ज़रा भी चेतना न थी कि वह उस व्यक्ति के सामने खड़ी है, जो एक ज़माना हुआ मर चुका, वर्ना शायद वह चीखकर भागती। उस पर एक सपने की-सी हालत छाई हुई थी, मगर जब नानकचंद ने उसे सीने से लगाकर कहा—"ललिता, अब तुमको अकेले न रहना पड़ेगा, तुम्हें इन आँखों की पुतली बनाकर रखूँगा। मैं इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ। मैं अब तक नरक में था, अब तुम्हारे साथ स्वर्ग का सुख भोगूँगा तो ललिता चौंकी और ठिठककर अलग हटती हुई बोली—"आँखों को तो यकीन आ गया मगर दिल को नहीं आता। ईश्वर करे यह सपना न हो!"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जून, 1913)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

आबे-हयात (सुधा-रस)

डॉक्टर घोष एक अजीबो-ग़रीब आदमी थे। एक बार उन्होंने अपने चार मुअज़्ज़िज़ (प्रतिष्ठित) दोस्तों को तजरबागाह (प्रयोगशाला) में मिलने के लिए बुलाया। उनमें से तीन असहाब इतने किब्रसिन (वृद्ध) थे कि उनकी दाढ़ियाँ भी सफ़ेद हो गई थीं। उनके नाम थे—बाबू दयाराम, ठाकुर विक्रमसिंह और लाला करोड़ीमल। चौथी एक बेवा थी, जिनका नाम मुसम्मात (श्रीमती) चंचलकुँवर था। बुढ़ापे ने उनके ज़िस्म पर झुर्रियाँ डाल दी थीं। यह चारों अशख़ास (व्यक्ति) बहुत मलूल-ओ-महजूँ (उदास और शोकावित) रहा करते थे। उनकी ज़िंदगियाँ तल्ख हो गई थीं और सबसे बड़ा सितम यही था कि अभी तक बकैदेहयाता (जीवित) थे।

लाला करोड़ीमल शबाब में एक मुतमव्विल ताजिर (सम्पन्न व्यापारी) थे, मगर उन्होंने अपनी सारी दौलत सट्टे मे उड़ा दी थी और अब सिर्फ़ मुहज़्ज़ब गदागरी (शिष्ट भिक्षावृत्ति) पर गुज़रान करते थे। ठाकुर विक्रमसिंह ऐश-ओ-तरब (भोग-विलास और आनंद) के बंदे थे। उन्होंने अपनी दौलत ही नहीं अपनी सेहत भी हवसरानियों (भोग-लिप्साओं) पर क़ुर्बान कर दी थी और अब उनका ज़िस्म मुतअद्दिद अमराज़ (रोग-समूह) का मामन (केंद्र) बना हुआ था। वह बहुत परेशान और अफ़सुर्दा-ख़ातिर (उदास मन) रहा करते थे। बाबू दयाराम किसी ज़माने में वकील थे और क़ौमी तहरीकों में भी कुछ हिस्सा लिया था, मगर किसी-न-किसी वजह से वह बदनाम हो गए थे और अब कोई उनके क़रीब न फटकता था। गोशा-ए-नाकामी में पड़े दिन काट रहे थे। रही मुसम्मात चंचलकुँवर—किसी ज़माने में उनके हुस्न का शोहरा था। बहुत अर्से से वह मुतवर्रिक मुक़ामात (पवित्र स्थानों) की ज़ियारत (तीर्थ-यात्रा) करने में मारूफ़ थीं। शुरफ़ाए-शहर (नगर के सम्मानित व्यक्ति) यहाँ तक कि उनके अज़ीज़-ओ-रिश्तेदार भी उनसे मुहतरिज़ (बचकर, परहेज़) रहते थे। करोड़ीमल, दयाराम, विक्रमसिंह—तीनों हज़रात किसी ज़माने में इस मुसम्मात के अश्शाक़ (प्रेमी) थे। यहाँ तक कि एक बार बाहमी रक़ाबत (परस्पर लाग-डाँट) के बाइस उनमें ख़ून-खराबे की नौबत भी आ चुकी थी, मगर वे पिछली बातें ख़्वाब-ओ-ख़्याल हो गई थीं। उनकी याद भी दिलफ़िगार (कष्टप्रद) हो गई थी।

डॉक्टर घोष उन आदमियों को बैठने का इशारा करके बोले—"दोस्तो! आपको मालूम है कि मैं अपना वक़्त छोटे-मोटे तजुर्बात करने में सर्फ़ किया करता हूँ। आज मुझे एक तजुर्बे में आपकी मदद की ज़रूरत है।"

अगर रवायतों (कहीं बातों) पर एतबार किया जाए तो डॉक्टर घोष की लैबोरेटरी एक अजूबा चीज़ थी। कमरा तारीक (अंधकार), पुरानी वज़ा (किस्म, चाल, ढंग) का था। मकड़ियों के जाले जो खिड़कियों पर पर्दे का काम दे रहे थे और फ़र्श पर बरसों की गर्द जमी हुई थी। दीवारों से मिली हुई कई साखू अलमारियाँ थीं। उनमें मुजल्लिद (सजिल्द) किताबें चुनी हुई थीं। बीच की अलमारी में भैरव की एक मूरत रखी हुई थी। कुछ लोगों का ख़्याल था कि मुशक़िलात में डॉक्टर साहब इसी मूरत से मशवरा किया करते थे। कमरे के सबसे अँधेरे गोशे में एक ऊँची-पतली अलमारी थी। उसमें से एक इंसान का उस्तुख्वानी (अस्थि-पंजर) ढाँचा कुछ-कुछ नज़र आता था। उसी के क़रीब दो अलमारियों के बीच में एक धुँधला-सा आईना रखा हुआ था, जिसका सुनहरी चौखटा मैला हो रहा था। कहा जाता था कि डॉक्टर साहब के दस्त-ए-शिफ़ा (स्वास्थ्य-लाभ कराने वाला हाथ) से मरे हुए मरीज़ों की रूहें इसी आईने में रहती थीं और जब कभी वे आईने की तरफ़ देखते थे तो वे सब-की-सब उनकी तरफ़ घूरने लगती थीं। कमरे की दूसरी तरफ़ एक हसीना की क़दे-आदम तस्वीर थी, मगर मुरूरे-ऐयाम (समय बीतने) से चेहरे और कपड़े का रंग उड़ गया था। पचास बरस का अर्सा हुआ डॉक्टर साहब ने इसी हसीना से शादी करने की तजवीज़ की थी, मगर शादी के चंद रोज़ कब्ल (पूर्व) वह बीमार पड़ी और अपने तालिब (अभिलाषी) डॉक्टर की दवा खाकर इस दुनिया से चल बसी थी। तजुर्बेगाह की सबसे अजीब चीज का ज़िक्र करना अभी बाक़ी है। यह एक सियाह जिल्द की जख़ीम (मोटी) किताब थी। इस किताब का नाम किसी को न मालूम था, लेकिन लोग यह जानते थे कि यह जादू की किताब है। एक बार ख़ादिम ने गर्द झाड़ने के लिए इस किताब को उठाया था। किताब के उठाते ही अलमारी में रखा हुआ उस्तुख्वानी ढाँचा काँप उठा, हसीना की तस्वीर एक क़दम आगे बढ़ गई और सदहा ख़ौफ़नाक सूरतें आईने में झाँकने लगीं। इतना ही नहीं, भैरव की मूरत के तेवर बदल गए और उसके मुँह से 'बस करो, बस करो' की आवाज़ निकलने लगी थी।

डॉक्टर घोष की ज़बान से तजुर्बे का ज़िक्र सुनकर उनके चारों दोस्तों ने समझा कि या तो हमें हवा से खाली शीशे की नली में किसी चूहे की मौत का तमाशा दिखाया जाएगा, या खुर्दबीन से मकड़ी के जाले का मुलाहिज़ा (अनुशीलन) करना होगा, या किसी की और कोई दूर-अज़कार (वर्णनातीत) बेतुकी बात होगी, क्योंकि ऐसे ही तजुर्बात के मुशाहदे के लिए डॉक्टर साहब पहले भी बीसियों बार अपने दोस्तों को दिक़ कर चुके थे। उन्हें इस मुजव्विज़ा तजुर्बे (निर्णायक प्रयोग) से कुछ ज़्यादा शौक न पैदा हुआ। मगर डॉक्टर साहब उनके जवाब का इंतज़ार किए बग़ैर उठ खड़े हुए

और लँगड़ाते हुए कमरे के दूसरे गोशे से वही जख़ीम किताब उठा लाए जो हर्फ़ेआम (आम भाषा) में जादू की किताब मशहूर थी। उन्होंने इस किताब को खोला और औराक़ (पृष्ठों) में से एक गुलाब का फूल निकाला, जो कभी सुर्ख़ होगा, पर उस वक़्त मटियाला हो रहा था। उसकी पंखुड़ियाँ ऐसी ख़ुश्क हो गई थीं, गोया छूते ही चूर-चूर हो जाएँगी।

डॉक्टर साहब ठंडी साँस लेकर आहिस्ता से बोले—"आज पचपन साल हुए यह गुलाब का फूल, जो बिलकुल मुरझाया हुआ है और छूने से चूर-चूर हुआ जाता है, सुर्ख़ शगुफ़्ता (खिला हुआ) था। यह उस हसीना का तोहफ़ा था, जिसकी तस्वीर सामने लटक रही है और मैं इसे शादी के दिन अपने कपड़ों में लगाना चाहता था। इन औराक़ में यह फूल पचपन साल तक दफ़न रहा है। क्या यह निस्फ़ सदी (अर्द्ध-शताब्दी) का पुराना फूल फिर हरा हो सकता है?" मुसम्मात चंचलकुँवर ने बेदिली से सिर हिलाकर कहा—"यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई पूछे कि किसी बूढ़ी औरत का पुरशिकन (झुर्रीदार) चेहरा फिर चिकना हो सकता है?"

डॉक्टर घोष ने फ़र्माया—"अच्छा, देखो!"

यह कहकर उन्होंने मेज़ पर रखे हुए मटके का ढकना उठाया और उस मुरझाए हुए फूल को पानी में डाल दिया जो उसमें भरा हुआ था। पहले कुछ देर तक तो फूल पानी में तैरता रहा। उस पर पानी का कुछ असर न हुआ, लेकिन एक ही लम्हें में हैरतख़ेज़ तग़य्युर (आश्चर्यजनक परिवर्तन) नज़र आने लगा। चिपटी और सूखी हुई पंखुड़ियाँ हिलीं और उनका रंग आहिस्ता-आहिस्ता सुर्ख़ होने लगा। ऐसा मालूम होता था कि फूल एक गहरी नींद से जाग रहा है। पतला डंठल और पत्तियाँ हरी हो गई और देखते-देखते वह पनजाह (पचास) साला फूल बिलकुल ताज़ा नौशगुफ़्ता (नवविकसित) मालूम होने लगा। वह अभी अच्छी तरह खिला न था। बीच की कुछ पंखुड़ियाँ लिपटी हुई थीं। उन पर शबनम की दो बूँदें भी चमक रही थीं।

डॉक्टर साहब के दोस्तों ने लापरवाही से कहा—"तमाशा तो बहुत अच्छा है, लेकिन बताइए, यह हुआ क्योंकर?" उन लोगों ने बाज़ीगरों के इससे भी कहीं अजीब शोब्दे (करिश्मे) देखे थे।

डॉक्टर घोष बोले—"क्या आप लोगों ने 'ज़ुल्मात' (वह घोर अंधकार, जो सिकंदर के अमृत-कुंड तक पहुँचने में पड़ा था) का नाम कभी नहीं सुना?"

दयाराम—"सुना ज़रूर है, मगर वहाँ पानी किसी को मिला कब?"

डॉक्टर घोष—"इसलिए नहीं मिला कि किसी ने उसकी मुनासिब तलाश नहीं की। अब तहक़ीक़ से मालूम हुआ है कि ज़ुल्मात में आबे-हयात का एक चश्मा है। उसके किनारे बड़े-बड़े दरख़्त हैं जो कई सदियों के पुराने होने पर भी आज तक हरे-भरे हैं। मुझे इन इंकिशाफ़ों (गवेषणाओं) का दिलदादा (प्रेमी) समझकर मेरे एक दोस्त ने थोड़ा-सा पानी मेरे पास भेजा है। वह इस प्याले में भरा हुआ है।"

ठाकुर विक्रमसिंह को इन बातों का मुतलक़ यक़ीन न था। ताहम उन्होंने पूछा—"हाँ, होगा, लेकिन यह बतलाइए कि इस पानी का असर इंसान के जिस्म पर भी हो सकता है?"

डॉक्टर घोष—"यह आपको अभी एक लख़्ते (क्षण) में मालूम हुआ जाता है। आप सब हज़रात इस पानी को बेतकल्लुफ़ पिएँ, ताकि आपका शबाब एक बार फिर लौट आए। मुझे तो जवान होने की हवस नहीं है, क्योंकि मैं बहुत मुसीबतें झेलकर इस आलम तक पहुँचा हूँ। अगर आपको शौक हो तो मैं इस पानी का तजुर्बा करूँ।"

यह कहकर डॉक्टर घोष ने चार शीशे के गिलास निकाले और उन्हें उस पानी से भरने लगे। पानी में कोई जान-नवाज़ (जीवनदायी) क़ूबत ज़रूर थी, क्योंकि गिलासों के हाथ से छोटे-छोटे बुलबुले लगातार उठने लगे। वह ऊपर आकर चमकीली फुवार बनते थे और तब फूट जाते थे। इसके सिवा इसमें से एक दिलआवेज़ (मनोहर) ख़ुशबू निकल रही थी। यह देखकर लोगों को पानी की तासीर का कुछ यक़ीन होने लगा, हालाँकि उन्हें यह बावर (विश्वास) न होता था कि कोई बूढ़ा आदमी यह पानी पीकर जवान हो सकता है। ताहम सब-के-सब पानी पीने पर आमादा हो गए। डॉक्टर घोष ने उन्हें इस क़दर शायक़ (शौकीन) देखकर उनसे एक लम्हें तअम्मुल (सोच-विचार) करने की दरख़्वास्त की और बोले—"मेरे प्यारे और मुअज़्ज़िज़ दोस्तो! आप लोगों को पूरी ज़िंदगी का तजुर्बा हो चुका है, इसलिए पानी को नोश करने से पहले कुछ ऐसे उसूल-ए-ज़िंदगी मुक़र्रर कर लीजिए, ताकि शबाब की दुश्वारियाँ दोबारा आपको ख़स्ता-ओ-ख़्वार (बरबाद) न करें और आप इस वादिए-तारीक (अंधकारपूर्ण घाटी) से बख़ैरो-आफ़ियत (कुशलपूर्वक) गुज़र जाएँ। सोचिए कि गर्मो-सर्द ज़माने के इतने तजुर्बे के बाद अगर आप मुहासिन-ए-अख़्लाक़ (चरित्र-रक्षण) में नौजवानाने-दुनिया के लिए नमूना न बन सके तो कितने शर्म की बात होगी।"

डॉक्टर साहब का यह वाज़ (उपदेश) सुनकर इन लोगों के चेहरों पर खफीफ़ (हल्क़ी)-सी मुस्कराहट नमूदार हो गई। उन्होंने इसका कुछ जवाब न दिया। यह ख़याल ही मज़हकाखेज़ (जिस पर हँसी आए) सुना कि शबाब की ग़लतकारियों और लाउबालियों (बेपर्वा और उच्छृंखल काम करना) के ऐसे तल्ख़ तजुर्बे के बाद यह लोग फिर अमूमन (जान-बूझकर) उनमें गिरफ़्तार होंगे।

डॉक्टर साहब ने अंदाज़े-तलत्तुफ़ (कृपापूर्वक) से कहा—"अब आप लोग इसे शौक से पिएँ। मुझे बेइंतहा मसर्रत है कि मुझे अपने तजुर्बे के लिए आप जैसे लायक आदमी मिल गए।"

नहीफ़ (दुर्बल) हाथों से इन चारों आदमियों ने गिलासों को उठाकर होठों से लगाया। अगर फ़िलवाके (यथार्थतः) डॉक्टर सहाब के ख़याल के मुताबिक इस पानी में जाँबख़्श असर था तो इन आदमियों से ज़्यादा दुनिया में शायद ही किसी को इसकी ज़रूरत होगी। उनके बुशरों (मुखाकृतियों) से ऐसा गुमान होता था कि उन्होंने शबाब

की सूरत ही नहीं देखी और मादरज़ाद (जन्मजात) बूढ़े थे, गोया वे हमेशा से ऐसे ही ख़स्ता, मायूस और सफ़ेद हो रहे थे। ये लोग डॉक्टर साहब की मेज़ के चारों तरफ़ झुके हुए बैठे थे। आने वाली जवानी की ख़ुशी भी उनके चेहरों पर रौनक़ न पैदा कर सकती थी। उनके ज़िस्म और दिल बिलकुल बेजान हो गए थे। पानी पीकर उन्होंने गिलास मेज़ पर रख दिए। मगर एक लम्हे में उन लोगों की हालत में एक ख़ुशगवार तब्दीली नमूदार हुई। उनके चेहरे रौशन हो गए। रौनक नज़र आने लगी। उनके ज़र्द और बेरंग रुख़सारों पर सुर्ख़ी पैदा हो गई। उन्होंने एक-दूसरे की तरफ़ देखा। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि फ़िलवाके (यथार्थतः) कोई बर्क़ी क़ूव्वत (विद्युनीय शक्ति) उनके ज़िस्म से उन अलामतों (चिह्नों) को मिटा रही है, जिन्हें बेरहम ज़माना अर्सेदराज़ से नक़्श करता रहा है। मुसम्मात चंचल कुँवर को ऐसा महसूस हुआ कि मुझ पर फिर जोबन आ रहा है। उसने एक अंदाज़ से चेहरे पर घूँघट बढ़ा लिया।

सब लोग ख़ुश होकर बोले—"थोड़ा-सा आबे-हयात और अता कीजिए। हम कुछ ज़वान ज़रूर हो गए हैं, लेकिन अभी कुछ कसर है। लाइए, जल्द एक गिलास और पिलाइए।"

डॉक्टर घोष, जो बैठे हुए अपने तजुर्बे को आलिमाना दिलचस्पी के अंदाज़ से देख रहे थे, बोले—"ज़रा, सब्र कीजिए। आप लोगों को बूढ़ा होने में बहुत दिन लगे थे, मगर जवान होने में आध घंटा लग जाए तो आपको बेसब्र न होना चाहिए। यह पानी हाज़िर है, आप लोग जितना चाहें पी सकते हैं।"

यह कहकर डॉक्टर साहब ने चारों गिलासों को दुबारा भरा। ख़ुम (घड़े) में अब भी इतना पानी बाक़ी था कि शहर के आधे बूढ़े अपने नाती-पोतों के हमसिन (समवयस्क) हो सकते थे। अभी गिलासों में बुलबुले उठ रहे थे और चारों आदमियों ने झपटकर मेज़ से गिलास उठा लिए और एक ही जुरा (घूँट) में ख़ाली कर दिए। यक़ीनन यह आबे-हयात (सुधा-रस) था। अभी पानी उन लोगों के हलक़ में उतरा ही था कि उनकी सूरत में इंक़लाब पैदा होने लगा। उनकी आँखों में शबाब का-सा नूर आ गया। सफ़ेद बाल सियाह होने लगे। एक लम्हा और गुज़रा। मेज़ के गिर्द चार बूढ़ों की जगह तीन नौजवान मर्द बैठे थे और एक हसीन और गुलफ़ाम नाज़नीन (पुष्पांगी सुंदरी)। ठाकुर विक्रमसिंह ने चंचलकुँवर की तरफ़ मस्ताना निगाह से देखकर कहा—"प्यारी चंचल, तुम पर इस वक़्त ग़ज़ब का निखार है।"

तनवीर-ए-सुबह (प्रातःकालीन प्रकाश) से जिस तरह तारीकी (अंधकार) हटने लगती है, उसी तरह चंचलकुँवर का चेहरा शगुफ़्ता होता जाता था। उसे पुराना तज़ुर्बा था कि ठाकुर साहब की मद्‌ह सराइयाँ (तारीफ़ें) हमेशा सच्ची नहीं होतीं, इसलिए वह दौड़ी हुई आईने के सामने गई और उसमें अपनी सूरत देखने लगी। उसे अब भी ख़ौफ़ था कि कहीं बुढ़ापे की मकरूह सूरत (घृणित रूप) न नज़र आए। बाक़ी तीनों आदमियों के अंदाज़ से ऐसा मालूम होता था कि इस पानी में कुछ नशा-अंगेज़ सिफ़्त

है। शायद इसका यह ही सबब हो कि बुढ़ापे का बोझ सिर से उतर जाने के बाइस ख़ुशी के मारे मतवाले हो रहे थे। बाबू दयाराम मुल्की मसायल पर ग़ौर कर रहे थे, लेकिन उन मसायल का तअल्लुक ज़माना-ए-हाल से था या माज़ी या इस्तिक़बाल (अतीत या भविष्य) से, इसका पता लगाना मुश्किल था। कभी तो वह बआवाज़ बुलन्द हुब्बे-वतन (देश-भक्ति), ख़िदमते-क़ौम या हुकूके-इंसान (मानवीय अधिकारों) पर तक़रीर करने लगते। कभी किसी खुफ़िया मामले के मुतअल्लिक़ ऐसी दबी ज़बान से सरगोशी (चुपके से कहना) करते कि उन्हें अपनी ही आवाज़ सुनाई देती थी और कभी रुक-रुककर निहायत मुअद्दिबाना अंदाज़ (विनम्र रीति) से बोलने लगते, गोया किसी हाक़िमे-आला (उच्चाधिकारी) के रू-ब-रू बोल रहे हों। ठाकुर विक्रमसिंह भी कोई चलती हुई चीज़ गुनगुना रहे थे और गिलास पर अँगुलियों से ताल भी देते जाते थे। उनकी आँखें चंचलकुँवर के हसीन चेहरे की तरफ़ लगी हुई थीं। मेज़ की दूसरी तरफ़ सेठ करोड़ीमल रोकड़ और खाते की धुन में मह्व (लीन) थे और सोच रहे थे कि अगर हिमालय पहाड़ से बरफ़ के तोदे काट-काटकर लाए जाएँ तो कितना नफ़ा हो, और चंचलकुँवर आईने के सामने खड़ी अपनी सूरत देख-देखकर ख़ुशी से मुस्कुरा रही थी। रह-रहकर वह अपना चेहरा आईने के क़रीब ले जाकर यह देखने की कोशिश करती थी कि कोई पुराना दाग़ तो बाकी नहीं रहा। उन्हें अपने निखार पर अब भी कामिल इत्मीनान न हुआ। उन्हें याद आता था कि मैं शबाब में इससे ज़्यादा हसीन थी। आख़िर वह एक अंदाज़ से घूँघट उठाए हुए मेज़ के क़रीब आईं और बोलीं—"डॉक्टर साहब, बराहे-करम मुझे एक गिलास और दे दीजिए।"

डॉक्टर घोष ने हँसकर कहा—"हाँ-हाँ, शौक से लीजिए। यह देखिए, मैं गिलास भरे देता हूँ।"

आबे-हयात से लबरेज़ गिलास मेज़ पर रखे हुए थे। उनसे निकलने वाली महीन फुहारें हीरों के रेज़ों (कणों) की तरह चमक रही थीं। सूरज डूब चुका था, इसलिए कमरे में ज़्यादा अँधेरा हो गया था, लेकिन खुम में से चाँदनी की हल्की-सी रोशनी निकलकर डॉक्टर और उनके दोस्तों के चेहरों पर पड़ रही थी। डॉक्टर साहब के चेहरों पर पड़ी झुर्रियाँ और उसकी ज़र्दी इस रोशनी में और भी वाज़े (प्रकट) हो रही थी।

तीसरा गिलास पीते ही इन चारों आदमियों की रगों में जवानी की उमंगें लहरें मारने लगीं। अब उनका उन्फुवाने शबाब (जवानी की उठान) था। जोशे-मसर्रत उनके दिलों में नहीं समाता था। मायूसी और ग़मेजाफ़ (शोक-पीड़ा) और बेकसी का बुढ़ापा अब उन्हें एक ख़्वाब-सा मालूम होता था, जिसे उन्होंने अर्सा हुआ देखा था। उन्हें अब हर एक चीज़ में एक ख़ास रौनक़ नज़र आने लगी। वह रूहानी शगुफ़्तगी, जिससे वे लोग क़ब्ल-अज़वक़्त (समय से पूर्व) महरूम (वंचित) हो चुके थे और जिसके बग़ैर दुनिया के दिलफ़रेब नज़ारे उन्हें धुँधली तसवीरों की तरह नज़र आते थे, फिर उन पर तमन्नाओं का जादू करने लगीं। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि हम एक नई दुनिया

के नए वजूद (अस्तित्व) में हैं। सब-के-सब झुककर बोले—"हम जवान हो गए, हम जवान हो गए!"

फ़िलवाक़ई (यथार्थतः) यह सुबुकसर (ओछे) नौजवानों की जमाअत थी, जिन्हें तक़ाज़ाए-सिन (आयु की माँग) ने शोरीदासरी (दीवानगी) पर मायल (प्रवृत्त) कर दिया था। उनकी ख़ुशफ़ुलियों (मनोविनोद) का सबसे अजीब पहलू यह था कि उन लोगों को इस पीरी (वृद्धावस्था) और नक़ाहत (निर्बलता) का मज़हक़ा (उपहास) उड़ाने की दिली तहरीक़ (इच्छा, कोशिश) हो रही थी, जिससे अभी-अभी उनकी गुलूख़लासी (छुटकारा) हुई थी। वह अपनी पुरानी वज़ा के कपड़ों को देखकर ख़ूब क़हक़हे मारकर हँसने लगे। एक साहब बजे मुफ़ासिल (ऋतु-परिवर्तन) के दर्द से कराहते हुए बूढ़े बाबा की नक़ल करके लँगड़ा-लँगड़ाकर चलने लगे। दूसरे साहब नाक पर ऐनक रखकर जादू की किताब को ग़ौर से पढ़ने का बहाना करने लगे। तीसरे साहब एक आरामकुर्सी पर बैठ गए और डॉक्टर घोष की बुज़ुर्गाना मतानत (दृढ़ता) की नक़ल करने लगे, फिर सब-के-सब बग़लें बजा-बजाकर कमरे में कूदने-फाँदने लगे। मुसम्मात चंचलकुँवर एक दिलरुबाना अंदाज़ से डॉक्टर साहब के पास आई। उनके गुलाब-से रुख़सारों (कपोलों) पर एक दिलफ़रेब और शरारत-आमेज़ शोख़ी थी। डॉक्टर साहब से बोली—"प्यारे डॉक्टर, उठ खड़े हो, ज़रा मेरे साथ नाचो।"

इस पर चारों आदमियों ने यह सोचकर क़हक़हा मारा कि डॉक्टर साहब इस हसीना के पहलू में कैसे हवन्नक़ (मूर्ख) मालूम होंगे।

डॉक्टर साहब ने मतानत से कहा—"मुझे माफ़ कीजिए! मैं बूढ़ा हूँ, गठिए ने नाक में दम कर रखा है। मेरे नाचने के दिन कब के रुख़सत हो गए, लेकिन इन तीन नौजवानों में से कोई भी तुम्हारे साथ नाचने के लिए जान दे देगा।"

ठाकुरसिंह ने फ़रमाया—"चंचल, मेरे साथ नाचो।"

बाबू दयाराम बोले—"नहीं, वह मेरे साथ नाचेगी।"

लाला करोड़ीमल ने कहा—"वहाँ मैं इनका पुराना रफ़ीक़ हूँ। पचास साल हुए, इन्होंने मेरे साथ नाचने का वायदा किया था।"

यह कहते-कहते तीनों आदमी चंचलकुँवर के गिर्द खड़े हो गए। एक ने बेताब होकर उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। दूसरे ने उसकी कमर में हाथ डाल दिया और तीसरे साहब ने उसके अंबरी ज़ुल्फ़ों (सुगंधित केशों) का बोसा लेना शुरू किया। चंचलकुँवर लजाती थीं, त्यौरियाँ बदलती थीं, कोसती थीं, हँसती थीं, तड़फड़ाती थीं। उसकी गर्म-गर्म साँस बारी-बारी से उन तीनों आदमियों के मुँह पर वह काम कर रही थी जो हवाए-सर्द (ठंडी हवा) नशा करती है। वह उसके बीच में निकलने के लिए ज़ोर कर रही थी, लेकिन कुछ न बस चलता था। एक जादूतराज़ माशूका (मायावी प्रेमिका) की हमदोशी (साथ) के लिए ऐसी सरगर्म रक़ीबाना कशमकश (मैत्रीपूर्ण खींचातानी, संघर्ष) का नज़ारा किसी ने कम देखा होगा। मगर कमरे में रखे हुए क़दे-आदम शीशे

में कुछ और ही माज़रा नज़र आता था। वहाँ तीन कुहनसाल (वयोवृद्ध) और ख़स्ताहाल बूढ़े एक ख़मीदा कमर (झुकी हुई कमर), मक्रूह (विकृत, घृणित) और झुर्रीदार बुढ़िया से हम-आग़ोश होने के लिए दस्तोग़रीबाँ (गले में हाथ डालना) थे।

लेकिन वे नौजवान थे। उनकी मस्ती इसका सुबूत थी। चंचलकुँवर की इश्वागरी (भाव-भंगिमा) और परहेज़ से बेखुद होकर तीनों रक़ीबों ने बाहम ख़श्मगीं नज़रे (कुपित दृष्टि) डालनी शुरू कीं। हसीन माशूक़ा से चिपटे हुए वे एक-दूसरे पर पिल पड़े। हाथापाई और धौल-धप्पा शुरू हुआ। इस झमेले में मेज़ को ठोकर लगी और वह उलट गई। शीशे का खुम गिरकर चूर-चूर हो गया और वह अबो-ज़िंदगी एक दरख़शाँ (चमकीली) धार की सूरत में फ़र्श पर बह निकला। एक नीमजान (अधमरी) तितली ज़मीन पर पड़ी सिसक रही थी। उसके पर इस धार से तर हो गए। वह फुर्र से उड़कर डॉक्टर घोष की टोपी पर जा बैठी। डॉक्टर घोष बोले–"बस-बस, यारो! बस। चंचलकुँवर, बस। अब बहुत हुआ। मुझे यह हंगामा क़तई पसंद नहीं।"

वे सब-के-सब ख़ामोश हो गए। उन्हें लरज़ा-सा आ गया। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि पीरे-फ़रतूत ज़माना (बहुत वृद्ध ज़माना) हमें शबाब के इस सब्ज़ाज़ार (हरियाली) से फिर (वृद्धावस्था) की तारीक वादी (अँधेरी घाटी) की तरफ़ खींचे लिया जाता है। उन्होंने डॉक्टर घोष की तरफ़ देखा। वह उस पंजाह (पचास) साला फूल को लिए हस्बे साबिक़ (यथापूर्व) बैठे हुए थे, जिसे उन्होंने खुम के टुकड़ों में से निकाल लिया था। उनके हाथों का इशारा पाते ही चारों बादए-मस्ती (उमंग की लहर) के मतवाले अपनी-अपनी जगहों पर आ बैठे, हालाँकि वे जवान थे, पर इस कशमकश और ख़रमस्ती (मूर्खतापूर्ण उन्माद) ने उन्हें बेदम कर दिया था।

डॉक्टर घोष ने फूल को शफ़क़ (प्रातःकालीन अथवा संध्या की लालिमा) की रोशनी में देखकर कहा–"अफ़सोस, यह फूल फिर मुरझाया जाता है।"

यह बिलकुल सही था। इन लोगों के देखते-देखते फूल ऐसा खुश्क़ और चुर-मुरा हो गया, जैसा खुम में डालते वक़्त था। डॉक्टर ने उसकी पंखुड़ियों पर लगी हुई पानी की बूँदों को हिलाकर गिरा दिया और उसे अपने सूखे हुए होंठों से लगाकर बोले–"मेरे लिए यह अब भी ताज़ा और शगुफ़्ता है।"

डॉक्टर साहब के मुँह से यह अल्फ़ाज निकल रहे थे कि तितली फड़फड़ाई और उनके सिर पर से ज़मीन पर गिर पड़ी। डॉक्टर साहब के दोस्तों के ज़िस्म में फिर राशा (कम्पन) हुआ। एक अजीब किस्म की बुरूदत (शीतलता) मालूम नहीं उनके ज़िस्म या दिल पर डोरती चली आती थी। वे एक-दूसरे की तरफ़ ताक रहे थे। उन्हें ऐसा ख़याल होता था कि हर एक लम्हा उनके गुलेशबाब (यौवन-पुष्प) को तोड़कर उसकी जगह एक-एक दाग़ छोड़ता चला जाता था। क्या यह बिलकुल मुग़ालता-नज़री (दृष्टिभ्रम) था? क्या मुद्दत-उल-उमर (आयु-सीमा) की तब्दीलियाँ इतने मुख़्तसर लम्हों में समेट दी गई थीं? और वे सब-के-सब चार कुहनसाल बूढ़े थे जो अपने पुराने दोस्त

डॉक्टर घोष के साथ बैठे हुए थे। इन लोगों ने मायूसाना लहज़े में कहा–"क्या हम फिर इतनी जल्दी बूढ़े हो गए?"

हाँ, उनका शबाब रुखसत हो चुका था। इस आबे-हयात (सुधा-रस) में शराब के नशे से भी सरीय तासीर (अधिक प्रभाव) थी। इससे पैदा होने वाली शोरीदगी (प्रभाव) सिर्फ़ तन्ज़ीर (भयग्रस्त) हो चुकी थी। बुढ़ापे ने फिर उन पर अपना सियाह लबादा डाल दिया था। चंचलकुँवर ने एक आलमे-बेबसी (विवशता की दशा) में अपना चेहरा मुस्तर सिफ़त (जुड़ी) अँगुलियों से ढक लिया। उसके दिल में बेअख़्तियार ख्वाहिश पैदा हुई कि जब हुस्न ही न रहा तो क्यों न इस पर कफ़न का पर्दा पड़ जाए। नमाईयत (सदुपदेश) का यही एक हुस्न उसमें बाक़ी रह गया था।

एक लम्हें की ख़ामोशी के बाद डॉक्टर घोष ने फ़रमाया–"दोस्तों! अफ़सोस है कि आप फिर बूढ़े हो गए। देखिए, आबे-हयात से ज़मीन तर है, लेकिन अब मुझे इसका मुतलक़ ग़म नहीं, क्योंकि अगर चश्मे-हयात (अमृत-धार) मेरे दरवाज़े ही पर लहरें मारे तो भी मैं उससे अपने होंठ न तर करूँ, चाहे लम्हों के बदले उसका नशा बरसों तक क्यों न क़ायम रहे। आप लोगों से आज मुझे भी इबरत (शिक्षा) हासिल हुई है।"

लेकिन डॉक्टर साहब के अहबाब (मित्रों) को यह इबरत (शिक्षा) न हुई। उन्होंने चश्मे-हयात के सफ़र का मुसम्मिम (पक्का) इरादा किया, जहाँ वह सुबह-दोपहर-शाम हसबे-ख़्वाहिश (इच्छानुसार) आबे-हयात (सुधा-रस) नोश करें और सदाबहार जवानी का लुत्फ़ उठाएँ।

('हमदर्द' उर्दू मासिक पत्रिका, जून, 1913;
'सुबहे उम्मीद', उर्दू मासिक, मार्च, 1920 में पुनः प्रकाशित)
('सारिका', 1-15 अक्टूबर, 1986 के अंक में हिंदी लिप्यंतर प्रकाशित)
('प्रेमचंद का अप्राप्य सहित्य', भाग-1, 1988, से प्रस्तुत)
('प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ, 2005)

दारुश-ए-तल्ख़ (कड़वी सचाई)

1

यूनिवर्सिटी के इम्तिहान ख़त्म हो गए थे और क्वींस कॉलेज का बोर्डिंग हाउस बिलकुल सुनसान नज़र आता था। सिर्फ़ दो मुत्फ़क़्कर (चिंतामग्न) सूरतें एक कमरे में बैठी हुई दिखाई देती थीं। इनमें बहुत गाढ़ी दोस्ती थी। चार साल की रफ़ाक़त (निकटता) ने दोस्ती की जड़ मज़बूत कर दी थी। आज इंतहान को ख़त्म हुए पूरा एक हफ़्ता गुज़र गया था, मगर जुदाई का ख़ौफ़ इन्हें जुदा नहीं होने देता। कई बार इनका असबाब बाँधा गया, रेल का वक़्त देखा गया, कई बार फाटक तक किराए की गाड़ी बुलाई गई, मगर चलने का वक़्त आया तो दोनों दोस्त गले लिपट गए और रवानगी का इरादा मंसख़ (बदल) हो गया। रात को यह सलाह करके सोये कि अब सुबह को ज़रूर चलेंगे। यह जुदाई की मुसीबत तो एक दिन झेलनी ही है। आख़िर कब तक टालेंगे। मगर कल आते ही उनके दिलों की वही कैफ़ीयत हो जाती, जो मौत को बुलाने वाले लकड़हारे की होती थी। आख़िर जब खुश-नसीब लक्ष्मीदत्त के वालिद डॉक्टर हरिदत्त ने झाड़कर लिखा—“तुम्हारे इस ताख़ीर (विलंब) में मुझे अंदेशा होता है कि तुम वहाँ अपने पैरों में कोई नई जंजीर ना डाल बैठो।” तो गोविंदराम को अपना दिल छोटा करना पड़ता। गोविंदराम के घर से भी ऐसे ही मज़मून का ख़त आया। बाप तो कब के सिधार चुके थे। बीवी ने लिखा—“प्यारे, तुम क्यों नहीं आते? मुझे यह इत्मिनान दिलाओ कि मुझे सौक़न का जलापा तो न सहना पड़ेगा?”

अब बनारस में रुकना ग़ैरमुमकिन था। 30 अप्रैल को इम्तिहान ख़त्म हुआ था। 15 मई को उनकी रवानगी की साअत (कार्यक्रम) आई। दोनों के चेहरे अफ़्सुर्दा (दुःखी) थे और गोविंद की आँखों में आँसू थे, मगर किनारा-ए-सागर की खुश्क बालू की तरह उन्हें सिर्फ़ झाड़ने की देर थी, सतह के नीचे पानी छुपा हुआ था।

लक्ष्मीदत्त अपने मकान पर पहुँचकर अपने वालिद के साथ नैनीताल गया। डॉक्टर हरिदत्त बहुत बारसूख़ आदमी थे। बेटे को जंगलात के सींग़ा में एक अच्छी जगह दिला दी और आषाढ़ के महीना में जब कि आसमान बादलों से सियाह और

ज़मीन पानी से लबरेज़ थी, उसे तराई में जाना पड़ा। आबादी से सैकड़ों मील दूर, जहाँ महीने में मुश्किल से चार मर्तबा ही डाक पहुँच सकती थी। तनख़्वाह माकूल और अख़्तियारात वसीह थे। कुछ दिनों तक तो वह बहुत घबराया और गोविंदराम की सोहबतों को याद करके वह कई बार रोया। न कोई सोसाइटी, न कोई मुरब्बी (दोस्त), तमाम दिन एक जंगली मुक़ाम में मक़ीद (क़ैद) रहना पड़ता, मगर बाला आख़िर कारगुज़ारी की ख़्वाईश और तरक़्क़ी की उम्मीद और दुनिया की तरग़ीबात (प्रेरणा), दोस्ती और मुआफ़क़त (अनुकूल बातें) की दिलगुदाज़ ज़ज़्बात (मन को आकर्षित करने वाली भावनाएँ) पर ग़ालिब (अधिकार) आ गई। दोस्तों की याद और रफ़ीक़ी की दिलजोइयाँ फ़रामोश (विस्मृत) हो गईं। दिल में लज़्जते-दर्द का ज़ौक बाक़ी न रहा और दुनियावी आम अख़्राज़ (दैनिक व्यय) की आख़िरी क़िस्त वसूल कर ली।

मगर गोविंदराम की ज़िंदगी का रास्ता ऐसा हमवार (समतल) न था। ऐसा कोई सींग़ा (विभाग) न था, जहाँ उसने मुलाज़मत (नौकरी) के लिए दस्ते-सवाल (हाथ फैलाना, प्रार्थना-पत्र) न फैलाया हो। महीनों उसका यही काम था कि सुबह को अहक़ाम (अधिकारियों) के बँगलों पर हाज़िरी देता। दिन-भर सरकारी दफ़्तरों के चक्कर लगाता, शाम को मायूस और मरमूम (दुःखित) मुँह लपेटकर पड़ा रहता। न कोई वसीला (आधार) था, न कोई सिफ़ारिश। कॉलेज की आला तालीम ने मिजाज़ में ख़ुद्दारी (आत्म-गौरव, स्वाभिमान) का वह अहसास पैदा कर दिया था, जो उसकी मौजूदा हैसियत में ऊँचा था। इसलिए जब उसे रूखे और दिलशिकन अल्फ़ाज़ में इंकार में जवाब मिलते, या अपनी ज़मीर का ख़ून करके दूसरों की तारीफ़ में रत्बुल्लिसान (प्रशंसक, ख़ुशामद) होना पड़ता तो उसकी रूह को बहुत सदमा होता।

कभी-कभी उसे लक्ष्मीदत्त पर रश्क आता—"मैं उससे किस बात में कम था? मेरी मदद से ही उसने डिग्री पाई, मगर वह तीन सौ रुपए माहवार का अफ़सर है, और मैं तीन रुपए की गुलामी के लिए ठोकरें खाता फिरता हूँ। रसूख और अहकाम के मुक़ाबले में लियाक़त की यह गुलामी?"

एक बार सख़्त मायूसी के आलम में उसने ललिता से इन्हीं अल्फ़ाज में अपनी तक़दीर का शिकवा किया, मगर ललिता ने उसकी तरफ़ कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि गोविंदराम पर घड़ों पानी पड़ गया। मारे नदामत (शर्म) के सर न उठा सका। आख़िर तीन महीने की दौड़-धूप के बाद एक मदरसा में उसे पचास रुपए की जगह मिल गई।

2

गोविंदराम ने यह खिलअत (बख़्शीश) बहुत ख़ुशी से मंजूर की। फूला न समाया, गोया कोई दफ़ीना (ख़ज़ाना) हाथ आ गया। तक़दीर को सलवातों (गालियों, कोसने) से

नजात मिली, मगर बहुत थोड़े दिनों के लिए। खड़े होने की जगह पाई थी, बैठने की फ़िक्र हुई। तमन्नाओं ने पाँव फैलाया, नौजवान आदमी था, दिल में उमंग मौजूद थी, क़ानून का इम्तिहान देने का इरादा मुसम्मम (पक्का) हो गया, मगर कलील तनख़्वाह (कम वेतन), उसमें क़ानूनी फ़ीस और किताबों का खर्च निकालकर ख़ांगी मुसारफ़ (घरेलू ख़र्च) के लिए इतनी बचत न होती कि आए दिन की उलझनों से छूटे। यह क़ानून का जोश यहाँ तक बढ़ा कि कभी-कभी उसमें फ़रायज़े-मनसबी (करणीय कर्त्तव्य) में हर्ज़ वाक़ा होता। एक बार हेडमास्टर साहब बरहम (क्रोधित) भी हुए, मगर गोविंदराम वक़ालत का ख़्वाब देख रहा था। उसने हेडमास्टर की कुछ परवा न की, बल्कि उनके कमरे में से गाता हुआ निकला और बाहर आकर दूसरे मास्टरों में डींग मारने लगा—"अजी, हमें कौन-सी हमेशा गुलामी करनी है। यहाँ तो चंद दिनों के और मेहमान हैं, फिर तो इस मदरसे में आग लगा दूँगा। चार घंटे का नौकर हूँ, कुछ काम का ठेका नहीं लिया है। तर्जुमा की कॉपियाँ घर पर नहीं ले जा सकता। मदरसा का काम मदरसा में होगा। ख़्वाह, किसी को बुरा लगे या भला। चेखुश मेरा तो कॉपियाँ देखते ही जी भर गया है।"

मास्टरों ने बढ़ावा दिया—"शेर है, शेर। इसका नाम जवाँमर्दी (शूरता) है।" मगर जब कनकइयों में देखा कि हेडमास्टर साहब आ रहे हैं, तो मैदान साफ़ हो गया।

तीन साल गोविंदराम ने यूँ ही काढ़े, मगर इन्हीं दिनों में उसे सबसे बड़ा जो तजुर्बा हुआ, वह यह था कि दुविधा में न माया मिलती है न राम। वह यकसोई (एकाग्रता), जोश, जबाँमर्दी, जो कामयाबी का राज-मंत्र है, किसी-न-किसी वजह से मुझमें बक़द्रे ज़रूरत मौजूद नहीं। आए दिन ऐसी फ़िक्रें पैदा होती रहती थीं, जो इत्मिनाने क़ल्ब (मन की शांति) के मुनाफ़ी (विरोधी) हैं। उसकी आँखों के सामने ऐसी कितनी ही ज़िंदा मिसालें मौजूद थीं, जिन्होंने सिलसिलाए-मुदर्रस (अध्यापन कार्य्य) को वक़ालत का जीना बनाया था। यह कोई अनहोनी बात न थी। जोश में आकर वह दो-चार दिन ग़ैर-मामूली मेहनत से काम करता मगर फ़िर जोश कमज़ोर हो जाता। हौसला बुलंद मज़बूत इरादे के बग़ैर बुढ़ापे का ही इश्क है। जब किताब खोलकर बैठता तो उसका दिमाग़ मुतालहा (अध्ययन) के मुक़ाबले में वक़ालत की बरकतों के ख़्याल से ज़्यादा खुश होता। यह मकान मसमार (ध्वस्त) कर दूँगा, इस जगह एक आलीशान मकान बनाऊँगा। उसका नक़्शा उसकी निगाहों में खिंचा हुआ था। कई बार वह सचमुच पेंसिल और काग़ज़ लेकर मजूज़ा (विचारणीय) मकान का नक़्शा बनाने लगता। ऐसा मकान हो कि हर एक मौसम में आराम मिले, मेहमान आएँ तो उन्हें आसाइश (आराम) के साथ ठहराया जा सके। इस तरह ख्याली क़िले बनाने में उसका वक़्त सर्फ़ हो जाता है और मदरसा का वक़्त आ पहुँचता।

यह तीन साल तपस्या के दिन थे। ललिता को घर का सब काम-काज अपने ही हाथों करना पड़ता, पर चूड़ियाँ बहुत टूटतीं और उसकी चूड़ियों का हफ़्तावार खर्च

भी तनख्वाह से कुछ ज़्यादा ही हो जाता था। गोविंदराम मुँह अँधेरे उठता और पानी की कलसी खींच लाता। रोटी खाते-खाते और मोटे कपड़े पहनते, मगर मोटेपन का जिस्म पर उलटा असर होता था। कभी-कभी ख़ासकर त्योहारों के दिन ललिता झुँझला उठती और अपना गुस्सा अपनी क़िस्मत पर उतारती, क्योंकि इससे ज़्यादा कमज़ोर उसे और कोई चीज़ नज़र न आती थी। यूँ ही ललिता काम करती, गाढ़ा पहनती और ज़रा भी मन न मैला होता, मगर अपनी सुबुकी (अपमान, लज्जा) उससे ज़रा भी बरदाश्त न हो सकती थी। एक बार उसने अपनी पड़ोसिन से कुछ दुपट्टे कर्ज़ लिए, तनख़्वाह का वायदा था, मगर गोविंदराम ने ज़िद्द की कि मुझे क़ानून की चंद क़िताबें मँगानी ज़रूरी हैं। मुबाहसा (वाद-विवाद) शुरू हुआ और हस्बेमामूल (पूर्ववत्) क़ानून ने हक पर फ़तह पाई। ललिता का वायदा झूठा पड़ गया, फिर क्या था? लड़ाई शुरू हो गई, मगर खुले मैदान में नहीं। ललिता ने मुक़ाविला मज़्हूल (काहिली) को ज़्यादा कारगर समझा, जो दौरे-जदीद (आधुनिक युग) की वेहतरीन हर्बी-ईजाद (लड़ाई का आविष्कार) है।

तीन दिन घर में आग न जली और पड़ोसियों ने यह फ़ैसला किया कि आजकल लौज़ियात (बादामों) पर बसर हो रही है। ऐसे भी लोगों के नसीब में इफ़्लास (कंगाली) अपने असली रूप में उबर (उतर) कर आया, मगर फ़राग़त (फ़ुर्सत, खुशहाली) का भेस बदलकर। वह बड़ा जालिम और वेरहम होता है।

('हमदर्द', उर्दू साप्ताहिक, 17 जुलाई, 1913)
('प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'-1, 1988,
उर्दू से संपादक द्वारा हिंदी में लिप्यंतर एवं वहीं से प्रस्तुत)
(प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ, 2005)

अँधेर

1

नागपंचमी आई। साठे के ज़िंदादिल नौजवानों ने रंग-बिरंगे जाँघिए बनवाए। अखाड़े में ढोल की मर्दाना सदाएँ गूँजने लगीं। आसपास के पहलवान इकट्ठे हुए और अखाड़े पर तंबोलियों ने अपनी दुकानें सजाईं, क्योंकि आज कुश्ती और दोस्ताना मुक़ाबिले का दिन है। औरतों ने गोबर से अपने आँगन लीपे और गाती-बजाती कटोरों में दूध-चावल लिए नाग पूजने चलीं।

साठे और पाठे दो लगे हुए मौज़े थे। दोनों गंगा के किनारे। खेती में ज़्यादा मशक्कत नहीं करनी पड़ती थी इसलिए आपस में फ़ौजदारियाँ ख़ूब होती थीं। आदिकाल से उनके बीच होड़ चली आती थी। साठेवालों को यह घमंड था कि उन्होंने पाठेवालों को कभी सिर न उठाने दिया। उसी तरह पाठेवाले अपने प्रतिद्वंद्वियों को नीचा दिखलाना ही ज़िंदगी का सबसे बड़ा काम समझते थे। उनका इतिहास विजयों की कहानियों से भरा हुआ था। पाठे के चरवाहे यह गीत गाते हुए चलते थे—

साठेवाले कायर सगरे पाठेवाले हैं सरदार।

और साठे के धोबी गाते—

साठेवाले साठ हाथ के जिनके हाथ सदा तरवार।
उन लोगन के जनम नसाये जिन पाठे मान लीन अवतार।

ग़रज़ आपसी होड़ का यह जोश बच्चों में माँ के दूध के साथ दाख़िल होता था और उसके प्रदर्शन का सबसे अच्छा और ऐतिहासिक मौक़ा यही नागपंचमी का दिन था। इस दिन के लिए साल-भर तैयारियाँ होती रहती थीं। आज उनमें मार्के की कुश्ती होनेवाली थी। साठे को गोपाल पर नाज़ था, पाठे को बलदेव का ग़र्रा। दोनों सूरमा अपने-अपने फ़रीक़ की दुआएँ और आरज़ुएँ लिए हुए अखाड़े में उतरे। तमाशाइयों पर चुंबक का-सा असर हुआ। मौज़े के चौकीदारों ने लट्ठ और डंडों का यह जमघट देखा

और मर्दों की अंगारे की तरह लाल आँखें तो पिछले अनुभव के आधार पर बेपता हो गए। इधर अखाड़े में दाँव-पेंच होते रहे। बलदेव उलझता था, गोपाल पैंतरे बदलता था। उसे अपनी ताक़त का ज़ोम था, इसे अपने करतब का भरोसा। कुछ देर तक अखाड़े से ताल ठोंकने की आवाज़ें आती रहीं, तब यकायक बहुत से आदमी ख़ुशी के नारे मार-मार उछलने लगे, कपड़े और बर्तन और पैसे और बताशे लुटाए जाने लगे। किसी ने अपना पुराना साफा फेंका, किसी ने अपनी बोसीदा टोपी हवा में उड़ा दी। साठे के मनचले जवान अखाड़े में पिल पड़े और गोपाल को गोद में उठा लाए। बलदेव और उसके साथियों ने गोपाल को लहू की आँखों से देखा और दाँत पीसकर रह गए।

2

दस बजे रात का वक़्त और सावन का महीना। आसमान पर काली घटाएँ छाई हुई थीं। अँधेरे का यह हाल था कि जैसे रोशनी का अस्तित्व ही नहीं रहा। कभी-कभी बिजली चमकती थी, मगर अँधेरे को और ज़्यादा अँधेरा करने के लिए। मेढकों की आवाज़ें ज़िंदगी का पता देती थीं, वर्ना चारों तरफ़ मौत थी। ख़ामोश, डरावने और गंभीर साठे के झोंपड़े और मकान इस अँधेरे में बहुत ग़ौर से देखने पर काली-काली भेड़ों की तरह नज़र आते थे। न बच्चे रोते थे, न औरतें गाती थीं। पवित्रात्मा बुड्ढे राम नाम न जपते थे।

मगर आबादी से बहुत दूर कई पुरशोर नालों की ढाक के जंगलों से गुज़रकर ज्वार और बाजरे के खेत थे और उनकी मेड़ों पर साठे किसान जगह-जगह मड़ैया डाले खेतों की रखवाली कर रहे थे। तले ज़मीन, ऊपर अँधेरा, मीलों तक सन्नाटा छाया हुआ। कहीं जंगली सुअरों के गोल, कहीं नीलगायों के रेवड़, चिलम के सिवा कोई साथी नहीं, आग के सिवा कोई मददगार नहीं। ज़रा खटका हुआ और चौंक पड़े। अँधेरा भय का दूसरा नाम है, जब मिट्टी का ढेर, एक ठूँठ पेड़ और घास का एक ढेर भी जानदार चीज़ें बन जाती हैं। अँधेरा उनमें जान डाल देता है। लेकिन यह मज़बूत हाथोंवाले, मज़बूत जिगरवाले, मज़बूत इरादेवाले किसान हैं कि यह सब सख़्तियाँ झेलते हैं, ताकि अपने ज़्यादा भाग्यशाली भाइयों के लिए भोग-विलास के सामान तैयार करें। इन्हीं रखवालों में आज का हीरो, साठे का गौरव गोपाल भी है जो अपनी मड़ैया में बैठा हुआ है और नींद को भगाने के लिए धीमे सुरों में यह गीत गा रहा है–

मैं तो तोसे नैना लगाय पछतायी रे।

अचानक उसे किसी के पाँव की आहट मालूम हुई। जैसे हिरन कुत्तों की आवाज़ों को कान लगाकर सुनता है, उसी तरह गोपाल ने भी कान लगाकर सुना।

नींद की औंघाई दूर हो गई। लट्ठ कंधे पर रक्खा और मड़ैया से बाहर निकल आया। चारों तरफ़ कालिमा छाई हुई थी और हलकी-हलकी बूँदें पड़ रही थीं। वह बाहर निकला ही था कि उसके सर पर लाठी का भरपूर हाथ पड़ा। वह त्योराकर गिरा और रात-भर वहीं बेसुध पड़ा रहा। मालूम नहीं उस पर कितनी चोटें पड़ीं। हमला करनेवालों ने तो अपनी समझ में उसका काम तमाम कर डाला, लेकिन ज़िंदगी बाक़ी थी। यह पाठे के ग़ैरतमंद लोग थे, जिन्होंने अँधेरे की आड़ में अपनी हार का बदला लिया था।

3

गोपाल जाति का अहीर था, न पढ़ा न लिखा, बिलकुल अक्खड़। दिमाग़ रौशन ही नहीं हुआ तो शरीर का दीपक क्यों घुलता। पूरे छः फुट का क़द, गठा हुआ बदन, ललकारकर गाता तो सुननेवाले मील-भर पर बैठे हुए उसकी तानों का मज़ा लेते। गाने-बजाने का आशिक़, होली के दिनों में महीने-भर तक गाता, सावन में मलार और भजन तो रोज़ का शग़ल था। निडर ऐसा कि भूत और पिशाच के अस्तित्व पर उसे विद्वानों जैसे संदेह थे। लेकिन जिस तरह शेर और चीते भी लाल लपटों से डरते हैं उसी तरह लाल पगड़ी से उसकी रूह काँपने लगती थी। अगरचे साठे के एक हिम्मती सूरमा के लिए यह बेमतलब डर असाधारण बात थी, लेकिन उसका कुछ बस न था। सिपाही की वह डरावनी तस्वीर जो बचपन में उसके दिल पर खींची गई थी, पत्थर की लकीर बन गई थी। शरारतें गईं, बचपन गया, मिठाई की भूख गई, लेकिन सिपाही की तस्वीर अभी तक क़ायम थी। आज उसके दरवाज़े पर लाल पगड़ीवालों की एक फ़ौज जमा थी लेकिन गोपाल ज़ख़्मों से चूर, दर्द से बेचैन होने पर भी अपने मकान के एक अँधेरे कोने में छिपा हुआ बैठा था। नंबरदार और मुखिया, पटवारी और चौकीदार रोब खाये हुए ढंग से खड़े दारोग़ा की ख़ुशामद कर रहे थे। कहीं अहीर की फ़रियाद सुनाई देती थी, कहीं मोदी का रोना-धोना, कहीं तेली की चीख-पुकार, कहीं क़साई की आँखों से लहू जारी। कलवार खड़ा अपनी क़िस्मत को रो रहा था। फोहश और गंदी बातों की गर्मबाज़ारी थी। दारोग़ाजी निहायत कारगुज़ार अफ़सर थे, गालियों में बात करते थे। सुबह को चारपाई से उठते ही गालियों का वज़ीफा पढ़ते थे। मेहतर ने आकर फ़रियाद की—हजूर, अंडे नहीं हैं। दारोग़ा जी हप्टर लेकर दौड़े और उस ग़रीब का भुरकुस निकाल दिया। सारे गाँव में हलचल पड़ी हुई थी। कानिस्टिबिल और चौकीदार रास्तों पर यों अकड़ते चलते थे, गोया अपनी ससुराल में आए हैं। जब गाँव के सारे आदमी आ गए तो दारोग़ा जी ने अफ़सरी शान से फरमाया—"मौजे में ऐसी संगीन वारदात हुई और इस कम्बख़्त गोपाल ने रपट तक न की।"

मुखिया साहब बेंद की तरह काँपते हुए बोले—"हजूर, अब माफ़ी दी जाए।"

दारोग़ा जी ने ग़ज़बनाक निगाहों से उसकी तरफ़ देखकर कहा—"यह उसकी शरारत है। दुनिया जानती है कि जुर्म को छुपाना जुर्म करने के बराबर है। मैं इस बदमाश को इसका मज़ा चखा दूँगा। वह अपनी ताक़त के ज़ोम में भूला है और कोई बात नहीं। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।"

मुखिया साहब ने सिर झुकाकर कहा—"हजूर, अब माफ़ी दी जाए।"

दारोग़ा जी की त्योरियाँ चढ़ गईं और झुँझलाकर बोले—"अरे हजूर के बच्चे, कुछ सठिया तो नहीं गया है। अगर इसी तरह माफ़ी देनी होती तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा था कि यहाँ तक दौड़ा आता। न कोई मामला, न मामले की बात, बस माफ़ी की रट लगा रक्खी है। मुझे ज़्यादा फुरसत नहीं है। मैं नमाज़ पढ़ता हूँ, तब तक तुम अपना सलाह-मशविरा कर लो और मुझे हँसी-ख़ुशी रुख़सत करो, वर्ना ग़ौसखाँ को जानते हो, उसका मारा पानी भी नहीं माँगता!"

दारोग़ा तक़वे व तहारत के बड़े पाबंद थे। पाँचों वक़्त की नमाज़ पढ़ते और तीसों रोज़े रखते, ईदों में धूमधाम से क़ुर्बानियाँ होतीं। इससे अच्छा आचरण किसी आदमी में और क्या हो सकता है!

4

मुखिया साहब दबे पाँव गुपचुप ढंग से गौरा के पास आए और बोले—"यह दारोग़ा बड़ा काफ़िर है, पचास से नीचे तो बात ही नहीं करता। अव्वल दर्जे का थानेदार है। मैंने बहुत कहा, हजूर ग़रीब आदमी है, घर में कुछ सुभीता नहीं मगर वह एक नहीं सुनता।"

गौरा ने घूँघट में मुँह छिपाकर कहा—"दादा, उनकी जान बच जाए, कोई तरह की आँच न आने पाए, रुपए-पैसे की कौन बात है, इसी दिन के लिए तो कमाया जाता है।"

गोपाल खाट पर पड़ा यह सब बातें सुन रहा था। अब उससे न रहा गया। लकड़ी गाँठ ही पर टूटती है। जो गुनाह किया नहीं गया वह दबता है मगर कुचला नहीं जा सकता। वह जोश से उठ बैठा और बोला—"पचास रुपए की कौन कहे, मैं पचीस कौड़ियाँ भी न दूँगा। कोई गदर है, मैंने कसूर क्या किया है?"

मुखिया का चेहरा फ़क़ हो गया। बड़प्पन के स्वर में बोले—"धीरे बोलो, कहीं सुन ले तो गजब हो जाए।"

लेकिन गोपाल बिफरा हुआ था, अकड़कर बोला—"मैं एक कौड़ी भी न दूँगा। देखें कौन मेरे फाँसी लगा देता है।"

गौरा ने बहलाने के स्वर में कहा—"अच्छा, जब मैं तुमसे रुपए माँगू तो मत देना।" यह कहकर गौरा ने, जो इस वक़्त लौंडी के बजाय रानी बनी हुई थी, छप्पर के एक कोने में से रुपयों की एक पोटली निकाली और मुखिया के हाथ में रख दी। गोपाल दाँत पीसकर उठा, लेकिन मुखिया साहब फ़ौरन से पहले सरक गए। दारोग़ा जी ने गोपाल की बातें सुन ली थीं और दुआ कर रहे थे कि ऐ ख़ुदा, इस मदूद के दिल को पलट। इतने में मुखिया ने बाहर आकर पचीस रुपए की पोटली दिखाई। पचीस रास्ते में ही ग़ायब हो गए थे। दारोग़ा जी ने ख़ुदा का शुक्र किया। दुआ सुनी गई। रुपया जेब में रक्खा और रसद पहुँचानेवालों की भीड़ को रोते और बिलबिलाते छोड़कर हवा हो गए। मोदी का गला घुट गया। क़साई के गले पर छुरी फिर गई। तेली पिस गया। मुखिया साहब ने गोपाल की गर्दन पर एहसान रक्खा गोया रसद के दाम गिरह से दिए। गाँव में सुर्खरू हो गया, प्रतिष्ठा बढ़ गई। इधर गोपाल ने गौरा की ख़ूब ख़बर ली। गाँव में रात-भर यही चर्चा रही। गोपाल बहुत बचा और इसका सेहरा मुखिया के सिर था। बड़ी विपत्ति आई थी। वह टल गई। पितरों ने, दीवान हरदौल ने, नीम तलेवाली देवी ने, तालाब के किनारेवाली सती ने गोपाल की रक्षा की। यह उन्हीं का प्रताप था। देवी की पूजा होनी ज़रूरी थी। सत्यनारायण की कथा भी लाज़िमी हो गई।

5

फिर सुबह हुई लेकिन गोपाल के दरवाज़े पर आज लाल पगड़ियों के बजाय लाल साड़ियों का जमघट था। गौरा आज देवी की पूजा करने जाती थी और गाँव की औरतें उसका साथ देने आई थीं। उसका घर सोंधी-सोंधी मिट्टी की ख़ुशबू से महक रहा था जो ख़स और गुलाब से कम मोहक न थी। औरतें सुहाने गीत गा रही थीं। बच्चे ख़ुश होकर दौड़ते थे। देवी के चबूतरे पर उसने मिट्टी का हाथी चढ़ाया। सती की माँग में सेंदुर डाला। दीवान साहब को बताशे और हलुआ खिलाया। हनुमान जी को लड्डू से ज़्यादा प्रेम है, उन्हें लड्डू चढ़ाए। तब गाती-बजाती घर को आई और सत्यनारायण की कथा की तैयारियाँ होनें लगीं। मालिन फूल के हार, केले की शाख़ें और बंदनवारें लाई। कुम्हार नए-नए दिए और हाँड़िया दे गया। बारी हरे ढाक के पत्तल और दोने रख गया। कहार ने आकर मटकों में पानी भरा। बढ़ई ने आकर गोपाल और गौरा के लिए दो नई-नई पीढ़ियाँ बनाईं। नाइन ने आँगन लीपा और चौक बनाई। दरवाज़े पर बंदनवारे बँध गईं। आँगन में केले की शाखें गड़ गईं। पंडित जी के लिए सिंहासन सज गया। आपस के कामों की व्यवस्था खुद-ब-खुद अपने निश्चित दायरे पर चलने लगी। यही व्यवस्था संस्कृति है जिसने देहात की ज़िंदगी को आडम्बर की ओर से उदासीन

बना रक्खा है, लेकिन अफ़सोस है कि अब ऊँच-नीच की बेमतलब और बेहूदा क़ैदों ने इन आपसी कर्तव्यों को सौहार्द्र सहयोग के पद से हटा कर उन पर अपमान और नीचता का दाग़ लगा दिया है।

शाम हुई। पंडित मोटेराम जी ने कंधे पर झोली डाली, हाथ में शंख लिया और खड़ाऊँ पर खटपट करते गोपाल के घर आ पहुँचे। आँगन में टाट बिछा हुआ था। गाँव के प्रतिष्ठित लोग कथा सुनने के लिए आ बैठे। घंटी बजी, शंख फूँका गया और कथा शुरू हुई। गोपाल भी गाढ़े की चादर ओढ़े एक कोने में दीवार के सहारे बैठा हुआ था। मुखिया, नंबरदार और पटवारी ने मारे हमदर्दी के उससे कहा—"सत्यनारायण की महिमा थी कि तुम पर कोई आँच न आई!"

गोपाल ने अँगड़ाई लेकर कहा—"सत्यनारायण की महिमा नहीं, यह अँधेर है।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1913)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

सिर्फ़ एक आवाज़

1

सुबह का वक़्त था। ठाकुर दर्शनसिंह के घर में एक हंगामा बरपा था। आज रात को चंद्रग्रहण होनेवाला था। ठाकुर साहब अपनी बूढ़ी ठकुराइन के साथ गंगाजी जाते थे, इसलिए सारा घर उनकी पुरशोर तैयारी में लगा हुआ था। एक बहू उनका फटा हुआ कुर्ता टाँक रही थी, दूसरी बहू उनकी पगड़ी लिए सोचती थी कि कैसे इसकी मरम्मत करूँ। दोनों लड़कियाँ नाश्ता तैयार करने में तल्लीन थीं, जो ज़्यादा दिलचस्प काम था और बच्चों ने अपनी आदत के अनुसार एक कुहराम मचा रक्खा था, क्योंकि हर एक आने-जाने के मौक़े पर उनका रोने का जोश उमंग पर होता था। जाने के वक़्त साथ जाने के लिए रोते, आने के वक़्त इसलिए रोते कि शीरीनी का बाँट-बखरा मनोनुकूल नहीं हुआ। बूढ़ी ठकुराइन बच्चों को फुसलाती थीं और बीच-बीच में अपनी बहुओं को समझाती थीं—"देखो ख़बरदार! जब तक उग्रह न हो जाए, घर से बाहर न निकलना। हँसिया, छुरी, कुल्हाड़ी, इन्हें हाथ से मत छूना। समझाए देती हूँ, मानना चाहे न मानना। तुम्हें मेरी बात की कौन परवाह है। मुँह में पानी की बूँद न पड़े। नारायण के घर विपत पड़ी है। जो साधू-भिखारी दरवाज़े पर आ जाए, उसे फेरना मत।" बहुओं ने सुना और नहीं सुना। वे मना रही थीं कि किसी तरह यह यहाँ से टलें। फागुन का महीना है, गाने को तरस गए। आज ख़ूब गाना-बजाना होगा।

ठाकुर साहब थे तो बूढ़े, लेकिन बुढ़ापे का असर दिल तक नहीं पहुँचा था। उन्हें इस बात का गर्व था कि कोई ग्रहण गंगा-स्नान के बग़ैर नहीं छूटा। उनका ज्ञान आश्चर्यजनक था। सिर्फ़ पत्रों को देखकर महीनों पहले सूर्य्य-ग्रहण और दूसरे पर्वों के दिन बता देते थे। इसलिए गाँववालों की निगाह में उनकी इज़्ज़त अगर पंडितों से ज़्यादा न थी तो कम भी न थी। जवानी में कुछ दिनों फ़ौज में नौकरी भी की थी। उसकी गर्मी अब तक बाक़ी थी, मज़ाल न थी कि कोई उनकी तरफ़ सीधी आँख से देख सके। सम्मन लानेवाले एक चपरासी को ऐसी व्यावहारिक चेतावनी दी थी जिसका उदाहरण आस-पास क़े दस-पाँच गाँव में भी नहीं मिल सकता। हिम्मत और

हौसले के कामों में अब भी आगे-आगे रहते थे। किसी काम को मुश्किल बता देना, उनकी हिम्मत को प्रेरित कर देना था। जहाँ सब की ज़बानें बंद हो जाएँ, वहाँ वे शेरों की तरह गरजते थे। जब कभी गाँव में दारोग़ाजी तशरीफ़ लाते तो ठाकुर साहब ही का दिल-गुर्दा था कि उनसे आँखें मिलाकर आमने-सामने बात कर सकें। ज्ञान की बातों को लेकर छिड़नेवाली बहसों के मैदान में भी उनके कारनामे कुछ कम शानदार न थे। झगड़ा पंडित हमेशा उनसे मुँह छिपाया करते। ग़रज़ ठाकुर साहब का स्वभावगत गर्व और आत्म-विश्वास उन्हें हर बरात में दूल्हा बनने पर मज़बूर कर देता था। हाँ, कमज़ोरी इतनी थी कि अपना आल्हा भी आप ही गा लेते और मज़े ले-ले कर, क्योंकि रचना को रचनाकार ही ख़ूब बयान करता है!

2

जब दोपहर होते-होते ठाकुर और ठकुराइन गाँव से चले तो सैकड़ों आदमी उनके साथ थे और पक्की सड़क पर पहुँचे, तो यात्रियों का ऐसा ताँता लगा हुआ था कि जैसे कोई बाज़ार है। ऐसे-ऐसे बूढ़े लाठियाँ टेकते या डोलियों पर सवार चले जाते थे, जिन्हें तकलीफ़ देने की यमराज ने भी कोई ज़रूरत न समझी थी। अंधे दूसरों की लकड़ी के सहारे क़दम बढ़ाए आते थे। कुछ आदमियों ने अपनी बूढ़ी माताओं को पीठ पर लाद लिया था। किसी के सर पर कपड़ों की पोटली, किसी के कंधे पर लोटा-डोर, किसी के कंधे पर काँवर। कितने ही आदमियों ने पैरों पर चीथड़े लपेट लिए थे, जूते कहाँ से लाएँ। मगर धार्मिक उत्साह का यह वरदान था कि मन किसी का मैला न था। सब के चेहरे खिले हुए, हँसते-हँसते बातें करते चले जा रहे थे। कुछ औरतें गा रही थीं—

चाँद सुरज दूनो लोक के मालिक
एक दिना उनहूँ पर बनती
हम जानी हमहीं पर बनती।

ऐसा मालूम होता था, यह आदमियों की एक नदी थी, जो सैकड़ों छोटे-छोटे नालों और धारों को लेती हुई समुद्र से मिलने के लिए जा रही थी।

जब यह लोग गंगा के किनारे पहुँचे तो तीसरे पहर का वक़्त था, लेकिन मीलों तक कहीं तिल रखने की जगह न थी। इस शानदार दृश्य से दिलों पर ऐसा रोब और भक्ति का ऐसा भाव छा जाता था कि बरबस 'गंगा माता की जय' की सदाएँ बुलंद हो जाती थीं। लोगों के विश्वास उसी नदी की तरह उमड़े हुए थे और वह नदी लहराता हुआ नीला मैदान! वह प्यासों की प्यास बुझानेवाली! वह निराशों की आशा! वह वरदानों की देवी! वह पवित्रता का स्रोत! वह मुट्ठी-भर ख़ाक को आश्रय देनेवाली

गंगा हँसती-मुस्कराती थी और उछलती थी। क्या इसलिए कि आज वह अपनी चौतरफ़ा इज़्ज़त पर फूली न समाती थी, या इसलिए कि वह उछल-उछलकर अपने प्रेमियों से गले मिलना चाहती थी जो उसके दर्शनों के लिए मंजिलें तय करके आए थे और उसके परिधान की प्रशंसा किस ज़बान से हो, जिस पर सूरज ने चमकते हुए तारे टाँके थे और जिसके किनारों को उसकी किरणों ने रंग-बिरंगे, सुंदर और गतिशील फूलों से सजाया था।

अभी ग्रहण लगने में घंटों की देर थी। लोग इधर-उधर टहल रहे थे। कहीं मदारियों के खेल थे, कहीं चूरनवाले की लच्छेदार बातों के चमत्कार। कुछ लोग मेढ़ों की कुश्ती देखने के लिए जमा थे। ठाकुर साहब भी अपने कुछ भक्तों के साथ सैर को निकले। उनकी हिम्मत ने गवारा न किया कि इन बाज़ारू दिलचस्पियों में शरीक हों। यकायक उन्हें एक बड़ा-सा शामियाना तना हुआ नज़र आया, जहाँ ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोगों की भीड़ थी। ठाकुर साहब ने अपने साथियों को एक किनारे खड़ा कर दिया और खुद बड़े गर्व से ताकते हुए फ़र्श पर जा बैठे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि यहाँ उन पर देहातियों की ईर्ष्या-दृष्टि पड़ेगी और संभव है कि कुछ ऐसी बारीक बातें भी मालूम हो जाएँ जो उनके भक्तों को उनकी सर्वज्ञता का विश्वास दिलाने में काम दे सकें।

यह एक नैतिक अनुष्ठान था। दो-ढाई हज़ार आदमी बैठे हुए एक मधुरभाषी वक्ता का भाषण सुन रहे थे। फ़ैशनेबुल लोग ज़्यादातर अगली पंक्तियों में बैठे हुए थे, जिन्हें कनबतियों का इससे अच्छा मौक़ा नहीं मिल सकता था! कितने ही अच्छे कपड़े पहने हुए लोग इसलिए दुःखी नज़र आते थे कि उनकी बग़ल में निम्न श्रेणी के लोग बैठे हुए थे। भाषण दिलचस्प मालूम पड़ता था। वज़न ज़्यादा था और चटखारे कम, इसलिए तालियाँ नहीं बजती थीं।

3

वक्ता ने अपने भाषण में कहा—

मेरे प्यारे दोस्तो, यह हमारा और आपका कर्तव्य है। इससे ज़्यादा महत्वपूर्ण, ज़्यादा परिणामदायक और क़ौम के लिए ज़्यादा शुभ और कोई कर्तव्य नहीं है। हम मानते हैं कि उनके आचार-व्यवहार की दशा अत्यंत करुण है। मगर विश्वास मानिए यह सब हमारी करनी है। उनकी इस लज्जाजनक सांस्कृतिक स्थिति का ज़िम्मेदार हमारे सिवा और कौन हो सकता है? अब इसके सिवा इसका और कोई इलाज नहीं है कि हम उस घृणा और उपेक्षा को, जो उनकी तरफ़ से हमारे दिलों में बैठी हुई है, धोएँ और ख़ूब मलकर धोएँ। यह आसान काम नहीं है। जो कालिख कई हज़ार वर्षों

से जमी हुई है, वह आसानी से नहीं मिट सकती। जिन लोगों की छाया से हम बचते आए हैं, जिन्हें हमने जानवरों से भी ज़लील समझ रक्खा है, उनसे गले मिलने में हमको त्याग और साहस और परमार्थ से काम लेना पड़ेगा। उस त्याग से जो कृष्ण में था, उस हिम्मत से जो राम में थी, उस परमार्थ से जो चैतन्य और गोविंद में था। मैं यह नहीं कहता कि आप आज ही उनसे शादी के रिश्ते जोड़ें या उनके साथ बैठकर खाएँ-पिएँ। मगर क्या यह भी मुमकिन नहीं है कि आप उनके साथ सामान्य सहानुभूति, सामान्य मनुष्यता, सामान्य सदाचार से पेश आएँ? क्या यह सचमुच असंभव बात है? आपने कभी ईसाई मिशनरियों को देखा है? आह, जब मैं एक उच्चकोटि की सुंदर, सुकुमार, गौरवर्ण लेडी को अपनी गोद में एक काला-कलूटा बच्चा लिए हुए देखता हूँ, जिसके बदन पर फोड़े हैं, ख़ून है और गंदगी है–वह सुंदरी उस बच्चे को चूमती है, प्यार करती है, छाती से लगाती है–तो मेरा जी चाहता है कि उस देवी के क़दमों पर सिर रख दूँ। अपनी नीचता, अपना कमीनापन, अपनी झूठी बड़ाई, अपने हृदय की संकीर्णता मुझे कभी इतनी सफ़ाई से नज़र नहीं आती। इन देवियों के लिए ज़िंदगी में क्या-क्या संपदाएँ नहीं थीं, खुशियाँ बाँहें पसारे हुए उनके इंतज़ार में खड़ी थीं। उनके लिए दौलत की सब सुख-सुविधाएँ थीं। प्रेम के आकर्षण थे। अपने आत्मीयों और स्वजनों की सहानुभूतियाँ थीं और अपनी प्यारी मातृभूमि का आकर्षण था, लेकिन इन देवियों ने उन तमाम नेमतों, उन सब सांसारिक संपदाओं को सेवा, सच्ची निःस्वार्थ सेवा पर बलिदान कर दिया है! वे ऐसी बड़ी कुर्बानियाँ कर सकती हैं, तो हम क्या इतना भी नहीं कर सकते कि अपने अछूत भाइयों से हमदर्दी का सलूक कर सकें? क्या हम सचमुच ऐसे पस्त-हिम्मत, ऐसे बोदे, ऐसे बेरहम हैं? इसे खूब समझ लीजिए कि आप उनके साथ कोई रियायत, कोई मेहरबानी नहीं कर रहे हैं। यह उन पर कोई एहसान नहीं है। यह आप ही के लिए ज़िंदगी और मौत का सवाल है। इसलिए मेरे भाइयो और दोस्तो, आइए इस मौक़े पर शाम के वक़्त पवित्र गंगा नदी के किनारे काशी के पवित्र स्थान में हम मज़बूत दिल से प्रतिज्ञा करें कि आज से हम अछूतों के साथ भाई-चारे का सलूक करेंगे, उनके तीज-त्योहार में शरीक होंगे और अपने त्योहारों में उन्हें बुलाएँगे। उनके गले मिलेंगे और उन्हें अपने गले लगाएँगे। उनकी खुशियों में खुश और उनके दर्दों में दर्दमंद होंगे, और चाहे कुछ ही क्यों न हो जाए, चाहे तानों-रिश्तों और ज़िल्लत का सामना ही क्यों न करना पड़े, हम इस प्रतिज्ञा पर क़ायम रहेंगे। आप में सैकड़ों जोशीले नौजवान हैं जो बात के धनी और इरादे के मज़बूत हैं। कौन यह प्रतिज्ञा करता है? कौन अपने नैतिक साहस का परिचय देता है? वह अपनी जगह पर खड़ा हो जाए और ललकार कर कहे कि मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ और मरते दम तक इस पर दृढ़ता से क़ायम रहूँगा।

4

सूरज गंगा की गोद में जा बैठा और माँ प्रेम और गर्व से मतवाली जोश से उमड़ी हुई, रंग में केसर को शर्माती और चमक में सोने को लजाती थी। चारों तरफ़ एक रोबीली ख़ामोशी छाई थी। उस सन्नाटे में संन्यासी की गर्मी और जोश से भरी हुई बातें गंगा की लहरों और गगनचुंबी मंदिरों में समा गईं। गंगा एक गंभीर माँ की निराशा के साथ हँसी और देवताओं ने अफ़सोस से सिर झुका लिया, मगर मुँह से कुछ न बोले।

संन्यासी की जोशीली पुकार फ़िज़ा में जाकर ग़ायब हो गई, मगर उस मजमे में किसी आदमी के दिल तक न पहुँची। वहाँ क़ौम पर जान देनेवालों की कमी न थी; स्टेजों पर क़ौमी तमाशे खेलनेवाले कॉलेजों के होनहार नौजवान, क़ौम के नाम पर मिटनेवाले पत्रकार, क़ौमी संस्थाओं के मेम्बर, सेक्रेटरी और प्रेसिडेंट, राम और कृष्ण के सामने सिर झुकानेवाले सेठ और साहूकार, क़ौमी कॉलिजों के ऊँचे हौसले वाले प्रोफ़ेसर और अख़बारों में क़ौमी तरक्कियों की ख़बरें पढ़कर खुश होनेवाले दफ़्तरों के कर्मचारी हज़ारों की तादाद में मौजूद थे। आँखों पर सुनहरी ऐनकें लगाए, मोटे-मोटे वकीलों की एक पूरी फ़ौज जमा थी, मगर संन्यासी के उस गर्म भाषण से एक दिल भी न पिघला क्योंकि वह पत्थर के दिल थे, जिनमें दर्द और घुलावट न थी, जिनमें सदिच्छा थी मगर कार्य्य-शक्ति न थी, जिनमें बच्चों की-सी इच्छा थी मगर मर्दों का-सा इरादा न था।

सारी मजलिस पर सन्नाटा छाया हुआ था। हर आदमी सिर झुकाए फ़िक्र में डूबा हुआ नज़र आता था। शर्मिंदगी किसी को सर उठाने न देती थी और आँखें झेप के मारे ज़मीन में गड़ी हुई थीं। यह वही सर हैं जो क़ौमी चर्चों पर उछल पड़ते थे, यह वही आँखें हैं जो किसी वक़्त राष्ट्रीय गौरव की लाली से भर जाती थीं। मगर कथनी और करनी में आदि और अंत का अंतर है। एक व्यक्ति को भी खड़े होने का साहस न हुआ। कैंची की तरह चलनेवाली ज़बानें भी ऐसे महान् उत्तरदायित्व के भय से बंद हो गईं।

5

ठाकुर दर्शनसिंह अपनी जगह पर बैठे हुए इस दृश्य को बहुत ग़ौर और दिलचस्पी से देख रहे थे। वे अपने धार्मिक विश्वासों में चाहे कट्टर हों या न हों, लेकिन सांस्कृतिक मामलों में वे कभी अगुअई करने के दोषी नही हुए थे। इस पेचीदा और डरावने रास्ते में उन्हें अपनी बुद्धि और विवेक पर भरोसा नहीं होता था। यहाँ तर्क और युक्ति को भी उनसे हार माननी पड़ती थी। इस मैदान में वह अपने घर की स्त्रियों की इच्छा पूरी करना ही अपना कर्तव्य समझते थे और चाहे उन्हें खुद किसी मामले में कुछ एतराज़

भी हो, लेकिन यह औरतों का मामला था और इसमें वे हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे, क्योंकि इससे परिवार की व्यवस्था में हलचल और गड़बड़ी पैदा हो जाने की ज़बरदस्त आशंका रहती थी। अगर किसी वक़्त उनके कुछ जोशीले नौजवान दोस्त इस कमज़ोरी पर उन्हें आड़े हाथों लेते तो वे बड़ी बुद्धिमत्ता से कहा करते थे—"भई, यह औरतों के मामले हैं, उनका जैसा दिल चाहता है, करती हैं। मैं बोलनेवाला कौन हूँ?" ग़रज़ यहाँ उनकी फ़ौजी गर्म-मिज़ाजी उनका साथ छोड़ देती थी। यह उनके लिए तिलिस्म की घाटी थी, जहाँ होश-हवास बिगड़ जाते थे और अंधे अनुकरण का पैर बँधी हुई गर्दन पर सवार हो जाता था।

लेकिन यह ललकार सुनकर वे अपने को क़ाबू में न रख सके। यही वह मौक़ा था, जब उनकी हिम्मतें आसमान पर जा पहुँचती थीं। जिस बीड़े को कोई न उठाए, उसे उठाना उनका काम था। वर्जनाओं से उनको आत्मिक प्रेम था। ऐसे मौक़े पर वे नतीजे और मसलहत से बग़ावत कर जाते थे और उनके इस हौसले में यश के लोभ को उतना दखल नहीं था, जितना उनके नैसर्गिक स्वभाव को। वर्ना यह असंभव था कि एक ऐसे जलसे में जहाँ ज्ञान और सभ्यता की धूमधाम थी, जहाँ सोने की ऐनकों से रोशनी और तरह-तरह के परिधानों से दीप्त चिंतन की किरणें निकल रही थीं, जहाँ कपड़े-लत्ते की नफ़ासत से रोब और मोटापे से प्रतिष्ठा की झलक आती थी, वहाँ एक देहाती किसान को ज़बान खोलने का हौसला होता। ठाकुर ने इस दृश्य को ग़ौर और दिलचस्पी से देखा। उसके पहलू में गुदगुदी-सी हुई। ज़िंदादिली का जोश रगों में दौड़ा। वह अपनी जगह से उठा और मर्दाना लहजे में ललकारकर बोला—"मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ और मरते दम तक उस पर क़ायम रहूँगा।"

6

इतना सुनना था कि दो हज़ार आँखें अचंभे से उसकी तरफ़ ताकने लगीं। सुभानअल्लाह, क्या हुलिया थी—गाढ़े की ढीली मिर्ज़ई, घुटनों तक चढ़ी हुई धोती, सर पर एक भारी-सा उलझा हुआ साफ़ा, कंधे पर चुनौटी और तंबाकू का वज़नी बटुआ, मगर चेहरे से गंभीरता और दृढ़ता स्पष्ट थी। गर्व आँखों के तंग घेरे से बाहर निकला पड़ता था। उसके दिल में अब इस शानदार मजमे की इज़्ज़त बाक़ी न रही थी। वह पुराने वक़्तों का आदमी था जो अगर पत्थर को पूजता था तो उसी पत्थर से डरता भी था, जिसके लिए एकादशी का व्रत केवल स्वास्थ्य-रक्षा की एक युक्ति और गंगा केवल स्वास्थ्यप्रद पानी की एक धारा न थी। उसके विश्वासों में जागृति न हो, लेकिन दुविधा नहीं थी। यानी कि उसकी कथनी और करनी में अंतर न था और उसकी बुनियाद कुछ अनुकरण और देखादेखी पर थी, मगर अधिकांशतः भय पर, जो ज्ञान के आलोक के बाद वृत्तियों के संस्कार की सबसे बड़ी शक्ति है। गेरुए बाने का आदर और भक्ति

करना उसके धर्म्म और विश्वास का एक अंग था। संन्यास में उसकी आत्मा को अपना अनुचर बनाने की एक सजीव शक्ति छिपी हुई थी और उस ताक़त ने अपना असर दिखाया। लेकिन मज़मे की इस हैरत ने बहुत जल्द मज़ाक़ की सूरत अख़्तियार की। मतलब-भरी निगाहें आपस में कहने लगीं—आख़िर गँवार ही तो ठहरा! देहाती है, ऐसे भाषण कभी काहे को सुने होंगे, बस उबल पड़ा। उथले गड्ढे में इतना पानी भी न समा सका! कौन नहीं जनता कि ऐसे भाषणों का उद्देश्य मनोरंजन होता है! दस आदमी आए, इक्ट्ठे बैठे, कुछ सुना, कुछ गप-शप मारी और अपने-अपने घर लौटे, न यह कि क़ौल-क़रार करने बैठें, अमल करने के लिए क़समें खाएँ!

मगर निराश संन्यासी सोच रहा था—अफ़सोस! जिस मुल्क की रोशनी में इतना अँधेरा है, वहाँ कभी रोशनी का उदय होना मुश्किल नज़र आता है। इस रोशनी पर, इस अँधेरी, मुर्दा और बेजान रोशनी पर मैं जहालत को, अज्ञान को ज़्यादा ऊँची जगह देता हूँ। अज्ञान में सफ़ाई है और हिम्मत है, उसके दिल और ज़बान में पर्दा नहीं होता, न कथनी और करनी में विरोध। क्या यह अफ़सोस की बात नहीं है कि ज्ञान अज्ञान के आगे सिर झुकाए? इस सारे मज़मे में सिर्फ़ एक आदमी है, जिसके पहलू में मर्दों का दिल है और गो उसे बहुत सजग होने का दावा नहीं, लेकिन मैं उसके अज्ञान पर ऐसी हज़ारों जागृतियों को कुर्बान कर सकता हूँ। तब वह प्लेटफॉर्म से नीचे उतरे और दर्शनसिंह को गले से लगाकर कहा—"ईश्वर तुम्हें प्रतिज्ञा पर क़ायम रक्खे।"

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अगस्त-सितंबर, 1913*)

(*'गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत*)

बाँका ज़मींदार

1

ठाकुर प्रद्युम्नसिंह एक प्रतिष्ठित वकील थे और अपने हौसले और हिम्मत के लिए सारे शहर में मशहूर। उनके दोस्त अक्सर कहा करते कि अदालत की इजलास में उनके मर्दाना कमाल ज़्यादा साफ़ तरीक़े पर ज़ाहिर हुआ करते हैं। इसी की बरकत थी कि बावजूद इसके कि उन्हें शायद ही कभी किसी मामले में सुर्ख-रूई हासिल होती थी, उनके मुवक्किलों की भक्ति-भावना में ज़र्रा भर भी फ़र्क़ नहीं आता था। इंसाफ़ की कुर्सी पर बैठनेवाले बड़े लोगों की निडर आज़ादी पर किसी प्रकार के संदेह करना पाप ही क्यों न हो, मगर शहर के जानकार लोग ऐलानिया कहते थे कि ठाकुर साहब जब किसी मामले में ज़िद पकड़ लेते हैं तो उनका बदला हुआ तेवर और तमतमाया हुआ चेहरा इंसाफ़ को भी अपने वश में कर लेता है। एक से ज़्यादा मौक़ों पर उनके जीवट और जिगरे ने वे चमत्कार कर दिखाए थे, जहाँ कि इंसाफ़ और क़ानून ने जवाब दे दिया। इसके साथ ही ठाकुर साहब मर्दाना गुणों के सच्चे जौहरी थे। अगर मुवक्किल की कुश्ती में कुछ पैठ हो तो यह ज़रूरी नहीं था कि वह उनकी सेवाएँ प्राप्त करने के लिए रुपया-पैसा दे। इसीलिए उनके यहाँ शहर के पहलवानों और फक़ैतों का हमेशा जमघट रहता था और यही ज़बर्दस्त प्रभावशाली और व्यावहारिक क़ानूनी बारीकी थी, जिसकी काट करने में इंसाफ़ को भी आगा-पीछा सोचना पड़ता। वे गर्व और सच्चे गर्व की दिल से क़द्र करते थे। उनके बेतकल्लुफ़ घर की ड्योढ़ियाँ बहुत ऊँची थीं। वहाँ झुकने की ज़रूरत न थी। इंसान ख़ूब सिर उठाकर जा सकता था। यह एक विश्वस्त कहानी है कि एक बार उन्होंने किसी मुक़दमे को बावजूद बहुत विनती और आग्रह के हाथ में लेने से इंकार किया। मुवक्किल कोई अक्खड़ देहाती था। उसने जब आरजू-मिन्नत से काम निकलते न देखा तो हिम्मत से काम लिया। वकील साहब कुर्सी से नीचे गिर पड़े और बिफरे हुए देहाती को सीने से लगा लिया।

2

धन और धरती के बीच आदिकाल से एक आकर्षण है। धरती में साधारण गुरुत्वाकर्षण के अलावा एक ख़ास ताक़त होती है जो हमेशा धन को अपनी तरफ़ खींचती है। सूद और तमस्सुक और व्यापार, यह दौलत की बीच की मंजिलें हैं, ज़मीन उसकी आख़िरी मंज़िल है। ठाकुर प्रद्युम्नसिंह की निगाहें बहुत अर्से से एक बहुत उपजाऊ मौज़े पर लगी हुई थीं, लेकिन बैंक का एकाउंट कभी हौसले को क़दम नहीं बढ़ाने देता था। यहाँ तक कि एक दफ़ा उसी मौज़े का ज़मींदार एक क़त्ल के मामले में पकड़ा गया। उसने सिर्फ़ रस्मों-रिवाज के माफ़िक़ एक असामी को दिन-भर धूप और जेठ की जलती हुई धूप में खड़ा रखा था, लेकिन अगर सूरज की गर्मी या ज़िस्म की कमज़ोरी या प्यास की तेज़ी उसकी जानलेवा बन जाए तो इसमें ज़मींदार की क्या ख़ता थी। यह शहर के वकीलों की ज़्यादती थी कि कोई उसकी हिमायत पर आमदा न हुआ या मुमकिन है ज़मींदार के हाथ की तंगी को भी उसमें कुछ दख़ल हो। बहरहाल, उसने चारों तरफ़ से ठोकरें खाकर ठाकुर साहब की शरण ली। मुक़दमा निहायत कमज़ोर था। पुलिस ने अपनी पूरी ताक़त से धावा किया था और उसकी कुमक के लिए शासन और अधिकार के ताज़े-से-ताज़े रिसाले तैयार थे। ठाकुर साहब अनुभवी सँपेरों की तरह साँप के बिल में हाथ नहीं डालते थे, लेकिन इस मौक़े पर उन्हें रूखी-सूखी मसलहत के मुक़ाबले में अपनी मुरादों का पल्ला झुकता हुआ नज़र आया। ज़मींदार को इत्मीनान दिलाया और वकालतनामा दाख़िल कर दिया और फिर इस तरह जी-जान से मुक़दमे की पैरवी की, कुछ इस तरह जान लड़ाई कि मैदान से जीत का डंका बजाते हुए निकले, जनता की ज़बान इस जीत का सेहरा उनकी क़ानूनी पैठ के सर नहीं, उनके मर्दाना गुणों के सर रखती है, क्योंकि उन दिनों वकील साहब नज़ीरों और दफ़ाओं की हिम्मततोड़ पेचीदगियों में उलझने के बजाय दंगल की उत्साहवर्द्धक दिलचस्पियों में ज़्यादा लगे रहते थे, लेकिन यह बात ज़रा भी यकीन करने के क़ाबिल नहीं मालूम होती। ज़्यादा जानकार लोग कहते हैं कि अनार के बमगोलों और सेब और अंगूर की गोलियों ने पुलिस के इस पुरशोर हमले को तोड़कर बिखेर दिया। गरज़ कि मैदान हमारे ठाकुर साहब के हाथ रहा। ज़मींदार की जान बची। मौत के मुँह से निकल आया। उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला—"ठाकुर साहब, मैं इस क़ाबिल तो नहीं कि आपकी ख़िदमत कर सकूँ। ईश्वर ने आपको बहुत कुछ दिया है, लेकिन कृष्ण भगवान् ने ग़रीब सुदामा के सूखे चावल ख़ुशी से क़बूल किए थे। मेरे पास बुजुर्गों की यादगार एक छोटा-सा वीरान मौज़ा है, उसे आपकी भेंट करता हूँ। आपके लायक तो नहीं, लेकिन मेरी ख़ातिर से इसे क़बूल कीजिए। मैं आपका जस कभी न भूलूँगा।" वकील साहब फड़क उठे। दो-चार बार निस्पृह बैरागियों की तरह इंकार करने के बाद इस भेंट को क़बूल कर लिया। मुँह-माँगी मुराद मिली।

3

इस मौज़े के लोग बेहद सरकश और झगड़ालू थे, जिन्हें इस बात का गर्व था कि कभी कोई ज़मींदार उन्हें बस में नहीं कर सका। लेकिन जब उन्होंने अपनी बागडोर प्रद्युम्नसिंह के हाथों में जाते देखी तो चौकड़ियाँ भूल गए, एक बदलगाम घोड़े की तरह सवार को कनखियों से देखा, कनौतियाँ खड़ी कीं, कुछ हिनहिनाये और तब गर्दनें झुका दीं। समझ गए कि यह जिगर का मज़बूत और आसन का पक्का शहसवार है।

असाढ़ का महीना था। किसान गहने और बर्तन बेंच-बेंचकर बैलों की तलाश में दर-ब-दर फिरते थे। गाँवों की बूढ़ी बनियाइन नवेली दुलहन बनी हुई थी और फ़ाका करनेवाला कुम्हार बरात का दूल्हा था। मज़दूर मौक़े के बादशाह बने हुए थे। टपकती हुई छतें उनकी कृपादृष्टि की राह देख रही थीं। घास से ढके हुए खेत उनके ममतापूर्ण हाथों के मुहताज। जिसे चाहते थे बसाते थे, जिसे चाहते थे उजाड़ते थे। आम और जामुन के पेड़ों पर आठों पहर निशानेबाज़ मनचले लड़कों का धावा रहता था। बूढ़े गर्दनों में झोलियाँ लटकाए पहर रात से टपके की खोज में घूमते नज़र आते थे, जो बुढ़ापे के बावजूद भोजन और जाप से ज़्यादा दिलचस्प और मज़ेदार काम था। नाले पुरशोर, नदियाँ अथाह, चारों तरफ़ हरियाली और ख़ुशहाली। इन्हीं दिनों ठाकुर साहब मौत की तरह, जिसके आने की पहले से कोई सूचना नहीं होती, गाँव में आए। एक सजी हुई बरात थी, हाथी और घोड़े और साज-सामान, लठैतों का एक रिसाला-सा था। गाँव ने यह तूमतड़ाक और आन-बान देखी तो रहे-सहे होश उड़ गए। घोड़े खेतों में ऐंडने लगे और गुंडे गलियों में। शाम के वक़्त ठाकुर साहब ने अपने असामियों को बुलाया और बुलंद आवाज़ में बोले—"मैंने सुना है कि तुम लोग बड़े सरकश हो और मेरी सरकशी का हाल तुमको मालूम ही है। अब ईंट और पत्थर का सामना है। बोलो क्या मंजूर है?"

एक बूढ़े किसान ने बेद के पेड़ की तरह काँपते हुए जवाब दिया—"सरकार, आप हमारे राजा हैं। हम आपसे ऐंठकर कहाँ जाएँगे।"

ठाकुर साहब तेवर बदलकर बोले—"तो तुम लोग सब-के-सब कल सुबह तक तीन साल का पेशगी लगान दाख़िल कर दो और ख़ूब ध्यान देकर सुन लो कि मैं हुक्म को दुहराना नहीं जानता, वर्ना मैं गाँव में हल चलवा दूँगा और घरों को खेत बना दूँगा।"

सारे गाँव में कोहराम मच गया। तीन साल का पेशगी लगान और इतनी जल्दी, जुटाना असंभव था। रात इसी हैस-बैस में कटी। अभी तक आरज़ू-मिन्नत के बिजली जैसे असर की उम्मीद बाक़ी थी। सुबह बड़ी इंतज़ार के बाद आई तो प्रलय बनकर आई। एक तरफ़ तो ज़ोर-ज़बर्दस्ती और अन्याय-अत्याचार का बाज़ार गर्म था; दूसरी तरफ़ रोती हुई आँखों, सर्द आहों और चीख-पुकार का, जिन्हें सुननेवाला कोई न था।

ग़रीब किसान अपनी-अपनी पोटलियाँ लादे, बेकस अंदाज़ से ताकते आँखों में याचना भरे बीवी-बच्चों को साथ लिए रोते-बिलखते किसी अज्ञात देश को चले जाते थे। शाम हुई तो गाँव उजड़ गया था।

4

यह ख़बर बहुत जल्द चारों तरफ़ फैल गई। लोगों को ठाकुर साहब के इंसान होने पर संदेह होने लगा। गाँव वीरान पड़ा हुआ था। कौन उसे आबाद करे। किसके बच्चे उसकी गलियों में खेलें। किसकी औरतें कुओं पर पानी भरें! राह चलते हुए मुसाफिर तबाही का यह दृश्य आँखों से देखते और अफ़सोस करते। नहीं मालूम उन वीराने देश में पड़े हुए ग़रीबों पर क्या गुज़री। आह, जो मेहनत की कमाई खाते थे और सर उठाकर चलते थे, अब दूसरों की गुलामी कर रहे हैं।

इस तरह एक पूरा साल गुजर गया। तब गाँव के नसीब जागे। ज़मीन उपजाऊ थी। मकान मौजूद। धीरे-धीरे जुल्म की यह दास्तान फीकी पड़ गई। मनचले किसानों की लोभ-दृष्टि उस पर पड़ने लगी। बला से ज़मींदार ज़ालिम है, बेरहम है, सख्तियाँ करता है, हम उसे मना लेंगे। तीन साल की पेशगी लगान का क्या ज़िक्र वह जैसे ख़ुश होगा, ख़ुश करेंगे। उसकी गालियों को दुआ समझेंगे, उसके जूते अपने सर आँखों पर रक्खेंगे। वह राजा हैं, हम उनके चाकर हैं। ज़िंदगी की कशमकश और लड़ाई में आत्मसम्मान को निबाहना कैसा मुश्किल काम है! दूसरा असाढ़ आया तो वह गाँव फिर बाग़ीचा बना हुआ था। बच्चे फिर अपने दरवाज़ों पर घरौंदे बनाने लगे, मर्दों की बुलंद आवाज़ के गाने खेतों में सुनाई दिए व औरतों के सुहाने गीत चक्कियों पर। ज़िंदगी के मोहक दृश्य दिखाई देने लगे।

साल-भर और गुज़रा। जब रबी की दूसरी फसल आई तो सुनहरी बालों को खेतों में लहराते देखकर किसानों के दिल लहराने लगते थे। साल-भर की परती ज़मीन ने सोना उगल दिया था। औरतें ख़ुश थीं कि अब की नए-नए गहने बनवाएँगे, मर्द ख़ुश थे कि अच्छे-अच्छे बैल मोल लेंगे और दारोग़ा जी की ख़ुशी का तो अंत ही न था। ठाकुर साहब ने यह ख़ुशख़बरी सुनी और देहात की सैर को चले। वही शानशौकत, वही लठैतों का रिसाला, वही गुंडों की फ़ौज! गाँववालों ने उनके आदर-सत्कार की तैयारियाँ करनी शुरू कीं। मोटे-ताज़े बकरों का एक पूरा गल्ला चौपाल के दरवाज़े पर बाँधा। लकड़ी के अंबार लगा दिए, दूध के हौज़ भर दिए। ठाकुर साहब गाँव की मेड़ पर पहुँचे तो पूरे एक सौ आदमी उनकी अगवानी के लिए हाथ बाँधे खड़े थे, लेकिन पहली चीज़ जिसकी फरमाइश हुई वह लेमनेड और बर्फ़ था। असामियों के हाथों के तोते उड़ गए। यह पानी की बोतल इस वक़्त वहाँ अमृत के दामों बिक सकती थी। मगर बेचारे देहाती अमीरों के चोंचले क्या जानें। मुजरिमों

की तरह सिर झुकाए भौंचक खड़े थे। चेहरे पर झेंप और शर्म थी। दिलों में धड़कन और भय। ईश्वर! बात बिगड़ गई है, अब तुम्हीं सम्हालो।

बर्फ़ की ठंडक न मिली तो ठाकुर साहब की प्यास की आग और भी तेज़ हुई, गुस्सा भड़क उठा, कड़ककर बोले—"मैं शैतान नहीं हूँ कि बकरों के ख़ून से प्यास बुझाऊँ, मुझे ठंडा बर्फ चाहिए और यह प्यास तुम्हारे और तुम्हारी औरतों के आँसुओं से ही बुझेगी। एहसानफ़रामोश, नीच, मैंने तुम्हें ज़मीन दी, मकान दिए और हैसियत दी और इसके बदले में तुम ये दे रहे हो कि मैं खड़ा पानी को तरसता हूँ! तुम इस क़ाबिल नहीं हो कि तुम्हारे साथ कोई रियायत की जाए। कल शाम तक मैं तुममें से किसी आदमी की सूरत इस गाँव में न देखूँ वर्ना प्रलय हो जाएगा। तुम जानते हो कि मुझे अपना हुक्म दुहराने की आदत नहीं है। रात तुम्हारी है, जो कुछ ले जा सको, ले जाओ। लेकिन शाम को मैं किसी की मनहूस सूरत न देखूँ। यह रोना और चीखना फ़िज़ूल है, मेरा दिल पत्थर का है और कलेजा लोहे का, आँसुओं से नहीं पसीजता।"

और ऐसा ही हुआ। दूसरी रात को सारे गाँव में कोई दिया जलानेवाला तक न रहा। फूलता-फलता हुआ गाँव भूत का डेरा बन गया।

5

बहुत दिनों तक यह घटना आस-पास के मनचले क़िस्सागोयों के लिए दिलचस्पियों का ख़ज़ाना बनी रही। एक साहब ने उस पर अपनी क़लम भी चलाई। बेचारे ठाकुर साहब ऐसे बदनाम हुए कि घर से निकलना मुश्किल हो गया। बहुत कोशिश की कि गाँव आबाद हो जाए, लेकिन किसकी जान भारी थी कि इस अँधेर नगरी में क़दम रखता जहाँ मोटापे की सज़ा फाँसी थी। कुछ मज़दूर-पेशा लोग क़िस्मत का जुआ खेलने आए मगर कुछ महीनों से ज़्यादा न जम सके। उजड़ा हुआ गाँव खोया हुआ एतबार है जो बहुत मुश्किल से जमता है। आख़िर जब कोई बस न चला तो ठाकुर साहब ने मज़बूर होकर आराज़ी माफ़ करने का आम ऐलान कर दिया, लेकिन इस रियायत ने रही-सही साख भी खो दी। इस तरह तीन साल गुज़र जाने के बाद एक रोज़ वहाँ बंजारों का क़ाफ़िला आया। शाम हो गई थी और पूरब की तरफ़ से अँधेरे की लहर बढ़ती चली आती थी। बंजारों ने देखा तो सारा गाँव वीरान पड़ा हुआ है, जहाँ आदमियों के घरों में गिद्ध और गीदड़ रहते थे। इस तिलिस्म का भेद समझ में न आया। मकान मौजूद हैं, ज़मीन उपजाऊ है, हरियाली से लहराते हुए खेत हैं और इंसान का नाम नहीं! कोई और गाँव पास न था। वहीं पड़ाव डाल दिया। जब सुबह हुई, बैलों के गलों की घंटियों ने फिर अपना रजत-संगीत अलापना शुरू किया और क़ाफ़िला गाँव से कुछ दूर निकल गया तो एक चरवाहे ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती की यह लंबी कहानी उन्हें सुनाई। दुनिया-भर में घूमते फिरने ने उन्हें मुश्किलों का आदी बना दिया

था। आपस में कुछ मशविरा किया और फ़ैसला हो गया। ठाकुर साहब की ड्योढ़ी पर जा पहुँचे और नज़राने दाखिल कर दिए। गाँव फिर आबाद हुआ।

यह बंजारे बला के चीमड़, लोहे की-सी हिम्मत और इरादे के लोग थे, जिनके आते ही गाँव में लक्ष्मी का राज हो गया। फिर घरों में से धुएँ के बादल उठे, कोल्हाड़ों ने फिर धुएँ और भाप की चादरें पहनीं, तुलसी के चबूतरे पर फिर से चिराग़ जले। रात को रंगीन-तबीयत नौजवानों की अलापें सुनाई देने लगीं। चरागाहों में फिर मवेशियों के गल्ले दिखाई दिए और किसी पेड़ के नीचे बैठे हुए चरवाहे की बाँसुरी की मद्धिम और रसीली आवाज़ दर्द और असर में डूबी हुई इस प्राकृतिक दृश्य में जादू का आकर्षण पैदा करने लगी।

भादों का महीना था। कपास के फूलों की सुर्ख और सफ़ेद चिकनाई, तिल और ऊदी बहार और सन का शोख पीलापन अपने रूप का जलवा दिखाता था। किसानों की मड़ैया और छप्परों पर भी फल-फूल की रंगीनी दिखाई देती थी। उस पर पानी की हलकी-हलकी फुहारें प्रकृति के सौंदर्य के लिए सिंगार करनेवाली का काम दे रही थीं। जिस तरह साधुओं के दिल सत्य की ज्योति से भरे होते हैं, उसी तरह सागर और तालाब साफ़-शफ़्फ़ाफ़ पानी से भरे थे। शायद राजा इंद्र कैलाश की तरावट भरी ऊँचाइयों से उतरकर अब मैदानों में आनेवाले थे। इसीलिए प्रकृति ने सौंदर्य और सिद्धियों और आशाओं के भी भांडार खोल दिए थे। वकील साहब को सैर की तमन्ना ने गुदगुदाया। हमेशा की तरह अपने रईसाना ठाट-बाट के साथ गाँव में आ पहुँचे। देखा तो संतोष और निश्चिंतता के वरदान चारों तरफ़ स्पष्ट थे।

6

गाँववालों ने उनके शुभागमन का समाचार सुना, सलाम को हाज़िर हुए। वकील साहब ने उन्हें अच्छे-अच्छे कपड़े पहने, स्वाभिमान के साथ क़दम मिलाते हुए देखा। उनसे बहुत मुस्कराकर मिले। फ़सल का हालचाल पूछा। बूढ़े हरदास ने एक ऐसे लहजे में जिससे पूरी ज़िम्मेदारी और चौधरापे की शान टपकती थी, जवाब दिया—"हुज़ूर के क़दमों की बरकत से बस चैन है। किसी तरह की तक़लीफ़ नहीं। आपकी दी हुई नेमत खाते हैं और आपका जस गाते हैं। हमारे राजा और सरकार जो कुछ हैं, आप हैं और आपके लिए जान तक हाज़िर है।"

ठाकुर साहब ने तेवर बदलकर कहा—"मैं अपनी ख़ुशामद सुनने का आदी नहीं हूँ।"

बूढ़े हरदास के माथे पर बल पड़े, अभिमान को चोट लगी। बोला—"मुझे भी ख़ुशामद करने की आदत नहीं है।"

ठाकुर साहब ने ऐंठकर जवाब दिया—"तुम्हें रईसों से बात करने की तमीज़ नहीं। ताक़त की तरह तुम्हारी अक़्ल भी बुढ़ापे की भेंट चढ़ गई।"

हरदास ने अपने साथियों की तरफ़ देखा। गुस्से की गर्मी से सब की आँख फैली हुई और धीरज की सर्दी से माथे सिकुड़े हुए थे। बोला—"हम आपकी रैयत हैं, लेकिन हमको अपनी आबरू प्यारी है और चाहें अपने ज़मींदार को अपना सिर दे दें आबरू नहीं दे सकते।"

हरदास के कई मनचले साथियों ने बुलंद आवाज़ में ताईद की—"आबरू जान के पीछे है।"

ठाकुर साहब के गुस्से की आग भड़क उठी और चेहरा लाल हो गया, और ज़ोर से बोले—"तुम लोग ज़बान सम्भालकर बातें करो, वर्ना जिस तरह गले में झोलियाँ लटकाए आए थे उसी तरह निकाल दिए जाओगे। मैं प्रद्युम्नसिंह हूँ, जिसने तुम जैसे कितने ही हेकड़ों को इसी जगह कुचलवा डाला है।" यह कहकर उन्होंने अपने रिसाले के सरदार अर्जुनसिंह को बुलाकर कहा—"ठाकुर, अब इन चींटियों के पर निकल आए हैं, कल शाम तक इन लोगों से मेरा गाँव साफ़ हो जाए।"

हरदास खड़ा हो गया। गुस्सा अब चिनगारी बनकर आँखों से निकल रहा था। बोला—"हमने इस गाँव को छोड़ने के लिए नहीं बसाया है। जब तक जिएँगे इसी गाँव में रहेंगे, यहीं पैदा होंगे और यही मरेंगे। आप बड़े आदमी हैं और बड़ों की समझ भी बड़ी होती है। हम लोग अक्खड़ गँवार हैं। नाहक ग़रीबों की जान के पीछे न पड़िए। ख़ून-खराबा हो जाएगा, लेकिन आपको यही मंजूर है तो हमारी तरफ़ से आपके सिपाहियों को चुनौती है, जब चाहे दिल के अरमान निकाल लें।"

इतना कहकर ठाकुर साहब को सलाम किया और चल दिया। उसके साथी भी गर्व के साथ अकड़ते चले। अर्जुनसिंह ने उनके तेवर देखे। समझ गया कि यह लोहे के चने हैं, लेकिन शोहदों का सरदार था, कुछ अपने नाम की लाज थी। दूसरे दिन शाम के वक़्त जब रात और दिन में मुठभेड़ हो रही थी, इन दोनों जमातों का सामना हुआ। फिर वह धौल-धप्पा हुआ कि ज़मीन थर्रा गई। ज़बानों ने मुँह के अंदर वह मार्के दिखाये कि सूरज डर के मारे पच्छिम में जा छिपा। तब लाठियों ने सिर उठाया लेकिन इसके पहले कि वह डॉक्टर साहब की दुआ और शुक्रिए की मुस्तहक़ हों, अर्जुनसिंह ने समझदारी से काम लिया। ताहम उनके चंद आदमियों के लिए गुड़ और हल्दी पीने का सामान हो चुका था।

वकील साहब ने अपनी फ़ौज की यह बुरी हालत देखी, किसी के कपड़े फटे हुए, किसी के ज़िस्म पर गर्द जमी हुई, कोई हाँफते-हाँफते बेदम (ख़ून बहुत कम नज़र आया, क्योंकि यह एक अनमोल चीज़ है और इसे डंडों की मार से बचा लिया गया) तो उन्होंने अर्जुनसिंह की पीठ ठोंकी और उसकी बहादुरी और जाँबाज़ी की ख़ूब तारीफ़ की। रात को उनके सामने लड्डू और इमरतियों की ऐसी वर्षा हुई कि यह सब

गर्द-गुबार धुल गया; सुबह को इस रिसाले ने ठंडे-ठंडे घर की राह ली और क़सम खा गए कि भूलकर भी इस गाँव का रुख न करेंगे।

तब ठाकुर साहब ने गाँव के आदमियों को चौपाल में तलब किया। उनके इशारे की देर थी। सब लोग इकट्ठे हो गए। अख़्तियार और हुकूमत अगर घमंड की मसनद से उतर आए तो दुश्मनों को भी दोस्त बना सकती है। जब सब आदमी आ गए तो ठाकुर साहब एक-एक करके उनके बग़लगीर हुए और बोले—"मैं ईश्वर का बहुत ऋणी हूँ कि मुझे इस गाँव के लिए जिन आदमियों की तलाश थी, वह लोग मिल गए। आपको मालूम है कि यह गाँव कई बार उजड़ा और कई बार बसा। उसका कारण यही था कि वे लोग मेरी कसौटी पर पूरे न उतरते थे। मैं उनका दुश्मन नहीं था, लेकिन मेरी दिली आरजू यह थी कि इस गाँव में वे लोग आबाद हों, जो जुल्म का मर्दों की तरह सामना करें, जो अधिकारों और रियाअतों की मर्दों की तरह हिफ़ाज़त करें, जो हुकूमत के गुलाम न हों, जो रोब और अख़्तियार की तेज़ निगाह देखकर बच्चों की तरह डर से सहम न जाएँ। मुझे इत्मीनान है कि बहुत नुकसान और शर्मिंदगी और बदनामी के बाद मेरी तमन्नाएँ पूरी हो गईं। मुझे इत्मीनान है कि आप उल्टी हवाओं और ऊँची-ऊँची उठनेवाली लहरों का मुक़ाबला कामयाबी से करेंगे। मैं आज इस गाँव से अपना हाथ खींचता हूँ। आज से यह आपकी मिल्कियत है। आप ही इसके ज़मींदार और मालिक हैं। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि आप फूलें-फलें और सरसब्ज़ हों।"

इन शब्दों ने दिलों पर जादू का काम किया। लोग स्वामिभक्ति के आवेश से मस्त हो-होकर ठाकुर साहब के पैरों से लिपट गए और कहने लगे—"हम आपके क़दमों से जीते-जी जुदा न होंगे। आपका-सा क़द्रदान और रिआया-परवर बुजुर्ग हम कहाँ पाएँगे।" वीरों की भक्ति और सहानुभूति, वफ़ादारी और एहसान का एक बड़ा दर्दनाक और असर पैदा करनेवाला दृश्य आँखों के सामने पेश हो गया, लेकिन ठाकुर साहब अपने उदार निश्चय पर दृढ़ रहे और गो पचास साल से ज़्यादा गुज़र गए हैं लेकिन उन्हीं बंजारों के वारिस अभी तक मौज़ा साहबगंज के माफ़ीदार हैं। औरतें अभी तक ठाकुर प्रद्युम्नसिंह की पूजा और मन्नतें करती हैं और गो अब इस मौज़े के कई नौजवान दौलत और हुकूमत की बुलंदी पर पहुँच गए हैं, लेकिन बूढ़े और अक्खड़ हरदास के नाम पर अब भी गर्व करते हैं और भादों सुदी एकादशी के दिन अब भी मुबारक फ़तेह की यादगार में जश्न मनाए जाते हैं।

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अक्टूबर, 1913)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

नमक का दारोग़ा

1

जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वरप्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल-प्रपंचों का सूत्रपात हुआ, कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से। अधिकारियों के पौ-बारह थे। पटवारीगिरी का सर्वसम्मानित पद छोड़-छोड़कर लोग इस विभाग की बरकंदाजी करते थे। इसके दारोग़ा पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचाता था। यह वह समय था जब अंग्रेज़ी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फ़ारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और शृंगार-रस के काव्य पढ़कर फ़ारसी-दाँ लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे। मुंशी वंशीधर भी जुलेख़ा की विरह-कथा समाप्त करके मजनूँ और फ़रहाद के प्रेम-वृत्तांत को नल और नील की लड़ाई और अमेरिका के आविष्कार से अधिक महत्त्व की बातें समझते हुए रोजगार की खोज़ में निकले। उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे। समझाने लगे—"बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियाँ हैं, वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं। मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूँ, न मालूम कब गिर पड़ूँ! अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख़्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मज़ार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है, जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है, तुम स्वयं विद्वान् हो, तुम्हें क्या समझाऊँ। इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और अवसर देखो, उसके उपरांत जो उचित समझो, करो। गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ-ही-लाभ है, लेकिन बेग़रज को दाँव पर पाना ज़रा कठिन है। इन बातों को निगाह में बाँध लो यह मेरी जन्म-भर की कमाई है।"

इस उपदेश के बाद पिताजी ने आशीर्वाद दिया। वंशीधर आज्ञाकारी पुत्र थे। ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए। इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथप्रदर्शक और आत्मावलंबन ही अपना सहायक था, लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते-ही-जाते नमक विभाग के दारोग़ा पद पर प्रतिष्ठित हो गए। वेतन अच्छा और ऊपर आय का तो ठिकाना ही न था। वृद्ध मुंशीजी को सुख-संवाद मिला तो फूले न समाए। महाजन कुछ नरम पड़े, कलवार की आशा-लता लहलहाई। पड़ोसियों के हृदय में शूल उठने लगे।

2

जाड़े के दिन थे और रात का समय। नमक के सिपाही, चौकीदार नशे में मस्त थे। मुंशी वंशीधर को यहाँ आए अभी छः महीनों से अधिक न हुए थे, लेकिन इस थोड़े समय में ही उन्होंने अपनी कार्यकुशलता और उत्तम आचार से अफ़सरों को मोहित कर लिया था। अफ़सर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे। नमक के दफ़्तर से एक मील पूर्व की ओर जमुना बहती थी, उस पर नावों का एक पुल बना हुआ था। दारोग़ा जी किवाड़ बंद किए मीठी नींद सो रहे थे। अचानक आँख खुली तो नदी के प्रवाह की जगह गाड़ियों की गड़गड़ाहट तथा मल्लाहों का कोलाहल सुनाई दिया। उठ बैठे। इतनी रात गए गाड़ियाँ क्यों नदी के पार जाती हैं? अवश्य कुछ-न-कुछ गोलमाल है। तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया। वर्दी पहनी, तमंचा जेब में रखा और बात-की-बात में घोड़ा बढ़ाए हुए पुल पर आ पहुँचे। गाड़ियों की एक लंबी कतार पुल के पार जाती देखी। डाँटकर पूछा, "किसकी गाड़ियाँ हैं।"

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। आदमियों में कुछ काना-फूसी हुई, तब आगे वाले ने कहा—"पंडित अलोपीदीन की।"

"कौन पंडित अलोपीदीन!"

"दातागंज के।"

मुंशी वंशीधर चौंके। पंडित अलोपीदीन इस इलाक़े के सबसे प्रतिष्ठित ज़मींदार थे। लाखों रुपए का लेन-देन करते थे, इधर छोटे से बड़े कौन ऐंसे थे जो उनके ऋणी न हों। व्यापार भी बड़ा लंबा-चौड़ा था। बड़े चलते-पुर्ज़े आदमी थे। अंग्रेज़ अफ़सर उनके इलाक़े में शिकार खेलने आते और उनके मेहमान होते। बारहों मास सदाव्रत चलता था। मुंशी ने पूछा--गाड़ियाँ कहाँ जाएँगी? उत्तर मिला—कानपुर, लेकिन इस प्रश्न पर कि इनमें क्या है, सन्नाटा छा गया। दारोग़ा साहब का संदेह और भी बढ़ा। कुछ देर तक उत्तर की बाट देखकर वह जोर से बोले, "क्या तुम सब गूँगे हो गए हो? हम पूछते हैं, इनमें क्या लदा है?"

जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने घोड़े को एक गाड़ी से मिलाकर बोरे को टटोला। भ्रम दूर हो गया। यह नमक के डेले थे।

3

पंडित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते, कुछ जागते चले आते थे। अचानक कई गाड़ीवानों ने घबराए हुए आ कर जगाया और बोले—"महाराज! दारोग़ा ने गाड़ियाँ रोक दी हैं और घाट पर खड़े आपको बुलाते हैं।"

पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मी जी पर अखंड विश्वास था। वह कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था: न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती हैं नचाती हैं। लेटे-ही-लेटे गर्व से बोले, "चलो हम आते हैं।" यह कहकर पंडितजी ने बड़ी निश्चिंतता से पान के बीड़े लगाकर खाए। फिर लिहाफ़ ओढ़े हुए दारोग़ा के पास आकर बोले, "बाबूजी आशीर्वाद! कहिए, हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ कि गाड़ियाँ रोक दी गईं। हम ब्राह्मणों पर तो आपकी कृपा-दृष्टि रहनी चाहिए।"

वंशीधर रुखाई से बोले, "सरकारी हुक्म!"

पं. अलोपीदीन ने हँसकर कहा, "हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को। हमारे सरकार तो आप ही हैं। हमारा और आपका तो घर का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया। यह हो नहीं सकता कि इधर से जाएँ और इस घाट के देवता को भेंट न चढ़ावें। मैं तो आपकी सेवा में स्वयं ही आ रहा था।" वंशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वंशी का कुछ प्रभाव न पड़ा। ईमानदारी की नई उमंग थी। कड़ककर बोले, "हम उन नमकहरामों में नहीं हैं, जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप-इस समय हिरासत में हैं। आपका क़ायदे के अनुसार चालान होगा। बस, मुझे अधिक बातों की फ़ुर्सत नहीं है। ज़मादार बदलूसिंह! तुम इन्हें हिरासत में ले चलो, मैं हुक्म देता हूँ।"

पं. अलोपीदीन स्तंभित हो गए। गाड़ीवानों में हलचल मच गई। पंडितजी के जीवन में कदाचित् यह पहला ही अवसर था कि पंडितजी को ऐसी कठोर बातें सुननी पड़ीं। बदलूसिंह आगे बढ़ा, किंतु रोब के मारे यह साहस न हुआ कि उनका हाथ पकड़ सके। पंडित जी ने धर्म्म को धन का ऐसा निरादर करते कभी न देखा था। विचार किया कि यह अभी उद्दंड लड़का है। माया-मोह के जाल में अभी नहीं पड़ा। अल्हड है, झिझकता है। बहुत दीनभाव से बोले, "बाबू साहब, ऐसा न कीजिए, हम मिट जाएँगे। इज़्ज़त धूल में मिल जाएगी। हमारा अपमान करने से आपके हाथ क्या आएगा। हम किसी तरह आपसे बाहर थोड़े ही हैं।"

वंशीधर ने कठोर स्वर में कहा, "हम ऐसी बातें नहीं सुनना चाहते।"

अलोपीदीन ने जिस सहारे को चट्टान समझ रखा था, वह पैरों के नीचे खिसकता हुआ मालूम हुआ। स्वाभिमान और धन-ऐश्वर्य को कड़ी चोट लगी, किंतु अभी तक धन की सांख्यिक शक्ति का पूरा भरोसा था। अपने मुख़्तार से बोले, "लालाजी, एक हज़ार के नोट बाबू साहब की भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे हैं।"

वंशीधर ने गर्म होकर कहा, "एक हज़ार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते।"

धर्म की इस बुद्धिहीन दृढ़ता और देव-दुर्लभ त्याग पर मन बहुत झुँझलाया। अब दोनों शक्तियों में संग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछल कर आक्रमण करने शुरू किए। एक से पाँच, पाँच से दस, दस से पंद्रह और पंद्रह से बीस हज़ार तक नौबत पहुँची, किंतु धर्म्म अलौकिक वीरता के साथ बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भाँति अटल, अविचलित खड़ा था।

अलोपीदीन निराश होकर बोले, "अब इससे अधिक मेरा साहस नहीं। आगे आपको अधिकार है।"

वंशीधर ने अपने ज़मादार को ललकारा। बदलूसिंह मन में दारोग़ा जी को गालियाँ देता हुआ पंडित अलोपीदीन की ओर बढ़ा। पंडित जी घबड़ा कर दो-तीन क़दम पीछे हट गए। अत्यंत दीनता से बोले, "बाबू साहब, ईश्वर के लिए मुझ पर दया कीजिए, मैं पच्चीस हज़ार पर निपटारा करने को तैयार हूँ।"

"असंभव बात है।"

"तीस हज़ार पर।"

"किसी तरह भी संभव नहीं।"

"क्या चालीस हज़ार पर भी नहीं?"

"चालीस हज़ार नहीं, चालीस लाख पर भी असंभव है।"

"बदलूसिंह, इस आदमी को हिरासत में ले लो। अब मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता।"

धर्म ने धन को पैरों तले कुचल डाला। अलोपीदीन ने एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को हथकड़ियाँ लिए हुए अपनी तरफ़ आते देखा। चारों ओर निराश और कातर दृष्टि से देखने लगे। इसके बाद मूर्छित होकर गिर पड़े।

4

दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे देखिए तो बालक-वृद्ध सबके मुँह से यही बात सुनाई देती थी। ज़िसे देखिए वही पंडितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निंदा की बौछारें हो रही थीं, मानो संसार से अब पापी का

पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचनेवाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफ़र करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनानेवाले सेठ और साहूकार यह सब-के-सब देवताओं की भाँति गर्दनें चला रहे थे। जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त होकर कांस्टेबलों के साथ, हाथों में हथकड़ियाँ, हृदय में ग्लानि और क्षोभ-भरे, लज्जा से गर्दन झुकाए अदालत की तरफ़ चले तो सारे शहर में हलचल मच गई। मेलों में कदाचित् आँखें इतनी व्यग्र न होती होंगी। भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा।

किंतु अदालत में पहुँचने की देर थी। पंडित अलोपीदीन इस अगाध वन के सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख़्तार उनके आज्ञा पालक और अरदली, चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ़ से दौड़े। सभी लोग विस्मित हो रहे थे, इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने यह कर्म किया, बल्कि इसलिए कि वह क़ानून के पंजे में कैसे आए। ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह क्यों क़ानून के पंजे में आए? प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था। बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गई। न्याय के मैदान में धर्म्म और धन में युद्ध ठन गया। वंशीधर चुपचाप खड़े थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई सशस्त्र। गवाह थे, किंतु लोभ से डावाँडोल।

यहाँ तक कि मुंशीजी को न्याय भी अपनी ओर कुछ खिंचा हुआ दिख पड़ता था। वह न्याय का दरबार था, परंतु उसके कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था, किंतु पक्षपात और न्याय का क्या मेल? जहाँ पक्षपात हो, वहाँ न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुक़दमा शीघ्र ही समाप्त हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, "पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिए प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक हैं। वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना के बाहर है कि उन्होंने थोड़े लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोगा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उसकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भलेमानुस को कष्ट झेलना पड़ा। हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम में सजग और सचेत रहता है, किंतु नमक से मुक़द्दमे की बढ़ी हुई नमकहलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए।"

वकीलों ने यह फ़ैसला सुना और उछल पड़े। पंडित अलोपीदीन मुस्कराते हुए बाहर निकले। स्वजन बाँधवों ने रुपयों की लूट की। उदारता का सागर उमड़ पड़ा। उसकी लहरों ने अदालत की नींव तक हिला दी। जब वंशीधर बाहर निकले तो चारों ओर उनके ऊपर व्यंग्यबाणों की वर्षा होने लगी। चपरासियों ने झुक-झुककर सलाम

किए, किंतु इस समय एक-एक कटुवाक्य, एक-एक संकेत उनकी गर्वाग्नि को प्रज्ज्वलित कर रहा था। कदाचित् इस मुक़द्दमे में सफल होकर वह इस तरह अकड़ते हुए न चलते। आज उन्हें संसार को एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ। न्याय और विद्वत्ता, लंबी-चौड़ी उपाधियाँ, बड़ी-बड़ी दाढ़ियाँ, ढीले चोगे एक भी सच्चे आदर का पात्र नहीं है।

वंशीधर ने धन से बैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था। कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुँचा। कार्य्य-परायणता का दंड मिला। बेचारे भग्न-हृदय, शोक और खेद से व्यथित घर को चले। बूढ़े मुंशी जी तो पहले ही से कुड़-बुड़ा रहे थे कि चलते-चलते इस लड़के को समझाया था, लेकिन इसके एक न सुनी। सब मनमानी करता है। हम तो कलवार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहाँ बस वही सूखी तनख़्वाह! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे, लेकिन काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं। घर में चाहे अँधेरा हो, मस्जिद में अवश्य दिया जलाएँगे। खेद ऐसी समझ पर! पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद, जब मुंशी वंशीधर इस दुरवस्था में घर पहुँचे और बूढ़े पिता जी ने समाचार सुना तो सिर पीट लिया। बोले, "जी चाहता है कि तुम्हारा और अपना सिर फोड़ लूँ।" बहुत देर तक पछता-पछताकर हाथ मलते रहे। क्रोध में कुछ कठोर बातें भी कहीं और यदि वंशीधर वहाँ से टल न जाते तो अवश्य ही यह क्रोध विकट रूप धारण करता। वृद्धा माता को भी दुःख हुआ। जगन्नाथ और रामेश्वर यात्रा की कामनाएँ मिट्टी में मिल गईं। पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुँह बात भी नहीं की।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया। संध्या का समय था। बूढ़े मुंशी जी बैठे राम-नाम की माला जप रहे थे। इसी समय उनके द्वार पर सज़ा हुआ रथ आकर रुका। हरे और गुलाबी पर्दे, पछहिये बैलों की जोड़ी, उनकी गर्दनों में नीले धागे, सींगें पीतल से जड़ी हुई। कई नौकर लाठियाँ कंधों पर रखे साथ थे। मुंशी जी अगवानी को दौड़े। देखा तो पंडित अलोपीदीन हैं। झुककर दंडवत् की और लल्लो-चप्पो की बातें करने लगे, हमारा भाग्य उदय हुआ, जो आपके चरण इस द्वार पर आए। आप हमारे पूज्य देवता हैं, आपको कौन-सा मुँह दिखावें, मुँह में तो कालिख लगी हुई है, किंतु क्या करें, लड़का अभागा कपूत है, नहीं तो आपसे क्यों मुँह छिपाना पड़ता? ईश्वर निस्संतान चाहे रखे, पर ऐसी संतान न दे।

अलोपीदीन ने कहा—"नहीं भाई साहब, ऐसा न कहिए।"

मुंशी जी ने चकित होकर कहा—"ऐसी संतान को और क्या कहूँ।"

अलोपीदीन से वात्सल्यपूर्ण स्वर में कहा—"कुलतिलक और पुरुखों की कीर्ति उज्ज्वल करने वाले संसार में ऐसे कितने धर्मपरायण मनुष्य हैं जो धर्म्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सकें!"

पं. अलोपीदीन ने वंशीधर से कहा—"दारोग़ा जी, इसे ख़ुशामद न समझिए, ख़ुशामद करने के लिए मुझे इतना कष्ट उठाने की ज़रूरत न थी। उस रात को आपने अपने अधिकार-बल से मुझे अपनी हिरासत में लिया था, किंतु आज मैं स्वेच्छा से आपकी हिरासत में आया हूँ। मैंने हज़ारों रईस और अमीर देखे, हज़ारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा, किंतु मुझे परास्त किया तो आपने। मैंने सबको अपना और अपने धन का गुलाम बनाकर छोड़ दिया। मुझे आज्ञा दीजिए कि आपसे कुछ विनय करूँ।"

वंशीधर ने आलोपीदीन को आते देखा तो उठकर सत्कार किया; किंतु स्वाभिमान सहित। समझ गए कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आए हैं। क्षमा-प्रार्थना की चेष्टा नहीं की; वरन् उन्हें अपने पिता की यह ठाकुर सुहाती की बात असह्य-सी प्रतीत हुई, पर पंडित जी की बातें सुनीं तो मन की मैल मिट गई। पंडित जी की ओर उड़ती हुई दृष्टि से देखा। सद्भाव झलक रहा था। गर्व ने लज्जा के सामने सिर झुका दिया। शर्माते हुए बोले—"यह आपकी उदारता है जो ऐसा कहते हैं। मुझसे जो कुछ अविनय हुई है, उसे क्षमा कीजिए। मैं धर्म्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ था, नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूँ। जो आज्ञा होगी, वह मेरे सिर-माथे पर।"

अलोपीदीन ने विनीत भाव से कहा—"नदी तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, किंतु आज स्वीकार करनी पड़ेगी।"

वंशीधर बोले—"मैं किस योग्य हूँ, किंतु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है उसमें त्रुटि न होगी।"

अलोपीदीन ने एक स्टाम्प लगा हुआ पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रखकर बोले—"इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। मैं ब्राह्मण हूँ, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा, द्वार से न हटूँगा।"

मुंशी वंशीधर ने उस काग़ज़ को पढ़ा तो कृतज्ञता से आँखों में आँसू भर आए। पंडित अलोपीदीन ने उनको अपनी सारी जायदाद का स्थाई मैनेज़र नियत किया था। छः हज़ार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोज़ाना ख़र्च अलग, सवारी के लिए घोड़ा, रहने को बँगला, नौकर-चाकर मुफ़्त। कंपित स्वर में बोले—"पंडित जी, मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आपकी उदारता की प्रशंसा कर सकूँ! किंतु ऐसे उच्च पद के योग्य नहीं हूँ।"

अलोपीदीन हँसकर बोले—"मुझे इस समय एक अयोग्य मनुष्य की ही ज़रूरत है।"

वंशीधर ने गंभीर भाव से कहा—"यों मैं आपको दास हूँ। आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है, किंतु मुझमें न विद्या है, न बुद्धि, न वह स्वभाव जो इन त्रुटियों की पूर्ति कर देता है। ऐसे महान् कार्य्य के लिए एक बड़े मर्मज्ञ अनुभवी मनुष्य की ज़रूरत है।"

अलोपीदीन के क़लमदान से क़लम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोले, "न मुझे विद्वत्ता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्यकुशलता की। इन गुणों के महत्त्व का परिचय ख़ूब पा चुका हूँ। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है, जिसके सामने योग्यता और विद्वत्ता की चमक फीकी पड़ जाती है। यह क़लम लीजिए, अधिक सोच-विचार न कीजिए, दस्तख़त कर दीजिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परंतु धर्मनिष्ठ दारोग़ा बनाए रखे!"

वंशीधर की आँखें डबडबा आईं। हृदय के संकुचित पात्र में इतना एहसान न समा सका। एक बार फिर पंडित जी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और काँपते हुए हाथ से मैनेज़री के काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर दिए।

अलोपीदीन ने प्रफुल्लित होकर उन्हें गले लगा लिया।

('हमदर्द', उर्दू मासिक पत्रिका, अक्टूबर, 1913)
('सप्त-सरोज', हिंदी कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, 1917 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'-8, 1950)

वर्ष : 1914

अनाथ लड़की

1

सेठ पुरुषोत्तमदास पूना की सरस्वती पाठशाला का मुआयना करने के बाद बाहर निकले तो एक लड़की ने दौड़कर उनका दामन पकड़ लिया। सेठजी रुक गए और मुहब्बत से उसकी तरफ़ देखकर पूछा–"तुम्हारा क्या नाम है?"

लड़की ने जवाब दिया –"रोहिणी"।

सेठजी ने उसे गोद में उठा लिया और बोले–"तुम्हें कुछ इनाम मिला?"

लड़की ने उनकी तरफ़ बच्चों जैसी गंभीरता से देखकर कहा–"तुम चले जाते हो, मुझे रोना आता है, मुझे भी साथ लेते चलो।"

सेठजी ने हँसकर कहा–"मुझे थोड़ी दूर जाना है, तुम कैसे चलोगी?"

रोहिणी ने प्यार से उनकी गर्दन में हाथ डाल दिए और बोली–"जहाँ तुम जाओगे वहीं मैं भी चलूँगी। मैं तुम्हारी बेटी हूँगी।"

मदरसे के अफ़सर ने आगे बढ़कर कहा–"इसका बाप साल-भर हुआ नहीं रहा। माँ कपड़े सीती है, बड़ी मुश्किल से गुज़र होती है।"

सेठजी के स्वभाव में करुणा बहुत थी। यह सुनकर उनकी आँखें भर आईं। उस भोली प्रार्थना में वह दर्द था जो पत्थर-से दिल को पिघला सता है। बेकसी और यतीमी को इससे ज्यादा दर्दनाक ढंग से जाहिर करना नामुमकिन था। उन्होंने सोचा–इस नन्हें से दिल में न जाने क्या-क्या अरमान होंगे और लड़कियाँ अपने खिलौने दिखाकर कहती होंगी, यह मेरे बाप ने दिया है। वह अपने बाप के साथ मदरसे आती होंगी, उसके साथ मेलों में जाती होंगी और उनकी दिलचस्पियों का ज़िक्र करती होंगी। यह बातें सुन-सुनकर इस भोली लड़की को भी ख़्वाहिश होती होगी कि मेरे बाप होता। माँ की मुहब्बत में गहराई और आत्मिकता होती है जिसे बच्चे समझ नहीं सकते। बाप की मुहब्बत में खुशी और चाव होता है जिसे बच्चे खूब समझते हैं।

सेठजी ने रोहिणी को प्यार से गले लगा लिया और बोले–"अच्छा, मैं तुम्हें अपनी बेटी बनाऊँगा, लेकिन खूब जी लगाकर पढ़ना। अब छुट्टी का वक़्त आ गया है, मेरे साथ आओ, तुम्हारे घर पहुँचा दूँ।"

यह कहकर उन्होंने रोहिणी को अपनी मोटरकार में बिठा लिया। रोहिणी ने बड़े इत्मीनान और बड़े गर्व से अपनी सहेलियों की तरफ़ देखा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें खुशी से चमक रही थीं और चेहरा चाँदनी रात की तरह खिला हुआ था।

2

सेठजी ने रोहिणी को बाज़ार की ख़ूब सैर कराई और कुछ उसकी पसंद से कुछ अपनी पसंद से बहुत-सी चीजें खरीदीं, यहाँ तक कि रोहिणी बातें करते-करते कुछ थक-सी गई और ख़ामोश हो गई। उसने इतनी चीजें देखीं और इतनी बातें सुनीं कि उसकी जी भर गया। शाम होते-होते रोहिणी के घर पहुँचे और मोटरकार से उतरकर रोहिणी को अब कुछ आराम मिला। दरवाज़ा बंद था। उसकी माँ किसी ग्राहक के घर कपड़े देने गई थी। रोहिणी ने अपने तोहफों को उलटना-पलटना शुरू किया—खूबसूरत रबड़ के खिलौने, चीनी की गुड़ियाँ जरा दबाने से चूँ-चूँ करने लगतीं और रोहिणी यह प्यारा संगीत सुनकर फूली न समाती थी। रेशमी कपड़े और रंग-बिरंगी साड़ियों के कई बंडल थे, लेकिन मखमली बूटे की गुलकारियों ने उसे खूब लुभाया था। उसे उन चीज़ों के पाने की जितनी खुशी थी, उससे ज़्यादा उन्हें अपनी सहेलियों को दिखाने की बेचैनी थी। सुंदरी के जूते अच्छे सही लेकिन उनमें ऐसे फूल कहाँ है। ऐसी गुड़ियाँ उसने कभी देखी भी नहीं होंगी। इन ख़यालों से उसके दिल में उमंग भर आई और वह अपनी मोहिनी आवाज़ में एक गीत गाने लगी। सेठजी दरवाज़े पर खड़े इस पवित्र दृश्य का हार्दिक आनंद उठा रहे थे। इतने में रोहिणी की माँ रुक्मिणी कपड़ों की पोटली लिये हुए आती दिखाई दी। रोहिणी ने खुशी से पागल होकर एक छलाँग भरी और उसके पैरों पर लिपट गई। रोहिणी का चेहरा पीला था, आँखों में हसरत और बेकसी छिपी हुई थी, गुप्त चिंता का सजीव चित्र मालूम होती थी, जिसके लिए ज़िंदगी में कोई सहारा नहीं।

मगर रोहिणी को जब उसने गोद में उठाकर प्यार से चूमा तो ज़रा देर के लिए उसकी आँखों में उम्मीद और ज़िंदगी की झलक दिखाई दी। मुरझाया हुआ फूल खिल गया। बोली—"आज तू इतनी देर तक कहाँ रही, मैं तुझे ढूढ़ने पाठशाला गई थी।"

रोहिणी ने हुमककर कहा—"मैं मोटरकार पर बैठकर बाज़ार गई थी। वहाँ से बहुत अच्छी-अच्छी चीजें लाई हूँ। वह देखो कौन खड़ा है?"

माँ ने सेठजी की तरफ़ ताका और लजाकर सिर झुका लिया।

बरामदे में पहुँचते ही रोहिणी माँ की गोद से उतरकर सेठजी के पास गई और अपनी माँ को यकीन दिलाने के लिए भोलेपन से बोली—"क्यों, तुम मेरे बाप हो न?"

सेठजी ने प्यार करके कहा—"हाँ, तुम मेरी प्यारी बेटी हो।"

रोहिणी ने उनके मुँह की तरफ़ याचना-भरी आँखों से देखकर कहा—" अब तुम रोज़ यहीं रहा करोगे?"

सेठजी ने उसके बाल सुलझाकर जवाब दिया—"मैं यहाँ रहूँगा तो काम कौन करेगा? मैं कभी-कभी तुम्हें देखने आया करूँगा, लेकिन वहाँ से तुम्हारे लिए अच्छी-अच्छी चीजें भेजूँगा।"

रोहिणी कुछ उदास-सी हो गई। इतने में उसकी माँ ने मकान का दरवाज़ा खोला और बड़ी फुर्ती से मैले बिछावन और फटे हुए कपड़े समेटकर कोने में डाल दिए कि कहीं सेठजी की निगाह उन पर न पड़ जाए। यह स्वाभिमान स्त्रियों की ख़ास अपनी चीज़ है।

रुक्मिणी अब इस सोच में पड़ी थी कि मैं इनकी क्या खातिर-तवाजों करूँ। उसने सेठजी का नाम सुना था, उसका पति हमेशा उनकी बड़ाई किया करता था। वह उनकी दया और उदारता की चर्चाएँ अनेकों बार सुन चुकी थी। वह उन्हें अपने मन का देवता समझा करती थी, उसे क्या उम्मीद थी कि कभी उसका घर भी उनके क़दमों से रोशन होगा, लेकिन आज जब वह शुभ दिन संयोग से आया तो वह इस क़ाबिल भी नहीं कि उन्हें बैठने के लिए एक मोढ़ा ले सके। घर में पान और इलायची भी नहीं। वह अपने आँसुओं को किसी तरह न रोक सकी।

आख़िर जब अँधेरा हो गया और पास के ठाकुरद्वारे से घंटों और नगाड़ों की आवाज़ें आने लगीं तो उन्होंने ज़रा ऊँची आवाज़ में कहा—"बाई जी, अब मैं जाता हूँ। मुझे अभी यहाँ बहुत काम करना है। मेरी रोहिणी को कोई तकलीफ न हो। मुझे जब मौक़ा मिलेगा, उसे देखने आऊँगा। उसके पालने-पोसने का काम मेरा है और मैं बहुत खुशी से पूरा करूँगा। उसके लिए अब तुम कोई फ़िक्र मत करो। मैंने उसका वज़ीफ़ा बाँध दिया है और यह उसकी पहली क़िस्त है।"

यह कहकर उन्होंने अपना खूबसूरत बटुआ निकाला और रुक्मिणी के सामने रख दिया। ग़रीब औरत की आँखों से आँसू जारी थे। उसका जी बरबस चाहता था कि उनके पैरों को पकड़कर ख़ूब रोये। आज बहुत दिनों के बाद एक सच्चे हमदर्द की आवाज़ उसे कान में आई थी।

जब सेठजी चले तो उसने दोनों हाथों से प्रणाम किया। उसके हृदय की गहराइयों से प्रार्थना निकली—"आपने एक बेबस पर दया की है, ईश्वर आपको इसका बदला दे।"

दूसरे दिन रोहिणी पाठशाला गई तो उसकी बाँकी सज-धज आँखों में खूबी जाती थी। उस्तादनियों ने उसे बारी-बारी प्यार किया और उसकी सहेलियाँ उसकी एक-एक चीज को आश्चर्य से देखतीं और ललचाती थीं। अच्छे कपड़ों से कुछ स्वाभिमान का अनुभव होता है। आज रोहिणी वह ग़रीब लड़की न रही जो दूसरों की तरफ़ विवश नेत्रों से देखा करती थी। आज उसकी एक-एक क्रिया से शैशवोचित गर्व और चंचलता टपकती थी और उसकी ज़बान एक दम के लिए भी न रुकती थी। कभी मोटर की तेजी का ज़िक्र था, कभी बाज़ार की दिलचस्पियों का बयान, कभी

अपनी गुड़ियों के कुशल-मंगल की चर्चा थी और कभी अपने बाप की मुहब्बत की दास्तान। दिल था कि उमंगों से भरा हुआ था।

एक महीने के बाद सेठ पुरुषोत्तमदास ने रोहिणी के लिए फिर तोहफ़े और रुपये रवाना किए। बेचारी विधवा को उनकी कृपा से जीविका की चिंता से छुट्टी मिली। वह भी रोहिणी के साथ पाठशाला आती और दोनों माँ-बेटियाँ एक ही दरज़े में साथ-साथ पढ़तीं, लेकिन रोहिणी का नंबर हमेशा माँ से अव्वल रहा। सेठजी जब पूना की तरफ़ से निकलते तो रोहिणी को देखने ज़रूर आते और उनका आगमन उसकी प्रसन्नता और मनोरंजन के लिए महीनों का सामान इकट्ठा कर देता।

इसी तरह कई साल गुज़र गए और रोहिणी ने जवानी के सुहाने हरे-भरे मैदान में पैर रक्खा, जब कि बचपन की भोली-भाली अदाओं में एक ख़ास मतलब और इरादों का दख़ल हो जाता है।

रोहिणी अब आंतरिक और बाह्य सौंदर्य में अपनी पाठशाला की नाक थी। हाव-भाव में आकर्षक गंभीरता, बातों में गीत-सा खिंचाव और गीत का-सा आत्मिक रस था। कपड़ों में रंगील सादगी, आँखों में लाज-संकोच, विचारों में पवित्रता। जवानी थी मगर घमंड और बनावट और चंचलता से मुक्त। उसमें एक एकाग्रता थी जो ऊँचे इरादों से पैदा होती है। स्त्रियोचित उत्कर्ष की मंज़िलें वह धीरे-धीरे तय करती चली जाती थी।

3

सेठजी के बड़े बेटे नरोत्तमदास कई साल तक अमेरिका और जर्मनी की युनिवर्सिटी की ख़ाक छानने के बाद इंजीनियरिंग विभाग में कमाल हासिल करके वापस आए थे। अमेरिका के सबसे प्रतिष्ठित कॉलेज में उन्होंने सम्मान का पद प्राप्त किया था। अमेरिका के अख़बार एक हिंदोस्तानी नौजवान की इस शानदार क़ामयाबी पर चकित थे। उन्हीं का स्वागत करने के लिए बंबई में एक बड़ा जलसा किया गया था। इस उत्सव में शरीक होने के लिए लोग दूर-दूर से आए थे। सरस्वती पाठशाला को भी निमंत्रण मिला और रोहिणी को सेठानीजी ने विशेष रूप से आमंत्रित किया। पाठशाला में हफ़्तों तैयारियाँ हुईं। रोहिणी को एक दम के लिए चैन न था। यह पहला मौक़ा था कि उसने अपने लिए बहुत अच्छे-अच्छे कपड़े बनवाए। रंगों के चुनाव में वह मिठास थी, काट-छाँट में वह फबन जिससे उसकी सुंदरता चमक उठी। सेठानी कौसल्या देवी उसे लेने के लिए रेलवे स्टेशन पर मौजूद थीं। रोहिणी गाड़ी से उतरते ही उनके पैरों की तरफ़ झुकी, लेकिन उन्होंने उसे छाती से लगा लिया और इस तरह प्यार किया कि जैसे वह उनकी बेटी है। वह उसे बार-बार देखती थीं और आँखों से गर्व और प्रेम टपक पड़ता था। इस जलसे के लिए ठीक समुंदर के किनारे एक हरे-भरे सुहाने मैदान में एक लंबा-चौड़ा शामियाना लगाया गया था। एक तरफ़ आदमियों का समुद्र उमड़ा हुआ था, दूसरी तरफ़ समुद्र की लहरें उछल रहीं थीं, गोया वह भी इस खुशी में शरीक थीं।

जब उपस्थित लोगों ने रोहिणी बाई के आने की ख़बर सुनी तो हजारों आदमी उसे देखने के लिए खड़े हो गए। यही तो वह लड़की है जिसने अबकी शास्त्री की परीक्षा पास की है। ज़रा उसके दर्शन करने चाहिए। अब भी इस देश की स्त्रियों में ऐसे रतन मौजूद हैं। भोले-भाले देशप्रेमियों में इस तरह की बातें होने लगीं। शहर की कई प्रतिष्ठित महिलाओं ने आकर रोहिणी को गले लगाया और आपस में उसके सौंदर्य और उसके कपड़ों की चर्चा होने लगी।

आखिर मिस्टर पुरुषोत्तम दास तशरीफ़ लाये। हालाँकि वह बड़ा शिष्ट और गंभीर उत्सव था लेकिन उस वक़्त दर्शन की उत्कंठा पागलपन की हद तक जा पहुँची थी। एक भगदड़-सी मच गई। कुर्सियों की कतारें गड़बड़ हो गईं। कोई कुर्सी पर खड़ा हुआ, कोई उसके हत्थों पर। कुछ मनचले लोगों ने शामियाने की रस्सियाँ पकड़ीं और उन पर जा लटके। कई मिनट तक यही तूफ़ान मचा रहा। कहीं कुर्सियाँ टूटीं, कहीं कुर्सियाँ उलटीं, कोई किसी के ऊपर गिरा, कोई नीचे। ज़्यादा तेज़ लोगों में धौल-धप्पा होने लगा।

तब बीन की सुहानी आवाजें आने लगीं। रोहिणी ने अपनी मंडली के साथ देश-प्रेम में डूबा हुआ गीत शुरू किया। सारे उपस्थित लोग बिलकुल शांत थे और उस समय वह सुरीला राग, उसकी कोमलता और स्वच्छता, उसकी प्रभावशाली मधुरता, उसकी उत्साह-भरी वाणी दिलों पर वह नशा-सा पैदा कर रही थी जिससे प्रेम की लहरें उठती हैं, जो दिल की बुराइयों को मिटाता है और जिससे ज़िंदगी की हमेशा याद रखने वाली यादगारें पैदा हो जाती हैं। गीत बंद होने पर तारीफ़ की एक आवाज़ न आई। वही तानें कानों में अब तक गूँज रही थीं।

गाने के बाद विभिन्न संस्थाओं की तरफ से अभिनंदन पेश हुए और तब नरोत्तमदास लोगों को धन्यवाद देने के लिए खड़े हुए, लेकिन उनके भाषण से लोगों को थोड़ी निराशा हुई। यों दोस्तों की मंडली में उनकी वक्तृता के आवेग और प्रवाह की कोई सीमा न थी, लेकिन सार्वजनिक सभा के सामने खड़े होते ही शब्द और विचार दोनों ही उनसे बेवफ़ाई कर जाते थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी मुश्किल से धन्यवाद के कुछ शब्द कहे और तब अपनी योग्यता की लज्जित स्वीकृति के साथ अपनी जगह पर आ बैठे। कितने ही लोग उनकी योग्यता पर ज्ञानियों की तरह सिर हिलाने लगे।

अब जलसा ख़त्म होने का वक़्त आया। वह रेशमी हार जो सरस्वती पाठशाला की ओर से भेजा गया था, मेज़ पर रखा हुआ था। उसे हीरो के गले में कौन डाले? प्रेसिडेंट ने महिलाओं की पंक्ति की ओर नजर दौड़ाई। चुननेवाली आँख रोहिणी पर पड़ी और ठहर गई। उसकी छाती धड़कने लगी, लेकिन उत्सव के सभापति के आदेश का पालन आवश्यक था। वह सर झुकाये हुए मेज़ के पास आई और काँपते हाथों से हार उठा लिया। एक-क्षण के लिए दोनों की आँखे मिलीं और रोहिणी ने नरोत्तमदास के गले में हार डाल दिया।

दूसरे दिन सरस्वती पाठशाला के मेहमान विदा हुए, लेकिन कौसल्यादेवी ने रोहिणी को न जाने दिया। बोली—"अभी तुम्हें देखने से जी नहीं भरा, तुम्हें यहाँ एक हफ़्ता रहना होगा। आख़िर मैं भी तो तुम्हारी माँ हूँ। एक माँ से इतना प्यार और दूसरी माँ से इतना अलगाव!"

रोहिणी कुछ जवाब न दे सकी।

यह सारा हफ़्ता कौसल्या देवी ने उसकी बिदाई की तैयारियों में ख़र्च किया। सातवें दिन उसे विदा करने के लिए स्टेशन तक आईं। चलते वक़्त उससे गले मिलीं और बहुत कोशिश करने पर भी आँसुओं को न रोक सकीं। नरोत्तमदास भी आए थे। उनका चेहरा उदास था। कौसल्या ने उनकी तरफ़ सहानुभूति पूर्ण आँखों से देखकर कहा—"मुझे यह तो ख़याल ही न रहा, रोहिणी क्या यहाँ से पूना तक अकेली जाएगी? क्या हर्ज़ है, तुम्हीं चले जाओ, शाम की गाड़ी से लौट आना।"

नरोत्तमदास के चेहरे पर ख़ुशी की लहर दौड़ गई, जो इन शब्दों में न छिप सकी—"अच्छा, मैं ही चला जाऊँगा।" वह इस फ़िक्र में थे कि देखें विदाई की बात-चीत का मौक़ा भी मिलता है या नहीं। अब वह ख़ूब जी-भर कर अपना दर्दे-दिल सुनाएँगे और मुमकिन हुआ तो उस लाज-संकोच को, जो उदासीनता के परदे में छिपी हुई है, मिटा देंगे।

4

रूक्मिणी को अब रोहिणी की शादी की फ़िक्र पैदा हुई। पड़ोस की औरतों में इसकी चर्चा होने लगी थी। लड़की इतनी सयानी हो गई है, अब क्या बुढ़ापे में ब्याह होगा? कई जगह से बात आई, उनमें कुछ बड़े प्रतिष्ठित घराने थे, लेकिन जब रूक्मिणी उन पैग़ामों को सेठजी के पास भेजती तो वे यही जवाब देते कि मैं ख़ुद फ़िक्र में हूँ। रूक्मिणी को उनकी यह टाल-मटोल बुरी मालूम होती थी।

रोहिणी को बंबई से लौटे महीना-भर हो चुका था कि एक दिन वह पाठशाला से लौटी तो उसे अपनी अम्माँ की चारपाई पर एक ख़त पड़ा हुआ मिला। रोहिणी पढ़ने लगी, लिखा था—"बहन, जब से मैंने तुम्हारी लड़की को बंबई में देखा है, मैं उस पर रीझ गई हूँ। अब उसके बग़ैर मुझे चैन नहीं है। क्या मेरा ऐसा भाग्य होगा कि वह मेरी बहू बन सके? मैं ग़रीब हूँ, लेकिन मैंने सेठजी को राज़ी कर लिया है। तुम भी मेरी यह विनती क़बूल करो। मैं तुम्हारी लड़की को चाहे फूलों की सेज पर न सुला सकूँ, लेकिन इस घर का एक-एक आदमी उसे आँखों की पुतली बनाकर रखेगा। अब रहा लड़का। माँ के मुँह से लड़के का बखान कुछ अच्छा नहीं मालूम होता, लेकिन यह कह सकती हूँ कि परमात्मा ने यह जोड़ी अपने हाथों बनाई है। सूरत में, स्वभाव में, विद्या में, हर दृष्टि से वह रोहिणी के योग्य है। तुम जैसे चाहो, अपना इत्मीनान कर

सकती हो। जवाब जल्द देना और ज़्यादा क्या लिखूँ।" नीचे थोड़े से शब्दों में सेठजी ने उस पैग़ाम की सिफ़ारिश की थी।

रोहिणी गालों पर हाथ रखकर सोचने लगी। नरोत्तमदास की तस्वीर उसकी आँखों के सामने आ खड़ी हुई। उनकी वह प्रेम की बातें, जिनका सिलसिला बंबई से पूना तक नहीं टूटा था, कानों में गूँजने लगीं। उसने एक ठंडी साँस ली और उदास होकर चारपाई पर लेट गई।

5

सरस्वती पाठशाला में एक बार फिर सजावट और सफ़ाई के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। आज रोहिणी की शादी का शुभ दिन है। शाम का वक़्त, वसंत का सुहाना मौसम, पाठशाला के दरो-दीवार मुस्करा रहे हैं और हरा-भरा बाग़ीचा फूला नहीं समाता।

चंद्रमा अपनी बारात लेकर पूरब की तरफ़ से निकला। उसी वक़्त मंगलाचरण का सुहाना राग उस रूपहली चाँदनी और हल्के-हल्के हवा के झोंकों में लहरें मारने लगा। दूल्हा आया, उसे देखते ही लोग हैरत में आ गए। यह नरोत्तमदास थे।

दूल्हा मंडप के नीचे गया। रोहिणी की माँ अपने को रोक न सकी, वह उसी वक़्त जाकर सेठजी के पैरों पर गिर पड़ी। रोहिणी की आँखों से प्रेम और आनंद के आँसू बहने लगे।

मंडप के नीचे हवन-कुंड बना हुआ था। हवन शुरू हुआ, ख़ुशबू की लपटें हवा में उठीं और सारा मैदान महक गया। लोगों के दिलो-दिमाग़ में ताज़गी की उमंग पैदा हुई।

फिर संस्कार की बारी आई। दूल्हा और दुल्हन ने आपस में हमदर्दी, ज़िम्मेदारी और वफ़ादारी के पवित्र शब्द अपनी ज़बानों से कहे। विवाह की यह मुबारक ज़ंजीर गले में पड़ी जिसमें वज़न है, सख़्ती है, पाबंदियाँ हैं लेकिन वज़न के साथ सुख और पाबंदियों के साथ विश्वास है। दोनों दिलों में उस वक़्त एक नई, बलवान, आत्मिक शक्ति की अनुभूति हो रही थी।

जब शादी की रस्में ख़त्म हो गईं तो नाच-गाने की मजलिस का दौर आया। मोहक गीत गूँजने लगे। सेठजी थककर चूर हो गए थे। ज़रा दम लेने के लिए बाग़ीचे में जाकर एक बेंच पर बैठ गए। ठंडी-ठंडी हवाएँ आ रही थी। एक नशा-सा पैदा करनेवाली शांति चारों तरफ़ छाई हुई थी। उसी वक़्त रोहिणी उनके पास आई और उनके पैरों से लिपट गई। सेठजी ने उसे उठाकर गले से लगा लिया और हँसकर बोले—"क्यों, अब तो तुम मेरी अपनी बेटी हो गई?"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जून, 1914)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

ख़ून सफ़ेद

1

चैत का महीना था, लेकिन वे खलिहान, जहाँ अनाज की ढेरियाँ लगी रहती थीं, पशुओं के शरणस्थल बने हुए थे; जहाँ घरों से फाग और बसंत का अलाप सुनाई पड़ती, वहाँ आज भाग्य का रोना था। सारा चौमासा बीत गया, पानी की एक बूँद न गिरी। जेठ में एक बार मूसलाधार वृष्टि हुई थी, किसान फूले न समाए। खरीफ़ की फसल बो दी, लेकिन इंद्रदेव ने अपना सर्वस्व शायद एक ही बार लुटा दिया था। पौधे उगे, बढ़े और फिर सूख गए। गोचर भूमि में घास न जमी। बादल आते, घटाएँ उमड़तीं, ऐसा मालूम होता कि जल-थल एक हो जाएगा, परंतु वे आशा की नहीं, दुःख की घटाएँ थीं।

किसानों ने बहुतेरे जप-तप किए, ईंट और पत्थर देवी-देवताओं के नाम से पुजाए, बलिदान किए, पानी की अभिलाषा में रक्त के पनाले बह गए, लेकिन इंद्रदेव किसी तरह न पसीजे। न खेतों में पौधे थे, न गोचरों में घास, न तालाबों में पानी। बड़ी मुसीबत का सामना था। जिधर देखिए, धूल उड़ रही थी। दरिद्रता और क्षुधा-पीड़ा के दारुण दृश्य दिखाई देते थे। लोगों ने पहले तो गहने और बरतन गिरवी रखे, और अंत में बेच डाले। फिर जानवरों की बारी आई और जब जीविका का अन्य कोई सहारा न रहा, तब जन्मभूमि पर जान देनेवाले किसान बाल-बच्चों को लेकर मज़दूरी करने निकल पड़े। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कहीं-कहीं सरकार की सहायता से काम खुल गया था। बहुतेरे वहीं जाकर जमे। जहाँ जिसको सुभीता हुआ, वह उधर ही जा निकला।

2

संध्या का समय था। जादोराय थका-माँदा आकर बैठ गया और स्त्री से उदास होकर बोला—"दरख़ास्त नामंज़ूर हो गई।" यह कहते-कहते वह आँगन में ज़मीन पर लेट गया। उसका मुख पीला पड़ रहा था और आँतें सिकुड़ी जा रही थी, आज दो दिन से

उसने दाने की सूरत नहीं देखी। घर में जो कुछ विभूति थी, गहने-कपड़े, बर्तन-भाँड़ें सब पेट में समा गए। गाँव का साहूकार भी पतिव्रता स्त्रियों की भाँति आँखें चुराने लगा। केवल तकावी का सहारा था, उसी के लिए दरख़ास्त दी थी, लेकिन आज वह भी नामंज़ूर हो गई, आशा का झिलमिलाता हुआ दीपक बुझ गया।

देवकी ने पति को करुण दृष्टि से देखा। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए। पति दिन-भर का थका-माँदा घर आया है। उसे क्या खिलाए? लज्जा के मारे वह हाथ-पैर धोने के लिए पानी भी न लाई। जब हाथ-पैर धोकर आशा-भरी चितवन से वह उसकी ओर देखेगा, तब वह उसे क्या खाने को देगी? उसने आप कई दिन से दाने की सूरत नहीं देखी थी, लेकिन इस समय उसे जो दुःख हुआ, वह क्षुधातुरता के कष्ट से कई गुना अधिक था। स्त्री घर की लक्ष्मी है। घर के प्राणियों को खिलाना-पिलाना वह अपना कर्त्तव्य समझती है और चाहे यह उसका अन्याय ही क्यों न हो, लेकिन अपनी दीन-हीन दशा पर जो मानसिक वेदना उसे होती है, वह पुरुषों को नहीं हो सकती।

हठात् उसका बच्चा साधो नींद से चौंका और मिठाई के लालच में आकर वह बाप से लिपट गया। इस बच्चे ने आज प्रातःकाल चने की रोटी का एक टुकड़ा खाया था और तब से कई बार उठा और कई बार रोते-रोते सो गया। चार वर्ष का नादान बच्चा, उसे वर्षा और मिठाइयों में कोई संबंध नहीं दिखाई देता था। जादोराय ने उसे गोद में उठा लिया और उसकी ओर दुःख-भरी दृष्टि से देखा। गर्दन झुक गई और हृदय-पीड़ा आँखों में न समा सकी।

3

दूसरे दिन वह परिवार भी घर से बाहर निकला। जिस तरह पुरुष के चित्त से अभिमान और स्त्री की आँख से लज्जा नहीं निकलती, उसी तरह अपनी मेहनत से रोटी कमाने वाला किसान भी मज़दूरी की खोज़ में घर से बाहर नहीं निकलता। लेकिन हा पापी पेट! तू सब कुछ कर सकता है! मान और अभिमान, ग्लानि और लज्जा के सब चमकते हुए तारे तेरी काली घटाओं की ओट में छिप जाते हैं।

प्रभात का समय था। ये दोनों विपत्ति के सताए घर से निकले। जादोराय ने लड़के को पीठ पर लिया। देवकी ने फटे-पुराने कपड़ों की वह गठरी सिर पर रखी, जिस पर विपत्ति को भी तरस आता। दोनों की आँखें आँसुओं से भरी थीं। देवकी रोती रही। जादोराय चुपचाप था। गाँव के दो-चार आदमियों से भेंट भी हुई, किंतु किसी ने इतना भी न पूछा कि कहाँ जाते हो? किसी के हृदय में सहानुभूति का वास न था।

जब ये लोग लालगंज पहुँचे, उस समय सूर्य्य ठीक सिर पर था। देखा, मीलों तक आदमी-ही-आदमी दिखाई देते थे, लेकिन हर चेहरे पर दीनता और दुःख के चिह्न झलक रहे थे।

बैसाख की जलती हुई धूप थी। आग के झोंके ज़ोर-ज़ोर से हरहराते हुए चल रहे थे। ऐसे समय में हड्डियों के अगणित ढाँचे, जिनके शरीर पर किसी प्रकार का कपड़ा न था, मिट्टी खोदने में लगे हुए थे, मानो वह मरघट भूमि थी, जहाँ मुर्दे अपने हाथों अपनी क़बर खोद रहे थे। बूढ़े और जवान, मर्द और बच्चे, सबके-सब ऐसे निराश और विवश होकर काम में लगे हुए थे, मानो मृत्यु और भूख उनके सामने बैठी घूर रही है। इस आफ़त में न कोई किसी का मित्र था, न हितू। दया, सहृदयता और प्रेम ये सब मानवीय भाव हैं, जिनका कर्त्ता मनुष्य है; प्रकृति ने हमको केवल एक भाव प्रदान किया है और वह स्वार्थ है। मानवीय भाव बहुधा कपटी मित्रों की भाँति हमारा साथ छोड़ देते हैं, पर यह ईश्वर-प्रदत्त गुण हमारा गला नहीं छोड़ता।

4

आठ दिन बीत गए थे। संध्या समय काम समाप्त हो चुका था। डेरे से कुछ दूर आम का एक बाग़ था। वहीं एक पेड़ के नीचे जादोराय और देवकी बैठी हुई थी। दोनों ऐसे कृश हो रहे थे कि उनकी सूरत नहीं पहचानी जाती थी। अब वह स्वाधीन कृषक नहीं रहे। समय के हेर-फेर से आज दोनों मज़दूर बने बैठे हैं।

जादोराय ने बच्चे को ज़मीन पर सुला दिया। उसे कई दिन से बुख़ार आ रहा है। कमल-सा चेहरा मुरझा गया है। देवकी ने धीरे से हिलाकर कहा—“बेटा! आँखें खोलो। देखो, साँझ हो गई।”

साधो ने आँखें खोल दीं, बुख़ार उतर गया था, बोला—“क्या हम घर आ गए माँ?”

घर की याद आ गई, देवकी की आँखें डबडबा आईं। उसने कहा—“नहीं, बेटा! तुम अच्छे हो जाओगे, तो घर चलेंगे। उठकर देखो, कैसा अच्छा बाग़ है?”

साधो माँ के हाथों के सहारे उठा और बोला—“माँ, मुझे बड़ी भूख लगी है; लेकिन तुम्हारे पास तो कुछ नहीं है। मुझे क्या खाने को दोगी?”

देवकी के हृदय में चोट लगी, पर धीरज धर के बोली—“नहीं बेटा, तुम्हारे खाने को मेरे पास सब-कुछ है। तुम्हारे दादा पानी लाते हैं, तो नरम-नरम रोटियाँ अभी बनाए देती हूँ।”

साधो ने माँ की गोद में सिर रख लिया और बोला—“माँ! मैं न होता तो तुम्हें इतना दुःख न होता।” यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा। यह वही बेसमझ बच्चा है, जो दो सप्ताह पहले मिठाइयों के लिए दुनिया सिर पर उठा लेता था। दुःख और चिंता ने कैसा अनर्थ कर दिया है। यह विपत्ति का फल है। कितना दुःखपूर्ण, कितना करुणाजनक व्यापार है!

इसी बीच में कई आदमी लालटेन लिए हुए वहाँ आए। फिर गाड़ियाँ आईं। उन पर डेरे और खेमे लदे हुए थे। दम-के-दम में यहाँ खेमे गड़ गए। सारे बाग़ में चहल-पहल नज़र आने लगी। देवकी रोटियाँ सेंक रही थी, साधो धीरे-धीरे उठा और आश्चर्य से देखता हुआ, एक डेरे के नज़दीक जाकर खड़ा हो गया।

5

पादरी मोहनदास खेमे से बाहर निकले, तो साधो उन्हें खड़ा दिखाई दिया। उसकी सूरत पर उन्हें तरस आ गया। प्रेम की नदी उमड़ आई। बच्चे को गोद में लेकर खेमे में एक गद्देदार कोच पर बिठा दिया और तब उसे बिस्कुट और केले खाने को दिए। लड़के ने अपनी ज़िंदगी में इन स्वादिष्ट चीज़ों को कभी न देखा था। बुख़ार की बेचैन करनेवाली भूख अलग मार रही थी। उसने ख़ूब मन-भर खाया और तब कृतज्ञ नेत्रों से देखते हुए पादरी साहब के पास जाकर बोला–"तुम हमको रोज़ ऐसी चीज़ें खिलाओगे?"

पादरी साहब इस भोलेपन पर मुसकरा के बोले–"मेरे पास इससे भी अच्छी-अच्छी चीज़ें हैं।"

इस पर साधोराय ने कहा–"अब मैं रोज तुम्हारे पास आऊँगा। माँ के पास ऐसी अच्छी चीज़ें कहाँ? वह तो मुझे चने की रोटियाँ खिलाती है।"

उधर देवकी ने रोटियाँ बनाईं और साधो को पुकारने लगी। साधो ने माँ के पास जाकर कहा–"मुझे साहब ने अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने को दी हैं। साहब बड़े अच्छे हैं।"

देवकी ने कहा–"मैंने तुम्हारे लिए नरम-नरम रोटियाँ बनाई हैं, आओ तुम्हें खिलाऊँ।"

साधो बोला–"अब मैं न खाऊँगा। साहब कहते थे कि मैं तुम्हें रोज़ अच्छी-अच्छी चीज़ें खिलाऊँगा। मैं अब उनके साथ रहा करूँगा।" माँ ने समझा कि लड़का हँसी कर रहा है। उसे छाती से लगाकर बोली–"क्यों बेटा, हमको भूल जाओगे? देखो, मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ!"

साधो तुतलाकर बोला–"तुम तो मुझे रोज़ चने की रोटियाँ दिया करती हो, तुम्हारे पास तो कुछ नहीं है। साहब मुझे केले और आम खिलाएँगे।" यह कहकर वह फिर खेमे की ओर भागा और रात को वहीं सो रहा।

पादरी मोहनदास का पड़ाव वहाँ तीन दिन रहा। साधो दिन-भर उन्हीं के पास रहता। साहब ने उसे मीठी दवाइयाँ दीं। उसका बुख़ार जाता रहा। वह भोले-भाले किसान यह देखकर साहब को आशीर्वाद देने लगे। लड़का चंगा हो गया और आराम से है। साहब को परमात्मा सुखी रखे। उन्होंने बच्चे की जान रख ली।

चौथे दिन रात को ही वहाँ से पादरी साहब ने कूच दिया। सुबह को जब देवकी उठी तो साधो का वहाँ पता न था। उसने समझा, कहीं टपके ढूँढ़ने गया होगा; किंतु थोड़ी देर देखकर उसने जादोराय से कहा—"लल्लू यहाँ नहीं है।"

उसने भी यही कहा—"कहीं टपके ढूँढ़ता होगा।"

लेकिन जब सूरज निकल आया और काम पर चलने का वक़्त हुआ, तब जादोराय को कुछ संशय हुआ। उसने कहा—"तुम यहीं बैठी रहना, मैं अभी उसे लिए आता हूँ।"

जादो ने आस-पास के सब बाग़ों को छान डाला और अंत में जब दस बज गए तो निराश लौट आया। साधो न मिला, यह देखकर देवकी ढाढ़ें मारकर रोने लगी।

फिर दोनों अपने लाल को तलाश में निकले। अनेक विचार चित्त में आने-जाने लगे। देवकी को पूरा विश्वास था कि साहब ने उस पर कोई मंत्र डालकर वश में कर लिया, लेकिन जादो को इस कल्पना के मान लेने में कुछ संदेह था। बच्चा इतनी दूर अनजान रास्ते पर अकेले नहीं आ सकता। फिर भी दोनों गाड़ी के पहियों और घोड़े के टापों के निशान देखते चले जाते थे। यहाँ तक कि वे एक सड़क पर आ पहुँचे। वहाँ गाड़ी के बहुत से निशान थे, उस विशेष लीक की पहचान न हो सकती थी। घोड़े के टाप भी एक झाड़ी की तरफ़ जाकर गायब हो गए। आशा का सहारा टूट गया। दोपहर हो गई थी। दोनों धूप के मारे बेचैन और निराशा से पागल हो रहे थे। वहीं एक वृक्ष की छाया में बैठ गए। देवकी विलाप करने लगी। जादोराय ने उसे समझाना शुरू किया।

जब ज़रा धूप की तेजी कम हुई, तो दोनों फिर आगे चले, किंतु अब आशा की जगह निराशा साथ थी, घोड़े के टापों के साथ उम्मीद का धुँधला निशान गायब हो गया था।

शाम हो गई। इधर-उधर गायों, बैलों के झुंड निर्जीव से पड़े दिखाई देते थे। यह दोनों दुःखिया हिम्मत हारकर एक पेड़ के नीचे टिक रहे। उसी वृक्ष पर मैने का एक जोड़ा बसेरा लिए हुए था। उनका नन्हा-सा शावक आज ही एक शिकारी के चंगुल में फँस गया था। दोनों दिन-भर उसे खोजते फिर। इस समय निराश होकर बैठ रहे। देवकी और जादो को अभी तक आशा की झलक दिखाई देती थी, इसलिए वे बेचैन थे।

तीन दिन तक ये दोनों अपने खोए हुए लाल की तलाश करते रहे। दाने से भेंट नहीं; प्यास से बेचैन होते, तो दो-चार घूँट पानी गले के नीचे उतार लेते।

आशा की जगह निराशा का सहारा था। दुःख और करुणा के सिवाय और कोई वस्तु नहीं। किसी बच्चे के पैर के निशान देखते, तो उनके दिलों में आशा तथा भय की लहरें उठने लगतीं थीं।

लेकिन प्रत्येक पग उन्हें अभीष्ट स्थान से दूर लिए जाता था।

6

इस घटना को हुए चौदह वर्ष बीत गए। इन चौदह वर्षों में सारी काया पलट गई। चारों ओर रामराज्य दिखाई देने लगा। इंद्रदेव ने कभी उस तरह अपनी निर्दयता न दिखाई और न ज़मीन ने ही। उमड़ी हुई नदियों की तरह अनाज से ढेकियाँ भर चलीं। उजड़े हुए गाँव बस गए। मज़दूर किसान बन बैठे और किसान जायदाद के तलाश में नज़रें दौड़ने लगे। वही चैत के दिन थे। खलिहानों में अनाज के पहाड़ खड़े थे। भाट और भिखमंगे किसानों की बढ़ती के तराने गा रहे थे। सुनारों के दरवाज़े पर सारे दिन और आधी रात तक गाहकों का जमघट लगा रहता था। दरजी को सिर उठाने की फ़ुरसत न थी। इधर-उधर दरवाज़ों पर घोड़े हिनहिना रहे थे। देवी के पुजारियों को अजीर्ण हो रहा था।

जादोराय के दिन भी फिरे। घर पर छप्पर की जगह खपरैल हो गया है। दरवाज़े पर अच्छे बैलों की जोड़ी बँधी हुई है। वह अब अपनी बहली पर सवार होकर बाज़ार जाया करता है। उसका बदन अब उतना सुडौल नहीं है। पेट पर इस सुदशा का विशेष प्रभाव पड़ा है और बाल भी सफ़ेद हो चले हैं। देवकी की गिनती भी गाँव की बूढ़ी औरतों में होने लगी है। व्यावहारिक बातों में उसकी बड़ी पूछ हुआ करती है। जब वह किसी पड़ोसिन के घर जाती है, तो वहाँ की बहुएँ भय के मारे थरथराने लगती हैं। उसके कटु वाक्य और तीव्र आलोचना की सारे गाँव में धाक बँधी हुई है। महीन कपड़े अब उसे अच्छे नहीं लगते, लेकिन गहनों के बारे में वह इतनी उदासीन नहीं है।

उनके जीवन का दूसरा भाग इससे कम उज्जवल नहीं है। उनकी दो संतानें हैं। लड़का माधोसिंह अब खेतीबारी के काम में बाप की मदद करता है। लड़की का नाम शिवगौरी है। वह भी माँ को चक्की पीसने में सहायता दिया करती है और खूब गाती है। बर्तन धोना उसे पसंद नहीं, लेकिन चौका लगाने में निपुण है। गुड़ियों के ब्याह करने से उसका जी कभी नहीं भरता। आए दिन गुड़ियों के विवाह होते रहते हैं। हाँ, इनमें किफ़ायत का पूरा ध्यान रहता है। खोए हुए साधो की याद अभी तक बाक़ी है। उसकी चर्चा नित्य हुआ करती है और कभी बिना रुलाए नहीं रहती। देवकी कभी-कभी सारे दिन उस लाड़ले बेटे की सुध में अधीर रहा करती है।

साँझ हो गई थी। बैल दिन-भर के थके-माँदे सिर झुकाए चले आते थे। पुजारी ने ठाकुरद्वारे में घंटा बजाना शुरू किया। आजकल फ़सल के दिन हैं। रोज़ पूजा होती है। जादोराय खाट पर बैठे नारियल पी रहे थे। शिवगौरी रास्ते में खड़ी उन बैलों को कोस रही थी, जो उनके भूमिस्थ विशाल भवन का निरादर करके उसे रौंदते चले जाते थे। घड़ियाल और घंटे की आवाज़ सुनते ही जादोराय भगवान् का चरणामृत लेने के लिए उठे ही थे कि उन्हें अकस्मात् एक नवयुवक दिखाई पड़ा, जो भूँकते हुए कुत्तों को दुतकारता, बाईसिकल को आगे बढ़ाता हुआ चला आ रहा था। उसने उनके चरणों पर अपना सिर रख दिया। जादोराय ने ग़ौर से देखा और तब दोनों एक-दूसरे से लिपट

गए। माधो भौंचक होकर बाईसिकल को देखने लगा। शिवगौरी रोती हुई घर में भागी और देवकी से बोली—"दादा को साहब ने पकड़ लिया है।" देवकी घबराई हुई बाहर आई। साधो उसे देखते ही उसके पैरों पर गिर पड़ा। देवकी छाती से लगाकर रोने लगी। गाँव के मर्द, औरतें और बच्चे सब जमा हो गए। मेला-सा लग गया।

7

साधो ने अपने माता-पिता से कहा—"मुझ अभागे से जो कुछ अपराध हुआ हो, उसे क्षमा कीजिए। मैंने अपनी नादानी से स्वयं बहुत कष्ट उठाए और आप लोगों को भी दुःख दिया, लेकिन अब मुझे अपनी गोद में लीजिए।"

देवकी ने रोकर कहा—"जब तुम हमको छोड़कर भागे थे, तो हम लोग तुम्हें तीन दिन तक बे-दाना-पानी के ढूँढ़ते रहे, पर जब निराश हो गए, तब अपने भाग्य को रोकर बैठ रहे। तब से आज तक कोई ऐसा दिन न गया कि तुम्हारी सुधि ने आई हो। रोते-रोते एक युग बीत गया; अब तुमने ख़बर ली है। बताओ बेटा! उस दिन तुम कैसे भागे और कहाँ जाकर रहे?"

साधो ने लज्जित होकर उत्तर दिया—"माताजी, अपना हाल क्या कहूँ! मैं पहर रात रहे, आपके पास से उठकर भागा। पादरी साहब के पड़ाव का पता शाम ही को पूछ लिया था। बस, पूछता हुआ दोपहर को उनके पास पहुँच गया। साहब ने मुझे पहले समझाया कि अपने घर लौट जाओ, लेकिन जब मैं किसी तरह राज़ी न हुआ, तो उन्होंने मुझे पूना भेज दिया। मेरी तरह वहाँ सैकड़ों लड़के थे। वहाँ बिस्कुट और नारंगियों का भला क्या ज़िक्र! जब मुझे आप लोगों की याद आती, मैं अक्सर रोया करता। मगर बचपन की उम्र थी, धीरे-धीरे उन्हीं लोगों से हिल-मिल गया। हाँ, जब से कुछ होश हुआ है और अपना-पराया समझने लगा हूँ, तब से अपनी नादानी पर हाथ मलता रहा हूँ। रात-दिन आप लोगों की रट लगी हुई थी। आज आप लोगों के आशीर्वाद से यह शुभ दिन देखने को मिला। दूसरों में बहुत दिन कटे, बहुत दिनों तक अनाथ रहा। अब मुझे अपनी सेवा में रखिए। मुझे अपनी गोद में लीजिए। मैं प्रेम का भूखा हूँ। बरसों से मुझे जो सौभाग्य नहीं मिला, वह अब दीजिए।"

गाँव के बहुत से बुड्ढे जमा थे। उनमें से जगतसिंह बोले—"तो क्यों बेटा? तुम इतने दिनों तक पादरियों के साथ रहे? उन्होंने तुमको भी पादरी बना लिया होगा?"

साधो ने सिर झुकाकर कहा—"जी हाँ, यह तो उनका दस्तूर ही है।"

जगतसिंह ने जादोराय की तरफ़ देखकर कहा—"यह बड़ी कठिन बात है।"

साधो बोला—"बिरादरी मुझे जो प्रायश्चित्त बतलाएगी, मैं उसे करूँगा। मुझसे जो कुछ बिरादरी का अपराध हुआ है, नादानी से हुआ है, लेकिन मैं उसका दंड भोगने के लिए तैयार हूँ।"

जगतसिंह ने फिर जादोराय की तरफ़ कनखियों से देखा और गंभीरता से बोले—"हिंदू धर्म्म में ऐसा कभी नहीं हुआ है। यों तुम्हारे माँ-बाप तुम्हें अपने घर में रख लें, तुम उनके लड़के हो, मगर बिरादरी कभी इस काम में शरीक न होगी। बोलो जादोराय! क्या कहते हो, कुछ तुम्हारे मन की भी तो सुन लें?"

जादोराय बड़ी दुविधा में था। एक ओर तो अपने प्यारे बेटे की प्रीति थी, दूसरी ओर बिरादरी का भय मारे डालता था। जिस लड़के के लिए रोते-रोते आँखें फूल गईं, आज वही सामने खड़ा आँखों में आँसू-भरे कहता है—पिताजी! मुझे अपनी गोद में लीजिए; और मैं पत्थर की तरह अचल खड़ा हूँ। शोक! इन निर्दयी भाइयों को किस तरह-समझाऊँ, क्या करूँ, क्या न करूँ?

लेकिन माँ की ममता उमड़ आई। देवकी से न रहा गया। उसने अधीर होकर कहा—"मैं अपने घर में रखूँगी और कलेजे से लगाऊँगी। इतने दिनों के बाद मैंने उसे पाया है, अब उसे नहीं छोड़ सकती।"

जगतसिंह रुष्ट होकर बोले—"चाहे बिरादरी छूट ही क्यों न जाए?"

देवकी ने भी गर्म होकर जवाब दिया—"हाँ, चाहे बिरादरी छूट ही जाए। लड़के-वालों ही के लिए आदमी बिरादरी की आड़ पकड़ता है। जब लड़का ही न रहा, तो भला बिरादरी किस काम आएगी?"

इस पर कई ठाकुर लाल-लाल आँखें निकालकर बोले—"ठकुराइन! बिरादरी की तो ख़ूब मर्य्यादा करती हो। लड़का चाहे किसी रास्ते पर जाए, लेकिन बिरादरी चूँ तक न करे? ऐसी विरादरी कहीं और होगी? हम साफ़-साफ़ कहे देते हैं कि अगर यह लड़का तुम्हारे घर में रहा, तो विरादरी भी बता देगी कि वह क्या कर सकती है।"

जगतसिंह कभी-कभी जादोराय से रुपए उधार लिया करते थे। मधुर स्वर से बोले—"भाभी! बिरादरी यह थोड़े ही कहती है कि तुम लड़के को घर से निकाल दो। लड़का इतने दिनों के बाद घर आया है, तो हमारे सिर आँखों पर रहे। बस, ज़रा खाने-पीने और छूत-छात का बचाव बना रहना चाहिए। बोलो जादो भाई! अब बिरादरी को कहाँ तक दबाना चाहते हो?"

जादोराय ने साधो की तरफ़ करुणा भरे नेत्रों से देखकर कहा—"बेटा, जहाँ तुमने हमारे साथ इतना सलूक किया है, वहाँ जगत भाई की इतनी कही और मान लो!"

साधो ने कुछ तीक्ष्ण शब्दों में कहा—"क्या मान लूँ? यह कि अपनों में ग़ैर बनकर रहूँ, अपमान सहूँ; मिट्टी का घड़ा भी मेरे छूने से अशुद्ध हो जाए न, यह मेरा किया न होगा, इतना निर्लज्ज नहीं!"

जादोराय को पुत्र की यह कठोरता अप्रिय मालूम हुई। वे चाहते थे कि इस वक़्त बिरादरी के लोग जमा हैं, उनके सामने किसी तरह समझौता हो जाए, फिर कौन देखता है कि हम उसे किस तरह रखते हैं? चिढ़कर बोले—"इतनी बात तो तुम्हें माननी ही पड़ेगी।"

साधोराय इस रहस्य को न समझ सका। बाप की इस बात में उसे निष्ठुरता की झलक दिखाई पड़ी। बोला—"मैं आपका लड़का हूँ। आपके लड़के की तरह रहूँगा। आपके प्रेम और भक्ति की प्रेरणा मुझे यहाँ तक लाई है। मैं अपने घर में रहने आया हूँ। अगर यह नहीं है तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि जितनी जल्दी हो सके, यहाँ से भाग जाऊँ। जिनका ख़ून सफ़ेद है, उनके बीच में रहना व्यर्थ है।"

देवकी ने रोकर कहा—"लल्लू, मैं अब तुम्हें न जाने दूँगी।"

साधो की आँखें भर आईं, पर मुसकराकर बोला—"मैं तो तुम्हारी थाली में खाऊँगा।"

देवकी ने उसे ममता और प्रेम की दृष्टि से देखकर कहा—"मैंने तो तुझे छाती से दूध पिलाया है, तू मेरी थाली में खाएगा तो क्या? मेरा बेटा ही तो है, कोई और तो नहीं हो गया!"

साधो इन बातों को सुनकर मतवाला हो गया। इसमें कितना स्नेह, कितना अपनापन था। बोला—"माँ, आया तो मैं इसी इरादे से था कि अब कहीं न जाऊँगा, लेकिन बिरादरी ने मेरे कारण यदि तुम्हें जातिच्युत कर दिया, तो मुझसे न सहा जाएगा। मुझसे इन गँवारों का कोरा अभिमान न देखा जाएगा। इसलिए इस वक़्त मुझे जाने दो। जब मुझे अवसर मिला करेगा, तुम्हें देख जाया करूँगा। तुम्हारा प्रेम मेरे चित्त से नहीं जा सकता, लेकिन यह असंभव है कि मैं इस घर में रहूँ और अलग खाना खाऊँ, अलग बैठूँ। इसके लिए मुझे क्षमा करना।"

देवकी घर में से पानी लाई। साधो मुँह धोने लगा। शिवगौरी ने माँ का इशारा पाया, तो डरते-डरते साधो के पास गई, साधो को आदरपूर्वक दंडवत की। साधो ने पहले उन दोनों को आश्चर्य से देखा, फिर अपनी माँ को मुसकराते देखकर समझ गया। दोनों लड़कों को छाती से लगा लिया और तीनों भाई बहिन प्रेम से हँसने-खेलने लगे। माँ खड़ी यह दृश्य देखती थी और उमंग से फूली न समाती थी।

जलपान करके साधो ने बाईसिकल सँभाली और माँ-बाप के सामने सिर झुकाकर चल खड़ा हुआ—"वहीं, जहाँ से तंग होकर आया था; उसी क्षेत्र में, जहाँ अपना कोई न था!"

देवकी फूट-फूटकर रो रही थी और जादोराय आँखों में आँसू-भरे, हृदय में एक ऐंठन-सी अनुभव करता हुआ सोचता था, हाय! मेरे लाल, तू मुझसे अलग हुआ जाता है। ऐसा योग्य और होनहार लड़का हाथ से निकला जाता है और केवल इसलिए कि अब हमारा ख़ून सफ़ेद हो गया है।

(*'ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1914*)
(*'प्रेम-पूर्णिमा' हिंदी कहानी-संग्रह, 1918 से प्रस्तुत*)
(*'मानसरोवर'-8, 1950*)

शिकारी राजकुमार

1

मई का महीना और मध्याह्न का समय था। सूर्य्य की आँखें सामने से हटकर सिर पर जा पहुँची थीं। इसलिए उन में शील न था। ऐसा विदित होता था, मानो पृथ्वी उनके भय से थर-थर काँप रही थी। ठीक ऐसे ही समय एक मनुष्य एक हिरन के पीछे उन्मत भाव से घोड़ा फेंके चला आता था। उसका मुख लाल हो रहा था और घोड़ा पसीने से लथ-पथ, किंतु मृग भी ऐसा भागता था, मानो वायुमार्ग से जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि उसके पद भूमि को स्पर्श भी नहीं करते। इसी दौड़ की जीत-हार पर उसका जीवन निर्भर था।

पछुवा हवा बड़े वेग से चल रही थी। ऐसा ज्ञात होता था, जैसे अग्नि और धूल की वर्षा कर रही हो। घोड़े के नेत्र रक्त वर्ण हो रहे थे और अश्वारोही के सारे शरीर का रुधिर उबल-सा रहा था, किंतु मृग का कावा काटना उसे इस बात का अवसर न देता कि वह अपनी बंदूक को सँभाले। कितने ही ऊख के खेत, ढाक के वन और पहाड़ सामने पड़े और तुरंत ही 'सपने की संपत्ति' की भाँति अदृश्य हो गए।

क्रमशः मृग और अश्वारोही के बीच अधिक अंतर होता जाता था कि अचानक मृग पीछे की ओर मुड़ा। सामने एक नदी का बड़ा ही ऊँचा कगार दीवार की भाँति खड़ा था। आगे भागने की राह बंद थी और उस पर से कूदना, मानो मृत्यु के मुख में कूदना था। हिरण का शरीर शिथिल पड़ गया। उसमें एक करुणा—भरी दृष्टि चारों ओर फेरी, किंतु उसे हर तरफ़ मृत्यु-ही-मृत्यु दृष्टिगोचर होती थी। अश्वारोही के लिए इतना समय बहुत था। उसके बंदूक़ से गोली क्या छूटी, मानो मृत्यु ने एक महा भयंकर जय-ध्वनि के साथ अग्नि का एक प्रचंड ज्वाल उगल दिया। हिरन भूमि पर लोट गया।

2

मृग पृथ्वी पर पड़ा तड़प रहा था और अश्वारोही की भयंकर और हिंसा-प्रिय आँखों से प्रसन्नता की ज्योंति चमक रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि उसने असाध्य को

सिद्ध कर लिया। उसने उस पशु के शव को नापने के बाद उसके सींगों को बड़े ध्यान से देखा और मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था कि इससे कमरे की सजावट द्विगुण अधिक बढ़ जाएगी और नेत्र उस सजावट का आनंद सर्वदा सुख से भोगेंगे।

जब तक वह इस ध्यान में मग्न था, उसको सूर्य्य की प्रचंड किरणों का लेशमात्र ध्यान न था, किंतु ज्यों ही उसका ध्यान उधर से फिरा उण्णता से वह विह्वल हो उठा और करुणापूर्ण आँखें नदी की ओर डालीं, लेकिन वहाँ तक पहुँचने का कोई भी मार्ग दृष्टिगोचर नहीं हुआ और न तो कोई वृक्ष ही देख पड़ा, जिसकी छाँह में वह तनिक विश्राम करता।

ऐसे ही समय, जब कि वह इस चिंता में डूबा हुआ था, एक अति दीर्घकाय पुरुष नीचे से उछलकर करारे के ऊपर आया और अश्वारोही के सम्मुख खड़ा हो गया। अश्वारोही उसको देख बहुत ही अचंभित हुआ। नवागंतुक एक बहुत ही सुंदर और हृष्ट-पुष्ट मनुष्य था। उसके चेहरे को देखने से यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता था कि जैसा उसका वदन सुंदर था, वैसे ही उसका हृदय स्वच्छ और चरित्र निर्मल थे। यह भी विदित होता था कि वह अति ही दृढ़-प्रतिज्ञ, आशा-निराशा तथा भय से बिलकुल अनभिज्ञ है।

मृग को देखकर उस संन्यासी ने बड़ी ही स्वाधीनता से कहा— "राजकुमार, तुम्हें आज बहुत ही अच्छा आखेट हाथ लगा। इतना बड़ा मृग तो इस जवार में कदाचित् ही दिखाई पड़े।"

राजकुमार के अचंभे की सीमा न रही, जब उसने यह जाना कि वह साधु तो उन्हें पहचान गया।

राजकुमार बोले—"जी हाँ, मैं भी यही ख़याल करता हूँ। मैंने भी आज तक इतना बड़ा हिरन नहीं देखा, किंतु इसके पीछे मुझे आज महान् कष्ट उठाना पड़ा।"

संन्यासी ने दयापूर्वक कहा—"निःसंदेह तुम्हें दुःख उठाना पड़ा होगा। तुम्हारा मुख लाल हो रहा है और घोड़ा भी बेदम हो गया है। क्या तुम्हारे संगी बहुत पीछे रह गए?"

इसका उत्तर राजकुमार ने बिलकुल बेपरवाही से दिया, मानो उसे इसकी कुछ भी चिंता न थी।

संन्यासी ने कहा—"यहाँ ऐसी कड़ी धूप और आँधी में खड़े तुम कब तक उनकी राह देखोगे? क्यों न मेरे कुटीर में चलकर ज़रा विश्राम कर लो। तुम्हें परमात्मा ने ऐश्वर्य दिया है, परंतु कुछ समय तक संन्यासाश्रम का रंग भी देखो और वनस्पतियों और नदी के शीतल जल में क्या आनंद है—इसका भी अनुभव करो।"

यह कहकर संन्यासी ने उस मृग के रक्तमय मृत शरीर को ऐसी सुगमता से उठाकर कंधे पर रख लिया, मानो वह एक घास का गट्ठा था और राजकुमार से बोला— "मैं तो प्रायः करार से नीचे उतर जाया करता हूँ, किंतु तुम्हारा घोड़ा संभव है न उतर सके। अतएव एक दिन की राह छोड़कर छः मास वाली राह चलेंगे। घाट यहाँ से थोड़ी दूर पर है और मेरी कुटी भी वहीं है।"

राजकुमार संन्यासी के पीछे चले। उन्हें उसके शारीरिक बल पर अचंभा हो रहा था। आधे घंटे तक दोनों चुपचाप चलते रहे। इसके बाद भूमि ढलुवाँ मिलनी शुरू हुई और थोड़े समय में घाट पर पहुँचा। वही कदंब के घने कुंजों के साए में, जहाँ सर्वदा मृगों की सभा सुशोभित रहती है और नदी की तरंगों का मधुर स्वर सर्वदा सुनाई दिया करता है, जहाँ हरियाली पर मयूर थिरकता, कपोत्यादि पक्षी मस्त होकर झूमते, ऐसे स्थान पर लता-द्रुमकों से सुशोभित संन्यासी की एक छोटी-सी कुटी थी।

3

संन्यासी की कुटी हरे वृक्षों के नीचे सरलता और संतोष का चित्र वन रही थी। राजकुमार की अवस्था वहाँ पहुँचते ही बदल गई। वहाँ की शीतल वायु का प्रभाव उस पर ऐसा ही पड़ा, जैसा कि मुरझाए हुए वृक्ष पर वर्षा का। उन पर आज विदित हुआ कि तृप्ति कुछ स्वादिष्ट व्यंजनों ही पर निर्भर नहीं है और न निद्रा सुनहरे तकियों की ही आवश्यकता रखती है।

शीतल, मंद, सुगंध चल रही थी। सूर्य्य भगवान अस्ताचल को पयान करते हुए इस लोक को तृपित नेत्रों से देखते जाते थे और संन्यासी एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ गा रहा था—

ऊधो! कर्मन की गति न्यारी।

राजकुमार के कानों में स्वर की भनक पड़ी, उठ बैठा और सुनने लगा। उसने बड़े-बड़े कलावंतों के गाने सुने थे, किंतु आज ऐसा आनंद उसे कदापि प्राप्त नहीं हुआ था। इस पद ने उसके ऊपर मानो मोहनी-मंत्र का जाल बिछा दिया, वह बिलकुल बे-सुध हो गए! संन्यासी की ध्वनि में कोयल के कूक की-सी मधुरता थी।

सम्मुख नदी का जल गुलाबी चादर प्रतीत होता था। दोनों कूलों की रेतें चंदन की चौकी-सी दीखती थीं। राजकुमार को यह दृश्य स्वर्गीय-सा जान पड़ने लगा। उस पर तैरने वाले जलचारी ज्योतिर्मय आत्मा-सद्वश दृष्टगोचर होते थे, जो गाने का आनंद उठाकर मत्त से हो गए थे।

जब गाना समाप्त हो गया, राजकुमार जाकर संन्यासी के आगे बैठ गए और भक्ति-पूर्वक बोले—"महात्मा, आपका प्रेम और वैराग्य सराहनीय है। इसका मेरे हृदय पर जो प्रभाव पड़ा है, चिरस्थायी रहेगा। यद्यपि सन्मुख प्रशंसा करना सर्वथा अनुचित है, किंतु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आपके प्रेम की गूढ़ता अति ही सराहनीय है। यदि मैं गृहस्थी के बंधन में पड़ा हुआ न होता तो आपके चरणों से पृथक् होने का ध्यान स्वप्न में भी न करता।"

इसी अनुरागावस्था में राजकुमार कितनी ही ऐसी वात कह गया जो कि स्पष्ट रूप से उनके आंतरिक भावों का विरोध करती थीं। संन्यासी मुस्कराकर बोला—

"तुम्हारी बातों से मैं बहुत प्रसन्न हूँ और मेरी उत्कट इच्छा है कि तुम को रोके रहूँ, किंतु यदि मैं जाने भी दूँ तो इस सूर्य्यास्त के समय तुम जा नहीं सकते। तुम्हारा रीवाँ पहुँचना दुष्कर हो जाएगा। तुम जैसे आखेट-प्रिय हो, वैसा ही मैं भी हूँ। हम दोनों को अपने-अपने गुण दिखाने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। कदाचित् तुम भय से न रुकते, किंतु आखेट के लालच से अवश्य रहोगे।"

राजकुमार को तुरंत ही मालूम हो गया कि जो बातें उन्होंने अभी-अभी संन्यासी से कही थीं, वे बिलकुल ही ऊपरी और दिखावे की थीं और हार्दिक भाव उनसे प्रकट नहीं हुए थे। आजन्म संन्यासी के समीप रहना तो दूर, वहाँ एक रात बिताना इनको कठिन जान पड़ने लगा। घर वाले उद्विग्न हो आएँगे और मालूम नहीं क्या सोचेंगे। साथियों की जान संकट में होगी। घोड़ा बे-दम हो रहा है। उस पर 40 मील जाना अति ही कठिन और बड़े ही साहस का काम है, किंतु यह महात्मा आखेट करते हैं—यह बड़ी अजीब बात है। कदाचित् यह वेदांती है; ऐसे वेदांती जो जीवन और मृत्यु मनुष्य के हाथ नहीं मानते। इनके संग आखेट में बड़ा ही आनंद आएगा।

यह सब सोच-विचार कर उन्होंने संन्यासी का आतिथ्य स्वीकार किया, उन्हें धन्यवाद दिया और अपने भाग्य की प्रशंसा की, जिसने कि उन्हें कुछ काल तक और साधु-संगति से लाभ उठाने का अवसर दिया।

4

रात दस बजे का समय था। घनी अँधियारी छाई हुई थी। संन्यासी ने कहा—"अब हमारे चलने का समय हो गया है, तैयार हो जाओ।"

राजकुमार पहले ही से प्रस्तुत थे। बंदूक़ कंधे पर रख पर बोले—"इस अंधकार में शूकर अधिकता से मिलेंगे, किंतु ये पशु हैं बड़े भयानक।"

संन्यासी ने एक मोटा डंडा हाथ में लिया और कहा—"कदाचित् इससे भी अच्छे आखेट हाथ आएँ। मैं जब अकेला जाता हूँ, कभी खाली नहीं लौटता। आज तो हम दो हैं।"

दोनों शिकारी नदी के तट पर नालों और रेत के टीलों को पार करते और झाड़ियों से अटकते चुपचाप चले जा रहे थे। एक ओर श्याम वर्ण नदी थी, जिसमें नक्षत्रों का प्रतिबिंब नाचता दिखाई पड़ता था और लहरें गान कर रही थीं। दूसरी ओर घनघोर अंधकार जिसमें कभी-कभी केवल खद्योतों के चमकने से एक क्षण स्थायी प्रकाश फैल जाता था। मालूम होता था कि वे भी अँधेरे में निकलने से डरते हैं।

ऐसी अवस्था में कोई एक घंटा चलने के बाद वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ एक ऊँचे टीले पर घने वृक्षों के नीचे आग जलती दिखाई पड़ी। उस समय इन लोगों को मालूम हुआ कि संसार में अँधकार के अतिरिक्त और भी कोई वस्तु है।

संन्यासी ने ठहरने का संकेत किया। दोनों एक पेड़ की ओट में खड़े होकर ध्यानपूर्वक देखने लगे। राजकुमार ने बंदूक़ भर ली। टीले पर एक बड़ा छायादार वट-वृक्ष था। उसी के नीचे अँधकार में दस-बारह मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित मिर्ज़ई पहिने चरस का दम लगा रहे थे। इन में से प्रायः सभी लंबे थे। सभी के सीने चौड़े और सभी हृष्ट-पुष्ट। मालूम होता था कि सैनिकों का एक दल विश्राम कर रहा है।

राजकुमार ने पूछा–"क्या यह लोग भी आखेट करनेवाले हैं?" संन्यासी ने धीरे से कहा–"हाँ, यह बड़े ही चाव से आखेट करते हैं। यह राह चलते हुए यात्रियों का आखेट करते हैं। यह बड़े भयानक हिंस्र पशु हैं। इनके अत्याचार से गाँव-के-गाँव बर्बाद हो गए और जितनों को इन्होंने मारा है, उनका हिसाब परमात्मा ही जाने। यदि आपको आखेट करना हो तो इनका आखेट कीजिए। ऐसा शिकार आप बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पा सकते। यही पशु हैं जिन पर आपको शस्त्रों का प्रहार करना उचित है। राजाओं और अधिकारियों के शिकार यही हैं। इस से आपकी प्रजा का हित होगा तथा आपका नाम और यश फैलेगा।

5

राजकुमार के जी में आया कि दो-एक को मार डालें, किंतु संन्यासी ने रोका और कहा– "इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। अगर यह कुछ उपद्रव न करें, तो भी, बचकर निकल जाएँगे। आगे चलो, संभव है कि इससे भी अच्छे शिकार हाथ आएँ।"

तिथि सप्तमी थी। चंद्रमा भी उदय हो आया। इन लोगों ने नदी का किनारा छोड़ दिया था। बीहड़ भी पीछे रह गया था। सामने एक कच्ची सड़क दिखाई पड़ी और थोड़ी देर में कुछ बस्ती भी दीख पड़ने लगी। संन्यासी एक विशाल प्रासाद के सामने आकर रुक गए और राजकुमार से बोले– "आओ, इस मौलसरी के वृक्ष पर बैठें, परंतु देखो, बोलना मत। नहीं तो, दोनों की जान के लाले पड़ जाएँगे। इस में एक बड़ा भयानक हिंस्र जीव रहता है, जिसने अनगिनत जीवधारियों का वध किया है। कदाचित् हम लोग आज इसको संसार से मुक्त कर दें।"

राजकुमार बहुत प्रसन्न हुआ। सोचने लगा, चलो, रात-भर की दौड़ तो सुफल हुई। दोनों मौलसरी पर चढ़कर बैठ गए। राजकुमार ने अपनी बंदूक़ सँभाल ली। और शिकार का, जिसे वह तेंदुआ समझे हुए था, बाट देखने लगा।

रात आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी। एकाएक महल के समीप कुछ हलचल मालूम हुई और बैठक के द्वार खुल गए। मोमवत्तियों के जलने से सारा हाता प्रकाशमान हो गया। कमरे के हर एक कोने में सुख की सामग्री दिखाई दे रही थी। मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य गले में रेशमी चादर डाले, माथे पर केसर का अर्धचंद्राकार तिलक लगाए, मसनद के सहारे बैठा सुनहरे मोहनाल से लच्छेदार धुआँ

फेंक रहा था। इतने ही में उन्होंने देखा कि नर्तकियों के दल-के-दल चले आ रहे है। उनके हाव-भाव व कटाक्ष के शर चलने लगे। समाजियों ने सुर मिलाया। गाना आरंभ हुआ और साथ-ही-साथ मद्यपान भी जारी हो गया।

राजकुमार ने अचंभित होकर पूछा– "यह तो कोई बहुत बड़ा रईस जान पड़ता है।"

संन्यासी ने उत्तर दिया– "नहीं यह रईस नहीं है, एक बड़े मंदिर के महंत हैं। साधु हैं, संसार का त्याग कर चुके हैं। सांसारिक वस्तुओं की ओर आँख नहीं उठाते, पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान की बातें करते हैं। यह सब सामान इनकी आत्मा की प्रसन्नता के लिए है। इन्द्रियों को वश में किए हुए इन्हें बहुत दिन हुए। सहस्त्रों सीधे-सादे मनुष्य इन पर विश्वास करते हैं। इनको अपना देवता समझते हैं।–यदि आप शिकार करना चाहते हैं तो इनका आखेट कीजिए। यही राजाओं और अधिकारियों के शिकार हैं। ऐसे रंगे हुए सियारों से संसार को मुक्त करना आपका परम धर्म्म है। इससे आपकी प्रजा का हित होगा तथा आपका नाम और यश फैलेगा।"

6

दोनों शिकारी नीचे उतरे। संन्यासी ने कहा– "अब रात अधिक बीत चुकी है। तुम बहुत थक गए होगे, किंतु राजकुमारों के साथ आखेट करने का अवसर मुझे बहुत कम प्राप्त होता है। अतएव, एक शिकार का पता और लगाकर तब लौटेंगे।"

राजकुमार को इन शिकारों में सच्चे उपदेश का सुख प्राप्त हो रहा था। बोले, "स्वामी जी, थकने का नाम न लीजिए। यदि मैं वर्षों आपकी सेवा में रहता तो और न जाने कितने ऐसे आखेट करना सीख जाता।"

दोनों फिर आगे बढ़े। अब की रास्ता स्वच्छ और चौड़ा था। हाँ, सड़क कदाचित् कच्ची ही थी। सड़क के दोनों ओर वृक्षों की पत्तियाँ थीं। किसी-किसी आम्र वृक्ष के नीचे रखवाले सो रहे थे। घंटे-भर बाद दोनों शिकारियों ने एक ऐसी बस्ती में प्रवेश किया, जहाँ की सड़कों, लालटेनों और अट्टालिकाओं से विदित होता था कि कोई बड़ा नगर है। संन्यासीजी एक विशाल मंदिर के सामने एक वृक्ष के नीचे ठहर गए और राजकुमार से बोले–"यह सरकारी कचहरी है। यहाँ राज्य का एक बड़ा कर्मचारी रहता है। उसे सूबेदार कहते हैं। इसकी कचहरी दिन को भी लगती है और रात को भी। यहाँ न्याय सुवर्ण और रत्नादिकों की तौल बिकता है। यहाँ की न्यायप्रियता द्रव्य पर निर्भर है। धनवान् दरिद्रों को पैरों तले कुचलते हैं और उनकी गोहार कोई भी नहीं सुनता।"

यही बातें हो रही थीं कि यकायक कोठे पर दो आदमी दिखलाई पड़े। दोनों शिकारी वृक्ष की ओट में छिप गए। संन्यासी ने कहा– "शायद सूबेदार साहब कोई मामला तय कर रहे हैं।"

ऊपर से आवाज़ आई– "तुमने एक विधवा स्त्री की जायदाद ले ली है, मैं इसे भली-भाँति जानता हूँ। यह कोई छोटा मामला नहीं है। इसमें एक सहस्त्र से कम पर मैं बातचीत करना नहीं चाहता।"

राजकुमार में इससे अधिक सुनने की शक्ति न रही। क्रोध के मारे नेत्र लाल हो गए। यही जी चाहता था कि इस निर्दयी का अभी वध कर दें, किंतु संन्यासी ने रोका। बोले– "आज इस शिकार का समय नहीं है। यदि आप ढूढ़ेंगे तो ऐसे शिकार बहुत मिलेंगे। मैंने उनके कुछ ठिकाने बतला दिए हैं। अब प्रातःकाल होने में अधिक विलंब नहीं है। कुटी अभी यहाँ से दस मील होगी। आइए, शीघ्र चलें।"

7

दोनों शिकारी तीन बजते-बजते फिर कुटी में लौट आए। उस समय बड़ी सुहावनी रात थी। शीतल समीर ने हिला-हिलाकर वृक्षों और पत्तों की निद्रा भंग करना आरंभ कर दिया था।

आध घंटे में राजकुमार तैयार हो गए। संन्यासी से अपना विश्वास और कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके चरणों पर अपना मस्तक नवाया और घोड़े पर सवार हो गए।

संन्यासी ने उनकी पीठ पर कृपापूर्वक हाथ फेरा। आशीर्वाद देकर बोले– "राजकुमार, तुम से भेंट होने से मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। परमात्मा ने तुम्हें अपनी सृष्टि पर राज करने हेतु जन्म दिया है। तुम्हारा धर्म्म है कि सदा प्रजा-पालक बनो। तुम्हारे लिए पशुओं का वध करना उचित नहीं। इन दीन पशुओं का वध करने में कोई बहादुरी नहीं, कोई साहस नहीं। सच्चा साहस और सच्ची बहादुरी दीनों की रक्षा और उनकी सहायता करने में है। विश्वास मानो, मनुष्य जो केवल चित्त विनोदार्थ जीव-हिंसा करता है, वह निर्दयी घातक से भी कठोर हृदय है। वह घातक के लिए जीविका है, किंतु शिकारी के लिए केवल दिल बहलाने का एक सामान। तुम्हारे लिए ऐसे शिकारों की आवश्यकता है, जिससे तुम्हारी प्रजा को सुख पहुँचे। निःशब्द पशुओं का वध न करके तुमको उन हिंसकों के पीछे दौड़ना चाहिए जो धोखाधड़ी से दूसरों का वध करते हैं। ऐसे आखेट करो जिससे तुम्हारी आत्मा को शांति मिले, तुम्हारी कीर्ति संसार में फैले। तुम्हारा काम वध करना नहीं, जीवित रखना है। यदि वध करो तो केवल जीवित रखने के लिए। यही तुम्हारा धर्म्म है। जाओ, परमात्मा तुम्हारा कल्याण करे।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, अगस्त, 1914)
('स्वदेश' साप्ताहिक, 18 अगस्त, 1919 से प्रस्तुत)
('प्रेम-पूर्णिमा', हिंदी कहानी-संग्रह, 1918)
('मानसरोवर'-8, 1950)

अपनी करनी

1

आह, अभागा मैं! मेरे कर्मों के फल ने आज यह दिन दिखाए कि अपमान भी मेरे ऊपर हँसता है और यह सब मैंने अपने हाथों किया। शैतान के सिर इलज़ाम क्यों दूँ, क़िस्मत को खरी-खोटी क्यों सुनाऊँ, होनी को क्यों रोऊँ। जो कुछ किया मैंने जानते और बूझते हुए किया। अभी एक साल गुज़रा जब मैं भाग्यशाली था, प्रतिष्ठित था और समृद्धि मेरी चेरी थी। दुनिया की नेमतें मेरे सामने हाथ बाँधे खड़ी थीं लेकिन आज बदनामी और कंगाली और शर्मिंदगी मेरी दुर्दशा पर आँसू बहाती हैं। मैं ऊँचे ख़ानदान का, बहुत पढ़ा-लिखा आदमी था, फ़ारसी का मुल्ला, संस्कृत का पंडित, अंग्रेज़ी का ग्रेजुएट। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू क्या बनूँ, लेकिन रूप भी मुझको मिला था, इतना कि दूसरे मुझसे ईर्ष्या कर सकते थे। ग़रज़ एक इन्सान को ख़ुशी के साथ ज़िंदगी बसर करने के लिए जितनी अच्छी चीज़ों की ज़रूरत हो सकती है, वह सब मुझे हासिल थीं। सेहत का यह हाल कि मुझे कभी सरदर्द की भी शिकायत नहीं हुई। फ़िटन की सैर, दरिया की दिलफ़रेबियाँ, पहाड़ के सुंदर दृश्य—उन खुशियों का ज़िक्र ही तकलीफ़देह है। क्या मज़े की ज़िंदगी थी!

आह, यहाँ तक तो अपना दर्दे-दिल सुना सकता हूँ लेकिन इसके आगे फिर होंठों पर ख़ामोशी की मुहर लगी हुई है। एक सती-साध्वी, पतिप्राणा स्त्री और दो गुलाब के फूल-से बच्चे इंसान के लिए जिन खुशियों, आरज़ुओं, हौसलों और दिलफ़रेबियों का ख़ज़ाना हो सकते हैं, वह सब मुझे प्राप्त था। मैं इस योग्य नहीं कि उस पवित्र स्त्री का नाम ज़बान पर लाऊँ। मैं इस योग्य नहीं कि अपने को उन लड़कों का बाप कह सकूँ। मगर नसीब का कुछ ऐसा खेल था कि मैंने उन बिहिश्ती नेमतों की क़द्र न की। जिस औरत ने मेरे हुक्म और अपनी इच्छा में कभी कोई भेद नहीं किया, जो मेरी सारी बुराइयों के बावजूद कभी शिकायत का एक हर्फ़ ज़बान पर नहीं लाई, जिसका गुस्सा कभी आँखों से आगे नहीं बढ़ने पाया। गुस्सा क्या था कुआँर की बरखा थी, दो-चार हलकी-हलकी बूँदें पड़ीं और फिर आसमान साफ़ हो गया—अपनी दीवानगी के नशे में मैंने उस देवी की क़द्र न की। मैंने उसे जलाया, रुलाया, तड़पाया।

मैंने उसके साथ दग़ा की। आह! जब मैं दो-दो बजे रात को घर लौटता था तो मुझे कैसे-कैसे बहाने सूझते थे, नित नए हीले गढ़ता था, शायद विद्यार्थी जीवन में जब बैंड के मज़े मदरसे जाने की इजाज़त न देते थे, उस वक़्त भी बुद्धि इतनी प्रखर न थी। और क्या उस क्षमा की देवी को मेरी बातों पर यक़ीन आता था? वह भोली थी मगर ऐसी नादान न थी। मेरी खुमार-भरी आँखें और मेरे उथले भाव और मेरे झूठे प्रेम-प्रदर्शन का रहस्य क्या उससे छिपा रह सकता था? लेकिन उसकी रग-रग में शराफ़त भरी हुई थी, कोई कमीना ख़याल उसकी ज़बान पर नहीं आ सकता था। वह उन बातों का ज़िक्र करके या अपने संदेहों को खुले आम दिखलाकर हमारे पवित्र संबंध में खिंचाव या बदमज़गी पैदा करना बहुत अनुचित समझती थी। मुझे उनके विचार, उसके माथे पर लिखे मालूम होते थे। उन बदमज़गियों के मुक़ाबिले में उसे जलना और रोना ज़्यादा पसंद था, शायद वह समझती थी कि मेरा नशा ख़ुद-ब-ख़ुद उतर जाएगा। काश, इस शराफ़त के बदले उसके स्वभाव में कुछ ओछापन और अनुदारता भी होती। काश, वह अपने अधिकारों को अपने हाथ में रखना जानती। काश, वह इतनी सीधी न होती। काश, वह अपने मन के भावों को छिपाने में इतनी कुशल न होती। काश, वह इतनी मक्कार न होती। लेकिन मेरी मक्कारी और उसकी मक्कारी में कितना अंतर था, मेरी मक्कारी हरामकारी थी, उसकी मक्कारी आत्मबलिदान।

एक रोज़ मैं अपने काम से फुरसत पाकर शाम के वक़्त मनोरंजन के लिए आनंदवाटिका में जा पहुँचा और संगमरमर के हौज पर बैठकर मछलियों का तमाशा देखने लगा। एकाएक निगाह ऊपर उठी तो मैंने एक औरत को बेले की झाड़ियों में फूल चुनते देखा। उसके कपड़े मैले थे और जवानी की ताज़गी और गर्व को छोड़कर उसके चेहरे में कोई खास बात न थी। उसने मेरी तरफ़ आँखें उठाईं और फिर अपने फूल चुनने में लग गई, गोया उसने कुछ देखा ही नहीं। उसके इस अंदाज़ ने, चाहे वह उसकी सरलता ही क्यों न रही हो, मेरी वासना को और भी उद्दीप्त कर दिया। मेरे लिए यह एक नई बात थी कि कोई औरत इस तरह देखे कि जैसे उसने नहीं देखा। मैं उठा और धीरे-धीरे, कभी ज़मीन और कभी आसमान की तरफ़ ताकते हुए बेले की झाड़ियों के पास जाकर ख़ुद भी फूल चुनने लगा। इस ढिठाई का नतीजा यह हुआ कि वह मालिन की लड़की वहाँ से तेज़ी से साथ बाग़ के दूसरे हिस्से में चली गई।

उस दिन से मालूम नहीं वह कौन-सा आकर्षण था जो मुझे रोज़ शाम के वक़्त आनंदवाटिका की तरफ़ खींच ले जाता। उसे मुहब्बत हरगिज़ नहीं कह सकते। अगर मुझे उस वक़्त भगवान न करे, उस लड़की के बारे में कोई शोक-समाचार मिलता तो शायद मेरी आँखों से आँसू भी न निकलते, जोगिया धारण करने की तो चर्चा ही व्यर्थ है। मैं रोज़ जाता और नए-नए रूप धरकर जाता, लेकिन जिस प्रकृति ने मुझे अच्छा रूप-रंग दिया था उसी ने मुझे वाचालता से वंचित भी कर रखा था। मैं रोज़ जाता और

रोज़ लौट आता, प्रेम की मंज़िल में एक कदम भी आगे न बढ़ पाता था। हाँ, इतना अलबत्ता हो गया कि उसे वह पहली-सी झिझक न रही।

आख़िर इस शांतिपूर्ण नीति को सफल न होते देखकर मैंने एक नई युक्ति सोची। एक रोज़ मैं अपने साथ अपने शैतान बुलडाग टामी को भी साथ लेता गया। जब शाम हो गई और वह मेरे धैर्य्य का नाश करनेवाली फूलों से आँचल भरकर अपने घर की ओर चली तो मैंने अपने बुलडाग को धीरे से इशारा कर दिया। बुलडाग उसकी तरफ़ बाज़ की तरह झपटा, फूलमती ने एक चीख मारी, दो-चार क़दम दौड़ी और ज़मीन पर गिर पड़ी। अब मैं छड़ी हिलाता, बुलडाग की तरफ़ गुस्से-भरी आँखों से देखता और हाय-हाय चिल्लाता हुआ दौड़ा और उसे ज़ोर से दो-तीन डंडे लगाए। फिर मैंने बिखरे हुए फूलों को समेटा, सहमी हुई औरत का हाथ पकड़कर उसे बिठा दिया और बहुत लज्जित और दुःखी भाव से बोला—"यह कितना बड़ा बदमाश है, अब इसे अपने साथ कभी न लाऊँगा। तुम्हें इसने काट तो नहीं लिया?"

फूलमती ने चादर से सर को ढाँकते हुए कहा—"तुम न आ जाते तो वह मुझे नोच डालता। मेरे तो जैसे मन-मन भर के पैर हो गए थे। मेरा कलेजा तो अभी तक धड़क रहा है।"

यह तीर लक्ष्य पर बैठा, ख़ामोशी की मुहर टूट गई, बात-चीत का सिलसिला क़ायम हुआ। बाँध में एक दरार हो जाने की देर थी, फिर तो मन की उमंगों ने खुद-ब-खुद काम करना शुरू किया। मैंने जैसे-जैसे जाल फैलाए, जैसे-जैसे स्वाँग रचे, वह रंगीन तबीयत के लोग ख़ूब जानते हैं। और यह सब क्यों? मुहब्बत से नहीं, सिर्फ़ ज़रा देर दिल को खुश करने के लिए, सिर्फ़ उसके भरे-पुरे शरीर और भोलेपन पर रीझकर! यों मैं बहुत नीच प्रकृति का आदमी नहीं हूँ। रूप-रंग में फूलमती का इंदु से मुक़ाबला न था। वह सुंदरता के साँचे में ढली हुई थी। कवियों ने सौंदर्य की जो कसौटियाँ बनाई हैं, वह सब वहाँ दिखाई देती थीं लेकिन पता नहीं क्यों मैंने फूलमती की घुसी हुई आँखों और फूले हुए गालों और मोटे-मोटे होंठों की तरफ़ अपने दिल का ज़्यादा खिचाव देखा। आना-जाना बढ़ा और महीना-भर भी गुज़रने न पाया था कि मैं उसकी मुहब्बत के जाल में पूरी तरह फँस गया। मुझे अब घर की सादा ज़िंदगी में कोई आनंद न आता था, लेकिन दिल ज्यों-ज्यों घर से उचटता जाता था त्यों-त्यों मैं पत्नी के प्रति प्रेम का प्रदर्शन और भी अधिक करता था। मैं उसकी फ़रमाइशों का इंतज़ार करता रहता और कभी उसका दिल दुःखानेवाली कोई बात मेरी ज़बान पर न आती। शायद मैं अपनी आंतरिक उदासीनता को शिष्टाचार के पर्दे में छिपाना चाहता था।

धीरे-धीरे दिल की यह कैफ़ियत भी बदल गई और बीवी की तरफ़ से उदासीनता दिखाई देने लगी। घर में कपड़े नहीं हैं लेकिन मुझसे इतना न होता कि पूछ लूँ। सच यह है कि मुझे अब उसकी ख़ातिरदारी करते हुए एक डर-सा मालूम होता था कि कहीं उसकी ख़ामोशी की दीवार टूट न जाएँ और उसके मन के भाव ज़बान

पर न आ जाए। यहाँ तक कि मैंने गिरस्ती की ज़रूरतों की तरफ़ से भी आँखें बंद कर लीं। अब मेरा दिल और जान और रुपया-पैसा सब फूलमती के लिए था। मैं ख़ुद कभी सुनार की दुकान पर न गया था, लेकिन आजकल कोई मुझे पहर रात गए एक मशहूर सुनार के मकान पर बैठा हुआ देख सकता था। बज़ाज़ की दुकान में भी मुझे रुचि हो गई।

2

एक रोज़ शाम के वक़्त रोज़ की तरह मैं आनंदवाटिका में सैर कर रहा था और फूलमती सोलहो सिंगार किए, मेरी सुनहरी-रूपहली भेंटों से लदी हुई, एक रेशमी साड़ी पहने बाग़ की क्यारियों में फूल तोड़ रही थी, बल्कि यों कहो कि अपनी चुटकियों में मेरे दिल को मसल रही थी। उसकी छोटी-छोटी आँखें उस वक़्त हुस्न के नशे से फैल गई थीं और उनमें शोखी और मुस्कुराहट की झलक नज़र आती थी।

अचानक महाराज साहब भी अपने कुछ दोस्तों के साथ मोटर पर सवार आ पहुँचे। मैं उन्हें देखते ही अगवानी के लिए दौड़ा और अदाब बजा लाया। बेचारी फूलमती महाराज साहब को पहचानती थी, लेकिन उसे एक घने कुंज के अलावा और कोई छिपने की जगह न मिल सकी। महाराजा साहब चले तो हौज़ की तरफ़, लेकिन मेरा दुर्भाग्य उन्हें उसी क्यारी पर ले चला जिधर फूलमती छिपी हुई थर-थर काँप रही थी।

महाराजा साहब ने उसकी तरफ़ आश्चर्य से देखा और बोले—"यह कौन औरत है?" सब लोग मेरी ओर प्रश्न-भरी आँखों से देखने लगे और मुझे भी उस वक़्त यही ठीक मालूम हुआ कि इसका जवाब मैं ही दूँ, वर्ना फूलमती न जाने क्या आफ़त ढा दे। लापरवाही के अंदाज़ से बोला—"इसी बाग़ के माली की लड़की है, यहाँ फूल तोड़ने आई होगी।"

फूलमती लज्जा और भय के मारे ज़मीन में धँसी जाती थी। महाराजा साहब ने उसे सर से पाँव तक ग़ौर से देखा और तब संदेहशील भाव से मेरी तरफ़ देखकर बोले—"यह माली की लड़की है?"

मैं इसका क्या जवाब देता। इसी बीच कम्बख़्त दुर्जन माली भी अपनी फटी हुई पाग सँभालता, हाथ में कुदाल लिए दौड़ता हुआ आया और सर को घुटनों से मिलाकर महाराज को प्रणाम किया। महाराज ने ज़रा तेज़ लहजे में पूछा—"यह तेरी लड़की है?"

माली के होश उड़ गए, काँपता हुआ बोला—"हुज़ूर।"

महाराज—"तेरी तनख़्वाह क्या है?"

दुर्जन—"हुज़ूर, पाँच रुपए।"

महाराज—"यह लड़की कुँआरी है या ब्याही?"

दुर्जन—"हुज़ूर, अभी कुँआरी है।"

महाराज ने गुस्से में कहा—"या तो तू चोरी करता है या डाका मारता है वर्ना यह कभी नहीं हो सकता कि तेरी लड़की अमीरज़ादी बनकर रह सके। मुझे इसी वक़्त इसका जवाब देना होगा, वर्ना मैं तुझे पुलिस के सुपुर्द कर दूँगा। ऐसे चाल-चलन के आदमी को मैं अपने यहाँ नहीं रख सकता।"

माली की तो घिग्घी बंध गई और मेरी यह हालत थी कि काटो तो बदन में लहू नहीं। दुनिया अंधेरी मालूम होती थी। मैं समझ गया कि आज मेरी शामत सर पर सवार है। वह मुझे जड़ से उखाड़कर दम लेगी। महाराजा साहब ने माली को ज़ोर से डाँटकर पूछा—"तू ख़ामोश क्यों है, बोलता क्यों नहीं?"

दुर्जन फूट-फूटकर रोने लगा। जब ज़रा आवाज़ सुधरी तो बोला—"हुज़ूर, बाप-दादे से सरकार का नमक खाता हूँ, अब मेरे बुढ़ापे पर दया कीजिए, यह सब मेरे फूटे नसीबों का फेर है धर्मावतार। इस छोकरी ने मेरी नाक कटा दी, कुल का नाम मिटा दिया। अब कहीं मुँह दिखाने के लायक नहीं हूँ। इसको सब तरह से समझा-बुझाकर हार गए हुज़ूर, लेकिन मेरी बात सुनती ही नहीं तो क्या करूँ। हुज़ूर माई-बाप हैं, आपसे क्या पर्दा करूँ, इसे अब अमीरों के साथ रहना अच्छा लगता है और आजकल के रईसों और अमीरों को क्या कहूँ, दीनबंधु सब जानते हैं।"

महाराजा साहब ने ज़रा देर ग़ौर करके पूछा—"क्या उसका किसी सरकारी नौकर से संबंध है?"

दुर्जन ने सर झुकाकर कहा—"हुज़ूर।"

महाराजा साहब—"वह कौन आदमी है, तुम्हें उसे बतलाना होगा।"

दुर्जन—"महाराज जब पूछेंगे बता दूँगा, साँच के आँच क्या।"

मैंने तो समझा था कि शायद इसी वक़्त सारा पर्दा फ़ाश हुआ जाता है, लेकिन महाराजा साहब ने अपने दरबार के किसी मुलाज़िम की इज़्ज़त को इस तरह मिट्टी में मिलाना ठीक नहीं समझा। वे वहाँ से टहलते हुए मोटर पर बैठकर महल की तरफ़ चले।

3

इस मनहूस वाक़ए के एक हफ्ते बाद एक रोज़ मैं दरबार से लौटा तो मुझे अपने घर में से एक बूढ़ी औरत बाहर निकलती हुई दिखाई दी। उसे देखकर मैं ठिठका। उसके चेहरे पर वह बनावटी भोलापन था जो कुटनियों के चेहरे की ख़ास बात है। मैंने उसे डाँटकर पूछा—"तू कौन है, यहाँ क्यों आई है?"

बुढ़िया ने दोनों हाथ उठाकर मेरी बलाएँ लीं और बोली—"बेटा नाराज़ न हो ग़रीब भिखारी हूँ, मालकिन का सुहाग भरपूर रहे, उसे जैसा सुनती थी वैसा ही पाया।"

यह कहकर उसने जल्दी से क़दम उठाए और बाहर चली गई। मेरे गुस्से का पारा चढ़ा, मैंने घर में जाकर पूछा—"यह कौन औरत आई थी?"

मेरी बीवी ने सर झुकाए हुए धीरे से जवाब दिया—"क्या जानूँ, कोई भिखारिन थी।"

मैंने कहा—"भिखारिनों की सूरत ऐसी नहीं हुआ करती, यह तो मुझे कुटनी-सी नज़र आती है। साफ़-साफ़ बताओ उसके यहाँ आने का क्या मतलब था?"

लेकिन बजाए इसके कि इन संदेह-भरी बातों को सुनकर मेरी बीवी गर्व से सिर उठाए और मेरी तरफ़ उपेक्षा भरी आँखों से देखकर अपनी साफ़दिली का सुबूत दे, उसने सर झुकाए हुए जवाब दिया—"मैं उसके पेट में थोड़े ही बैठी थी। भीख माँगने आई थी, भीख दे दी, किसी के दिल का हाल कोई क्या जाने!"

उसके लहजे और अंदाज से पता चलता था कि वह जितना ज़बान से कहती है, उससे बहुत ज़्यादा उसके दिल में है। झूठा आरोप लगाने की कला में वह अभी बिलकुल कच्ची थी, वर्ना तिरिया चरित्तर की थाह किसे मिलती। मैं देख रहा था कि उसके हाथ-पाँव थरथरा रहे हैं। मैंने झपटकर उसका हाथ पकड़ा और उसके सर को ऊपर उठाकर बड़े गंभीर क्रोध से बोला—"इंदु, तुम जानती हो कि मुझे तुम्हारे पर कितना एतबार है लेकिन अगर तुमने इसी वक़्त सारी घटना सच-सच न बतला दी तो मैं नहीं कह सकता कि इसका नतीजा क्या होगा। तुम्हारा ढंग बतलाता है कि कुछ-न-कुछ दाल में काला ज़रूर है। यह ख़ूब समझ रखो कि मैं अपनी इज़्ज़त को तुम्हारी और अपनी जानों से ज़्यादा अज़ीज़ समझता हूँ। मेरे लिए यह डूब मरने की जगह है कि मैं अपनी बीवी से इस तरह की बातें करूँ, उसकी ओर से मेरे दिल में संदेह पैदा हो। मुझे अब ज़्यादा सब्र की गुंजाइश नहीं है। बोलो क्या बात है?"

इंदुमती मेरे पैरों पर गिर पड़ी और रोकर बोली—मेरा कुसूर माफ़ कर दो।

मैंने गरजकर कहा—"वह कौन-सा कुसूर है?"

इंदुमती ने सँभलकर जवाब दिया—"तुम अपने दिल में इस वक़्त जो ख़याल कर रहे हो, उसे एक पल के लिए भी वहाँ न रहने दो, वर्ना समझ लो कि आज ही इस ज़िंदगी का ख़ात्मा है। मुझे नहीं मालूम था कि तुम मेरी तरफ़ से ऐसे ख़याल रखते हो। मेरा परमात्मा जानता है कि तुमने मेरे ऊपर जो जुल्म किए हैं उन्हें मैंने किस तरह झेला है और अब भी सब कुछ झेलने के लिए तैयार हूँ। मेरा सर तुम्हारे पैरों पर है, जिस तरह रखोगे, रहूँगी लेकिन आज मुझे मालूम हुआ कि तुम जैसे ख़ुद हो वैसा ही दूसरों को समझते हो। मुझसे भूल अवश्य हुई है, लेकिन उस भूल की यह सज़ा नहीं कि तुम मुझ पर ऐसे संदेह करो। मैंने उस औरत की बातों में आकर अपने घर का सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दिया। मैं समझती थी कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए, लेकिन कुछ तो उस औरत की हमदर्दी और कुछ मेरे अंदर सुलगती हुई आग ने मुझसे यह भूल करवाई और इसके लिए तुम जो सज़ा दो वह मेरे सर आँखों पर।"

मेरा गुस्सा ज़रा धीमा हुआ। बोला—"तुमने उससे क्या कहा?"

इंदुमती ने जवाब दिया—"घर का जो कुछ हाल है, तुम्हारी बेवफ़ाई, तुम्हारी लापरवाही, तुम्हारा घर की ज़रूरतों की फ़िक्र न रखना। अपनी बेबकूफ़ी को क्या कहूँ, मैंने उससे यहाँ तक कह दिया कि इधर तीन महीने से उन्होंने घर के लिए कुछ खर्च भी नहीं दिया और इसकी चोट मेरे गहनों पर पड़ी। तुम्हें शायद मालूम नहीं कि इन तीन महीनों में मेरे साढ़े चार सौ रुपए के ज़ेवर बिक गए। न मालूम क्यों मैं उससे यह सब कुछ कह गई। जब इंसान का दिल जलता है तो ज़बान तक उसकी आँच आ ही जाती है। मगर मुझसे जो कुछ ख़ता हुई उससे कई गुनी सख़्त सज़ा तुमने मुझे दी है, मेरा बयान लेने का भी सब्र न हुआ। ख़ैर, तुम्हारे दिल की कैफ़ियत मुझे मालूम हो गई, तुम्हारा दिल मेरी तरफ़ से साफ़ नहीं है, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं रहा, वर्ना एक भिखारिन औरत के घर से निकलने पर तुम्हें ऐसे शुबहे क्यों होते।"

मैं सर पर हाथ रखकर बैठ गया। मालूम हो गया कि तबाही के सामान पूरे हुए जाते हैं।

4

दूसरे दिन मैं ज्यों ही दफ़्तर पहुँचा, चोबदार ने आकर कहा—"महाराजा साहब ने आपको याद किया है।"

मैं तो अपनी क़िस्मत का फ़ैसला पहले से ही किए बैठा था। मैं ख़ूब समझ गया था कि वह बुढ़िया खुफ़िया पुलिस की कोई मुख़बिर है जो मेरे घरेलू मामलों की जाँच के लिए तैनात हुई होगी। कल उसकी रिपोर्ट आई होगी और आज मेरी तलबी है। खौफ़ से सहमा हुआ लेकिन दिल को किसी तरह सँभाले हुए कि जो कुछ सर पर पड़ेगी देखा जाएगा, अभी से क्यों जान दूँ, मैं महाराजा की ख़िदमत में पहुँचा। वह इस वक़्त अपने पूजा के कमरे में अकेले बैठे हुए थे, काग़ज़ों का एक ढेर इधर-उधर फैला हुआ था और वह खुद किसी ख़याल में डूबे हुए थे। मुझे देखते ही वह मेरी तरफ़ मुख़ातिब हुए, उनके चेहरे पर नाराज़गी के लक्षण दिखाई दिए, बोले—"कुँवर श्याम सिंह, मुझे बहुत अफ़सोस है कि तुम्हारी बाबत मुझे जो बातें मालूम हुई हैं वह मुझे इस बात के लिए मज़बूर करती हैं कि तुम्हारे साथ सख़्ती का बर्ताव किया जाए। तुम मेरे पुराने वसीक़ादार हो और तुम्हें यह गौरव कई पीढ़ियों से प्राप्त है। तुम्हारे बुजुर्गों ने हमारे ख़ानदान की जान लगाकर सेवाएँ की हैं और उन्हीं के सिले में यह वसीक़ा दिया गया था, लेकिन तुमने अपनी हरकतों से अपने को इस कृपा के योग्य नहीं रखा। तुम्हें इसलिए वसीक़ा मिलता था कि तुम अपने ख़ानदान की परवरिश करो, अपने लड़कों को इस योग्य बनाओ कि वह राज्य की कुछ ख़िदमत की परवरिश कर सकें,

उन्हें शारीरिक और नैतिक शिक्षा दो, ताकि तुम्हारी ज़ात से रियासत की भलाई हो, न कि इसलिए कि तुम इस रुपए को बेहूदा ऐशपरस्ती और हरामकारी में ख़र्च करो। मुझे इस बात से बहुत ही तकलीफ़ होती है कि तुमने अब अपने बाल-बच्चों की परवरिश की ज़िम्मेदारी से भी अपने को मुक्त समझ लिया है। अगर तुम्हारा यही ढंग रहा तो यक़ीनन वसीक़ादारों का एक पुराना ख़ानदान मिट जाएगा। इसलिए आज से हमने तुम्हारा नाम वसीक़ादारों की फ़ेहरिस्त से ख़ारिज कर दिया और तुम्हारी जगह तुम्हारी बीवी का नाम दर्ज़ किया गया। वह अपने लड़कों को पालने-पोसने की ज़िम्मेदार है। तुम्हारा नाम रियासत के मालियों की फ़ेहरिस्त में लिखा जाएगा, तुमने अपने को इसी के योग्य सिद्ध किया और मुझे उम्मीद है कि यह तबादला तुम्हें नागवार न होगा। बस जाओ और मुमकिन हो तो अपने किए पर पछताओ।"

5

मुझे कुछ कहने का साहस न हुआ। मैंने बहुत धैर्य्यपूर्वक अपनी क़िस्मत का यह फ़ैसला सुना और घर की तरफ़ चला, लेकिन दो ही चार क़दम चला था कि अचानक ख़याल आया किसके घर जा रहे हो, तुम्हारा घर अब कहाँ है! मैं उलटे क़दम लौटा। जिस घर का मैं राजा था, वहाँ दूसरों का आश्रित बनकर मुझसे नहीं रहा जाएगा और रहा भी जाए तो मुझे रहना नहीं चाहिए। मेरा आचरण निश्चय ही अनुचित था, लेकिन मेरी नैतिक संवेदना अभी इतनी भोंथी न हुई थी। मैंने पक्का इरादा कर लिया कि इसी वक़्त इस शहर से भाग जाना मुनासिब है, वर्ना बात फैलते ही हमदर्दों और बुरा चेतनेवालों का एक जमघट हालचाल पूछने के लिए आ जाएगा, दूसरों की सूखी हमदर्दियाँ सुननी पड़ेंगी जिनके पर्दे में ख़ुशी झलकती होगी। एक बार, सिर्फ़ एक बार, मुझे फूलमती का ख़याल आया। उसके कारण यह सब दुर्गत हो रही है, उससे तो मिल ही लूँ। मगर दिल ने रोका, क्या एक वैभवशाली आदमी की जो इज़्ज़त होती थी वह अब मुझे हासिल हो सकती है? हरगिज़ नहीं। रूप की मंडी में वफ़ा और मुहब्बत के मुक़ाबिले में रुपया-पैसा ज़्यादा क़ीमती चीज़ है। मुमकिन है इस वक़्त मुझ पर तरस खाकर या क्षणिक आवेश में आकर फूलमती मेरे साथ चलने पर आमादा हो जाए, लेकिन उसे लेकर कहाँ जाऊँगा, पावों में बेड़ियाँ डालकर चलना तो और भी मुश्किल है। इस तरह सोच-विचारकर मैंने बंबई की राह ली और अब दो साल से एक मिल में नौकर हूँ, तनख्वाह सिर्फ़ इतनी है कि ज्यों-त्यों ज़िंदगी का सिलसिला चलता रहे लेकिन ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ और इसी को यथेष्ट समझता हूँ। मैं एक बार गुप्त रूप से अपने घर गया था। फूलमती ने एक-दूसरे रईस से रूप का सौदा कर लिया है, लेकिन मेरी पत्नी ने अपने प्रबंध-कौशल से घर की हालत ख़ूब सँभाल ली है। मैंने

अपने मकान को रात के समय लालसा-भरी आँखों से देखा—दरवाज़े पर दो लालटेनें जल रही थीं और बच्चे इधर-उधर खेल रहे थे, हर तरफ़ सफाई और सुथरापन दिखाई देता था। मुझे कुछ अख़बारों के देखने से मालूम हुआ कि महीनों तक मेरे पते-निशान के बारे में अख़बारों में इश्तहार छपते रहे, लेकिन अब यह सूरत लेकर मैं वहाँ क्या जाँऊगा और यह कालिख-लगा मुँह किसको दिखाऊँगा। अब तो मुझे इसी गिरी-पड़ी हालत में ज़िंदगी के दिन काटने हैं, चाहे रोकर काटूँ या हँसकर। मैं अपनी हरकतों पर अब बहुत शर्मिंदा हूँ। अफ़सोस मैंने उन नेमतों की क़द्र न की, उन्हें लात से ठोकर मारी, यह उसी की सज़ा है कि आज मुझे यह दिन देखना पड़ रहा है। मैं वह परवाना हूँ, जिसकी ख़ाक भी हवा के झोंकों से न बची।

(*'ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, सितंबर-अक्टूबर, 1914*)
(***'गुप्त-धन' 1, 1962 से प्रस्तुत***)

परीक्षा

1

जब रियासत देवगढ़ के दीवान सरदार सुजानसिंह बूढ़े हुए तो परमात्मा की याद आई। जाकर महाराजा से विनय की कि दीनबंधु! गुलाम ने हुजूर की ख़िदमत चालीस साल तक की, अब कुछ दिन परमात्मा की सेवा करने की आज्ञा चाहता हूँ, और फिर अब मेरी अवस्था भी दीन हुई, राज काज सँभालने की शक्ति नहीं रही, कहीं भूल-चूक हो जाए तो बुढ़ापे में दाग़ लगे। सारी ज़िंदगी की नेकनामी मिट्टी में मिल जाए।

राजा साहब अपने अनुभवशील, अतिकुशल दीवान का बड़ा आदर करते थे। बहुत समझाया, लेकिन जब दीवान साहब ने न माना तो हार कर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। हाँ, शर्त यह लगा दी कि रियासत के लिए नया दीवान आप ही को चुनना पड़ेगा।

दूसरे दिन देश के नामी पत्रों में यह विज्ञापन निकला कि देवगढ़ के लिए एक योग्य दीवान की ज़रूरत है। जो सज्जन अपने को इस पद के योग्य समझें, वे वर्तमान दीवान सरदार सुजानसिंह की सेवा में हाज़िर हों। यह ज़रूरी नहीं कि वे ग्रेजुएट हो मगर हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है, मंदाग्नि के मरीज़ों को यहाँ तक कष्ट उठाने की कोई ज़रूरत नहीं, एक महीने तक उम्मीदवारों के रहन-सहन, आचार विचार की देखभाल की जाएगी, विद्या का कम, परंतु कर्तव्य का अधिक विचार किया जाएगा। जो महाशय इस परीक्षा में पूरे उतरेंगे, वे इस उच्च पद पर सुशोभित होंगे।

2

इस विज्ञापन ने सारे मुल्क में हलचल मचा दी। ऐसा ऊँचा ओहदा और किसी प्रकार के सनद की क़ैद नहीं? केवल नसीब का खेल है। सैकड़ों आदमी अपना-अपना नसीब आज़माने के लिए चल खड़े हुए। देवगढ़ में नए-नए और रंग-बिरंग के मनुष्य दिखाई देने लगे। प्रत्येक रेलगाड़ी से उम्मीदवारों का एक मेला-सा उतरता। कोई पंजाब से

चला आता था, कोई मद्रास से, कोई नए फ़ैशन का प्रेमी, कोई पुरानी सादगी पर मिटा हुआ। पंडितों और मौलवियों को भी अपने-अपने नसीबों की परीक्षा करने का अवसर मिला। बेचारे सनद के नाम को रोया करते थे, यहाँ उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी। रंगीन एमामे और चुगे, और नाना प्रकार के अंगरखे और कनूटोप देवगढ़ में अपनी सजधज दिखाने लगे, लेकिन सबसे विशेष संख्या ग्रैजुएटों की थी, क्योंकि सनद की क़ैद न होने पर भी सनद से पर्दा तो ढँका रहता है।

सरदार सुजानसिंह ने इन महानुभावों के आदर-सत्कार का अच्छा प्रबंध कर दिया था। लोग अपने-अपने कमरों में बैठे हुए रोज़ेदार मुसलमानों की तरह महीने के दिन गिना करते थे। हर एक मनुष्य अपने जीवन को अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छे रूप से दिखाने की कोशिश करता था। मिस्टर 'आ' नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आजकल वे बाग़ीचे में टहलते हुए उषा का दर्शन करते थे। मिस्टर 'ब' को हुक्का पीने की लत थी, मगर आज कल बहुत रात गए केवाड़ बंद करके अँधेरे में सिगार पीते थे। मिस्टर 'द' 'स' और 'ज' से उनके घरों पर नौकरों का नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन आजकल 'आप और 'जनाब' के बग़ैर नौकरों से बातचीत नहीं करते थे। महाशय 'क' नास्तिक थे, हक्सले के उपासक, मगर आज कल उनकी धर्मनिष्ठता देखकर मंदिर के पुजारी को पदच्युत हो जाने की शंका लगी रहती थी। मिस्टर 'ल' को किताबों से घृणा थी, परंतु आजकल वे बड़े-बड़े ग्रंथ खोले पढ़ने में डूबे रहते थे। जिससे बातें कीजिए, वह नम्रता और सदाचार का देवता बन जाता था। शर्मा जी घड़ी रात ही से वेद-मंत्र पढ़ने लगते थे, और मौलवी साहेब को तो नमाज़ और तलावत के सिवा और कोई काम न था। लोग समझते थे कि एक महीने की झँझट है, किसी तरह काट लें, कहीं कार्य्य-सिद्ध हो गया, तो कौन पूछता है।

लेकिन मनुष्यों का वह बूढ़ा जौहरी आड़ में बैठा हुआ देख रहा था कि इन बगुलों में हंस कहाँ छिपा हुआ है।

3

एक दिन नए फ़ैशन वालों को सूझी कि आपस में 'हाकी' का खेल हो जाए। यह प्रस्ताव हाकी के मंजे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया। यह भी तो आख़िर एक विद्या है। इसे क्यों छिपा रखें। संभव है, कुछ हाथों की सफ़ाई ही काम कर जाए। चलिए, तै हो गया, कोट बन गए, खेल शुरू हो गया, और गेंद किसी दफ़्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोकरें खाने लगा।

रियासत देवगढ़ में यह खेल बिलकुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे, भले मानस लोग शतरंज और ताश जैसे गंभीर खेल खेलते थे। दौड़-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़ी उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेज़ी से बढ़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढ़ती चली आती है, लेकिन दूसरे ओर के खिलाड़ी इस बढ़ती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे, मानो लोहे की दीवार हैं।

संध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने में शल हो गए। ख़ून की गर्मी आँख और चेहरे से झलक रही थी। हाँपते-हाँपते बेदम हो गए, लेकिन हार-जीत का निर्णय न हो सका।

अँधेरा हो गया था। इस मैदान से ज़रा दूर हटकर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से हल कर आना पड़ता था। खेल अभी बंद ही हुआ था, और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिए हुए उस नाले में आया, लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था और कुछ उसकी चढ़ाई इतनी तेज़ थी कि गाड़ी ऊपर न चढ़ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहिए को हाथों से ढकेलता, लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमज़ोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती, और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसक कर नीचे पहुँच जाती। किसान बार-बार ज़ोर लगाता, और बार-बार झुंझला कर बैलों को मारता, लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर-उधर निराश होकर ताकता, मगर कहीं कोई सहायक नज़र न आता था। गाड़ी को अकेले छोड़कर कहीं जा भी न सकता था। बड़ी आपत्ति में फँसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी लोग हाथों में डंडे लिए झूमते-झामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ़ सहमी हुई आँखों से देखा, परंतु किसी से मदद माँगने का साहस न हुआ। खिलाड़ियों ने भी उसको देखा, मगर बंद आँखों से, उन आँखों से जिनमें सहानुभूति न थी, जिसमें स्वार्थ था, मद्य था, मगर उदारता या वात्सल्य का नाम भी न था।

4

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा मनुष्य भी था, जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गई थी। लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला आता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। किसान की सूरत देखते ही सब बात ज्ञात हो गई। डंडा एक किनारे रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला, "मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूँ?"

किसान ने देखा कि एक गंठे हुए बदन का लंबा आदमी सामने खड़ा है। डर कर बोला—'हज़ूर! मैं आप से कैसे कहूँ?" युवक ने कहा—"मालूम होता है, तुम यहाँ बड़ी देर से फँसे हुए हो। अच्छा तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूँ, अभी गाड़ी ऊपर जाती है।"

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहियों को ज़ोर लगाकर उकसाया। कीचड़ बहुत ज़्यादा था। वह घुटने तक ज़मीन में गड़ गया, लेकिन हिम्मत न हारा। उसने फिर ज़ोर किया। उधर किसान ने बैलों को लल्कारा। बैलों को सहारा मिला। हिम्मत बँध गई। उन्होंने कँधे झुकाकर एकबार जो ज़ोर किया, तो गाड़ी नाले के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला, "महराज! तुमने आज मुझे उबार दिया, नहीं तो सारी रात यहीं बैठना पड़ता।"

युवक ने हँसकर कहा–"आप मुझे कुछ इनाम देते हो?" किसान ने गंभीर भाव से कहा–"नारायण चाहेंगे, तो दीवानी तुम्हीं को मिलेगी।"

युवक ने किसान की तरफ़ गौर से देखा। उसके मन में एक संदेह हुआ, क्या यही सुजानसिंह तो नहीं हैं? आवाज़ मिलती है। चेहरा-मोहरा भी वही। किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के संदेह को भाँप गया। मुस्करा कर बोला–"गहरे पानी पैठने से ही मोती मिलता है!"

5

निदान महीना पूरा हुआ। हिसाब का दिन आ पहुँचा। उम्मेदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी क़िस्मतों का फ़ैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन कटना पहाड़ हो गया। प्रत्येक चेहरे पर आशा और निराशा के रंग आते जाते थे। नहीं मालूम आज किसके नसीब जागेंगे? न-जाने किस पर लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि होगी?

शाम के वक़्त राजा साहब का दरबार सजाया गया। शहर के रईस और धनाढ्य लोग, राज के कर्मचारी और दरबारी और दीवानी के उम्मेदवारों का समूह, सब रंग-बिरंग के सज-धज बनाए दरबार में आ बिराजे। उम्मेदवारों के कलेजे धकड़ रहे थे।

तब सरदार सुजानसिंह ने खड़े होकर कहा–"ऐ मेरे दीवानी के उम्मेदवार साहबो! मैंने आप लोगों को जो कुछ तकलीफ़ दी हो, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। मुझे इस पद के लिए ऐसे पुरुष की ज़रूरत थी, जिसकी छाती में हृदय हो और चित्त में आत्मबल। हृदय वह, जो उदार हो। आत्मबल वह, जो आपत्ति का वीरता के साथ सामना करे, और इस रियासत के सौभाग्य से हमको ऐसा पुरुष मिल गया। ऐसे गुण वाले लोग संसार में कम हैं और जो हैं, वे कीर्ति और मान के शिखर पर बैठे हुए हैं, जहाँ तक हमारी पहुँच नहीं। मैं रियासत को पंडित जानकीनाथ-सा दीवान पाने पर बधाई देता हूँ।"

रियासत के कर्मचारियों और रईसों ने जानकीनाथ की तरफ़ देखा। उम्मेदवारों के समूह की आँखें उधर उठीं, मगर उन आँखों में सत्कार था, इन आँखों में ईर्ष्या।

सरदार साहब ने फिर फ़रमाया—"आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई तअम्मुल न होगा कि जो पुरुष ख़ुद ज़ख़्मी होने पर भी एक ग़रीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकाल कर नाले के ऊपर चढ़ा दे, उसके हृदय में साहस और आत्मबल और उदारता का संचार है। ऐसा आदमी ग़रीबों को कभी न सताएगा। उसका संकल्प दृढ़ है, जो उसके चित्त को स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जाएँ, परंतु दया और धर्म्म के मार्ग से कभी न हटेगा।"

('प्रताप' साप्ताहिक, विजयदशमी अंक, अक्टूबर, 1914,
हिंदी में प्रकाशित पहली कहानी और 'प्रताप' से प्रस्तुत)
('सप्त-सरोज', हिंदी कहानी-संग्रह, 1917)
('मानसरोवर'-8, 1950)
(साप्ताहिक 'हिंदुस्तान', 11 फ़रवरी, 1990)

पछतावा

1

पंडित दुर्गानाथ जब कॉलेज से निकले तो उनके सामने जीवन-निर्वाह की चिंता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक पुरुष थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले। वे सोचने लगे—यदि किसी कार्यालय में क्लर्क बन जाऊँ तो अपना निर्वाह तो हो सकता है, किंतु सर्व साधारण से कुछ भी संबंध न रहेगा। वकालत में प्रविष्ट हो जाऊँ तो दोनों बातें संभव हैं, किंतु अनेकानेक यत्न करने पर भी अपने को पवित्र रखना कठिन होगा। पुलिस विभाग में दीन-पालन और परोपकार के लिए बहुत से अवसर मिलते रहते हैं; किंतु एक स्वतंत्र और सद्विचार-प्रिय मनुष्य के लिए वहाँ की हवा हानिप्रद है। शासन विभाग में नियम और नीतियों की भरमार रहती है। कितना ही चाहो पर वहाँ कड़ाई और डाँट-डपट से बचे रहना असंभव है। इसी प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि किसी ज़मींदार के यहाँ 'मुख़्तार आम' बन जाना चाहिए। वेतन तो अवश्य कम मिलेगा, किंतु दीन-खेतिहरों से रात-दिन संबंध रहेगा—उनके साथ सद्व्यवहार का अवसर मिलेगा। साधारण जीवन निर्वाह होगा और विचार दृढ़ होंगे।

कुँवर विशालसिंह जी एक संपत्तिशाली ज़मींदार थे। पं. दुर्गानाथ ने उनके पास जाकर प्रार्थना की कि मुझे भी अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ कीजिए। कुँवर साहब ने इन्हें सिर से पैर तक देखा और कहा—"पंडितजी, आपको अपने यहाँ रखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, किंतु आपके योग्य मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं देख पड़ता।"

दुर्गानाथ ने कहा—"मेरे लिए किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। मैं हर एक काम कर सकता हूँ। वेतन आप जो कुछ प्रसन्नतापूर्वक देंगे, मैं स्वीकार करूँगा। मैंने तो यह संकल्प कर लिया है कि सिवा किसी रईस के और किसी की नौकरी न करूँगा।" कुँवर विशालसिंह ने अभिमान से कहा—"रईस की नौकरी नहीं राज्य है। मैं अपने चपरासियों को दो रुपया माहवार देता हूँ और वे तंज़ेब के अँगरखे

पहनकर निकलते हैं। उनके दरवाज़ों पर घोड़े बँधे हुए हैं। मेरे कारिंदे पाँच् रुपए से अधिक नहीं पाते, किंतु शादी-विवाह वकीलों के यहाँ करते हैं। न जाने उनकी कमाई में क्या बरकत होती है! बरसों तनख़्वाह का हिसाब नहीं करते। कितने ऐसे हैं जो बिना तनख़्वाह के कारिंदगी या चपरासगीरी को तैयार बैठे हैं, परंतु अपना यह नियम नहीं। समझ लीजिए, मुख़्तार आम अपने इलाक़े में एक बड़े ज़मींदार से भी अधिक रौब रखता है। उसका ठाटबाट, उसकी हुकूमत छोटे-छोटे राजाओं में कम नहीं। जिसे इस नौकरी का चस्का लग गया है, उसके सामने तहसीलदारी झूठी है।"

पंडित दुर्गानाथ ने कुँवर साहब की बातों का समर्थन न किया जैसा कि करना उनको सभ्यतानुसार उचित था। वे दुनियादारी में अभी कच्चे थे, बोले—"मुझे अब तक किसी रईस की नौकरी का चस्का नहीं लगा है। मैं तो अभी कॉलेज से निकला आता हूँ और न मैं इन कारणों से नौकरी करना चाहता हूँ, जिनका आपने वर्णन किया, किंतु इतने कम वेतन में निर्वाह न होगा। आपके और नौकर असामियों का गला दबाते होंगे। मुझसे मरते समय तक ऐसे कार्य्य न होंगे। यदि सच्चे नौकर का सन्मान होना निश्चय है तो मुझे विश्वास है कि बहुत शीघ्र आप मुझसे प्रसन्न हो जाएँगे।"

कुँवर साहब ने बड़ी दृढ़ता से कहा—"हाँ, यह तो निश्चय है कि सत्यवादी मनुष्य का आदर सब कहीं होता है, किंतु मेरे यहाँ तनख़्वाह अधिक नहीं दी जाती।"

ज़मींदार के इस प्रतिष्ठा-शून्य उत्तर को सुनकर पंडितजी कुछ खिन्न-हृदय से बोले—"तो फिर मज़बूरी है। मेरे द्वारा इस समय कुछ कष्ट आपको पहुँचा हो तो क्षमा कीजिएगा, किंतु मैं यह आप से कह सकता हूँ कि ईमानदार आदमी आपको इतना सस्ता न मिलेगा।"

कुँवर साहब ने मन में सोचा कि मेरे यहाँ सदा अदालत-कचहरी लगी ही रहती है। सैकड़ों रुपए तो डिगरी और तजवीज़ों तथा और अँगरेज़ी कागज़ों के अनुवाद में लग जाते हैं। एक अंग्रेज़ी का पूर्ण पंडित सहज ही में मुझे मिल रहा है। सो भी अधिक तनख़्वाह नहीं देनी पड़ेगी। इसे रख लेना ही उचित है, लेकिन पंडितजी की बात का उत्तर देना आवश्यक था, अतः कहा—"महाशय, सत्यवादी मनुष्य को कितना ही कम वेतन दिया जावे, किंतु वह सत्य को न छोड़ेगा और न अधिक वेतन पाने से बेईमान सच्चा बन सकता है। सच्चाई का रुपए से कुछ संबंध नहीं। मैंने ईमानदार कुली देखे हैं और बेईमान बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुष, परंतु अच्छा; आप एक सज्जन पुरुष हैं। आप मेरे यहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहिए। मैं आपको एक इलाक़े का अधिकारी बना दूँगा और आपका काम देखकर तरक्की भी कर दूँगा।"

दुर्गानाथजी ने 20 रुपये मासिक पर रहना स्वीकार कर लिया। यहाँ से कोई ढाई मील पर कई गाँवों का इलाक़ा चाँदपार के नाम से विख्यात था। पंडितजी इसी इलाक़े के कारिंदे नियत हुए।

2

पंडित दुर्गानाथ चाँदपार के इलाक़े में पहुँचे और अपने निवासस्थान को देखा, तो उन्होंने कुँवर साहब के कथन को बिलकुल सत्य पाया। यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख-संपत्ति का घर है। रहने के लिए सुंदर बँगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था, सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुंदर टाँगन, सुख और ठाटबाट के सारे सामान उपस्थित, किंतु इस प्रकार की सजावट और विलास-युक्त सामग्री देखकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न हुई क्योंकि इसी सजे हुए बँगले के चारों ओर किसानों के झोंपड़े थे। फूस के घरों में मिट्टी के वर्तनों के सिवा और सामान ही क्या था। वहाँ के लोगों में वह बँगला कोट के नाम से विख्यात था। लड़के उसे भय की दृष्टि से देखते। उसके चबूतरे पर पैर रखने का उन्हें साहस न पड़ता। इस दीनता के बीच में इतना बड़ा ऐश्वर्ययुक्त दृश्य उनके लिए अत्यंत हृदयविदारक था। किसानों की यह दशा थी कि सामने आते हुए थरथर काँपते थे। चपरासी लोग उनसे ऐसा बर्ताव करते कि पशुओं के साथ भी वैसा नहीं होता है।

पहले ही दिन कई सौ किसानों ने पंडितजी को अनेक प्रकार के पदार्थ भेंट के रूप में उपस्थित किए, किंतु जब वे सब लौटा दिए गए तो उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। किसान प्रसन्न हुए, किंतु चपरासियों का रक्त उबलने लगा। नाई और कहार ख़िदमत को आए, किंतु लौटा दिए गए। अहीरों के घरों से दूध से भरा हुआ एक मटका आया, वह भी वापस हुआ। तमोली एक डोली पान लाया, किंतु वे भी स्वीकार न हुए। असामी आपस में कहने लगे कि कोई धर्मात्मा पुरुष आए हैं, परंतु चपरासियों को तो ये नई बातें असह्य हो गईं। उन्होंने कहा—"हुज़ूर, अगर आपको ये चीज़े पसंद न हों तो न लें मगर रस्म को तो न मिटावें। अगर कोई दूसरा आदमी यहाँ आवेगा तो उसे नए सिरे से यह रस्म बाँधने में कितनी दिक्कत होगी।" यह सब सुनकर पंडितजी ने केवल यही उत्तर दिया—"जिसके सिर पर पड़ेगा वह भुगत लेगा। मुझे इसकी चिंता करने की क्या आवश्यकता?" एक चपरासी ने साहस बाँधकर कहा—"इन असामियों को आप जितना ग़रीब समझते हैं, उतने ग़रीब ये नहीं हैं। इनका ढंग ही ऐसा है। भेस बनाए रहते हैं। देखने में ऐसे सीधे-सादे मानो बेसींग की गाय हैं, लेकिन सच मानिए इनमें का एक-एक आदमी हाई कोरट का वकील है।"

चपरासियों के इस वादविवाद का प्रभाव पंडितजी पर कुछ न हुआ। उन्होंने प्रत्येक गृहस्थ से दयालुता और भाईचारे का आचरण करना आरंभ किया। सबेरे से 8 बजे तक वे ग़रीबों को बिना दाम औषधियाँ देते, फिर हिसाब-किताब का काम देखते। उनके सदाचरण ने असामियों को मोह लिया। मालगुजारी का रुपया जिसके लिए प्रतिवर्ष कुरकी तथा नीलाम की आवश्यकता होती थी, इस वर्ष एक इशारे पर

वसूल हो गया। किसानों ने अपने भाग सराहे और वे मनाने लगे कि हमारे सरकार की दिनों-दिन बढ़ती हो।

3

कुँवर विशाल सिंह अपनी प्रजा के पालनपोषण पर बहुत ध्यान रखते थे। वे बीज के लिए अनाज देते और मजूरी और बैलों के लिए रुपए। फ़सल कटने पर एक का डेढ़ वसूल कर लेते। चाँदपार के कितने ही असामी इनके ऋणी थे। चैत का महीना था। फ़सल कट-कटकर खलियान में आ रही थी। खलियान में से कुछ नाज घर में भी आने लगा था। इसी अवसर पर कुँवर साहब ने चाँदपार वालों को बुलाया और कहा—"हमारा नाज और रुपया बेबाक कर दो। यह चैत का महीना है। जब तक कड़ाई न की जाए तुम लोग डकार नहीं लेते। इस तरह काम नहीं चलेगा।" बूढ़े मलूका ने कहा—"सरकार, भला असामी कभी अपने मालिक से बेबाक हो सकता है। कुछ अभी ले लिया जाए, कुछ फिर दे देवेंगे। हमारी गर्दन तो सरकार की मुट्ठी में है।"

कुँवर साहब—"आज कौड़ी-कौड़ी चुकाकर यहाँ से उठने पाओगे। तुम लोग हमेशा इसी तरह हीला-हवाला किया करते हो।"

मलूका (विनय के साथ)—"हमारा पेट है, सरकार की रोटियाँ हैं, हमको और क्या चाहिए। जो कुछ उपज है, वह सब सरकार ही की है।"

कुँवर साहब से मलूका की यह वाचालता सही न गई। उन्हें इस पर क्रोध आ गया। राजा, रईस ठहरे। उन्होंने बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाई और कहा—"कोई है! जरा इस बुढे का कान तो गरम करे, यह बहुत बढ़-बढ़ कर बातें करता है।" उन्होंने तो कदाचित् धमकाने की इच्छा से कहा, किंतु चपरासियों की आँखों में चाँदपार खटक रहा था। एक तेज़ चपरासी क़ादिर ख़ाँ ने लपककर बूढ़े की गर्दन पकड़ी और ऐसा धक्का दिया कि बेचारा ज़मीन पर जा गिरा। मलूका के दो जवान बेटे वहाँ चुपचाप खड़े थे। बाप की ऐसी दशा देखकर उसका रक्त गर्म हो उठा। वे दोनों झपटे और क़ादिर ख़ाँ पर टूट पड़े। धमाधम शब्द सुनाई पड़ने लगा। ख़ाँ साहब का पानी उतर गया। साफ़ा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े-टुकड़े हो गए, किंतु ज़बान चलती रही।

मलूका ने देखा, बात बिगड़ गई। वह उठा और क़ादिर ख़ाँ को छुड़ाकर अपने लड़कों को गालियाँ देने लगा। जब लड़कों ने उसी को डाँटा, तब दौड़कर कुँवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा पर बात यथार्थ में बिगड़ गई थी। बूढ़े के इस विनीत भाव का कुछ प्रभाव न हुआ। कुँवर साहब की आँखों से मानो आग के अंगारे निकल रहे थे। वे बोले—"बेईमान, आँखों के सामने से दूर हो जा। नहीं तेरा ख़ून पी जाऊँगा।"

बूढ़े के शरीर में रक्त तो अब वैसा न रहा था, किंतु कुछ गर्मी अवश्य थी। वह समझा था कि ये कुछ न्याय करेंगे, परंतु यह फटकार सुनकर बोला—"सरकार बुढ़ापे में आपके दरवाज़े पर पानी उतर गया और तिस पर सरकार हमीं को डाँटते हैं।" कुँवर साहब ने कहा—"तुम्हारी इज़्ज़त अभी क्या उतरी है, अब उतरेगी।"

दोनों लड़के सरोष बोले—"सरकार अपना रुपया लेंगे कि किसी की इज़्ज़त लेंगे।"

कुँवर साहब (ऐंठकर)—"रुपया पीछे लेंगे। पहले देखेंगे कि तुम्हारी इज़्ज़त कितनी है।"

4

चाँदपार के किसान अपने गाँव पर पहुँचकर पंडित दुर्गानाथ से अपनी रामकहानी कह ही रहे थे कि कुँवर साहब का दूत पहुँचा और ख़बर दी कि सरकार ने आपको अभी बुलाया है।

दुर्गानाथ ने असामियों को परितोष दिया और आप घोड़े पर सवार होकर दरबार में हाज़िर हुए।

कुँवर साहब की आँखें लाल थीं। मुख की आकृति भयंकर हो रही थी। कई मुख़्तार और चपरासी बैठे हुए आग पर तेल डाल रहे थे। पंडितजी को देखते ही कुँवर साहब बोले—"चाँदपारवालों की हरकत आपने देखी?"

पंडितजी ने नम्र भाव से कहा—"जी हाँ, सुनकर बहुत शोक हुआ। ये तो ऐसे सरकश न थे।"

कुँवर साहब—"यह सब आप ही के आगमन का फल है। आप अभी स्कूल के लड़के हैं। आप क्या जाने कि संसार मैं कैसे रहना होता है। यदि आपका बर्ताव असामियों के साथ ऐसा ही रहा तो फिर मैं ज़मींदारी कर चुका। यह सब आपकी करनी है। मैंने इसी दरवाज़े पर असामियों को बाँध-बाँध कर उलटे लटका दिया है और किसी ने चूँ तक न की। आज उनका यह साहस कि मेरे ही आदमी पर हाथ चलाएँ।"

दुर्गानाथ (कुछ दबते हुए)—"महाशय, इसमें मेरा क्या अपराध? मैंने तो जब से सुना है, तभी से स्वयं सोच में पड़ा हूँ।"

कुँवर साहब—"आपका अपराध नहीं तो किसका है? आप ही ने तो इनको सर चढ़ाया। बेगार बंद कर दी, आप ही उनके साथ भाईचारे का बर्ताव करते हैं, उनके साथ हँसी-मज़ाक़ करते हैं। ये छोटे आदमी इस बर्ताव की क़दर क्या जानें। किताबी बातें स्कूलों ही के लिए हैं। दुनिया के व्यवहार का क़ानून दूसरा है। अच्छा जो हुआ,

सो हुआ। अब मैं चाहता हूँ कि इन बदमाशों को इस सरकशरी का मज़ा चखाया जाए। असामियों को आपने मालगुज़ारी की रसीदें तो नहीं दी हैं?"

दुर्गानाथ (कुछ डरते हुए)–"जी नहीं, रसीदें तैयार हैं, केवल आपके हस्ताक्षरों की देर है।"

कुँवर साहब (कुछ संतुष्ट होकर)–"यह बहुत अच्छा हुआ। शकुन अच्छे हैं। अब आप इन रसीदों को चिराग़ अली के सिपुर्द कीजिए। इन लोगों पर बक़ाया लगान की नालिश की जाएगी, फ़सल नीलाम करा लूँगा। जब भूखों मरेंगे, तब सूझेगी। जो रुपया अब तक वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए। आपको केवल यही गवाही देनी होगी कि यह रुपया मालगुज़ारी के मद में नहीं क़र्ज़ के मद में वसूल हुआ है। बस।"

दुर्गानाथ चिंतित हो गए। सोचने लगे कि क्या यहाँ भी उसी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा, जिससे बचने के लिए, इतने सोच-विचार के बाद, इस शांतिकुटीर को ग्रहण किया था। क्या जान-बूझकर इन ग़रीबों की गर्दन पर छुरी फेरूँ, इसलिए कि मेरी नौकरी बनी रहे। नहीं, यह मुझसे न होगा। बोले–"क्या मेरी शहादत बिना काम न चलेगा?"

कुँवर साहब (क्रोध से)–"क्या इतना कहने में भी आपको कोई उज्र है?"

दुर्गानाथ (द्विविधा में पड़े हुए)–"जी यों तो मैंने आपका नमक खाया है। आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना मुझे उचित है, किंतु न्यायालय में मैंने गवाही कभी नहीं दी है। संभव है कि यह कार्य्य मुझसे न हो सके। अतः मुझे तो क्षमा ही कर दिया जाए।"

कुँवर साहब (शासन के ढंग से)–"यह काम आपको करना पड़ेगा, इसमें हाँ-नहीं की आवश्यकता नहीं। आग आपने लगाई है, बुझावेगा कौन?"

दुर्गानाथ (शासन के साथ)–"मैं झूठ कदापि नहीं बोल सकता, और न इस प्रकार शहादत दे सकता हूँ।"

कुँवर साहब (कोमल शब्दों में)–"कृपानिधान, यह झूठ नहीं है। मैंने झूठ का व्यापार नहीं किया है। मैं यह नहीं कहता कि आप रुपए का वसूल होना अस्वीकार कर दीजिए। जब असामी मेरे ऋणी हैं, तो मुझे अधिकार है कि चाहे रुपया ऋण के मद में वसूल करूँ या मालगुज़ारी के मद में। यदि इतनी सी बात को आप झूठ समझते हैं तो आपकी ज़बरदस्ती है। अभी अपने संसार देखा नहीं। ऐसी सच्चाई के लिए संसार में स्थान नहीं। आप मेरे यहाँ नौकरी कर रहे हैं। इस सेवक-धर्म पर विचार कीजिए। आप शिक्षित और होनहार पुरुष हैं। अभी आपको संसार में बहुत दिन तक रहना है और बहुत काम करना है। अभी से आप यह धर्म्म और सत्यता धारण करेंगे तो अपने जीवन में आपको आपत्ति और निराशा के सिवा और कुछ प्राप्त न होगा।

सत्यप्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, किंतु उसकी भी सीमा है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्!' अब अधिक सोच-विचार की अवश्यकता नहीं। यह अवसर ऐसा ही है।"

कुँवर साहब पुराने खुर्राट थे। इस फैंकनैत से युवक खिलाड़ी हार गया।

5

इन घटना के तीसरे दिन चाँदपार के असामियों पर बक़ाया लगान की नालिश हुई। समन आए। घर-घर उदासी छा गई। समन क्या थे, यम के दूत थे। देवी-देवताओं की मन्नतें होने लगीं। स्त्रियाँ अपने घरवालों को कोसने लगीं और पुरुष अपने भाग्य को। नियत तारीख़ के दिन गाँव के गँवार कंधे पर लोटा-डोर रखे और अँगोछे में चबेना बाँधे कचहरी को चले। सैकड़ों स्त्रियाँ और बालक रोते हुए उनके पीछे-पीछे जाते थे, मानो अब वे फिर उनसे न मिलेंगे।

पंडित दुर्गानाथ के लिए ये तीन दिन कठिन परीक्षा के थे। एक ओर कुँवर साहब की प्रभावशालिनी बातें, दूसरी ओर किसानों की हाय-हाय, परंतु विचार-सागर में तीन दिन तक निमग्न रहने के पश्चात् इन्हें धरती का सहारा मिल गया। उनकी आत्मा ने कहा—यह पहली परीक्षा है। यदि इसमें अनुत्तीर्ण रहे तो फिर आत्मिक दुर्बलता ही हाथ रह जाएगी। निदान निश्चय हो गया कि मैं अपने लाभ के लिए इतने ग़रीबों को हानि न पहुँचाऊँगा।

दस बजे दिन का समय था। न्यायालय के सामने मेला-सा लगा हुआ था। जहाँ-तहाँ श्याम वस्त्राच्छादित देवताओं की पूजा हो रही थी। चाँदपार के किसान झुंड-के-झुंड एक पेड़ के नीचे आकर बैठे। उनके कुछ दूर पर कुँवर साहब के मुख़्तार आम, सिपाहियों और गवाहों की भीड़ थी। ये लोग अत्यंत विनोद में थे। जिस प्रकार मछलियाँ पानी में पहुँचकर किलोलें करती हैं, उसी भाँति ये लोग भी आनंद में चूर थे। कोई पान खा रहा था, कोई हलवाई दूकान से पूरियों के पत्तल लिए चला आता था। उधर बेचारे किसान पेड़ के नीचे चुप-चाप उदास बैठे थे कि आज न जाने क्या होगा, कौन आफ़त आएगी, भगवान का भरोसा है। मुक़दमे की पेशी हुई। कुँवर साहब की ओर के गवाह गवाही देने लगे कि ये असामी बड़े सरकश हैं। जब लगान माँगा जाता है तो लड़ाई-झगड़े पर तैयार हो जाते है। अब की इन्होंने एक कौड़ी भी नहीं दी।

क़ादिर खाँ ने रोकर अपने सिर की चोट दिखाई। सबके पीछे पंडित दुर्गानाथ की पुकार हुई। उन्हीं के बयान पर निपटारा था। वकील साहब ने उन्हें ख़ूब तोते की भाँति पढ़ा रखा था, किंतु उनके मुख से पहला वाक्य निकला था कि मजिस्ट्रेट ने उनकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वकील साहब बगलें झाँकने लगे। मुख़्तार आम ने उनकी ओर घूर कर देखा। अहलमद, पेशकार आदि सबके सब उनकी ओर आश्चर्य्य की दृष्टि से देखने लगे।

न्यायाधीश ने तीव्र स्वर में कहा—"तुम जानते हो कि मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो?"

दुर्गानाथ (दृढ़तापूर्वक)—"जी हाँ, भली-भाँति जानता हूँ।"

न्याया.—"तुम्हारे ऊपर असत्य भाषण का अभियोग लगाया जाता है।"

दुर्गानाथ—"अवश्य, यदि मेरा कथन झूठा हो।"

वकील ने कहा—"जान पड़ता है किसानों के दूध घी और भेंट आदि ने यह कायापलट कर दी है।" और न्यायाधीश की ओर सार्थक दृष्टि से देखा।

दुर्गानाथ—"आपको इन वस्तुओं का अधिक तजरुबा होगा। मुझे तो अपनी रूखी रोटियाँ ही अधिक प्यारी है।"

न्यायाधीश—"तो इन असामियों ने सब रुपया बेबाक़ कर दिया है?"

दुर्गानाथ—"जी हाँ, इनके जिम्मे लगान की एक कौड़ी भी बाक़ी नहीं है।"

न्यायालय—"रसीदें क्यों नहीं दीं?"

दुर्गानाथ—"मेरे मालिक की आज्ञा।"

6

मजिस्ट्रेट ने नालिशें डिसमिस कर दीं। कुँवर साहब को ज्यों ही इस पराजय की ख़बर मिली, उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई। उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे—नमकहराम, विश्वासघाती, दुष्ट। ओह, मैंने उसका कितना आदर किया, किंतु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है! अंत में विश्वासघात कर ही गया। यह अच्छा हुआ कि पं. दुर्गानाथ मजिस्ट्रेट का फ़ैसला सुनते ही मुख़्तार आम को कुंजियाँ और काग़ज़-पत्र सुपुर्द कर चलते हुए। नहीं तो उन्हें इस कार्य्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता पड़ती!

कुँवर साहब का लेन-देन विशेष अधिक था। चाँदपार बहुत बड़ा इलाक़ा था। वहाँ के असामियों पर कई सौ रुपए बाक़ी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अब रुपया डूब जाएगा। वसूल होने की कोई आशा नहीं। इस पंडित ने असामियों को बिलकुल बिगाड़ दिया। अब उन्हें मेरा क्या डर। अपने कारिंदों और मंत्रियों से सम्मति ली। उन्होंने भी यही कहा—"अब वसूल होने की कोई सूरत नहीं। काग़ज़ात न्यायालय में पेश किए जाएँ तो इनकम टैक्स लग जाएगा, किंतु रुपया वसूल होना कठिन है। उज़रदारियाँ होंगी। कहीं हिसाब में कोई भूल निकल आई तो रही सही साख भी जाती रहेगी और दूसरे इलाक़ों का रुपया भी मारा जाएगा।"

दूसरे दिन कुँवर साहब पूजापाठ से निश्चिंत हो अपनी चौपाल में बैठे, तो क्या देखते हैं कि चाँदपार के असामी झुंड-के-झुंड चले आ रहे हैं। उन्हें यह देखकर भय हुआ कि कहीं ये सब कुछ उपद्रव तो न करें, किंतु किसी के हाथ में एक छड़ी तक

न थी। मलूका आगे-आगे आता था। उसने दूर ही से झुककर वंदना की। ठाकुर साहब को ऐसा आश्चर्य हुआ, मानो वे कोई स्वप्न देख रहे हों।

7

मलूका ने सामने आकर विनयपूर्वक कहा—"सरकार, हम लोगों से जो कुछ भूल-चूक हुई उसे क्षमा किया जाए। हम लोग सब हजूर के चाकर हैं; सरकार ने हमको पाला-पोसा है। अब भी हमारे ऊपर यही निगाह रहे।"

कुँवर साहब का उत्साह बढ़ा। समझे कि पंडित के चले जाने से इन सबों के होश ठिकाने हुए हैं। अब किसका सहारा लेंगे। उसी खुर्राट ने इन सबों को बहका दिया था। कड़ककर बोले—"वे तुम्हारे सहायक पंडित कहाँ गए? वो आ जाते तो ज़रा उनकी ख़बर ली जाती।"

यह सुनकर मलूका की आँखों में आँसू भर आए। वह बोला—"सरकार उनको कुछ न कहें। वे आदमी नहीं, देवता थे। जवानी की सौगंध है, जो उन्होंने आपकी कोई निंदा की हो। वे बेचारे तो हम लोगों को बार-बार समझाते थे कि देखो, मालिक से बिगाड़ करना अच्छी बात नहीं। हमसे कभी एक लोटा पानी के रवादार नहीं हुए। चलते-चलते हम लोगों से कह गए कि मालिक का जो कुछ तुम्हारे ज़िम्मे निकले चुका देना। आप हमारे मालिक हैं। हमने आपका बहुत खाया-पिया है। अब हमारी यही विनती सरकार से है कि हमारा हिसाब-किताब देखकर जो कुछ हमारे ऊपर निकले बताया जाए। हम एक-एक कौड़ी चुका देंगे, तब पानी पिएँगे।"

कुँवर साहब सन्न हो गए। इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दंड दिए और आज ये सब आपसे आप सारा हिसाब-किताब साफ़ करने आए हैं! यह क्या जादू है!

मुख़्तार आम साहब ने काग़ज़ात खोले और असामियों ने अपनी-अपनी पोटलियाँ। जिसके ज़िम्मे जितना निकला, बे-कान पूछ हिलाए उसने द्रव्य सामने रख दिया। देखते-देखते सामने रुपयों का ढेर लग गया। 600 रुपया बात-की-बात में वसूल हो गए। किसी के ज़िम्मे कुछ बाक़ी न रहा। यह सत्यता और न्याय की विजय थी। कठोरता और निर्दयता से जो काम कभी न हुआ, वह धर्म्म और न्याय ने पूरा कर दिखाया।

जब से ये लोग मुक़द्दमा जीत कर आए तभी से उनको रुपया चुकने की धुन सवार थी। पंडितजी को वे यथार्थ में देवता समझते थे। उनकी रुपया चुका देने के लिए विशेष आज्ञा थी। किसी ने अन्न बेचा, किसी ने बैल, किसी ने गहने बंधक रखे। यह सब कुछ सहन किया, परंतु पंडितजी की बात न टाली। कुँवर साहब के मन में पंडितजी के प्रति जो बुरे विचार थे वे सब मिट गए, लेकिन उन्होंने सदा से कठोरता

से काम लेना सीखा था। उन्हीं नियमों पर वे चलते थे। न्याय तथा सत्यता पर उनका विश्वास न था, किंतु आज उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा कि सत्यता और कोमलता में बहुत बड़ी शक्ति है।

ये असामी मेरे हाथ से निकल गए थे। मैं इनका क्या बिगाड़ सकता था? अवश्य यह पंडित सच्चा और धर्मात्मा पुरुष था। उसमें दूरदर्शिता न हो, काल-ज्ञान न हो, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि वह निस्पृह और सच्चा पुरुष था।

8

कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती, तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता। हरी दूब भी किसी समय अशर्फियों के मोल बिक जाती है। कुँवर साहब का काम एक निस्पृह मनुष्य के बिना रुक नहीं सकता था। अतएव पंडित के इस सर्वोत्तम कार्य्य की प्रशंसा किसी कवि की कविता से अधिक न हुई। चाँदपार के असामियों ने तो अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया, किंतु अन्य इलाक़ों वाले असामी उसी पुराने ही ढंग से चलते थे। उन इलाक़ों में रगड़-रगड़ सदैव मची रहती थी। अदालत, मारपीट, डाँट-डपट सदा लगी रहती थी, किंतु ये सब तो ज़मींदारी के सिंगार हैं। बिना इन सब बातों के ज़मींदारी कैसी? क्या दिन-भर बैठे-बैठे वे मक्खियाँ मारें?

कुँवर साहब इसी प्रकार पुराने ढंग से अपना प्रबंध सँभालते जाते थे। कई वर्ष व्यतीत हो गए। कुँवर साहब का कारबार दिनों-दिन चमकता ही गया। यद्यपि उन्होंने पाँच लड़कियों के विवाह बड़ी धूम-धाम के साथ किए, परंतु तिस पर भी उसकी बढ़ती में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ, शारीरिक शक्तियाँ अवश्य कुछ-कुछ ढीली पड़ती गई। बड़ी भारी चिंता यही थी कि इस बड़ी संपत्ति और ऐश्वर्य को भोगनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ। भानजे, भतीजे और नवासे इस रियासत पर दाँत लगाए हुए थे।

कुँवर साहब का मन अब इन सांसारिक झगड़ों से फिरता जाता था। आख़िर यह रोना-धोना किसके लिए? अब उनके जीवन-नियम में एक परिवर्तन हुआ। द्वार पर कभी-कभी साधु-संत धूनी रमाए हुए देख पड़ते। स्वयं भगवद्गीता और विष्णुपुराण पढ़ते। पारलौकिक चिंता अब नित्य रहने लगी। परमात्मा की कृपा! साधु-संतों के आशीर्वाद से बुढ़ापे में उनके एक लड़का पैदा हुआ। जीवन की आशाएँ सफल हुईं। दुर्भाग्यवश पुत्र के जन्म ही से कुँवर साहब शारीरिक व्याधियों में ग्रस्त रहने लगे। सदा वैद्यों और डॉक्टरों का ताँता लगा रहता था, लेकिन दवाओं का उलटा प्रभाव पड़ता। ज्यों-त्यों करके उन्होंने ढाई वर्ष बिताए। अंत में उनकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। उन्हें मालूम हो गया कि अब संसार से नाता टूट जाएगा। अब चिंता ने और धर दबाया—यह सारा माल असबाब, इतनी बड़ी संपत्ति किस पर छोड़ जाऊँ? मन की

इच्छाएँ मन ही में रह गईं। लड़के का विवाह भी न देख सका। उसकी तोतली बातें सुनने का भी सौभाग्य न हुआ। हाय! अब इस कलेजे के टुकड़े को किसे सौपूँ, जो इसे अपना पुत्र समझे। लड़के की माँ स्त्री जाति, न कुछ जाने न समझे। उससे कारबार सँभलना कठिन है। मुख्तार आम, गुमाश्ते, कारिंदे कितने हैं, परंतु सबके सब स्वार्थी, विश्वासघाती। एक भी ऐसा पुरुष नहीं जिस पर मेरा विश्वास जमे। कोर्ट आव वार्ड्स के सुपुर्द करूँ तो वहाँ भी ये ही सब आपत्तियाँ। कोई इधर दबाएगा, कोई उधर। अनाथ बालक को कौन पूछेगा? हाय, मैंने आदमी नहीं पहचाना! मुझे हीरा मिल गया था, मैंने उसे ठीकरा समझा! कैसा सच्चा, कैसा वीर, दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष था। यदि वह कहीं मिल जाये तो इस अनाथ बालक के दिन फिर जाएँ। उसके हृदय में करुणा है, दया है। वह एक अनाथ बालक पर तरस खाएगा। हाँ! क्या मुझे उसके दर्शन मिलेंगे? मैं उस देवता के चरण धोकर माथे पर चढ़ाता। आँसुओं से उसके चरण धोता। वही यदि हाथ लगाए, तो यही मेरी डूबती नाव पार लगे।

9

ठाकुर साहब की दशा दिन-पर-दिन बिगड़ती गई। अब अंतकाल आ पहुँचा। उन्हें पंडित दुर्गादास की रट लगी हुई थी। बच्चे का मुँह देखते और कलेजे से एक आह निकल जाती। बार-बार पछताते और हाथ मलते। हाय! उस देवता को कहाँ पाऊँ? जो कोई उसके दर्शन करा दे, आधी जायदाद उस पर न्यौछावर कर दूँ—प्यारे पंडित! मेरे अपराध क्षमा करो। मैं अंधा था, अज्ञानी था। अब मेरी बाँह पकड़ो। मुझे डूबने से बचाओ। इस अनाथ बालक पर तरस खाओ।

हितार्थी और संबंधियों का समूह सामने खड़ा था। कुँवर साहब ने उनकी ओर अधखुली आँखों से देखा। सच्चा हितैषी कहीं देख न पड़ा। सबके चेहरे पर स्वार्थ की झलक थी। निराशा से आँखे मूँद लीं। उनकी स्त्री फूट-फूटकर रो रही थी। निदान उसे लज्जा त्यागनी पड़ी। वह रोती हुई पास जाकर बोली—"प्राणनाथ, मुझे और इस असहाय बालक को किस पर छोड़े जाते हो?"

कुँवर साहब ने धीरे से कहा—"पंडित दुर्गादास पर। वे जल्द आएँगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनको भेंट कर दिया। यह अंतिम वसीयत है।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, नवंबर, 1914)
('नव-निधि', हिंदी कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण, दिसंबर, 1917 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'-6, 1946)

वर्ष : 1915

विस्मृति

1

चित्रकूट के सन्निकट धनगढ़ नामी एक गाँव है। कुछ दिन हुए वहाँ शानसिंह और गुमानसिंह दो भाई रहते थे। ये जाति के ठाकुर (क्षत्री) थे। युद्धस्थल में वीरता के कारण उनके पूर्वजों को भूमि का एक भाग मुआफ़ी प्राप्त हुआ था। खेती करते थे, भैंसें पाल रखी थीं, घी बेंचते थे, मट्ठा खाते थे और प्रसन्नतापूर्वक समय व्यतीत करते थे। उनकी एक बहिन थी, जिसका नाम दूजी था। यथा नाम तथा गुण। दोनों भाई परिश्रमी और अत्यन्त साहसी थे। बहिन अत्यन्त कोमल, सुकुमारी; शिर पर घड़ा रखकर चलती तो उसकी कमर बल खाती थी, किंतु तीनों अभी तक कुँआरे थे। प्रकटतः उन्हें विवाह की कुछ चिंता न थी। बड़े भाई शानसिंह सोचते, छोटे भाई के रहते हुए अब मैं अपना विवाह कैसे करूँ। छोटे भाई गुमानसिंह लज्जावश अपनी अभिलाषा प्रगट न करते थे कि बड़े भाई से पहले मैं अपना ब्याह कर लूँ! वे लोगों से कहा करते थे, भाई, हम बड़े आनंद में हैं, आनंदपूर्वक भोजन कर मीठी नींद सोते है। कौन यह झंझट सिर पर ले? किंतु लग्न के दिनों में कोई नाई या ब्राह्मण, गाँव में वर ढूँढ़ने आ जाता तो उसकी सेवा-सत्कार में यह लोग कोई बात न उठा रखते थे। पुराने चावल निकाले जाते, पालतू बकरे देवी की भेंट होते और दूध की नदियाँ बहने लगती थीं। यहाँ तक कि कभी-कभी उनका भ्रातृ-स्नेह प्रतिद्वंद्विता एवं द्वेषभाव के रूप में परिणत हो जाता था। इन दिनों में इनकी उदारता उमंग पर आ जाती थी और इससे लाभ उठानेवालों की भी कमी न थी। कितने ही नाई और ब्राह्मण ब्याह के असत्य समाचार लेकर उनके यहाँ आते और दो-चार दिन पूड़ी-कचौड़ी खा कुछ विदाई लेकर वर-रक्षा (फलदान) भेजने का वादा करके अपने घर की राह लेते, किंतु दूसरे लग्न तक वह अपना दर्शन तक न देते थे। किसी-न-किसी कारण भाइयों का यह परिश्रम निष्फल हो जाता था। अब कुछ आशा थी तो दूजी से। भाइयों ने यह निश्चय कर लिया था कि इसका विवाह वहीं पर किया जाए, जहां से एक बहू प्राप्त हो सके।

2

इसी बीच में गाँव का बूढ़ा कारिंदा परलोक सिधारा। उसकी जगह पर एक नवयुवक ललनसिंह नियुक्त हुआ जो अंग्रेज़ी की शिक्षा पाए हुए, शौकीन, रंगीन और रसीला आदमी था। दो-चार ही दिनों में उसने पनघटों, तालाबों और झरोखों की देखभाल भली-भाँति कर ली। अंत में उसकी रसभरी दृष्टि दूजी पर पड़ी। उसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गया। भाइयों से प्रेम और परस्पर मेल-जोल पैदा किया। कुछ विवाह संबंधी बातचीत छेड़ दी। यहाँ तक कि हुक्का-पानी भी साथ-साथ होने लगा। सायं-प्रातः इनके घर पर आया करता। भाइयों ने भी उसके आदर-सम्मान की सामग्रियाँ जमा कीं। पानदान मोल लाए, कालीन खरीदी। वह दर्वाज़े पर आता तो दूजी तुरंत पान के बीड़े बनाकर भेजती, बड़े भाई कालीन बिछा देते और छोटे भाई तश्तरी में मिठाइयाँ रखकर लाते। एक दिन श्रीमान् ने कहा, "भैया शानसिंह, ईश्वर की कृपा हुई तो अब की लग्न में भाभीजी आ जाएँगी। मैंने सब बातें ठीक कर ली हैं।" शानसिंह की बाछें खिल गईं। अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा, "मैं अब इस अवस्था में क्या ब्याह करूँगा। हाँ, गुमानसिंह की बातचीत कहीं ठीक हो जाती तो पाप कट जाता।"

गुमानसिंह ने ताड़ का पंखा उठा लिया और झलते हुए बोले, "वाह भैया! कैसी बात कहते हो?" ललनसिंह ने अकड़कर शानसिंह की ओर देखते हुए कहा, "भाई साहब, क्या कहते हो अबकी लग्न में दोनों भाभियाँ छमाछमा करती हुई घर में आवें तो बात! मैं ऐसा कच्चा मामला नहीं रखता। तुम तो अभी से बुड्ढ़ों की भांति बातें करने लगे। तुम्हारी अवस्था यद्यपि पचास से भी अधिक हो गई पर देखने में चालीस वर्ष से भी कम मालूम होती है। अब की दोनों विवाह होंगे, बीच खेत होंगे। यह तो बताओ वस्त्राभूषण का समुचित प्रबंध है न?" शान ने उनके जूतों को सीधा करते हुए कहा, "भाई साहब, आपकी यदि ऐसी कृपा-दृष्टि है तो सब कुछ हो जाएगा। आख़िर इतने दिन कमा-कमाकर क्या किया है।" गुमानसिंह घर में गए, हुक्का ताज़ा किया। तंबाकू में दो-तीन बूँद इत्र के डाले, चिलम भरी, दूजी से कहा कि शरबत घोल दे और हुक्का लेकर ललनसिंह के सामने रख दिया। ललनसिंह ने दो-चार दम लगाए और बोले, "नाई दो-चार दिन में आनेवाला है। ऐसा घर चुना है कि चित्त प्रसन्न हो जाए, एक विधवा है। दो कन्याएँ एक-से-एक सुंदर। विधवा दो एक वर्ष में संसार को त्याग देगी और तुम एक संपूर्ण गाँव में दो आने के हिस्सेदार बन जाओगे। गाँववाले जो अभी हँसी करते हैं, पीछे जल भरेंगे। हाँ, भय इतना ही है कि कोई बुढ़िया के कान न भर दे कि सारा बना बनाया खेल बिगड़ जाए।"

शानसिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुमानसिंह की मुखकांति मलिन हो गई। बोले, "अब तो आपकी ही आस है। आपकी जैसी राय हो, किया जाए।"

तब कोई पुरुष हमारे साथ अकारण मित्रता का व्यवहार करने लगे तो हमको सोचना चाहिए कि इसमें उसका कोई स्वार्थ तो नहीं छिपा है। यदि हम अपने सीधेपन से इस भ्रम में पड़ जाएँ कि कोई मनुष्य हमको केवल अनुगृहीत करने के लिए हमारी सहायता करने पर तत्पर है तो हमें धोखा खाना पड़ेगा, किंतु अपने स्वार्थ की धुन में ये मोटी-मोटी बातें भी हमारी निगाहों से छिप जाती हैं और छल अपने रंगे हुए भेष में आकर हमको सर्वदा के लिए परस्पर व्यवहार का उपदेश दे देता है। शान और गुमान ने सोच-विचार से कुछ भी काम न लिया और ललनसिंह के फंदे नित्यप्रति गाढ़े होते गए। मित्रता ने यहाँ तक पाँव पसारे कि भाइयों की अनुपस्थिति में भी वह बेधड़क घर में घुस जाते और आँगन में खड़े होकर छोटी बहिन से पान-ढक्का माँगते। दूजी उन्हें देखते ही अति प्रसन्नता से पान बनाती। फिर आँखें मिलतीं, एक प्रेमाकांक्षा से बेचैन, दूसरी लज्जावश सकुची हुई। फिर मुसकराहट की झलक होंठों पर आती। चितवनों की शीतलता कलियों को खिला देती। हृदय नेत्रों द्वारा बातें कर लेते।

इस प्रकार प्रेम-लिप्सा बढ़ती गई। उस नेत्रालिंगन में, जो मनोभावों का वाह्यरूप था, उद्विग्नता और विकलता की दशा उत्पन्न हुई। वह दूजी, जिसे कभी मनिहारे और बिसाती की रुचिकर ध्वनि भी चौखट से बाहर न निकाल सकती थी, अब एक प्रेम विह्लता की दशा में प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई घंटो दरवाज़े पर खड़ी रहती। उन दोहे और गीतों में जिन्हें वह कभी विनोदार्थ गाया करती थी, अब उसे विशेष अनुराग और विरह-वेदना का अनुभव होता। तात्पर्य यह कि प्रेम का रंग गाढ़ा हो गया।

शनैः शनैः गाँव में चर्चा होने लगी। घास और काँस स्वयं उगते हैं। उखाड़ने से भी नहीं जाते। अच्छे पौधे बड़ी देख-रेख से उगते हैं। इसी प्रकार बुरे समाचार स्वयं फैलते हैं छिपाने से भी नहीं छिपते। पनघटों और तालाबों के किनारे इस विषय पर कानाफूसी होने लगी। गाँव की बनियाइन जो अपनी तराजू पर हृदयों को तौलती थी और ग्वालिन जो जल में प्रेम का रंग देकर दूध का दाम लेती थी और तम्बोलिन जो पान के बीड़ों से दिलों पर रंग ज़माती थी, बैठकर दूजी की लोलुपता और निर्लज्जता का राग अलापने लगीं। विचारी दूजी को घर से निकलना दुर्लभ हो गया, सखी-सहेलियाँ हँसी से छेड़तीं और वृद्धा स्त्रियाँ हृदयविदारक व्यंग्यों से।

मर्दों तक बातें फैलीं। ठाकुरों का गाँव था। उनकी क्रोधाग्नि भड़की। आपस में सम्मति हुई कि ललनसिंह को इस दुष्टता का दंड देना उचित है। दोनों भाइयों को बुलाया और बोले, "भैया, क्या अपनी मर्य्यादा का नाश करके विवाह करोगे?"

दोनों भाई चौंक पड़े। उन्हें विवाह की उमंग में यह सुधि ही नहीं थी कि घर में क्या हो रहा है। शानसिंह ने कहा, "तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आई। साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते।"

एक ठाकुर ने जवाब दिया, "साफ़-साफ़ क्या कहलाते हो? इस शोहदे ललनसिंह का अपने यहाँ आना-जाना बंद कर दो, नहीं तो तुम तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे

ही हो उसकी जान की कुशल नहीं। हमने अभी तक इसीलिए तरह दिया है कि कदाचित् तुम्हारी आँखें खुलें, किंतु ज्ञात होता है कि तुम्हारे ऊपर उसने मुर्दे का भस्म डाल दिया है। ब्याह क्या अपनी आबरू बेचकर करोगे? तुम लोग खेत में रहते हो और हम लोग अपनी आँखों से देखते हैं कि वह शोहदा अपना बनाव-संवार किए आता है और तुम्हारे घर में घंटों घुसा रहता है। तुम उसे अपना भाई समझते हो तो समझा करो। हम तो ऐसे भाई का गला काट लें जो विश्वासघात करे।"

भाइयों के नेत्र-पट खुले। दूजी के संबंध में जो ज्वर का संदेह था, वह प्रेम का ज्वर निकला। रुधिर में उबाल आया। नेत्रों से चिनगारियाँ उड़ीं। तेवर बदले। दोनों भाइयों ने एक-दूसरे की ओर क्रोधमय दृष्टि से देखा। मनोगत भाव जिह्वा तक न आ सके। अपने घर आए, किंतु दरवाज़े पर पाँव रक्खा ही था कि ललनसिंह से मुठभेड़ हो गई।

ललनसिंह ने हँसकर कहा—"वाह भैया! वाह! हम तुम्हारी खोज में बारंबार आते हैं, किंतु आपके दर्शन तक नहीं मिलते। मैंने समझा, आख़िर रात्रि में तो कुछ काम न होगा, किंतु देखता हूँ आपको इस समय भी छुट्टी नहीं है।"

शानसिंह ने हृदय के भीतर क्रोधाग्नि को दबाकर कहा—"हाँ, इस समय वास्तव में छुट्टी नहीं है।"

ललनसिंह—"आख़िर क्या काम है? मैं भी सुनूँ।"

शानसिंह—"बहुत बड़ा काम है, तुम से छिपा न रहेगा।"

ललनसिंह—"कुछ वस्त्राभूषण का भी प्रबंध कर रहे हो? अब लग्न सिर पर आ गई है।"

शानसिंह—"अब बड़ी लग्न सिर पर आ पहुँची है, पहिले इसका प्रबंध करना है।"

ललनसिंह—"क्या किसी से ठन गई क्या?"

शानसिंह—"भली-भाँति।"

ललनसिंह—"किससे?"

शानसिंह—"इस समय जाइए, प्रातःकाल बतलाऊँगा।"

3

दूजी भी ललनसिंह के साथ दरवाज़े की चौखट तक आई थी। भाइयों की आहट पाते ही ठिठक गई और यह बातें सुनीं। उसका माथा ठनका कि आज यह क्या मामला है। ललनसिंह का कुछ आदर-सत्कार नहीं हुआ। न हुक्का न पान। कहीं भाइयों के कानों में कुछ भनक तो नहीं पड़ी? किसी ने कुछ लगा तो नहीं दिया? यदि ऐसा हुआ तो कुशल नहीं।

इसी उधेड़बुन में बैठी थी कि भाइयों ने भोजन परोसने की आज्ञा दी। जब वह भोजन करने बैठे तो दूजी ने अपनी निर्दोषिता और पवित्रता प्रकट करने के लिए एवं अपने भाइयों के दिल का भेद लेने के लिए कुछ कहना चाहा। त्रिया-चरित्र में अभी निपुण न थी। बोली—"भैया, ललनसिंह से कह दो, घर में न आया करें। आप घर में रहिए तो कोई बात नहीं, किंतु कभी-कभी आप नहीं रहते तो मुझे अत्यन्त लज्जा आती है। आज ही वह आपको पूछते हुए चले आए, अब मैं उनसे क्या कहूँ? आपको नहीं देखा तो लौट गए।"

शानसिंह ने बहिन की तरफ़ ताना-भरे नेत्रों से देखकर कहा—"अब वह घर में न आएँगे।"

गुमानसिंह बोले—"हम इसी समय जाकर उन्हें समझा देंगे।"

भाइयों ने भोजन कर लिया। दूजी को पुनः कुछ कहने का साहस न हुआ। उसे उनके तेवर आज कुछ बदले हुए मालूम होते थे। भोजनोपरांत दोनों भाई दीपक लेकर भंडारे की कोठरी में गए। अनावश्यक बर्तन, पुराने सामान, पुरुखाओं के समय के अस्त्र-शस्त्र, आदि इसी कोठरी में रक्खे थे। गाँव में जब कोई बकरा देवीजी की भेंट किया जाता तो यह कोठरी खुलती थी। आज तो कोई ऐसी बात नहीं है। इतनी रात गए यह कोठरी क्यों खोली जाती है? दूजी को किसी भावी दुर्घटना का संदेह हुआ। वह दबे पाँव दरवाज़े पर गई तो देखती क्या है कि गुमानसिंह एक भुजाली लिए पत्थर पर रगड़ रहा है। उसका कलेजा धक-धक करने लगा और पाँव थर्राने लगे। वह उलटे पाँव लौटना चाहती थी कि शानसिंह की आवाज़ सुनाई दी—"इसी समय एक घड़ी में चलना ठीक है। पहली नींद बड़ी गहरी होती है। बेधड़क सोता होगा।" गुमानसिंह बोले—"अच्छी बात है; देखो भुजाली की धार! एक हाथ में काम तमाम हो जाएगा!"

दूजी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानो किसी ने पहाड़ पर से ढकेल दिया। सारी बातें उसकी समझ में आ गईं। वह भय की दशा में घर से निकली और ललनसिंह के चौपाल की ओर चली, किंतु वह अँधेरी रात, प्रेम की घाटी थी और वह रास्ता, प्रेम का कठिन मार्ग। वह इस सूनसान अँधेरी रात में चौकन्ने नेत्रों से इधर-उधर देखती, विह्वलता की दशा में शीघ्रतापूर्वक चली जाती थी, किंतु हाय निराशा! एक-एक पग उसे प्रेम-भवन से दूर लिए जाता था। उस अँधेरी भयानक रात्रि में भटकती, न जाने वह कहाँ चली जाती थी, किससे पूछे! लज्जा-वश वह किसी से कुछ न पूछ सकती थी। कहीं चूड़ियों की झनझनाहट भेद न खोल दे! क्या इन अभागे आभूषणों को आज ही झनझनाना है? अंत में एक वृक्ष के तले वह बैठ गई, सब चूड़ियाँ चूर-चूर कर दीं, आभूषण उतार अंचल में बाँध लिए, किंतु हाय! यह चूड़ियाँ सुहाग की चूड़ियाँ थीं और यह गहने सुहाग के गहने थे, जो एक बार उतारकर फिर न पहने गए।

उसी वृक्ष के नीचे पयस्विनी नदी पत्थर के टुकड़ों से टकराती हुई बहती थी। जहाँ नौकाओं का निर्वाह दुस्तर था। दूजी बैठी हुई सोचती थी, क्या मेरे जीवन की नदी में प्रेम की नौका दुःख की शिलाओं से टक्कर खाकर डूब जाएगी।

4

प्रातःकाल ग्रामवासियों ने आश्चर्यपूर्वक सुना कि ठाकुर ललनसिंह की किसी ने हत्या कर डाली। सारे गाँव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध, युवा, सहस्त्रों की संख्या में चौपाल के सामने जमा हो गए। स्त्रियाँ पनघटों को जाती हुई रुक गईं। किसान हल-बैल लिए ज्यों के त्यों खड़े रह गए। किसी की समझ में न आता था कि यह हत्या किसने की। कैसा मिलनसार, हँसमुख सज्जन मनुष्य था! उसका कौन ऐसा शत्रु था! बेचारे ने किसी पर इजाफ़ा लगान या बेदख़ली की नालिश तक नहीं की। किसी को दो बात तक नहीं कहीं। दोनों भाइयों के नेत्रों से आँसू की धारा बहती थी। उनका घर उजड़ गया। सारी आशाओं पर तुषारपात हो गया। गुमानसिंह ने रोकर कहा—"हम तीन भाई थे, अब दो ही रह गए! हम से तो दाँत-काटी रोटी थी। साथ उठना-बैठना, हँसी, दिल्लगी। भोजन-छाजन एक हो गया था। हत्यारे से इतना भी नहीं देखा गया। हाय! अब हमको कौन सहारा देगा?" शानसिंह ने आँसू पोंछते हुए कहा—"हम दोनों भाई कपास निराने जा रहे थे। ललनसिंह से कई दिन से भेंट नहीं हुई थी। सोचे कि इधर से होते चलें, किंतु पिछवाड़े आते ही सेंध दिखाई पड़ी। हाथों के तोते उड़ गए। दरवाज़ों पर जाकर देखा तो चौकीदार सिपाही सब सो रहे हैं। उन्हें जगाकर ललनसिंह का किवाड़ खटखटाने लगा परंतु बहुत बल करने पर भी किवाड़ अंदर से न खुला तो सेंध के रास्ते से झाँका, आह कलेजे में एक तीर लग गया! संसार अंधेरा-सा दिखाई दे दिया। प्यारे ललनसिंह का शिर धड़ से अलग था। रक्त की नदी बह रही थी। शोक! भैया सदा के लिए बिछुड़ गए!"

मध्याह्न काल तक इसी प्रकार विलाप होता रहा। दरवाज़े पर मेला लगा हुआ था। दूर-दूर से लोग इस दुर्घटना का समाचार पाकर इकट्ठे होते जाते थे। संध्या होते होते हल्के के दारोग़ा साहब भी चौकीदार और सिपाहियों का एक झुंड लिए आ पहुँचे। कड़ाही चढ़ गई। पूड़ियाँ छनने लगीं। दारोग़ाजी ने जाँच करना शुरू किया। घटनास्थल देखा, चौकीदारों का बयान हुआ। दोनों भाइयों के बयान लिखे। आस-पास के पासी और चमार पकड़े गए और उन पर मार पड़ने लगी। ललनसिंह की लाश लेकर थाने पर गए। हत्यारे का पता न चला। दूसरे दिन इंस्पेक्टर-पुलिस का आगमन हुआ। उन्होंने भी गाँव का चक्कर लगाया, चमारों और पासियों की फिर मरम्मत हुई; हलुआ, सोहन, गोश्त, पूड़ी का स्वाद लेकर सायंकाल को उन्होंने अपनी राह ली। कुछ पासियों पर जो कि कई बार डाके-चोरी में पकड़े जा चुके थे, संदेह हुआ। उनका चालान किया गया। मजिस्ट्रेट ने गवाही पुष्ट पाकर अपराधियों को सेशन सुपुर्द किया और मुक़दमे की पेशी होने लगी।

मध्याह्न का समय था। आकाश पर मेघ छाए हुए थे। कुछ बूँदे भी पड़ रही थीं। सेशन जज कुँवर विनयकृष्ण बघेला की इजलास में मुक़दमा पेश था। कुँवर

साहब बड़े सोच-विचार में थे कि क्या करूँ। अभियुक्तों के विरुद्ध साक्षी निर्बल थी, किंतु सरकारी वकील जो एक प्रसिद्ध नीतिज्ञ थे, नज़ीरों पर नज़ीरें पेश करते जाते थे कि अचानक दूजी श्वेत साड़ी पहने, घूँघट निकाले हुए निर्भय न्यायलय में आ पहुँची और हाथ जोड़कर बोली—"श्रीमन्! मैं शानसिंह और गुमानसिंह की दहन हूँ। इस मामले में जो कुछ जानती हूँ, वह मुझ से भी सुन लिया जाए। इसके बाद सरकार जो फ़ैसला चाहे करें।"

कुँवर साहब ने आश्चर्य से दूजी की तरफ़ दृष्टि फेरी। शानसिंह और गुमानसिंह के शरीर में काटो तो रक्त नहीं। वकीलों ने भी आश्चर्य की दृष्टि से उसकी ओर देखना शुरू किया। दूजी के चेहरे पर दृढ़ता झलक रही थी। भय का लेशमात्र न था। नदी आँधी के पश्चात् स्थिर दशा में थी। उसने उसी प्रवाह में कहना आरंभ किया—"ठाकुर ललनसिंह की हत्या करनेवाले मेरे दोनों भाई हैं।"

कुँवर साहब के नेत्रों के सामने से पर्दा-सा हट गया। सारी कचहरी दंग हो गई और सब टकटकी बाँधे दूजी की तरफ़ देखने लगे।

दूजी बोली—"यह वह भुजाली है, जो ललनसिंह की गर्दन पर फेरी गई है। अभी इसका ख़ून ताज़ा है। मैंने अपनी आँखों से भाइयों को इसे पत्थर पर रगड़ते देखा; उनकी बातें सुनीं। मैं उसी समय घर से बाहर निकली कि ललनसिंह को सावधान कर दूँ, किंतु मेरा भाग्य खोटा था। चौपाल का पता न लगा। मेरे दोनों भाई सामने खड़े हैं, वह मर्द हैं मेरे सामने असत्य कदापि न कहेंगे। इनसे पूछ लिया जाए और सच पूछिए तो यह छूरी मैंने चलाई है। मेरे भाइयों का अपराध नहीं है। यह सब मेरे भाग्य का खेल है। यह सब मेरे कारण हुआ और न्याय की तलवार मेरी ही गर्दन पर पड़नी चाहिए। मैं ही अपराधिनी हूँ और हाथ जोड़कर कहती हूँ कि इस भुजाली से मेरी गर्दन काट ली जाए।"

5

न्यायालय में एक स्त्री का आना बाज़ार में भानमती का आना है। अब तक अभियोग नीरस और अरुचिकर था। दूजी के आगमन ने उसमें प्राण डाल दिए। न्यायालय में एक भीड़ लग गई। मवक्किल और वकील, अमले और दूकानदार, असावधानी की दशा में इधर-उधर से दौड़ते हुए चले आते थे। प्रत्येक पुरुप उसको देखने का इच्छुक था। सहस्रों नेत्र उसके मुखड़े की तरफ़ देखते थे और वह जन-समूह में शांति की मूर्ति बनी हुई निश्चल खड़ी थी।

इस घटना की प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी समझ के अनुसार आलोचना करता था। वृद्धजन कहते थे—बेहया है, ऐसी लड़की का तो सिर काट लेना चाहिए। भाइयों ने वही किया जो मर्दों का काम था। इस निर्लज्ज को तो देखो कि अपना परदा ढँकने

के बदले उसका डंका बजा रही है और भाइयों को भी डुबाए देती है। आँखों का पानी गिर गया है। ऐसी न होती तो यह दिन ही क्या आता!

मगर नवयुवक, स्वतंत्रता पर जान न्यौछावर कर देनेवाले वकीलों और अमलों नें उसके साहस और निर्भयता की प्रशंसा हो रही थी। उनकी समझ में जब यहाँ तक नौबत आ गई थी तो भाइयों का धर्म्म था कि दोनों का ब्याह कर देते।

कई वृद्ध वकीलों की अपने नवयुवक मित्रों से कुछ छेड़छाड़ हो गई। एक फ़ैशनेबुल बैरिस्टर साहब ने हँसकर कहा–"मित्र, और तो जो कुछ है सो है, यह स्त्री सहस्रों में एक है; रानी मालूम होती है।" सर्वसाधारण ने इसका समर्थन किया। कुँवर विनयकृष्ण इस समय कचहरी से उठे थे। बैरिस्टर साहब की बात सुनी और घृणा से मुँह फेर लिया। वह सोच रहे थे कि जिस स्त्री के क्रोध में इतनी ज्वाला है, क्या उसका प्रेम भी इसी प्रकार ज्वालापूर्ण होगा।

6

दूसरे दिन फिर दस बजे मुक़दमा पेश हुआ। कमरे में तिल रखने की जगह न थी। दूजी कठघरे के पास शिर झुकाए खड़ी थी। दोनों भाई कई कानिस्टेबिलों के बीच में चुपचाप खड़े थे। कुँवर विनयकृष्ण ने उन्हें सम्बोधित करके उच्च-स्वर से कहा–"ठाकुर शानसिंह, गुमानसिंह, तुम्हारी बहिन ने तुम्हारे संबंध में अदालत में जो कुछ बयान किया है उसका तुम्हारे पास क्या उत्तर है?"

शानसिंह ने गर्वपूर्ण भाव से उत्तर दिया–"मेरी बहिन ने जो कुछ बयान किया वह सब सत्य है। हमने अपना अपराध इसलिए छिपाया था कि हम बदनामी और बेइज़्ज़ती से डरते थे, किंतु अब जब कि हमारी बदनामी जो कुछ होनी थी हो चुकी तो हमको अपनी सफ़ाई देने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे जीवन से अब मृत्यु ही उत्तम है। ललनसिंह से मेरी हार्दिक मित्रता थी। आपस में कोई विभेद न था। हम उसे अपना भाई समझते थे, किंतु उसने हमको धोखा दिया। उसने मेरे कुल में कलंक लगा दिया और हमने उसका बदला लिया। उसने चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा मेरी इज़्ज़त लेनी चाही, किंतु हम अपने कुल की मर्य्यादा इतनी सस्ती नहीं बेच सकते थे। स्त्रियाँ ही कुल की मर्य्यादा की संपत्ति होती हैं। मर्द उसके रक्षक होते हैं। जब इस संपत्ति पर कपट का हाथ उठे तो मर्दों का धर्म्म है कि रक्षा करें। इस पूँजी को अदालत का क़ानून, परमात्मा का भय या सद्‌विचार नहीं बचा सकता। हमको इसके लिए न्यायालय से जो दंड प्राप्त हो, वह शिरोधार्य है।"

जज ने शानसिंह की बात सुनी। कचहरी में सन्नाटा छा गया और उस सन्नाटे की दशा में उन्होंने अपना फ़ैसला सुनाया। दोनों भाइयों को हत्या के अपराध में कालेपानी का दंड मिला।

7

सायंकाल हो गया था। दोनों भाई कानिस्टेबिलों के बीच में कचहरी से बाहर निकले। हाथ में हथकड़ियाँ थीं, पाँवों में बेड़ियाँ। हृदय अपमान से संकुचित और शिर लज्जा के बोझ से झुके हुए थे। मालूम होता था, मानो सारी पृथ्वी हम पर हँस रही है।

दूजी पृथ्वी पर बैठी थी कि उसने क़ैदियों के आने की आहट सुनी। उठ खड़ी हुई। भाइयों ने भी उसकी ओर देखा परंतु हाय! उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि यह भी हमारे ऊपर हँस रही है। घृणा से नेत्र फेर लिए। दूजी ने भी उन्हें देखा, किंतु क्रोध और घृणा से नहीं, केवल एक उदासीन भाव से। जिन भाइयों की गोद में खेली और जिनके कंधों पर चढ़कर बाल्यावस्था व्यतीत की; जिन भाइयों पर जान न्योंछावर करती थी; आज वही दोनों भाई उस कालेपानी को जा रहे हैं, जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता और उसके रक्त में तनिक भी गति नहीं होती! रुधिर भी द्वेष से जल की भाँति जम जाता है! सूर्य्य की किरणें वृक्षों की डालियों से मिलीं, फिर जड़ों को चूमती हुई चल दीं। उनके लिए अंधकार गोद फैलाए हुए था। क्या इस अभागिनी स्त्री के लिए भी इस संसार में कोई ऐसा आश्रय नहीं था?

आकाश की लालिमा नीलावरण हो गई। तारों के कँवल खिले। वायु के लिए पुष्प-शय्या बिछ गई। ओस के लिए हरी मखमल का फर्श बिछ गया, किंतु अभागिनी दूजी उसी वृक्ष के नीचे शिथिल बैठी थी। उसके लिए संसार में कोई स्थान न था। अब तक जिसे वह अपना घर समझती थी, उसके दरवाज़े उसके लिए बंद थे। वहाँ क्या मुँह लेकर जाती? नदी को अपने उद्गम से चलकर अथाह समुद्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ठिकाना नहीं है।

दूजी उसी तरह निराशा के समुद्र-निमग्न हो रही थी; कि एक वृद्ध स्त्री उसके सामने आकर खड़ी हो गई। दूजी चौंककर उठ बैठी। वृद्ध स्त्री ने उसकी ओर आश्चर्यांवित होकर कहा—"इतनी रात बीत गई, अभी तक तुम यहीं बैठी हो?"

दूजी ने चमकते हुए तारों की ओर देखकर कहा—"कहाँ जाऊँ?" इन शब्दों में कैसा हृदय-विदारक आशय छिपा हुआ था। कहाँ जाए? संसार में उसके लिए अपमान की गली के सिवा और कोई स्थान नहीं था। बुढ़िया ने प्रेममय स्वर में कहा—"बेटी, भाग्य में जो कुछ लिखा है वह तो होकर रहेगा, किंतु तुम यहाँ कब तक बैठी रहोगी! मैं दीन ब्राह्मणी हूँ। चलो मेरे घर रहो; जो कुछ भिक्षा-भवन माँगे मिलेगा, उसी में हम दोनों निर्वाह कर लेंगी। न जाने पूर्व-जन्म में हमसे तुमसे क्या संबंध था। जब से तुम्हारी दशा सुनी है, बेचैन हूँ। सारे शहर में आज घर-घर चर्चा हो रही है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। बस, अब उठो। यहाँ सन्नाटे में पड़े रहना अच्छा नहीं। समय बुरा है। मेरा घर यहाँ से थोड़ी ही दूर पर है। नारायण ने दिया बहुत कुछ है। मैं भी अकेली से दुकेली हो जाऊँगी। भगवान किसी-न-किसी प्रकार दिन काट ही देंगे।"

एक घने, सुनसान, भयानक वन में भटका हुआ मनुष्य जिधर पगडंडियों का चिह्न पाता है, उसी मार्ग को पकड़ लेता है। यह नहीं सोच-विचार करता कि यह मार्ग मुझे कहाँ ले जाएगा। दूजी इस बुढ़िया के साथ चली। इतनी ही प्रसन्नता से कुएँ में कूद पड़ती। वायु में उड़नेवाली चिड़िया दानों पर गिरी। क्या इन दानों के नीचे जाल बिछा हुआ था!

8

दूजी को बूढ़ी कैलासी के साथ रहते हुए एक मास बीत गया। कैलासी देखने में दीन, किंतु मन की धनी थी। उसके पास संतोषरूपी धन था जो किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता। रीवाँ के महाराज के यहाँ से कुछ सहायता मिलती थी। यही उसके जीवन का अवलंब था। वह सर्वदा दूजी को ढाढ़स देती रहती थी। ज्ञात होता था कि यह दोनों माँ बेटी हैं। एक ओर से पूर्ण सहानुभूति और ढाढ़स, दूसरी ओर से सच्ची सेवकाई और विश्वास। कैलासी कुछ हिंदी जानती थी। दूजी को रामायण और सीता-चरित्र सुनाती। दूजी इन कथाओं को बड़े प्रेम से सुनती। उज्ज्वल-वस्त्र पर रंग भली-भाँति चढ़ता है। जिस दिन उसने सीता-वनवास की कथा सुनी वह सारे दिन रोती रही। सोई तो सीता की मूर्ति उसके सामने खड़ी थी। उनके शरीर पर उज्ज्वल साड़ी थी, आँखों में आँसू की ओट में प्यार छिपा हुआ था, दूजी हाथ फैलाए हुए लड़कों की भाँति उनकी तरफ़ दौड़ी। माता, मुझको भी साथ लेती चलो। मैं वन में तुम्हारी सेवा करूँगी। तुम्हारे लिए पुष्प-शय्या बिछाऊँगी। तुमको कमल के थालों में फलों का भोजन कराऊँगी। तुम वहाँ अकेली एक बूढ़े साधु के साथ कैसे रहोगी? मैं तुम्हारे चित्त को प्रसन्न रखूँगी। जिस समय हम और तुम वन में किसी सागर के किनारे घने वृक्षों की छाया में बैठेंगी, उस समय में वायु की धीमी-धीमी लहरों के साथ गाऊँगी।

सीता ने उस को तिरस्कार से देखकर कहा—"तू कलंकिनी है। मैं तुझे स्पर्श नहीं कर सकती। तपस्या की आँच में अपने को पवित्र कर।"

दूजी की आँखें खुल गईं। उसने निश्चय किया, मैं इस कलंक को मिटाऊँगी।

आकाश के नीले समुद्र में तारागण पानी के बुलबुले की भाँति मिटते जाते थे। दूजी ने उन झिलमिलाते हुए तारों को देखा। मैं उन्हीं तारों की तरह सबके नेत्र से छिप जाऊँगी। उन्हीं बुलबुलों की भाँति मिट जाऊँगी।

विलासियों की रात हुई। संयोगी जागे। चक्कियों ने अपने सुहावने राग छेड़े। कैलासी स्नान करने चली। तब दूजी उठी और जंगल की ओर चल दी। चिड़िया पंख-हीन होने पर भी सुनहरे पिंजड़े में न रह सकी।

9

प्रकाश की एक धुँधली-सी झलक में कितनी आशा, कितना बल, कितना आश्वासन है, यह उस मनुष्य से पूछो जिसे अँधेरे ने एक घने वन में घेर लिया है। प्रकाश की वह प्रभा उसके लड़खड़ाते हुए पैरों को शीघ्रगामी बना देती है; उसके शिथिल शरीर में जान डाल देती है। जहाँ एक-एक पग रखना दुस्तर था, वहाँ इस जीवन-प्रकाश को देखते हुए यह मीलों और कोसों तक उमंगों में उछलता हुआ चला जाता है।

परंतु दूजी के लिए आशा की यह प्रभा कहाँ थी? वह भूखी-प्यासी, उन्माद की दशा में चली जाती थी।

शहर पीछे छूटा। बाग और खेत आए। खेतों में हरियाली थी, वाटिकाओं में वसंत की छटा। मैदान और पर्वत मिले। मैदानों से बाँसुरी की सुरीली रागें आती थीं। पर्वतों के शिखर मोरों की झनकार से गूँज रहे थे। दिन चढ़ने लगा। सूर्य्य उसकी ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। कुछ काल तक उसके साथ रहा। कदाचित् रूठे को मनाता था। पुनः अपनी राह चला गया। वसंत ऋतु की शीतल, मंद, सुगंधित वायु चलने लगी, खेतों ने कुहरों की चादरें ओढ़ लीं, रात हो गई और दूजी एक पर्वत के किनारे झाड़ियों में उलझती, चट्टानों से टकराती चली जाती थी, मानो किसी झील की मंद-मंद लहरों में किनारे पर उगे हुए झाऊ के पौधों का साया थरथरा रहा हो। इस प्रकार अज्ञात की खोज में अकेली निर्भय वह गिरती-पड़ती चली जाती थी। यहाँ तक कि भूख प्यास और अधिक श्रम के कारण उसकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। वह एक शिला पर बैठ गई और भयभीत दृष्टि से इधर-उधर देखने लगी। दाहिने-बाएँ घोर अंधकार था। उच्च पर्वतशिखाओं पर तारे जगमगा रहे थे। सामने एक टीला मार्ग रोके खड़ा था और समीप ही किसी जल-धारा की दबी हुई सायँ-सायँ की आवाज़ सुनाई देती थी।

10

दूजी थककर चूर हो गई थी पर उसे नींद न आई, सर्दी से कलेजा काँप रहा था। वायु के निर्दयी झोंके लेशमात्र भी चैन न लेने देते थे। कभी-कभी एक क्षण के लिए आँखें झपक जातीं और फिर चौंक पड़ती। रात्रि ज्यों-त्यों व्यतीत हुई। सवेरा हुआ। चट्टान से कुछ दूर एक घना पाकर का वृक्ष था, जिसकी जड़ें सूखे पत्थरों से चिपटकर यों रस खींचती थीं, जैसे कोई महाजन दीन असामियों को बाँधकर उनसे व्याज के रुपए वसूल करता है। इस वृक्ष के सामने कई छोटी-छोटी चट्टानों ने मिलकर एक कोठरी की आकृति बना रक्खी थी। दाहिनी ओर लगभग दो सौ गज की दूरी पर नीचे की ओर पयस्विनी नदी चट्टानों और पाषाण-शिलाओं से उलझती, घूमती-घामती बह रही थी, जैसे कोई दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य बाधाओं का ध्यान न कर अपने इष्ट-साधन के मार्ग पर

बढ़ता चला जाता है। नदी के किनारे साधु-प्रकृति बगुले चुपचाप मौन-व्रत धारण किए हुए बैठे थे। संतोषी जलपक्षी पानी में तैर रहे थे। लोभी टिटिहरियाँ नदी पर मँडराती थीं और रह-रहकर मछलियों की खोज में टूटती थीं। खिलाड़ी मैने निःशंक अपने परों को खुजला-खुजला स्थान कर रहे थे और चतुर कौए झुंड-के-झुंड भोजन-संबंधी प्रश्न को हल कर रहे थे। एक वृक्ष के नीचे मोरों की सभा सुसज्जित थी और वृक्षों की शाखाओं पर कबूतर आनंद कर रहे थे। एक दूसरे वृक्ष पर महाशय काग एवं श्रीमान् पं. नीलकंठजी घोर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त थे। महाशय काग ने छेड़ने ही के लिए पंडितजी के निवासस्थान की ओर दृष्टि डाली थी। इस पर पंडितजी इतने क्रोधित हुए कि महाशय काग के पीछे पड़ गए। महाशय काग अपनी स्वाभाविक बुद्धिमता को काम में लाकर सहज ही में भाग खड़े हुए। श्रीमान् पंडितजी बुरा-भला कहते हुए महाशय काग के पीछे पड़े। किसी भाँति महाशयजी की सर्वज्ञता ने उनकी जान बचाई।

थोड़ी देर में जंगली नील गायों का झुंड आया। किसी ने पानी पिया, किसी ने सूँघकर छोड़ दिया। दो-चार युवावस्था के मतवाले आपस में सींगे मिलाने लगे। फिर एक काला हिरण अभिमान-भरे नेत्रों से देखता ऐंड़-ऐंड़ कर पर उठाता कुछ मृगनयनियों को साथ लिए नदी के किनारे आया। बच्चे थोड़ी दूर पर खेलते हुए चले आते थे। कुछ और हटकर एक वृक्ष के नीचे बंदरों ने अपने डेरे डाल रक्खे थे। बच्चे क्रीड़ा करते थे। पुरुषों में छेड़छाड़ हो रही थी। रमणियाँ सानंद बैठी हुई एक दूसरों के बालों से जुएँ निकालती थीं और उन्हें अपने मुँह में रखती जाती थीं। दूजी एक चट्टान पर अर्द्धनिद्रा की दशा में बैठी हुई यह दृश्य देख रही थी। घाम के कारण निद्रा आ गई। नेत्रपट बंद हो गए।

11

प्रकृति की इसी रंगभूमि में दूजी ने अपने चौदह वर्ष व्यतीत किए। वह प्रतिदिन प्रातःकाल इसी नदी के किनारे शिलाओं पर बैठी यही दृश्य देखती और लहरों की कारुणिक ध्वनि सुनती। उसी नदी की भाँति उसके मन में लहरें उठतीं, जो कभी धैर्य्य और साहस के किनारों पर चढ़कर नेत्रों द्वारा बह निकलतीं। उसे मालूम होता कि वन के वृक्ष तथा जीव-जंतु सब मेरी ओर व्यंग्य-पूर्ण नेत्रों से देख रहे हैं। नदी भी उसे देखकर क्रोध से मुँह में फेन भर लेती। जब यहाँ बैठे-बैठे उसका जी ऊब जाता तो वह पर्वत पर चढ़ जाती और दूर तक देखती। पर्वतों के बीच में कहीं-कहीं मिट्टी के घरौंदे की भांति छोटे-छोटे मकान दिखाई देते, कहीं लहलहाती हुई हरियाली। सारा दृश्य एक नवीन वाटिका की भाँति मनोरम था। उसके दिल में एक तीव्र इच्छा होती कि उड़कर उन चोटियों पर जा पहुँचती। नदी के किनारे या पाकर की घनी छाया में बैठी हुई घंटों सोचा करती, बचपन के वे दिन याद आ जाते, जब वह सहेलियों के गले

में बाँहें डालकर महुए चुनने जाया करती थी। फिर गुड़ियों के ब्याह का स्मरण हो आता, पुनः अपनी प्यारी मातृभूमि की पनघट आँखों में फिर जाती। आज भी वहाँ वही भीड़ होगी, वही हास्य, चहल-पहल। पुनः अपना घर ध्यान में आता और वह गाय स्मरण आती जो कि उसको देखकर हुँकारती हुई अपने प्रेम का परिचय देती थी। मुन्नू स्मरण हो आता जो उसके पीछे-पीछे छलाँगें मारता हुआ खेतों में जाया करता; जो बर्तन धोते समय बारम्बार बर्तनों में मुँह डालता, तब ललनसिंह नेत्रों के सामने आकर खड़े हो जाते थे। होंठों पर वही मुसकराहट, नेत्रों में वही चंचलता, तब वह उठ खड़ी होती और अपने मन को दूसरी ओर ले जाने की चेष्टा करती।

दिन गुजरते थे, किंतु बहुत धीरे-धीरे। बसंत आया। सेमल की लालिमा और कचनार की ऊदी पुष्प-माला अपनी यौवन-छटा दिखलाने लगी। मकोय के फल महके। गर्मी का प्रारंभ हुआ—प्रातःकाल समीर के झोंके, दोपहर की लू जलती हुई लपट। डालियाँ फूलों से लदीं। फिर वह समय आया कि जब दिन को न सुख था और न रात को नींद। दिन तड़पता था, रात जलती थी, नदियाँ बाधिकों के हृदयों की भाँति सूख गईं। वन के पशु मध्याह्न की धूप में प्यास के कारण जिह्वा निकाले पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ते फिरते थे। जिस प्रकार द्वेष से भरे हुए दिल तनिक-तनिक सी बातों पर जल उठते हैं, उसी प्रकार गर्मी से जलते हुए वन-वृक्ष कभी-कभी वायु के झोंकों से परस्पर रगड़ खाकर जल उठते थे। ज्वाला ऊँची उठती थी, मानो अग्निदेव ने तारागणों पर धावा मारा है। वन में एक भगदड़-सी पड़ जाती। फिर आँधी और तूफ़ान के दिन आए। वायु की देवी गरजती हुई आती। पृथ्वी और आकाश थर्रा उठते, सूर्य्य छिप जाता, पर्वत भी काँप उठते थे। पुनः वर्षा ऋतु का जन्म हुआ। वर्षा की झड़ी लगी। वन लहराए, नदियों ने पुनः-पुनः अपने सुरीले राग छेड़े। पर्वतों के कलेजे ठंडे हुए। सूखे मैदानों में हरियाली छाई। सारस की ध्वनि पर्वतों में गूँजने लगी। आषाढ़ मास में बाल्यावस्था का अल्हड़पन था। श्रावण में युवावस्था के पग बढ़े, फुहारें पड़ने लगीं। भादों कमाई के दिन थे, जिसने शोलों के कोष भर दिए। पर्वतों को धनाढ्य कर दिया। अंत में बुढ़ापा आया। काँस के उज्ज्वल बाल लहराने लगे। जाड़ा आ पहुँचा।

12

इस प्रकार ऋतु का परिवर्तन हुआ। दिन और महीने गुज़रे, वर्प आए और गए, किंतु दूजी ने विंध्याचल के उस किनारे को न छोड़ा। गर्मियों के भयानक दिन और वर्षा की भयावनी रातें सब उसी स्थान पर काट दीं। क्या भोजन करती थी, क्या पहनती थी, इसकी चर्चा व्यर्थ है। मन पर चाहे जो बीते, किंतु भूख और ऋतु-संबंधी कष्ट का

निवारण करना ही पड़ता है। प्रकृति की थाल सजी हुई थी। कभी वनबेरों और शरीफ़ों के पकवान थे, कभी तेंदू, कभी मकोय और कभी राम का नाम। वस्त्रों के लिए चित्रकूट के मेले में साल में केवल एक बार जाती। मोरों के पर, हिरणों की सींग, वन-औषधियाँ महँगे दामों बिकतीं। कपड़ा भी आया, बर्तन भी आए। यहाँ तक कि दीपक जैसी विलास वस्तु भी एकत्र हो गई। एक छोटी-सी गृहस्थी जम गई।

दूजी ने निराशा की दशा में संसार से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना जितना सहज समझा था, उससे कहीं कठिन मालूम हुआ। आत्मानुराग में निमग्न बैरागी तो वन में रह सकता है, परंतु एक स्त्री जिसकी अवस्था हँसने-खेलने में व्यतीत हुई हो, बिना किसी नौका के सहारे विराग-सागर को किस प्रकार पार करने में समर्थ हो सकती है? दो वर्ष के पश्चात् दूजी को एक-एक दिन वहाँ वर्ष का-सा प्रतीत होने लगा। कालक्षेप करना दुस्तर हो गया। घर की सुधि एक क्षण भी विस्मृत न होती। कभी-कभी वह इतनी व्यग्र होती कि क्षणमात्र के लिए अपमान का भी भय न रहता। वह दृढ़ विचार करके उन पहाड़ियों के बीच शीघ्रता से पग बढ़ाती घर की ओर चलती, मानो कोई अपराधी कारागार से भागा जा रहा हो, किंतु पहाड़ियों की सीमा के बाहर आते ही उसके पग स्वयं रुक जाते। वह आगे न बढ़ सकती। तब वह एक ठंडी साँस भरकर एक शिला पर बैठ जाती और फूट-फूटकर रोती। फिर वही भयानक रात्रि और वही सघन कुंज, वही नदी की भयावनी गरज और श्रृंगालों की विकराल ध्वनि!

'ज्यों-ज्यों भीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय' भाग्य को धिक्कारते-धिक्कारते उसने ललनसिंह को धिक्कारना आरंभ किया। एकांतवास ने उसमें आलोचना और विवेचना की शक्ति पैदा कर दी। मैं क्यों इस वन में मुँह छिपाए दुःख के दिन व्यतीत कर रही हूँ? यह उसी निर्दयी ललनसिंह की लगाई आग है। कैसे सुख से रहती थी! इसी ने आकर मेरे झोंपड़े में आग लगा दी। मैं अबोध और अनजान थी। उसने जान -बूझकर मेरा जीवन भ्रष्ट कर डाला। उसने मुझे अपने आमोद का केवल एक खिलौना बनाया था। यदि उसे मेरा प्रेम होता तो क्या वह मुझसे विवाह न कर लेता? वह भी तो चंदेल ठाकुर था। हा! मैं कैसी अज्ञान थी। अपने पैरों में आप कुलहाड़ी मारी। इस प्रकार मन से बातें करते-करते ललनसिंह की मूर्ति उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाती तो वह घृणा से मुँह फेर लेती। वह मुसकुराहट जो उसका मन हर लिया करती थी, वह प्रेममय मृदुभाषण जो उसके नसों में सनसनाहट पैदा कर देता था, क्रीड़ामय हाव-भाव जिन पर वह मतवाली हो जाती थी, अब उसे एक दूसरे ही रूप में दृष्टिगोचर होते। उनमें अब प्रेम की झलक न थीं। वह अब कपट-प्रेम और काम-तृष्णा के गाढ़े रंग में रंगे हुए दिखाई देते थे। वह प्रेम का कच्चा घरौना, जिसमें वह गुड़िया बनी बैठी थी, वायु के झोंके में सँभला, परंतु जल के प्रबल प्रवाह में न सँभल सका। अब वह अभागी गुड़िया निर्दयी चट्टानों पर पटक दी गई है कि रो-रोकर जीवन के दिन काटे।

उन गुड़ियों की भाँति जो गोटे-पट्टे और आभूषणों से सजी हुई, मखमली पेटारे में भोग-विलास करने के पश्चात्, नदी और तालाब में बहा दी जाती हैं, डूबने के लिए और तरंगों में थपेड़े खाने के लिए।

ललनसिंह की तरफ़ से फिरते ही दूजी का मन एक अधीरता के साथ भाइयों की ओर मुड़ा। मैं अपने साथ उन बेचारों को व्यर्थ ले डूबी। मेरे सिर पर उस घड़ी न जाने कौन-सा भूत सवार था। उन बेचारों ने तो जो कुछ किया मेरी ही मर्य्यादा रखने के लिए किया। मैं तो उन्मत्त हो रही थी। समझाने-बुझाने से क्या काम चलता और समझाना-बुझाना तो स्त्रियों का काम है। मर्दों का समझाना तो उसी ढंग का होना चाहिए और होता ही है। नहीं मालूम उन बेचारों पर क्या बीती! क्या मैं उन्हें फिर कभी देखूँगी। यह विचारते-विचारते भाइयों की वह मूर्ति उसके नेत्रों में फिर जाती, जो उसने अंतिम बार देखी थी, जब वह उस देश को जा रहे थे, जहाँ से लौटकर फिर आना, मानो मृत्यु के मुख से निकल आना है—वह रक्त-वर्ण नेत्र, वह अभिमान से भरी हुई चाल, वह फिरे हुए नेत्र जो एक बार उसकी ओर उठ गए थे। आह, उनमें क्रोध या द्वेष न था, केवल क्षमा थी। वह मुझ पर क्रोध क्या करते! फिर अदालत के इजलास का चित्र नेत्रों के सामने खिंच जाता। भाइयों के वह तेवर, उनकी वह आँखें जो क्षणमात्र के लिए क्रोधाग्नि से फैल गई थीं, फिर उनकी प्यार की बातें, उनका प्रेम स्मरण आता। पुनः वे दिन याद आते जब वह उनकी गोद में खेलती थी, जब वह उनकी उँगली पकड़कर खेतों में जाया करती थी। हाय! क्या वह दिन भी आवेंगे कि मैं उनको पुनः देखूँगी।

एक दिन वह था कि दूजी अपने भाइयों के रक्त की प्यासी थी; निदान एक दिन आया कि वह पयस्विनी नदी के तट पर कंकड़ियों द्वारा दिनों की गणना करती थी। एक कृपण जिस सावधानी से रुपयों को गिन-गिनकर इक्ट्ठा करता है उसी सावधानी से दूजी इन कंकड़ियों को गिन-गिनकर इकट्ठा करती थी। नित्य संध्याकाल वह इस ढेर में पत्थर का एक टुकड़ा और रख देती तो उसे क्षणमात्र के लिए मानसिक सुख प्राप्त होता। इन कंकड़ियों का ढेर अब उसका जीवन-धन था। दिन में अनेक बार इन टुकड़ों को देखती और गिनती। असहाय पक्षी पत्थर के ढेरों से आशा के खोंते बनाता था।

यदि किसी को चिंता और शोक की मूर्ति देखनी हो तो वह पयस्विनी नदी के तट पर प्रतिदिन सायंकाल को देख पड़ती है। डूबते हुए सूर्य्य की किरणों की भाँति उसका मुख-मंडल पीला है। वह अपने दुःखमय विचारों में डूबी हुई, तरंगों की ओर दृष्टि लगाए बैठी रहती हैं। यह तरंगें इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रही हैं? मुझे भी अपने साथ क्यों नहीं ले जाती? क्या मेरे लिए वहाँ भी स्थान नहीं है? कदाचित् शोक-क्रंदन में यह भी मेरी संगिनी हैं! तरंगों की ओर देखते-देखते उसे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो

वह स्थिर हो गईं और मैं शीघ्रता से बही जा रही हूँ। तब वह चौंक पड़ती है और अँधेरी शिलाओं के बीच मार्ग खोजती हुई फिर अपने शोक-स्थल पर आ जाती है।

इसी प्रकार दूजी ने अपने दुःख के दिन व्यतीत किए। तीस-तीस ढेलों के बारह ढेर बन गए; तब उसने उन्हें एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। वह आशा का मंदिर उसी हार्दिक अनुराग से बनता रहा जो किसी भक्त को अपने इष्ट-देव के साथ होता है। रात्रि के बारह घंटे बीत गए। पूर्व की ओर प्रातःकाल का प्रकाश दिखाई देने लगा। मिलाप का समय निकट आया। इच्छा-रूपी अग्नि की लपट बढ़ी। दूजी उन ढेरों को बार-बार गिनती, महीनों के दिनों की गणना करती। कदाचित् एक दिन भी कम हो जाए। हाय, आजकल उसके मन की वह दशा थी जो प्रातः काल सूर्य्य के सुनहरे प्रकाश में हलकोरे लेनेवाले सागर की होती है जिसमें वायु की तरंगों से मुस्कुराता हुआ कमल झूलता है।

13

आज दूजी इन पर्वतों ओर वनों से विदा होती है। वह दिन आ पहुँचा, जिसकी राह देखते एक पूरा युग बीत गया। आज चौदह वर्ष के पश्चात् उसकी प्यासी अलकें नदी में लहरा रही हैं। बरगद की जटाएँ नागिन बन गई हैं।

उस सूनसान वन से उसका चित्त कितना दुःखित था, किंतु आज उससे पृथक् होते हुए दूजी के नेत्र भर-भर आते हैं। जिस पाकर की छाया में उसने दुःख के दिऩ बिताए, जिस गुफा में उसने रो-रोकर रातें काटीं, उसे छोड़ते आज शोक हो रहा है। यह दुःख के साथी हैं।

सूर्य्य की किरणें दूजी की आशाओं की भाँति कुहरों की घटाओं को हटाती चली आती थीं। उसने अपने दुःख के मित्रों को अब पूर्ण नेत्रों से देखा। पुनः ढेरों के पास गई, जो उसके बारह वर्ष की तपस्या के स्मारक चिह्न थे। उन्हें एक-एककर चूमा, मानो वह देवीजी के चबूतरे हैं, तब वह रोती हुई चली, जैसे लड़कियाँ ससुराल को चलती हैं।

संध्या समय उसने शहर में प्रवेश किया और पता लगाते हुए कैलासी के घर पर आई। घर सूना पड़ा था, तब यह विनयकृष्ण बघेला का घर पूछते उनके बँगले पर आई। कुँवर महाशय टहल कर आए ही थे कि उसे खड़ी देखा। पास आए। उसके मुँख परं घूँघट था। दूजी ने कहा, "महाराज! मैं एक अनाथ दुखिया हूँ।" कुँवर साहब ने आश्चर्य से पूछा—"तुम दूजी हो! तुम इतने वर्षों कहाँ रहीं?"

कुँवर साहब के प्रेम-भाव ने घूँघट और बढ़ा दिए। इन्हें मेरा नाम स्मरण है, यह सोचकर दूजी का कलेजा धड़कने लगा। लज्जा से सिर नीचे झुक गया। लजाती हुई बोली, "जिसका कोई हितू नहीं है, उसका वन के सिवाय अन्यत्र कहाँ ठिकाना है। मैं भी वनों में रही। पयस्विनी नदी के किनारे एक गुफा में पड़ी रही।"

कुँवर साहब विस्मित हो गए। चौदह वर्ष! और नदी के किनारे गुफा में! क्या कोई संन्यासी इससे अधिक त्याग कर सकता है? वह आश्चर्य से कुछ न बोल सके।

दूजी उन्हें चुपचाप देखकर बोली—"मैं कैलासी के घर से सीधे पर्वतों में चली गई और वहीं इतने दिन व्यतीत किए। चौदह वर्ष पूरे हो गए। जिन भाइयों की गर्दन पर छुरी चलाई, उनके छूटने के दिन अब आए हैं। नारायण उन्हें कुशलपूर्वक लावें। मैं चाहती हूँ कि उनके दर्शन करूँ और उनकी ओर से मेरे दिल में जो इच्छाएँ हैं, पूर्ण हो जाएँ। कुँवर विनयकृष्ण बोले—"तुम्हारा हिसाब बहुत ठीक है। मेरे पास आज कलकत्ते से सरकारी पत्र आया है कि दोनों भाई चौदह तारीख़ को कलकत्ता पहुँचेंगे। उनके संबंधियों को सूचना दी जाए। यहाँ कदाचित् दो-तीन दिन में आ जाएँगे। मैं सोच ही रहा था कि सूचना किसे दूँ।" दूजो ने विनयपूर्वक कहा—"मेरा जी चाहता है कि वे जहाज पर से उतरें तो मैं उनके पैरों पर मथा नवाऊँ, उसके पश्चात् मुझे संसार में कोई अभिलाषा न रहेगी। इसी लालसा ने मुझे इतने दिनों तक जिलाया है। नहीं तो मैं आपके सम्मुख कदापि न खड़ी होती।"

कुँवर विनयसिंह गंभीर स्वभाव के मनुष्य थे। दूजी के आंतरिक रहस्य उनके चित्त पर एक गहरा प्रभाव डालते जाते थे। जब सारी अदालत दूजी पर हँसती थी, तब उन्हें उसके साथ सहानुभूति थी और आज उसका वृत्तांत सुनकर वे इस ग्रामीण स्त्री के भक्त हो गए। बोले—"यदि तुम्हारी यह इच्छा है तो मैं स्वयं तुम्हें कलकत्ता पहुँचा दूँगा। तुमने उनसे मिलने की जो रीति सोची है उससे उत्तम ध्यान में नहीं आ सकती। परंतु तुम खड़ी हो और मैं बैठा हूँ, यह अच्छा नहीं लगता। दूजी मैं बनावट नहीं करता, जिसमें इतना त्याग और संकल्प हो वह यदि पुरुष है तो देवता है, स्त्री है तो देवी है। जब मैंने तुम्हें पहले देखा उसी समय मैंने समझ लिया था कि तुम साधारण स्त्री नहीं हो। जब तुम कैलासी के घर से चली गई तो सब लोग यही कहते थे कि तुम जान पर खेल गई, परंतु मेरा मन कहता था कि तुम जीवित हो। नेत्रों से पृथक् होकर भी तुम मेरे ध्यान से बाहर न हो सकीं। मैंने वर्षों तुम्हारी खोज की, मगर तुम ऐसे खोह में छिपी थीं कि तुम्हारा कुछ पता न चला।"

इन बातों में कितना अनुराग था! दूजी को रोमांच हो गया। हृदय बल्लियों उछलने लगा। उस समय उसका मन चाहता था कि इनके पैरों पर सिर रख दूँ। कैलासी ने एक बार जो बात उससे कही थी, वह बात उसे उस समय स्मरण आई। उसने भोलेपन से पूछा, "क्या आप ही के कहने से कैलासी ने मुझे अपने घर में रख लिया था?" कुँवर साहब लज्जित होकर बोले, "मैं इसका उत्तर कुछ न दूँगा।"

रात को जब दूजी एक ब्राह्मणी के घर में नर्म बिछावन पर लेटी हुई थी तो उसके मन की वह दशा हो रही थी जो आश्विन मास के आकाश की होती है, एक ओर चंद्र-प्रकाश, दूसरी ओर घनी घटा और तीसरी ओर झिलमिलाते हुए तारे।

14

प्रातःकाल का समय था। गंगा नामी स्टीमर बंगाल की खाड़ी में साभिमान गर्दन उठाए समुद्र की लहरों को पैरों से कुचलता हुगली की बंदरगाह की ओर चला आता था। डेढ़ सहस्र से अधिक आदमी उसकी गोद में थे। अधिकतर व्यापारी थे। कुछ वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुरागी, कुछ भ्रमण करनेवाले और कुछ ऐसे हिंदुस्तानी मज़दूर जिनको अपनी मातृभूमि आकर्षित कर रही थी। उन्हीं में दोनों भाई शानसिंह और गुमानसिंह एक कोने में बैठे निराशा की दृष्टि से किनारे की ओर देख रहे थे। दोनों हड्डियों के दो ढाँचे थे, उन्हें पहचानना कठिन था।

जहाज घाट पर पहुँचा। यात्रियों के मित्र और परिचित-जन किनारे पर स्वागत करने के लिए अधीर हो रहे थे। जहाज पर से उतरते ही प्रेम की बाढ़ आ गई। मित्रगण परस्पर हाथ मिलाते थे। उनके नेत्र प्रेमाश्रु से परिपूर्ण थे। यह दोनों भाई शनैः शनैः जहाज से उतरे, मानो किसी ने ढकेल कर उतार दिया। उनके लिए जहाज के तख्ते और मातृभूमि में कुछ अंतर न था। आए नहीं, बल्कि लाए गए। चिरकाल के कष्ट और शोक ने जीवन का ज्ञान भी शेष न छोड़ा था। साहस का लेशमात्र भी न था। इच्छाओं का अंत हो चुका था। वह तट पर खड़े विस्मित दृष्टि से सामने देखते थे। कहाँ जाएँ? उनके लिए इस संसार-क्षेत्र में कोई स्थान न दिखाई देता था।

तब दूजी उस भीड़ में से निकलकर आती दिखाई दी। उसने भाइयों को खड़े देखा। तब जिस भाँति जल खाई की ओर गिरता है, उसी प्रकार अधीरता की उमंग में रोती हुई वह उनके चरणों में चिपट गई। दाहिने हाथ में शानसिंह के चरण थे और बाएँ हाथ में गुमानसिंह के और नेत्रों से अश्रु धाराएँ प्रवाहित थीं, मानो दो सूखे वृक्षों की जड़ों में एक मुरझाई हुई बेल चिपटी हुई है या दो संन्यासी माया और मोह की बेड़ी में बँधे खड़े हैं। भाइयों के नेत्रों से भी आँसू बहने लगे। उनके मुखमंडल बादलों में से निकलनेवाले तारों की भाँति प्रकाशित हो गए। वह दोनों पृथ्वी पर बैठ गए और तीनों भाई बहिन परस्पर गले मिलकर बिलख-बिलख रोये। वह गहरी खाई जो भाइयों और बहिन के बीच में थी, अश्रुधाराओं से परिपूर्ण हो गई। आज चौदह वर्ष के पश्चात् भाई और बहिन में मिलाप हुआ और वह घाव, जिसने मांस को मांस से, रक्त-को-रक्त से विलग कर दिया था, परिपूर्ण हो गया और वह उस मरहम का काम था जिससे अधिक लाभकारी और कोई मरहम नहीं होता, जो मन के मैल को साफ़ करता है, जो दुःख को भुलानेवाला और हृदय की दाह को शांत करनेवाला है, जो व्यंग्य के विषैले घावों को भर देता है। यह काल का मरहम है।

दोनों भाई घर को लौटे। पटट्रीदारों के स्वप्न भंग हो गए। हित-मित्र इकट्ठे हुए। ब्रह्म-भोजन का दिन निश्चित हुआ। पूड़ियाँ पकने लगीं, घी की सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों

के लिए, तेल की पासी-चमारों के लिए। कालेपानी का पाप इस घी के साथ भस्म हो गया।

दूजी भी कलकत्ते से भाइयों के साथ चली। प्रयाग तक आई। कुँवर विनयसिंह भी उनके साथ थे। भाइयों से कुँवर साहब ने दूजी के संबंध में कुछ बातें कीं। उनकी भनक दूजी के कानों में पड़ी। प्रयाग में दोनों भाई-बहिन रुक गए, त्रिवेणी में स्नान करते चलें। कुँवर विनयकृष्ण अपने ध्यान में सब कुछ ठीक करके मन प्रसन्न करनेवाली आशाओं का स्वप्न देखते हुए चले गए, किंतु फिर वहाँ से दूजी का पता न चला। मालूम नहीं क्या हुई, कहाँ चली गई। कदाचित् गंगाजी ने उसे अपनी गोद में लेकर सदा के दुःख से मुक्त कर दिया। भाई बहुत रोए-पीटे किंतु क्या करते? जिस स्थान पर दूजी ने अपने वनवास के चौदह वर्ष व्यतीत किए थे, वहाँ दोनों भाई प्रतिवर्ष जाते हैं और उन पत्थरों के ढेर से चिपटकर रोते हैं।

कुँवर साहब ने भी पेंशन ली। अब चित्रकूट में रहते हैं। दार्शनिक विचार के पुरुष थे, जिस प्रेम की खोज थी, वह न मिला। एक बार कुछ आशा दिखाई दी थी, जो चौदह वर्ष एक विचार के रूप में स्थित रही। एकाएक आशा की धुँधली झलक भी एक बार झिलमिलाते हुए दीपक की भाँति रुककर सदा के लिए अदृश्य हो गई।

(*'ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, जनवरी-फ़रवरी, 1915*)
(***'प्रेम-पचीसी' हिंदी कहानी-संग्रह, 1923 से प्रस्तुत***)
(***'प्रेम-कुंज' हिंदी कहानी-संग्रह, 1930***)
(***'मानसरोवर'-7, 1947***)

गैरत की कटार

1

कितनी अफ़सोसनाक, कितनी दर्द-भरी बात है कि वही औरत जो कभी हमारे पहलू में बसती थी, उसी के पहलू में चुभने के लिए हमारा तेज़ खंजर बेचैन हो रहा है। जिसकी आँखें हमारे लिए अमृत के छलकते हुए प्याले थीं, वही आँखें हमारे दिल में आग और तूफ़ान पैदा करें! रूप उसी वक़्त तक राहत और ख़ुशी देता है, जब तक उसके भीतर एक रूहानी नेमत होती है और जब तक उसके अंदर औरत की वफ़ा की रूह हरकत कर रही हो, वर्ना वह एक तकलीफ़ देनेवाली चीज़ है, ज़हर और बदबू से भरी हुई, इसी क़ाबिल कि वह हमारी निगाहों से दूर रहे और पंजे और नाख़ून का शिकार बने। एक ज़माना वह था कि नईसा हैदर की आरज़ुओं की देखी थी, यह समझना मुश्किल था कि कौन तलबग़ार है और कौन उस तलब को पूरा करने वाला। एक तरफ़ पूरी-पूरी दिलजोई थी, दूसरी तरफ़ पूरी-पूरी रज़ा। तब तक़दीर ने पाँसा पलटा। गुलो-बुलबुल में सुबह की हवा की शरारतें शुरू हुईं। शाम का वक़्त था। आसमान पर लाली छाई हुई थी। नईमा उमंग और ताज़गी और शौक से उमड़ी हुई कोठे पर आई। शफ़क़ की तरह उसका चेहरा भी उस वक़्त खिला हुआ था। ऐन उसी वक़्त वहाँ का सूबेदार नासिर अपने हवा की तरह तेज़ घोड़े पर सवार उधर से निकला। ऊपर निगाह उठी तो हुस्न का करिश्मा नज़र आया कि जैसे चाँद शफ़क़ के हौज़ में नहाकर निकला है। तेज़ निगाह जिगर के पार हुई। कलेजा थामकर रह गया। अपने महल को लौटा, अधमरा, टूटा हुआ। मुसाहबों ने हकीम की तलाश की और तब राह-रस्म पैदा हुई। फिर इश्क़ की दुश्वार मंज़िलें तय हुईं। वफ़ा और हया ने बहुत बेरुख़ी दिखाई। मगर मुहब्बत के शिकवे और इश्क़ की कुफ़्र तोड़नेवाली धमकियाँ आख़िर जीतीं। अस्मत का ख़ज़ाना लुट गया। उसके बाद वही हुआ जो हो सकता था। एक तरफ़ से बदगुमानी, दूसरी तरफ़ से बनावट और मक्कारी। मनमुटाव की नौबत आई, फिर एक-दूसरे के दिल को चोट पहुँचाना शुरू हुआ। यहाँ तक कि दिलों

में मैल पड़ गई। एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे हो गए। नईमा ने नासिर की मुहब्बत की गोद में पनाह ली और आज एक महीने की बेचैन इंतज़ारी के बाद हैदर अपने जज़्बात के साथ नंगी तलवार पहलू में छिपाए अपने जिगर के भड़कते हुए शोलों को नईमा के ख़ून से बुझाने के लिए आया हुआ है।

2

आधी रात का वक़्त था और अँधेरी रात थी। जिस तरह आसमान के हरमसरा में हुस्न के सितारे जगमगा रहे थे, उसी तरह नासिर का हरम भी हुस्न के दीपों से रौशन था। नासिर एक हफ़्ते से किसी मोर्चे पर गया हुआ है। इसलिए दरबान ग़ाफ़िल हैं। उन्होंने हैदर को देखा, मगर उनके मुँह सोने-चाँदी से बंद थे। ख़्वाजासराओं की निगाह पड़ी लेकिन वह पहले ही एहसान के बोझ से दब चुके थे। ख़वासों और कनीज़ों ने भी मतलब-भरी निगाहों से उसका स्वागत किया और हैदर बदला लेने के नशे में गुनहगार नईमा के सोने के कमरे में जा पहुँचा, जहाँ की हवा संदल और गुलाब से बसी हुई थी।

कमरे में एक मोमी चिराग़ जल रहा था और उसी की भेद-भरी रोशनी में आराम और तकल्लुफ़ की सजावटें नज़र आती थीं जो सतीत्व-जैसी अनमोल चीज़ के बदले में खरीदी गई थीं। वहीं वैभव और ऐश्वर्य की गोद में लेटी हुई नईमा सो रही थी।

हैदर ने एक वार नईमा को आँख-भर देखा। वही मोहिनी सूरत थी, वही आकर्षक लावण्य और वही इच्छाओं को जगानेवाली ताज़गी। वही युवती जिसे एक बार देखकर भूलना असंभव था।

हाँ, वही नईमा थी, वही गोरी बाँहें जो कभी उसके गले का हार बनती थीं, वही कस्तूरी में बसे हुए बाल जो कभी उसके कंधों पर लहराते थे, वही फूल जैसे गाल जो उसकी प्रेम-भरी आँखों के सामने लाल हो जाते थे। इन्हीं गोरी-गोरी कलाइयों में उसने अभी-अभी खिली हुई कलियों के कंगन पहनाए थे और जिन्हें वह वफ़ा के कंगन समझा था। इसी गले में उसने फूलों के हार सजाए थे और उन्हें प्रेम का हार ख़याल किया था, लेकिन उसे क्या मालूम था कि फूलों के हार और कलियों के कंगन के साथ वफ़ा के कंगन और प्रेम के हार भी मुरझा जाएँगे।

हाँ, यह वही गुलाब के-से होंठ हैं जो कभी भी उसकी मुहब्बत में फूल की तरह खिल जाते थे, जिनसे मुहब्बत की सुहानी महक उड़ती थी और यह वही सीना है जिसमें कभी उसकी मुहब्बत और वफ़ा का जलवा था, जो कभी उसकी मुहब्बत का घर था।

मगर जिस फूल में दिल की महक थी, उसमें दग़ा के काँटे हैं।

3

हैदर ने तेज़ कटार पहलू से निकाली और दबे पाँव नईमा की तरफ़ आया, लेकिन उसके हाथ न उठ सके। जिसके साथ उम्र-भर ज़िंदगी की सैर की, उसकी गर्दन पर छुरी चलाते हुए उसका हृदय द्रवित हो गया। उसकी आँखें भीग गईं, दिल में हसरत-भरी यादगारों का एक तूफ़ान-सा आ गया। तक़दीर की क्या ख़ूबी है कि जिस प्रेम का आरंभ ऐसी ख़ुशी से भरपूर है उसका अंत इतना पीड़ाजनक हो। उसके पैर थरथराने लगे, लेकिन स्वाभिमान ने ललकारा, दीवार की लटकी हुई तस्वीरें उसकी इस कमज़ोरी पर मुस्कराईं।

मगर कमज़ोर इरादा हमेशा सवाल और दलील की आड़ लिया करता है। हैदर के दिल में ख़याल पैदा हुआ, क्या इस मुहब्बत के बाग़ को उजाड़ने का इल्ज़ाम मेरे ऊपर नहीं है? जिस वक़्त बदगुमानियों के अँखुए निकले, अगर मैंने तानों और धिक्कारों के बजाए मुहब्बत से काम लिया होता तो आज यह दिन न आता। मेरे ही जुल्मों ने मुहब्बत और वफ़ा की जड़ काटी। औरत कमज़ोर होती है, किसी सहारे के बग़ैर नहीं रह सकती। जिस औरत ने मुहब्बत के मज़े उठाए हों और उल्फ़त की नाज़बरदारियाँ देखी हों, वह तानों और ज़िल्लतों की आँच क्या सह सकती है? लेकिन फिर ग़ैरत ने उकसाया कि जैसे वह धुँधला चिराग़ भी उसकी कमज़ोरियों पर हँसने लगा।

स्वाभिमान और तर्क में सवाल-जवाब हो रहा था कि अचानक नईमा ने करवट बदली और अंगड़ाई ली। हैदर ने फौरन तलवार उठाई, जान के ख़तरे में आगा-पीछा कहाँ। दिल ने फ़ैसला कर लिया, तलवार अपना काम करनेवाली ही थी कि नईमा ने आँखें खोल दीं। मौत की कटार सिर पर नज़र आई। वह घबराकर उठ बैठी। हैदर को देखा, परिस्थिति समझ में आ गई। बोली—“हैदर!”

4

हैदर ने अपनी झेंप को गुस्से के पर्दे में छिपाकर कहा—“हाँ, मैं हूँ हैदर!”

नईमा सिर झुकाकर हसरत-भरे ढंग से बोली—“तुम्हारे हाथों में यह चमकती हुई तलवार देखकर मेरा कलेजा थरथरा रहा है। तुम्हीं ने मुझे नाज़बरदारियों का आदी बना दिया है। ज़रा देर के लिए इस कटार को मेरी आँखों से छिपा लो। मैं जानती हूँ कि तुम मेरे ख़ून के प्यासे हो, लेकिन मुझे न मालूम था कि तुम इतने बेरहम और संगदिल हो। मैंने तुमसे दग़ा की है, तुम्हारी ख़तावार हूँ लेकिन हैदर यक़ीन मानो, अगर मुझे चंद आख़िरी बातें कहने का मौक़ा न मिलता तो शायद मेरी रूह को दोज़ख़ में भी यही आरज़ू रहती। मौत की सज़ा से पहले अपने घरवालों से आख़िरी मुलाक़ात

की इजाज़त होती है। क्या तुम मेरे लिए इतनी रियायत के भी रवादार न थे? माना कि अब तुम मेरे कोई नहीं हो मगर किसी वक़्त थे और तुम चाहे अपने दिल में समझते हो कि मैं सब कुछ भूल गई लेकिन मैं मुहब्बत को इतनी भूल जानेवाली नहीं हूँ। अपने ही दिल से फ़ैसला करो। तुम मेरी बेवफ़ाइयाँ चाहे भूल जाओ, लेकिन मेरी मुहब्बत की दिल तोड़नेवाली यादगारें नहीं मिटा सकते। मेरी आख़िरी बातें सुन लो और इस नापाक ज़िंदगी का क़िस्सा पाक करो। मैं साफ़-साफ़ कहती हूँ, इस आख़िरी वक़्त में क्यों डरूँ। मेरी जो कुछ दुर्गत हुई है, उसके ज़िम्मेदार तुम हो। नाराज़ न हो। अगर तुम्हारा ख़याल है कि मैं यहाँ फूलों की सेज पर सोती हूँ तो वह ग़लत है। मैंने औरत की शर्म खोकर उसकी कद्र जानी है। मैं हसीन हूँ, नाज़ुक हूँ, दुनिया की नेमतें मेरे लिए हाज़िर हैं, नासिर मेरी इच्छा का गुलाम है लेकिन मेरे दिल से यह ख़याल कभी दूर नहीं होता कि वह सिर्फ़ मेरे हुस्न और अदा का बंदा है। मेरी इज़्ज़त उसके दिल में कभी हो भी नहीं सकती। क्या तुम जानते हो कि यहाँ ख़वासों और दूसरी बीवियों के मतलब-भरे इशारे मेरे ख़ून और जिगर को नहीं जलाते। ओफ़, मैंने अस्मत खोकर अस्मत की कद्र जानी है, लेकिन मैं कह चुकी हूँ और फिर कहती हूँ कि इसके तुम ज़िम्मेदार हो।"

हैदर ने पहलू बदलकर पूछा—"क्योंकर?"

नईमा ने उसी अंदाज़ से जवाब दिया—"तुमने मुझे बीवी बनाकर नहीं माशूक बनाकर रक्खा। तुमने मुझे नाज़बरदारियों का आदी बनाया, लेकिन फ़र्ज़ का सबक़ नहीं पढ़ाया। तुमने कभी न अपनी बातों से, न कामों से मुझे यह ख़याल करने का मौक़ा दिया कि इस मुहब्बत की बुनियाद फ़र्ज़ पर है। तुमने मुझे हमेशा हुस्न और मस्तियों के तिलिस्म में फँसा रक्खा और मुझे ख़्वाहिशों का गुलाम बना दिया। किसी किश्ती पर अगर फ़र्ज़ का मल्लाह न हो तो फिर उसे दरिया में डूब जाने के सिवा और कोई चारा नहीं। लेकिन अब बातों से क्या हासिल, अब तो तुम्हारी ग़ैरत की कटार मेरे ख़ून की प्यासी है और यह लो मेरा सिर उसके सामने झुका हुआ है। हाँ, मेरी एक आख़िरी तमन्ना है, अगर तुम्हारी इजाज़त पाऊँ तो कहूँ।"

यह कहते-कहते नईमा की आँखों में आँसुओं की बाढ़ आ गई और हैदर की ग़ैरत उसके सामने ठहर न सकी। उदास स्वर में बोला—"क्या कहती हो?"

नईमा ने कहा—"अच्छा इजाज़त दी है तो इंकार न करना। मुझे एक बार फिर उन अच्छे दिनों की याद ताज़ा कर लेने दो जब मौत की कटार नहीं मुहब्बत के तीर जिगर को छेदा करते थे, एक बार फिर मुझे अपनी मुहब्बत की बाँहों में ले लो। मेरी आख़िरी बिनती है एक बार फिर अपने हाथों को मेरी गर्दन का हार बना दो। भूल जाओ कि मैंने तुम्हारे साथ दग़ा की है, भूल जाओ कि यह ज़िस्म गन्दा और नापाक है, मुझे मुहब्बत से गले लगा लो और यह मुझे दे दो। तुम्हारे हाथों में यह अच्छी नहीं

मालूम होती। तुम्हारे हाथ मेरे ऊपर न उठेंगे! देखो कि एक कमज़ोर औरत किस तरह ग़ैरत की कटार को अपने जिगर में रख लेती है।"

यह कहकर नईमा ने हैदर के कमज़ोर हाथों से वह चमकती हुई तलवार छीन ली और उसके सीने से लिपट गई। हैदर झिझका, लेकिन वह सिर्फ़ ऊपरी झिझक थी। अभिमान और प्रतिशोध-भावना की दीवार टूट गई। दोनों आलिंगनपाश में बँध गए और दोनों की आँखें उमड़ आईं।

नईमा के चेहरे पर एक सुहानी, प्राणदायिनी मुस्कराहट दिखाई दी और मतवाली आँखों में खुशी की लाली झलकने लगी। बोली—"आज कैसा मुबारक दिन है कि दिल की सब आरजुएँ पूरी होती जाती हैं लेकिन यह कमबख़्त आरजुएँ कभी पूरी नहीं होतीं। इस सीने से लिपटकर मुहब्बत की शराब के बग़ैर नहीं रहा जाता। तुमने मुझे कितनी बार प्रेम के प्याले पिलाए हैं। उस सुराही और उस प्याले की याद नहीं भूलती। आज एक बार फिर उल्फ़त की शराब के दौर चलने दो। मौत की शराब से पहले उल्फ़त की शराब पिला दो। एक बार फिर मेरे हाथों से प्याला ले लो। मेरी तरफ़ उन्हीं प्यार की निगाहों से देखकर, जो कभी आँखों से न उतरती थीं, पी जाओ। मरती हूँ तो खुशी से मरूँ।"

नईमा ने अगर सतीत्व खोकर सतीत्व का मूल्य जाना था, तो हैदर ने भी प्रेम खोकर प्रेम का मूल्य जाना था। उस पर इस समय एक मदहोशी छाई हुई थी। लज्जा और याचना और झुका हुआ सिर, यह गुस्से और प्रतिशोध के जानी दुश्मन हैं और एक औरत के नाजुक हाथों में तो उनकी काट तेज़ तलवार को मात कर देती है। अंगूरी शराब के दौर चले और हैदर ने मस्त होकर प्याले-पर-प्याले ख़ाली करने शुरू किए। उसके जी में बार-बार आता था कि नईमा के पैरों पर सिर रख दूँ और उस उजड़े हुए आशियाने को आबाद कर दूँ। फिर मस्ती की कैफ़ियत पैदा हुई और अपनी बातों पर और अपने कामों पर उसे अख़्तियार न रहा। वह रोया, गिड़गिड़ाया, मिन्नतें कीं, यहाँ तक कि उन दग़ा के प्यालों ने उसका सिर झुका दिया।

5

हैदर कई घंटे तक बेसुध पड़ा रहा। वह चौंका तो रात बहुत कम बाक़ी रह गई थी। उसने उठना चाहा लेकिन उसके हाथ-पैर रेशम की डोरियों से मज़बूत बँधे हुए थे। उसने भौचक होकर इधर-उधर देखा। नईमा उसके सामने वही तेज़ कटार लिए खड़ी थी। उसके चेहरे पर एक क़ातिलों जैसी मुस्कराहट की लाली थी। फ़र्ज़ी माशूक के खूनीपन और ख़ंजरबाज़ी के तराने वह बहुत बार गा चुका था, मगर इस वक़्त उसे इस नज़्ज़ारे से शायराना लुत्फ़ उठाने का जीवट न था। जान का ख़तरा, नशे के लिए तुर्शी से भी ज़्यादा क़ातिल है। घबराकर बोला—"नईमा!"

नईमा ने तेज़ लहजे में कहा—"हाँ, मैं हूँ नईमा।"

हैदर गुस्से से बोला—"क्या फिर दग़ा का वार किया?"

नईमा ने जवाब दिया—"जब वह मर्द जिसे खुदा ने बहादुरी और क़ूवत और हौसला दिया है, दग़ा का वार करता है तो उसे मुझसे यह सवाल करने का कोई हक नहीं। दग़ा और फ़रेब औरतों के हथियार हैं, क्योंकि औरत कमज़ोर होती है। लेकिन तुमको मालूम हो गया होगा कि औरत के नाज़ुक हाथों में ये हथियार कैसी काट करते हैं। यह देखो यह वही आबदार शमशीर है, जिसे तुम ग़ैरत की कटार कहते थे। अब वह ग़ैरत की कटार मेरे जिगर में नहीं, तुम्हारे जिगर में चुभेगी। हैदर, इंसान थोड़ा खोकर बहुत कुछ सीखता है। तुमने इज़्ज़त और आबरू सब कुछ खोकर भी कुछ न सीखा। तुम मर्द थे। नासिर से तुम्हारी होड़ थी। तुम्हें उसके मुक़ाबिले में अपनी तलवार के जौहर दिखाना था लेकिन तुमने निराला ढंग अख़्तियार किया और एक बेकस औरत पर दग़ा का वार करना चाहा और अब तुम उसी औरत के सामने बिना हाथ-पैर के पड़े हुए हो। तुम्हारी जान बिलकुल मेरी मुट्ठी में है। मैं एक लम्हे में उसे मसल सकती हूँ और अगर मैं ऐसा करूँ तो तुम्हें मेरा शुक्रगुज़ार होना चाहिए, क्योंकि एक मर्द के लिए ग़ैरत की मौत बेग़ैरती की ज़िंदगी से अच्छी है। लेकिन मैं तुम्हारे ऊपर रहम करूँगी। मैं तुम्हारे साथ फ़ैयाज़ी का बर्ताव करूँगी, क्योंकि तुम ग़ैरत की मौत पाने के हक़दार नहीं हो। जो ग़ैरत चंद मीठी बातों और एक प्याला शराब के हाथों बिक जाए, वह असली ग़ैरत नहीं है। हैदर, तुम कितने बेवकूफ़ हो, क्या तुम इतना भी नहीं समझते कि जिस औरत ने अपनी अस्मत जैसी अनमोल चीज़ देकर यह ऐश और तकल्लुफ़ पाया, वह ज़िंदा रहकर इन नेमतों का सुख लूटना चाहती है। जब तुम सब कुछ खोकर ज़िंदगी से तंग नहीं हो तो मैं सब कुछ पाकर क्यों मौत की ख़्वाहिश करूँ? अब रात बहुत कम रह गई है। यहाँ से जान लेकर भागो, वर्ना मेरी सिफ़ारिश भी तुम्हें नासिर के गुस्से की आग से न बचा सकेगी। तुम्हारी यह ग़ैरत की कटार मेरे क़ब्ज़े में रहेगी और तुम्हें याद दिलाती रहेगी कि तुमने इज़्ज़त के साथ ग़ैरत भी खो दी।"

('ज़माना', उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1915)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

कर्मों का फल

1

मुझे हमेशा आदमियों के परखने की सनक रही है और अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि यह अध्ययन जितना मनोरंजक, शिक्षाप्रद और उद्‌घाटनों से भरा हुआ है, उतना शायद और कोई अध्ययन न होगा, लेकिन अपने दोस्त लाला साईंदयाल से बहुत अर्से तक दोस्ती और बेतकल्लुफी के संबंध रहने पर भी मुझे उनकी थाह न मिली। मुझे ऐसे दुर्बल शरीर में ज्ञानियों की-सी शांति और संतोष देखकर आश्चर्य होता था जो एक नाज़ुक पौधे की तरह मुसीबतों के झोंकों में भी अचल और अटल रहता था। यों वह बहुत ही मामूली दरज़े का आदमी था, जिसमें मानव कमज़ोरियों की कमी न थी। वह वादे बहुत करता था, लेकिन उन्हें पूरा करने की ज़रूरत नहीं समझता था। वह मिथ्याभाषी न हो, लेकिन सच्चा भी न था। बेमुरौवत न हो, लेकिन उसकी मुरौवत छिपी रहती थी। उसे अपने कर्तव्य पर पाबंद रखने के लिए दबाव और निगरानी की ज़रूरत थी, किफ़ायतशारी के उसूलों से बेख़बर, मेहनत से जी चुरानेवाला, उसूलों का कमज़ोर, एक ढीला-ढाला मामूली आदमी था, लेकिन जब कोई मुसीबत सिर पर आ पड़ती तो उसके दिल में साहस और दृढ़ता की वह ज़बर्दस्त ताक़त पैदा हो जाती थी, जिसे शहीदों का गुण कह सकते हैं। उसके पास न दौलत थी, न धार्मिक विश्वास, जो ईश्वर पर भरोसा करने और उसकी इच्छाओं के आगे सिर झुका देने का स्रोत है। एक छोटी-सी कपड़े की दुकान के सिवाय कोई जीविका न थी। ऐसी हालतों में उसकी हिम्मत और दृढ़ता का सोता कहाँ छिपा हुआ है, वहाँ तक मेरी अन्वेषण-दृष्टि नहीं पहुँचती थी।

2

बाप के मरते ही मुसीबतों ने उस पर छापा मारा। कुछ थोड़ा-सा क़र्ज़ विरासत में मिला, जिसमें बराबर बढ़ते रहने की आश्चर्यजनक शक्ति छिपी हुई थी। बेचारे ने

अभी बरसी से छुटकारा नहीं पाया था कि महाजन ने नालिश की और अदालत के तिलस्मी अहाते में पहुँचते ही यह छोटी-सी हस्ती इस तरह फूली जिस तरह मशक फूलती है। डिग्री हुई। जो कुछ जमा-जथा थी, बर्तन-भाँड़े, हाँड़ी-तवा, उसके गहरे पेट में समा गए। मकान भी न बचा। बेचारे मुसीबतों के मारे साईंदयाल का अब कहीं ठिकाना न था। कौड़ी-कौड़ी को मुहताज, न कहीं घर, न बार। कई-कई दिन फ़ाक़े से गुज़र जाते। अपनी तो ख़ैर उन्हें ज़रा भी फ़िक्र न थी, लेकिन बीवी थी, दो-तीन बच्चे थे, उनके लिए तो कोई-न-कोई फ़िक्र करनी ही पड़ती थी। कुनबे का साथ और यह बेसरोसामानी, बड़ा दर्दनाक दृश्य था। शहर से बाहर एक पेड़ की छाँह में यह आदमी अपनी मुसीबत के दिन काट रहा था। सारे दिन बाज़ारों की ख़ाक छानता। आह, मैंने एक बार उसे रेलवे स्टेशन पर देखा। उसके सिर पर एक भारी बोझ था। उसका नाज़ुक, सुख-सुविधा में पला हुआ शरीर, पसीना-पसीना हो रहा था। पैर मुश्किल से उठते थे। दम फूल रहा था, लेकिन चेहरे से मर्दाना हिम्मत और मज़बूत इरादे की रोशनी टपकती थी। चेहरे से पूर्ण संतोष झलक रहा था। उसके चेहरे पर ऐसा इत्मीनान था कि जैसे यही उसका बाप-दादों का पेशा है। मैं हैरत से उसका मुँह ताकता रह गया। दुःख में हमदर्दी दिखलाने की हिम्मत न हुई। कई महीने तक यही कैफ़ियत रही। आख़िरकार उसकी हिम्मत और सहनशक्ति उसे इस कठिन दुर्गम घाटी से बाहर निकाल लाई।

3

थोड़े ही दिनों बाद मुसीबतों ने फिर उस पर हमला किया। ईश्वर ऐसा दिन दुश्मन को भी न दिखलाए। मैं एक महीने के लिए बंबई चला गया था, वहाँ से लौटकर उससे मिलने गया। आह, वह दृश्य याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं और दिल डर से काँप उठता है। सुबह का वक़्त था। मैंने दरवाज़े पर आवाज़ दी और हमेशा की तरह बेतकल्लुफ अंदर चला गया, मगर वहाँ साईंदयाल का वह हँसमुख चेहरा, जिस पर मर्दाना हिम्मत की ताज़गी झलकती थी, नज़र न आया। मैं एक महीने के बाद उसके घर जाऊँ और वह आँखों से रोते लेकिन होंठों से हँसते दौड़कर मेरे गले से लिपट न जाए! ज़रूर कोई आफ़त है। उसकी बीवी सिर झुकाए आई और मुझे उसके कमरे में ले गई। मेरा दिल बैठ गया। साईंदयाल एक चारपाई पर मैले-कुचैले कपड़े लपेटे, आँखें बंद किए, पड़ा दर्द से कराह रहा था। ज़िस्म और बिछौने पर मक्खियों के गुच्छे-के-गुच्छे बैठे हुए थे। आहट पाते ही उसने मेरी तरफ़ देखा। मेरे जिगर के टुकड़े हो गए। हड्डियों का ढाँचा रह गया था। दुर्बलता की इससे ज़्यादा सच्ची और करुण तस्वीर नहीं हो सकती। उसकी बीवी ने मेरी तरफ़ निराशा-भरी आँखों से देखा। मेरी आँखों में भी आँसू भर आए। उस सिमटे हुए ढाँचे में बीमारी को भी मुश्किल से

जगह मिलती होगी, ज़िंदगी का क्या ज़िक्र! आख़िर मैंने धीरे से पुकारा। आवाज़ सुनते ही वह बड़ी-बड़ी आँखें खुल गईं, लेकिन उनमें पीड़ा और शोक के आँसू न थे, संतोष और ईश्वर पर भरोसे की रोशनी थी और वह पीला चेहरा! आह वह गंभीर संतोष का मौन चित्र, वह संतोषमय संकल्प की सजीव स्मृति। उसके पीलेपन में मर्दाना हिम्मत की लाली झलकती थी। मैं उसकी सूरत देखकर घबरा गया। क्या यह बुझते हुए चिराग़ की आख़िरी झलक तो नहीं है?

मेरी सहमी हुई सूरत देखकर वह मुस्कराया और बहुत धीमी आवाज़ में बोला—"तुम ऐसे उदास क्यों हो, यह सब मेरे कर्मों का फल है।"

4

मगर कुछ अजब बदक़िस्मत आदमी था। मुसीबतों को उससे कुछ ख़ास मुहब्बत थी। किसे उम्मीद थी कि वह उस प्राणघातक रोग से मुक्ति पाएगा। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था। मौत के मुँह से निकल आया। अगर भविष्य का ज़रा भी ज्ञान होता तो सबसे पहले मैं उसे ज़हर दे देता। आह, उस शोकपूर्ण घटना को याद करके कलेजा मुँह को आता है। धिक्कार है इस ज़िंदगी पर कि बाप अपनी आँखों से अपने इकलौते बेटे का शोक देखे!

कैसा हँसमुख, कैसा ख़ूबसूरत, होनहार लड़का था, कैसा सुशील, कैसा मधुरभाषी, ज़ालिम मौत ने उसे छाँट लिया। प्लेग की दुहाई मची हुई थी। शाम को गिल्टी निकली और सुबह को—कैसी मनहूस, अशुभ सुबह थी—वह ज़िंदगी सबेरे के चिराग़ की तरह बुझ गई। मैं उस वक़्त उस बच्चे के पास बैठा हुआ था और साईंदयाल दीवार का सहारा लिए हुए ख़ामोश आसमान की तरफ़ देखता था। मेरी और उसकी आँखों के सामने ज़ालिम और बेरहम मौत ने उस बच्चे को हमारी गोद से छीन लिया। मैं रोते हुए साईंदयाल के गले से लिपट गया। सारे घर में कुहराम मचा हुआ था। बेचारी माँ पछाड़े खा रही थी, बहनें दौड़-दौड़कर भाई की लाश से लिपटती थीं और ज़रा देर के लिए ईर्ष्या ने भी संवेदना के आगे सिर झुका दिया था—मुहल्ले की औरतों को आँसू बहाने के लिए दिल पर ज़ोर डालने की ज़रूरत न थी।

जब मेरे आँसू थमे तो मैंने साईंदयाल की तरफ़ देखा। आँखों में तो आँसू भरे हुए थे—आह, संतोष का आँखों पर कोई वस नहीं, लेकिन चेहरे पर मर्दाना दृढ़ता और समर्पण का रंग स्पष्ट था। इस दुःख की बाढ़ और तूफ़ान में शांति की नैया उसके दिल को डूबने से बचाए हुए थी।

इस दृश्य ने मुझे चकित नहीं स्तंभित कर दिया। संभावनाओं की सीमाएँ कितनी ही व्यापक हों, ऐसी हृदय-द्रावक स्थिति में होश-हवास और इत्मीनान को क़ायम रखना उन सीमाओं से परे है लेकिन इस दृष्टि से साईंदयाल मानव नहीं, अति

मानव था। मैंने रोते हुए कहा—"भाई साहब, अब संतोष की परीक्षा का अवसर है।" उसने दृढ़ता से उत्तर दिया—"हाँ, यह कर्मों का फल है।"

मैं एक बार फिर भौंचक होकर उसका मुँह तकने लगा।

5

लेकिन साईदयाल का यह तपस्वियों जैसा धैर्य्य और ईश्वरेच्छा पर भरोसा अपनी आँखों से देखने पर भी मेरे दिल में संदेह बाक़ी थे। मुमकिन है, जब तक चोट ताज़ी है सब्र का बाँध क़ायम रहे, लेकिन उसकी बुनियादें हिल गई हैं, उसमें दरारें पड़ गई हैं। वह अब ज़्यादा देर तक दुःख और शोक की लहरों का मुक़ाबला नहीं कर सकता।

क्या संसार की कोई दुर्घटना इतनी हृदयद्रावक, इतनी निर्मम, इतनी कठोर हो सकती है। संतोष और दृढ़ता और धैर्य्य और ईश्वर पर भरोसा, यह सब उस आँधी के सामने घास-फूस से ज़्यादा नहीं। धार्मिक विश्वास तो क्या, अध्यात्म तक उसके सामने सिर झुका देता है। उसके झोंके आस्था और निष्ठा की जड़ें हिला देते हैं।

लेकिन मेरा अनुमान ग़लत निकला। साईदयाल ने धीरज को हाथ से न जाने दिया। वह बदस्तूर ज़िंदगी के कामों में लग गया। दोस्तों की मुलाक़ातें और नदी के किनारे सैर और तफ़रीह और मेलों की चहल-पहल, इन दिलचस्पियों में उसके दिल को खींचने की ताक़त अब भी बाक़ी थी। मैं उसकी एक-एक क्रिया को, एक-एक बात को ग़ौर से देखता और पढ़ता। मैंने दोस्ती के नियम-क़ायदों को भुलाकर उसे उस हालत में देखा, जहाँ उसके विचारों के सिवा और कोई न था, लेकिन उस हालत में भी उसके चेहरे पर वही पुरुषोचित धैर्य्य था और शिकवे-शिकायत का एक शब्द भी उसकी ज़बान पर नहीं आया।

6

इसी बीच मेरी छोटी लड़की चंद्रमुखी निमोनिया की भेंट चढ़ गई। दिन के धंधे से फ़ुरसत पाकर जब मैं घर पर आता और उसे प्यार से गोद में उठा लेता तो मेरे हृदय को जो आनंद और आत्मिक शक्ति मिलती थी, उसे शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता। उसकी अदाएँ सिर्फ़ दिल को लुभानेवाली नहीं, ग़म को भुलानेवाली हैं। जिस वक़्त वह हुमककर मेरी गोद में आती तो मुझे तीनों लोक की संपत्ति मिल जाती थी। उसकी शरारतें कितनी मनमोहक थीं। अब हुक्के में मज़ा नहीं रहा, कोई चिलम को गिरानेवाला नहीं! खाने में मज़ा नहीं आता, कोई थाली के पास बैठा हुआ उस पर हमला करनेवाला नहीं! मैं उसकी लाश को गोद में लिए बिलख-बिलख कर रो रहा था। यही जी चाहता था कि अपनी ज़िंदगी का ख़ात्मा कर दूँ। यकायक मैंने साईदयाल

को आते देखा। मैंने फ़ौरन आँसू पोंछ डाले और उस नन्हीं-सी जान को ज़मीन पर लिटाकर बाहर निकल आया। उस धैर्य्य और संतोष के देवता ने मेरी तरफ़ संवेदना की आँखों से देखा और मेरे गले से लिपटकर रोने लगा। मैंने कभी उसे इस तरह चीखें मारकर रोते नहीं देखा। रोते-रोते उसकी हिचकियाँ बँध गईं, बेचैनी से बेसुध और बेहाल हो गया। यह वही आदमी है, जिसका इकलौता बेटा मरा और माथे पर बल नहीं आया। यह कायापलट क्यों?

7

इस शोकपूर्ण घटना के कई दिन बाद, जबकि दुःखी दिल सम्हलने लगा था, एक रोज़ हम दोनों नदी की सैर को गए। शाम का वक़्त था। नदी कहीं सुनहरी, कहीं नीली-सी, कहीं काली, किसी थके हुए मुसाफ़िर की तरह धीरे-धीरे बह रही थी। हम दूर जाकर एक टीले पर बैठ गए लेकिन बातचीत करने को जी न चाहता था। नदी के मौन प्रवाह ने हमको भी अपने विचारों में डुबो दिया। नदी की लहरें विचारों की लहरों को पैदा कर देती हैं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि प्यारी चंद्रमुखी लहरों की गोद में बैठी मुस्करा रही है। मैं चौंक पड़ा और अपने आँसुओं को छिपाने के लिए नदी में मुँह धोने लगा। साईंदयाल ने कहा–"भाई साहब, दिल को मज़बूत करो। इस तरह कुढ़ोगे तो ज़रूर बीमार हो जाओगे।"

मैंने जवाब दिया–"ईश्वर ने जितना संयम तुम्हें दिया है, उसमें से थोड़ा-सा मुझे भी दे दो, मेरे दिल में इतनी ताकत कहाँ।"

साईंदयाल मुस्कराकर मेरी तरफ़ ताकने लगा।

मैंने उसी सिलसिले में कहा–"किताबों में तो दृढ़ता और संतोष की बहुत-सी कहानियाँ पढ़ी हैं मगर सच मानो कि तुम जैसा दृढ़, कठिनाइयों में सीधा खड़ा रहनेवाला आदगी आज तक मेरी नज़र से नहीं गुज़रा। तुम जानते हो कि मुझे मानव स्वभाव के अध्ययन का हमेशा से शौक है लेकिन मेरे अनुभव में तुम अपनी तरह के अकेले आदमी हो। मैं यह न मानूँगा कि तुम्हारे दिल में दर्द और घुलावट नहीं है। उसे मैं अपनी आँखों देख चुका हूँ। फिर इस ज्ञानियों जैसे संतोष और शांति का रहस्य तुमने कहाँ छिपा रक्खा है? तुम्हें इस समय यह रहस्य मुझसे कहना पड़ेगा।"

साईंदयाल कुछ सोच-विचार में पड़ गया और ज़मीन की तरफ़ ताकते हुए बोला–"यह कोई रहस्य नहीं, मेरे कर्मों का फल है।"

यह वाक्य मैंने चौथी बार उसकी ज़बान से सुना और बोला–"जिन कर्मों का फल ऐसा शक्तिदायक है, उन कर्मों की मुझे भी कुछ दीक्षा दो, मैं ऐसे फलों से क्यों वंचित रहूँ।"

साईदयाल ने व्यथापूर्ण स्वर में कहा—"ईश्वर न करे कि तुम ऐसा कर्म करो और तुम्हारी ज़िंदगी पर उसका काला दाग़ लगे। मैंने जो कुछ किया है, वह मुझे ऐसा लज्जाजनक और ऐसा घृणित मालूम होता है कि उसकी मुझे जो कुछ सजा मिले, मैं उसे ख़ुशी के साथ झेलने को तैयार हूँ। आह! मैंने एक ऐसे पवित्र ख़ानदान को, जहाँ मेरा विश्वास और मेरी प्रतिष्ठा थी, अपनी वासनाओं की गंदगी में लिथेड़ा है, एक ऐसे पवित्र हृदय को, जिसमें मुहब्बत का दर्द था, जो सौंदर्यवाटिका की एक नई-नई खिली हुई कली थी, जिसमें सरलता थी और सच्चाई थी, उस पवित्र हृदय में मैंने पाप और विश्वासघात का बीज हमेशा के लिए बो दिया। यह पाप है जो मुझसे हुआ है और उसका पल्ला उन मुसीबतों से बहुत भारी है, जो मेरे ऊपर अब तक पड़ी हैं या आगे चलकर पड़ेंगी। कोई सज़ा, कोई दुःख, कोई क्षति उसका प्रायश्चित् नहीं कर सकती।"

मैंने सपने में भी न सोचा था कि साईदयाल अपने विश्वासों में इतना दृढ़ है। पाप हर आदमी से होते हैं, हमारा मानव जीवन पापों की एक लंबी सूची है, वह कौन-सा दामन है जिस पर यह काले दाग़ न हों, लेकिन कितने ऐसे आदमी हैं जो अपने कर्मों की सज़ाओं को इस तरह उदारतापूर्वक मुस्कराते हुए झेलने के लिए तैयार हों। हम आग में कूदते हैं, लेकिन जलने के लिए तैयार नहीं होते।

मैं साईदयाल को हमेशा इज़्ज़त की निगाह से देखता हूँ, इन बातों को सुनकर मेरी नज़रों में उसकी इज़्ज़त तिगुनी हो गई। एक मामूली दुनियादार आदमी के सीने में एक फ़क़ीर का दिल छिपा हुआ था, जिसमें ज्ञान की ज्योति चमकती थी। मैंने उसकी तरफ़ श्रद्धापूर्ण आँखों से देखा और उसके गले से लिपटकर बोला—"साईदयाल, अब तक मैं तुम्हें एक दृढ़ स्वभाव का आदमी समझता था, लेकिन आज मालूम हुआ कि तुम उन पवित्र आत्माओं में हो, जिनका अस्तित्व संसार के लिए वरदान है। तुम ईश्वर के सच्चे भक्त हो, और मैं तुम्हारे पैरों पर सिर झुकाता हूँ।"

('ख़तीब' उर्दू साप्ताहिक, 7 अगस्त, 1915)
(प्रेम-पचीसी'-2, उर्दू कहानी-संग्रह, 1918)
('गुप्त-धन'-1, 1962 से प्रस्तुत)

बेटी का धन

1

बेतवा नदी दो ऊँचे कगारों के बीच इस तरह मुँह छिपाए हुए थी, जैसे निर्बल हृदयों में साहस और उत्साह की मध्यम ज्योति छिपी रहती है। इसके एक कगार पर एक छोटा-सा गाँव बसा है, जो अपने भग्न जातीय चिह्नों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। जातीय गाथाओं और चिह्नों पर मर मिटनेवाले लोग इस भग्न स्थान पर बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ आते और गाँव का बूढ़ा केवट सुखू चौधरी उन्हें उसकी परिक्रमा कराता और रानी के महल, राजा का दरबार और कुँवर के बैठक के मिटे हुए चिह्नों को दिखाता। वह एक उच्छ्वास लेकर रुँधे हुए गले से कहता–"महाशय! एक वह समय था कि केवटों को मछलियों के इनाम में अशर्फियाँ मिलती थीं। कहार महल में झाड़ू देते हुए आशर्फियाँ बटोर ले सकते थे। बेतवा नदी रोज़ बढ़कर महाराज के चरण छूने आती थी। यह प्रताप और यह तेज़ था, परंतु आज इसकी यह दशा है।" इन सुंदर उक्तियों पर किसी का विश्वास जमाना चौधरी के वश की बात न थी, पर सुननेवाले उसकी सहृदयता तथा अनुराग के ज़रूर कायल हो जाते थे।

सुखू चौधरी उदार पुरुष थे, परंतु जितना बड़ा मुँह था, उतना बड़ा ग्रास न था। तीन लड़के, तीन बहुएँ और कई पौत्र-पौत्रियाँ थीं। लड़की केवल एक गंगाजली थी, जिसका अभी तक गौना नहीं हुआ था। चौधरी की यह सबसे पिछली संतान थी। स्त्री के मर जाने पर उसने इसको बकरी का दूध पिला-पिलाकर पाला था। परिवार में खाने वाले तो इतने थे, पर खेती सिर्फ़ एक हल की होती थी। ज्यों-त्यों कर निर्वाह होता था, परंतु सुखू की वृद्धावस्था और पुरातत्व-ज्ञान ने उसे गाँव में वह मान और प्रतिष्ठा प्रदान कर रखी थी, जिसे देखकर झगड़ू साहू भीतर-ही-भीतर जलते थे। सुखू जब गाँव वालों के समक्ष हाकिमों से हाथ फेंक-फेंककर बातें करने लगता और खंडहरों को घुमा-फिराकर दिखाने लगता था, तो झगड़ू साहू, जो चपरासियों के धक्के खाने के डर से क़रीब नहीं फटकते थे, तड़प-तड़पकर रह जाते थे। अतः वे सदा उस शुभ अवसर की प्रतीक्षा करते रहते थे, जब सुखू पर अपने धन द्वारा प्रभुत्व जमा सकें।

2

इस गाँव के ज़मींदार ठाकुर जीतनसिंह थे, जिनकी बेगार के मारे गाँववालों के नाकों दम था। उस साल जब ज़िला मजिस्ट्रेट का दौरा हुआ और वह यहाँ के पुरातन चिह्नों की सैर करने के लिए पधारे, तो सुखू चौधरी ने दबी ज़बान से अपने गाँववालों की दुःख कहानी उन्हें सुनाई। हाकिमों से वार्तालाप करने में उसे तनिक भी भय न होता था। सुखू चौधरी को ख़ूब मालूम था कि जीतनसिंह से रार मचाना सिंह के मुँह में सिर देना है, किंतु जब गाँववाले कहते थे कि चौधरी तुम्हारी ऐसे-ऐसे हाकिमों से मिताई है और हम लोगों को रात-दिन रोते कटता है, तो फिर तुम्हारी यह मित्रता किस दिन काम आएगी! 'परोपकाराय सताम् विभूतयः।' तब सुखू का मिज़ाज आसमान पर चढ़ जाता था। घड़ी-भर के लिए वह जीतनसिंह को भूल जाता था। मजिस्ट्रेट ने जीतनसिंह से इसका उत्तर माँगा।

उधर झगड़ू साहू ने चौधरी के इस साहसपूर्ण स्वामी-द्रोह की रिपोर्ट जीतनसिंह को दी। ठाकुर साहब जलकर आग हो गए। अपने कारिंदे से बकाया लगान की बही माँगी। संयोगवश चौधरी के ज़िम्मे इस साल का कुछ लगान बाक़ी था। कुछ तो पैदावार कम हुई, उस पर गंगाजली का ब्याह करना पड़ा। छोटी बहू नथ की रट लगाए हुए थी, वह बनवानी पड़ी। इन सब ख़र्चों ने हाथ बिलकुल ख़ाली कर दिया था। लगान के लिए कुछ अधिक चिंता नहीं थी। वह इस अभिमान में भूला हुआ था कि जिस ज़बान में हाकिमों को प्रसन्न करने की शक्ति है, क्या वह ठाकुर साहब को अपना लक्ष्य न बना सकेगी? बूढ़े चौधरी इधर तो अपने गर्व में निश्चिंत थे और उधर उन पर बकाया लगान की नालिश ठुक गई। सम्मन आ पहुँचा। दूसरे दिन पेशी की तारीख़ पड़ गई। चौधरी को अपना जादू चलाने का अवसर न मिला।

जिन लोगों के बढ़ावे में आकर सुखू ने ठाकुर से छेड़छाड़ की थी, उनका दर्शन मिलना दुर्लभ हो गया। ठाकुर साहब के सहने और प्यादे गाँव में चील की तरह मँडराने लगे। उनके भय से किसी को चौधरी की परछाईं काटने का साहस न होता था। कचहरी यहाँ से तीन मील पर थी। बरसात के दिन, रास्ते में ठौर-ठौर पानी और उमड़ी हुई नदियाँ, रास्ता कच्चा, बैलगाड़ी का निबाह नहीं, पैरों में बल नहीं, अंत अदमपैरवी में मुक़दमा एकतरफ़ा फ़ैसला हो गया।

3

कुर्की का नोटिस पहुँचा, तो चौधरी के हाथ-पाँव फूल गए। सारी चतुराई भूल गई। चुपचाप अपनी खाट पर पड़ा-पड़ा नदी की ओर ताकता और मन में कहता—"क्या मेरे जीते जी घर मिट्टी में मिल जाएगा? मेरे इन बैलों की सुंदर जोड़ी के गले में, आह!

क्या दूसरों का जुआ पड़ेगा?" यह सोचते-सोचते उसकी आँखें भर आतीं। वह बैलों से लिपटकर रोने लगता, परंतु बैलों की आँखों में क्यों आँसू ज़ारी थे? वे नाँद में मुँह क्यों नहीं डालते? क्या उनके हृदय पर भी अपने स्वामी के दुःख की चोट पहुँच रही थी?

फिर वह अपने झोंपड़े को विकल नयनों से निहारकर देखता और मन में सोचता—क्या हमको इस घर से निकलना पड़ेगा? यह पूर्वजों की निशानी क्या हमारे जीते-जी छिन जाएगी।

कुछ लोग परीक्षा में दृढ़ रहते हैं और कुछ लोग इसकी हलकी आँच भी नहीं सह सकते। चौधरी अपनी खाट पर उदास पड़े-पड़े घंटों अपने कुलदेव महावीर और महादेवी को मनाया करता और उनका गुण गाया करता। उसकी चिंतादग्ध आत्मा को और कोई सहारा न था।

इसमें कोई संदेह न था कि चौधरी की तीनों बहुओं के पास गहने थे, पर स्त्री का गहना ऊख का रस है, जो पेरने से ही निकलता है। चौधरी जाति का ओछा, पर स्वभाव का ऊँचा था। उसे ऐसी नीच बात बहुओं से कहते संकोच होता था, कदाचित् यह नीच विचार उसके हृदय में उत्पन्न ही नहीं हुआ था, किंतु तीनों बेटे यदि ज़रा भी बुद्धि से काम लेते, तो बूढ़े को देवताओं की शरण लेने की आवश्यकता न होती, परंतु यहाँ तो बात ही निराली थी। बड़े लड़के को घाट के काम से फ़ुरसत न थी। बाक़ी दो लड़के इस जटिल प्रश्न को विचित्र रूप से हल करने के मंसूबे बाँध रहे थे।

मझले झींगुर ने मुँह बनाकर कहा—"ऊँह! इस गाँव में क्या धरा है। जहाँ भी कमाऊँगा, वहीं खाऊँगा, पर जीतनसिंह की मूँछें एक-एक करके चुन लूँगा।"

छोटे फक्कड़ ऐंठकर बोले—"मूँछे तुम चुन लेना। नाक मैं उड़ा दूँगा। नककटा बना घूमेगा।"

इस पर दोनों ख़ूब हँसे और मछली मारने चल दिए।

इस गाँव में एक बूढ़े ब्राह्मण भी रहते थे। मंदिर में पूजा करते और नित्य अपने यजमानों को दर्शन देने नदी पार जाते, पर खेवे के पैसे न देते। तीसरे दिन वह ज़मींदार के गुप्तचरों की आँख बचाकर सुखू के पास आए और सहानुभूति के स्वर में बोले—"चौधरी! कल ही तक मियाद है और तुम अभी तक पड़े-पड़े सो रहे हो। क्यों नहीं घर की चीज़ ढूँढ़-ढाँढ़कर किसी और जगह भेज देते? न हो समधियाने पठवा दो। जो कुछ बच रहे, वही सही। घर की मिट्टी खोदकर थोड़े ही कोई ले जाएगा।"

चौधरी लेटा, उठा, बैठा और आकाश की ओर निहारकर बोला—"जो कुछ उसकी इच्छा है, होगा। मुझसे यह जाल न होगा।"

इधर कई दिन की निरंतर भक्ति और उपासना के कारण चौधरी का मन शुद्ध और पवित्र हो गया था। उसे छल-प्रपंच से घृणा उत्पन्न हो गई थी। पंडितजी इस काम में सिद्धहस्त थे, लज्जित हो गए।

परंतु चौधरी के घर के अन्य लोगों को ईश्वरेच्छा पर इतना भरोसा न था। धीरे-धीरे घर के बर्तन-भाँड़े खिसकाए जाते थे। अनाज का एक दाना भी घर में न रहने पाया। रात को नाव लदी हुई जाती और उधर से खाली लौटती थी। तीन दिन तक घर में चूल्हा न जला। बूढ़े चौधरी के मुँह में अन्न की कौन कहे, पानी की एक बूँद भी न पड़ी। स्त्रियाँ भाड़ से चने भुनाकर चबातीं और लड़के मछलियाँ भून-भूनकर उड़ाते; परंतु बूढ़े की इस एकादशी में यदि कोई शरीक था, तो वह उसकी बेटी गंगाजली थी। वह बेचारी अपने बूढ़े बाप को चारपाई पर निर्जल छटपटाते देख, बिलख-बिलखकर रोती।

लड़कों को अपने माता-पिता से वह प्रेम नहीं होता, जो लड़कियों को होता है। गंगाजली इस सोच-विचार में मग्न रहती कि दादा की किस भाँति सहायता करूँ। यदि हम सब भाई-बहिन मिलकर जीतनसिंह के पास जाकर दया-भिक्षा की प्रार्थना करें, तो वे अवश्य मान जाएँगे। परंतु दादा को कब यह स्वीकार होगा? वह यदि एक दिन बड़े साहब के पास चले जाएँ, तो सब कुछ बात-की-बात में बन जाए, किंतु उनकी तो जैसे बुद्धि ही मारी गई है। इसी उधेड़बुन में उसे एक उपाय सूझ पड़ा, कुम्हलाया हुआ मुखारविंद खिल उठा।

पुजारीजी सुखू चौधरी के पास से उठकर चले गए थे और चौधरी उच्च स्वर से अपने सोए हुए देवताओं को पुकार-पुकारकर बुला रहे थे। निदान गंगाजली उनके पास जाकर खड़ी हो गई। चौधरी ने उसे देखकर विस्मित स्वर में पूछा—"क्यों बेटी! इतनी रात गए क्यों बाहर आई?"

गंगाजली ने कहा—"बाहर रहना तो भाग्य में लिखा है, घर में कैसे रहूँ!"

सुखू ने ज़ोर से हाँक लगाई—"कहाँ गए तुम कृष्ण मुरारी, मेरे दुःख हरो।" गंगाजली खड़ी थी, बैठ गई और धीरे से बोली—"भजन गाते तो आज तीन दिन हो गए। घर बचाने का कुछ उपाय सोचा कि इसे यों ही मिट्टी में मिला दोगे? हम लोगों को क्या पेड़-तले रखोगे?"

चौधरी ने व्यथित स्वर से कहा—"बेटी! मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझता। भगवान् जो चाहेंगे, होगा। बेग चलो गिरधर गोपाल, काहे विलंब करो।"

गंगाजली ने कहा—"मैंने एक उपाय सोचा है, कहो तो कहूँ।"

चौधरी उठकर बैठ गए और पूछा—"कौन उपाय है बेटी?"

गंगाजली ने कहा—"मेरे गहने झगड़ू साहू के यहाँ गिरों रख दो। मैंने जोड़ लिया है। देने भर के रुपए हो जाएँगे।"

चौधरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—"बेटी! तुमको मुझसे यह बात कहते लाज नहीं आती? वेद-शास्त्र में मुझे तुम्हारे गाँव के कुएँ का पानी पीना भी मना है। तुम्हारी ड्योढ़ी में पैर रखने का निषेध है। क्या तुम मुझे नरक में ढकेलना चाहती हो?"

गंगाजली उत्तर के लिए पहले ही से तैयार थी, बोली—"मैं अपने गहने तुम्हें दिए थोड़े ही देती हूँ। इस समय लेकर काम चलाओ, चैत में छुड़ा देना।"

चौधरी ने कड़ककर कहा—"यह मुझसे न होगा।"

गंगाजली उत्तेजित होकर बोली—"तुमसे यह न होगा, तो मैं आप ही जाऊँगी, मुझसे घर की यह दुर्दशा नहीं देखी जाती।"

चौधरी ने झुँझलाकर कहा—"बिरादरी में कौन मुँह दिखाऊँगा?"

गंगाजली ने चिढ़कर कहा—"बिरादरी में कौन ढिंढोरा पीटने जाता है?"

चौधरी ने फ़ैसला सुनाया—"जग-हँसाई के लिए मैं अपना धर्म्म न बिगाड़ूँगा।"

गंगाजली ने बिगड़कर बोली—"मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हारे ऊपर मेरी हत्या पड़ेगी। मैं आज ही इस बेतवा नदी में कूद पड़ूँगी। तुमसे चाहे घर में आग लगाते देखा जाए, पर मुझसे न देखा जाएगा।"

चौधरी ने ठंडी साँस लेकर कातर स्वर में कहा—"बेटी, मेरा धर्म्म नाश मत करो। यदि ऐसा ही है, तो अपनी किसी भावज के गहने माँगकर लाओ।"

गंगाजली ने गंभीर भाव से कहा—"भावजों से कौन अपना मुँह नुचवाने जाएगा? उनको फ़िकर होती, तो क्या मुँह में दही जमा था, कहतीं नहीं?"

चौधरी निरुत्तर हो गए। गंगाजली घर में जाकर गहनों की पिटारी लाई और एक-एक करके सब गहने चौधरी के अँगोछे में बाँध दिए। चौधरी ने आँख में आँसू भरकर कहा—"हाय राम! इस शरीर की क्या गति लिखी है।" यह कहकर उठे। बहुत सँहालने पर भी आँखों में आँसू न छिपे।

4

रात का समय था। बेतवा नदी के किनारे-किनारे मार्ग को छोड़कर सुखू चौधरी गहनों की गठरी काँख में दबाए इस तरह चुपके-चुपके चल रहे थे, मानो पाप की गठरी लिए जाते हैं। जब वह झगड़ू साहू के मकान के पास पहुँचे, तो ठहर गए, आँखें ख़ूब साफ़ कीं, जिसमें किसी को यह बोध न हो कि चौधरी रोता था।

झगड़ू साहू धागे की कमानी की एक मोटी ऐनक लगाए, बही-खाता फैलाए हुक्का पी रहे थे और दीपक के धुँधले प्रकाश में उन अक्षरों के पढ़ने की व्यर्थ चेष्टा में लगे थे, जिनमें स्याही की बहुत किफ़ायत की गई थी। बार-बार ऐनक को साफ़ करते और आँख मलते, पर चिराग की बत्ती उकसाना या दोहरी बत्ती लगाना शायद इसलिए उचित नहीं समझते थे कि तेल का अपव्यय होगा। इसी समय सुखू चौधरी ने आकर कहा—"जै रामजी!"

झगड़ू साहू ने देखा। पहचानकर बोले—"जय राम चौधरी! कहो, मुक़दमे में क्या हुआ? यह लेन-देन बड़े झंझट का काम है। दिन-भर सिर उठाने की छुट्टी नहीं मिलती।"

चौधरी ने पोटली को ख़ूब सावधानी से छिपाकर लापरवाही के साथ कहा—"अभी तक तो कुछ नहीं हुआ। कल इजराय डिगरी होनेवाली है। ठाकुर साहब ने न जाने कब का बैर निकाला है। हमको दो-तीन दिन की भी मुहलत होती, तो डिगरी न ज़ारी होने पाती। छोटे साहब और बड़े साहब दोनों हमको अच्छी तरह जानते हैं। अभी इसी साल मैंने उनसे नदी-किनारे घंटों बातें की हैं, किंतु एक तो बरसात के दिन, दूसरे एक दिन की भी मुहलत नहीं, क्या करता। इस समय मुझे रुपयों की चिंता है।"

झगड़ू साहू ने विस्मित होकर पूछा—"तुमको रुपयों की चिंता! घर में भरा है, वह किस दिन काम आवेगा।" झगड़ू साहू ने यह व्यंग्यबाण नहीं छोड़ा था। वास्तव में उन्हें और सारे गाँव को विश्वास था कि चौधरी के घर में लक्ष्मी महारानी का अखंड राज्य है।

चौधरी का रंग बदलने लगा। बोले—"साहूजी! रुपया होता तो किस बात की चिंता थी? तुमसे कौन छिपाव है? आज तीन दिन से घर में चूल्हा नहीं जला, रोना-पीटना पड़ा है। अब तो तुम्हारे बसाए बसूँगा। ठाकुर साहब ने तो उजाड़ने में कोई क़सर न छोड़ी।"

झगड़ू साहू जीतनसिंह को ख़ुश रखना ज़रूर चाहते थे, पर साथ ही चौधरी को भी नाखुश करना मंज़ूर न था। यदि सूद-दर-सूद छोड़कर मूल तथा ब्याज सहज में वसूल हो जाए, तो उन्हें चौधरी पर मुफ़्त का एहसान लादने में कोई आपत्ति न थी। यदि चौधरी के अफ़सरों की जान-पहचान के कारण साहूजी का टैक्स से गला छूट जाए, जो अनेकों उपाय करने, अहलकारों की मुट्ठी गर्म करने पर भी नित्य प्रति उनकी तोंद की तरह बढ़ता ही जा रहा था, तो क्या पूछना! बोले—"क्या कहें चौधरीजी, ख़र्च के मारे आजकल हम भी तबाह है। लेहने वसूल नहीं होते। टैक्स का रुपया देना पड़ा। हाथ बिलकुल ख़ाली हो गया। तुम्हें कितना रुपया चाहिए?"

चौधरी ने कहा—सौ रुपए की डिगरी है। ख़र्च-बर्च मिलाकर दो सौ के लगभग समझो।"

झगड़ू अब अपने दाँव खेलने लगे। पूछा—"तुम्हारे लड़कों ने तुम्हारी कुछ भी मदद न की। वह सब भी तो कुछ-न-कुछ कमाते ही हैं?"

साहूजी का यह निशाना ठीक पड़ा। लड़कों की लापरवाही से चौधरी के मन में जो कुत्सित भाव भरे थे, वह सजीव हो गए। बोला—"भाई, लड़के किसी काम के होते, तो यह दिन ही क्यों देखना पड़ता? उन्हें तो अपने भोग-विलास से मतलब। घर-गृहस्थी का बोझ तो मेरे सिर पर है। मैं इसे जैसे चाहूँ, सँभालूँ। उनसे कुछ सरोकार नहीं, मरते दम भी गला नहीं छूटता। मरूँगा तो सब खाल में भूसा भराकर रख छोड़ेंगे। गृह कारज नाना जंजाला।"

झगड़ू ने दूसरा तीर मारा—"क्या बहुओं से भी कुछ न बन पड़ा।"

चौधरी ने उत्तर दिया—"बहू-बेटे सब अपनी-अपनी मौज में मस्त हैं। मैं तीन दिन तक द्वार पर बिना अन्न-जल के पड़ा था, किसी ने बात भी नहीं पूछी। कहाँ की सलाह, कहाँ की बातचीत। बहुओं के पास रुपए न हों, पर गहने तो हैं और वे भी मेरे बनवाए हुए। इस दुर्दिन के समय यदि दो-दो थान उतार देतीं, तो क्या मैं छुड़ा न देता? सदा यही दिन थोड़े ही रहेंगे।"

झगड़ू समझ गए कि यह महज ज़बान का सौदा है और वह ज़बान का सौदा भूलकर भी न करते थे। बोले—"तुम्हारे घर के लोग भी अनूठे हैं। क्या इतना भी नहीं जानते कि बूढ़ा रुपए कहाँ से लाएगा? अब समय बदल गया या तो कुछ जायदाद लिखो या गहने गिरों रखो, तब जाकर कहीं रुपया मिले। इसके बिना रुपए कहाँ? इसमें भी जायदाद में सैकड़ों बखेड़े पड़े हैं। सुभीता गिरों रखने में ही है। हाँ, तो जब घरवालों को इसकी कोई फ़िक्र नहीं, तो तुम क्यों व्यर्थ जान देते हो? यही न होगा कि लोग हँसेंगे। यह लाज कहाँ तक निबाहोगे?"

चौधरी ने अत्यंत विनीत होकर कहा—"साहजी, यह लाज तो मारे डालती है। तुमसे क्या छिपा है? एक वह दिन था कि हमारे दादा-बाबा महाराज की सवारी के साथ चलते थे और अब एक दिन यह है कि घर की दीवार तक बिकने की नौबत आ गई है। कहीं मुँह दिखाने को भी जी नहीं चाहता। यह लो गहनों की पोटली। यदि लोकलाज न होती, तो इसे लेकर कभी यहाँ न आता, परंतु यह अधर्म इसी लाज के निबाहने के कारण करना पड़ा है।"

झगड़ू साहू ने आश्चर्य में होकर पूछा—"यह गहने किसके हैं।"

चौधरी ने सिर झुकाकर बड़ी कठिनता से कहा—"मेरी बेटी गंगाजली के।"

झगड़ू साहू स्तंभित हो गए। बोले—"अरे! राम-राम!"

चौधरी ने कातर स्वर में कहा—"डूब मरने को जी चाहता है।"

झगड़ू ने बड़ी धार्मिकता के साथ स्थिर होकर कहा—"शास्त्र में बेटी के गाँव का पेड़ देखना मना है।"

चौधरी ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर करुण स्वर में कहा—"न-जाने नारायण कब मौत देंगे। भाईजी! तीन लड़कियाँ ब्याहीं। कभी भूलकर भी उनके द्वार का मुँह नहीं देखा। परमात्मा ने अब तक तो टेक निबाही है, पर अब न जाने मिट्टी की क्या दुर्दशा होनेवाली है।"

झगड़ू साहू 'लेखा जौ-जौ, बख़्शीश सौ-सौ' के सिद्धांत पर चलते थे। सूद की एक कौड़ी भी छोड़ना उनके लिए हराम था। यदि महीने का एक दिन भी लग जाता, तो पूरे महीने का सूद वसूल कर लेते, परंतु नवरात्र में नित्य दुर्गापाठ करवाते थे। पितृपक्ष में रोज़ ब्राह्मणों को सीधा बाँटते थे। बनियों की धर्म्म में बड़ी निष्ठा होती है। झगड़ू साहू के द्वार परसाल में एक बार भागवत पाठ अवश्य होता। यदि कोई दीन ब्राह्मण लड़की ब्याहने के लिए उनके सामने हाथ पसारता, तो वह ख़ाली हाथ न

लौटता, भीख माँगनेवाले ब्राह्मणों को चाहे वह कितने ही संडे-मुसंडे हों, उनके दरवाज़े पर फटकार नहीं सुननी पड़ती थी। उनके धर्मशास्त्र में कन्या के गाँव के कुएँ का पानी पीने से प्यासा मर जाना अच्छा था। वह स्वयं इस सिद्धांत के भक्त थे और इस सिद्धांत के अन्य पक्षपाती उनके लिए महामान्य देवता थे। वे पिघल गए; मन में सोचा, यह मनुष्य तो कभी ओछे विचारों को मन में नहीं लाया। निर्दय काल की ठोकर से अधर्म मार्ग पर उतर आया है, तो उसके धर्म्म की रक्षा करना हमारा कर्तव्य, धर्म्म है। यह विचार मन में आते ही झगड़ू साहू गद्दी से मसनद के सहारे उठ बैठे और दृढ़ स्वर से कहा—"वही परमात्मा जिसने अब तक तुम्हारी टेक निबाही है, अब भी निबाहेगा। लड़की के गहने लड़की को दे दो। लड़की जैसी तुम्हारी है, वैसी ही मेरी भी है। यह लो रुपए, आज काम चलाओ। जब हाथ में रुपए आ जाएँ, दे देना।"

चौधरी पर इस सहानुभूति का गहरा असर पड़ा। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। उसे अपने भावों की धुन में कृष्ण भगवान् की मोहिनी मूर्ति सामने विराजमान दिखाई दी। झगड़ू जो सारे गाँव में बदनाम था, जिसकी उसने खुद कई बार हाकिमों से शिकायत की थी, आज साक्षात् देवता जान पड़ता था। रुँधे हुए कंठ से गद्‌गद हो बोला—"झगड़ू! तुमने इस समय मेरी बात, मेरी लाज, मेरा धर्म, कहाँ तक कहूँ, मेरा सब-कुछ रख लिया। मेरी डूबती नाव पार लगा दी। कृष्ण मुरारी तुम्हारे इस उपकार का फल देंगे और मैं तो तुम्हारा गुण जब तक जीऊँगा, गाता रहूँगा।"

('ज़माना' उर्दू मासिक पत्रिका, नवंबर, 1915
('लक्ष्मी', गया, अक्टूबर, 1918)
('प्रेम-पूर्णिमा', हिंदी कहानी-संग्रह, 1918 से प्रस्तुत)
('मानसरोवर'-8, 1950)

सौत

1

पंडित देवदत्त का विवाह हुए बहुत दिन हुए पर उनके कोई संतान न हुई। जब तक उनके माँ-बाप जीवित थे, तब तक वे उनसे सदा दूसरा विवाह कर लेने के लिए आग्रह किया करते थे पर पंडितजी कभी इस पर राज़ी न हुए। उन्हें अपनी पत्नी गोदावरी से अटल प्रेम था। संतान से होने वाले सुख के निमित्त वे अपना वर्तमान—पारिवारिक सुख नष्ट न करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे कुछ नए विचार के मनुष्य थे। वे कहा करते थे कि संतान होने से माँ-बाप की ज़िम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं। जब तक मनुष्य में यह सामर्थ्य न हो कि वह उसका भली प्रकार पालन-पोषण और शिक्षण आदि कर सके तब तक उसकी संतान से देश, जाति ओर निज का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। पहले तो कभी-कभी बालकों को हँसते-खेलते देखकर उनके हृदय पर चोट भी लगती थी, परंतु अब अपने अनेक देश-भाइयों की तरह वे भी शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे थे। अब क़िस्से-कहानियों के बदले धार्मिक ग्रंथों से उनका अधिक मनोरंजन होता था। अब संतान का ख़्याल करते ही उन्हें भय-सा लगता था।

पर गोदावरी इतना जल्द निराश होने वाली न थी। पहले तो वह देवी-देवता, गंडे-ताबीज़ और यंत्र-मंत्र आदि की शरण लेती रही, परंतु जब उसने देखा कि ये औषधियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब वह एक महौषधि की चिंता में लगी। यह महौषधि काया-कल्प से कम न थी। उसने महीनों, बरसों, इसी चिंतासागर में गोते लगाते काटे। उसने दिल को बहुत समझाया; परंतु मन में जो बात समा गई थी वह किसी तरह न निकली। उसे बड़ा भारी आत्मत्याग करना पड़ेगा। शायद पति-प्रेम के सदृश अनमोल रत्न भी उसके हाथ से निकल जाए पर क्या ऐसा हो सकता है? पंद्रह वर्ष तक लगातार जिस प्रेम के वृक्ष की उसने सेवा की है क्या यह हवा का एक झोंका भी न सह सकेगा?

गोदावरी ने अंत में अपनी प्रबल चेष्टा के आगे सिर झुका ही दिया। अब सौत का शुभागमन करने के लिए वह तैयार हो गई।

2

पंडित देवदत्त गोदावरी का यह प्रस्ताव सुनकर स्तम्भित हो गए। उन्होंने अनुमान किया कि या तो यह मेरे प्रेम की परीक्षा कर रही है या मेरा मन लेना चाहती है। उन्होंने उसकी बात हँस कर टाल दी पर जब गोदावरी ने गंभीर भाव से कहा—"तुम इसे हँसी मत समझो। मैं अपने हृदय से कहती हूँ कि संतान का मुँह देखने के लिए मैं सौत से छाती पर मूँग दलवाने के लिए भी तैयार हूँ"—तब तो उनका संदेह जाता रहा। इतने ऊँचे और पवित्र भाव से भरी हुई गोदावरी को उन्होंने गले से लिपटा लिया। वे बोले—"मुझसे यह न होगा। मुझे संतान की अभिलाषा नहीं।"

गोदावरी ने ज़ोर देकर कहा—"तुमको न हो, मुझे तो है। अगर अपनी ख़ातिर से नहीं तो तुम्हें मेरी ख़ातिर से यह काम करना ही पड़ेगा।"

पंडितजी सरल स्वभाव के मनुष्य थे। हामी तो उन्होंने न भरी पर बार-बार कहने से कुछ-कुछ राज़ी वे अवश्य हो गए। उस तरफ़ से इसी की देर थी। पंडितजी को कुछ भी परिश्रम न करना पड़ा। गोदावरी की कार्यकुशलता ने सब काम उनके लिए सुलभ कर दिया। उसने इस काम के लिए अपने पास से केवल रुपए ही नहीं निकाले, किंतु अपने गहने और कपड़े भी अर्पण कर दिए। लोक-निंदा का भय इस मार्ग में सबसे बड़ा काँटा था। देवदत्त तो मन में विचार करने लगे कि जब मैं मौर सजा कर चलूँगा तब लोग मुझे क्या कहेंगे। मेरे दफ़्तर के मित्र मेरी हँसी उड़ाएँगे और मुसकराते हुए कटाक्षों से मेरी ओर देखेंगे। उनके ये कटाक्ष छुरी से भी ज़्यादा तेज़ होंगे। उस समय मैं क्या करूँगा, पर गोदावरी ने अपने गाँव में जाकर इस कार्य्य का आरंभ कर दिया और इसे निर्विघ्न समाप्त भी कर डाला। नई बहू घर में आ गई। उस समय गोदावरी ऐसी प्रसन्न मालूम हुई, मानो वह बेटे का ब्याह कर लाई हो। वह ख़ूब गाती-बजाती रही। उसे क्या मालूम था कि शीघ्र ही उसे इस गाने के बदले रोना पड़ेगा।

3

कई मास बीत गए। गोदावरी अपनी सौत पर उसी तरह शासन करती थी, मानो वह उसकी सास है। तथापि वह यह बात कभी न भूलती थी कि मैं वास्तव में उसकी सास नहीं। उधर गोमती को भी अपनी स्थिति का पूरा ख़याल रहता था। इसी कारण सास के शासन की तरह कठोर न रहने पर भी गोदावरी का शासन उसे अप्रिय प्रतीत होता था। उसे अपनी छोटी-मोटी ज़रूरतों के लिए भी गोदावरी से कहते संकोच होता था।

कुछ दिनों बाद गोदावरी के स्वभाव में एक विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह पंडितजी को घर में आते-जाते बड़ी तीव्र दृष्टि से देखने लगी। उसकी स्वाभाविक

गंभीरता अब मानो लोप-सी हो गई। ज़रा-सी बात भी उसके पेट में नहीं पचती। जब पंडितजी दफ़्तर से आते हैं, तब गोदावरी उनके पास घंटो बैठी गोमती का वृत्तांत सुनाया करती है। इस वृत्तांत-कथन में बहुधा ऐसी छोटी-छोटी बातें भी होती थीं कि जब कथा समाप्त होती तब पंडितजी के हृदय से बोझ-सा उतर जाता। गोदावरी क्यों इतनी मृदुभाषिणी हो गई थी, इसका कारण समझना मुश्किल है। शायद अब वह गोमती से डरती थी। उसके सौंदर्य से, उसके यौवन से, उसके लज्जायुक्त नेत्रों से शायद वह अपने को पराभूत समझती है। बाँध को तोड़कर अब वह पानी की धारा को मिट्टी के ढेलों से रोकना चाहती है!

एक दिन गोदावरी ने गोमती से मीठे चावल पकाने को कहा। शायद वह रक्षाबंधन का दिन था। गोमती ने कहा–"शक्कर नहीं है।" गोदावरी यह सुनते ही विस्मित हो उठी। इतनी शक्कर इतनी जल्दी कैसे उठ गई! जिसे छाती फाड़कर कमाना पड़ता है उसे अखरता है। खाने वाले क्या जानें?

जब पंडित जी दफ़्तर से आए, तब यह ज़रा-सी बात बड़ा विस्तृत रूप धारण करके उनके कानों में पहुँची। थोड़ी देर के लिए पंडितजी के दिल में भी यह शंका हुई कि गोमती को शायद भस्मक रोग तो नहीं हो गया।

ऐसी ही घटना एक बार फिर हुई। पंडितजी को बवासीर की शिकायत थी। लाल मिर्च वे बिलकुल न खाते थे। गोदावरी जब रसोई बनाती थी तब वह लाल मिर्च रसोई में लाती ही न थी। गोमती ने एक दिन दाल में मसाले के साथ लाल मिर्च भी थोड़ी-सी डाल दी। पंडितजी ने दाल कम खाई पर गोदावरी गोमती के पीछे पड़ गई। ऐंठ कर वह उससे बोली–"ऐसी जीभ जल क्यों नहीं जाती!"

4

पंडितजी बड़े सीधे आदमी थे ही। दफ़्तर गए, खाया, पड़ कर सो रहे। वे एक साप्ताहिक पत्र मँगाते थे। उसे कभी-कभी महीनों खोलने की नौबत न आती थी। जिस काम में ज़रा भी कष्ट या परिश्रम होता उससे वे कोसों दूर भागते थे। कभी-कभी उनके दफ़्तर में थियेटर के 'पास' मुफ़्त मिला करते थे पर पंडितजी उनसे कभी काम न लेते, और ही लोग उनसे उन्हें माँग ले जाया करते। रामलीला या कोई मेला तो उन्होंने शायद नौकरी करने के बाद फिर कभी देखा ही नहीं। गोदावरी उनकी प्रकृति का परिचय अच्छी तरह पा चुकी थी। पंडितजी भी प्रत्येक विषय में गोदावरी के ही मतानुसार चलने में अपनी कुशल समझते थे।

पर, रुई-सी मुलायम वस्तु भी दबकर कठोर हो जाती है। पंडितजी को यह आठों पहर की चहचह असह्य-सी प्रतीत होती। कभी-कभी वे मन में झुंझलाने भी

लगते। इच्छा शक्ति, जो इतने दिनों तक बेकार पड़े रहने से निर्बल-सी हो गई थी, अब कुछ सजीव-सी होने लगी थी।

पंडितजी यह मानते थे कि गोदावरी ने सौत को घर में लाने में बड़ा भारी त्याग किया है। उसका यह त्याग अलौकिक कहा जा सकता है, परंतु उसके त्याग का भार जो कुछ है मुझ पर है। गोमती पर उसका क्या एहसान! मेरे कारण उस पर क्यों ऐसी क्रूरताएँ की जाती हैं। यहाँ उसे ऐसा कौन-सा सुख है जिसके लिए वह फटकार पर फटकार सहे? पति मिला है वह बूढ़ा और सदा रोगी। घर मिला है, वह ऐसा कि अगर आज नौकरी छूट जाए तो कल चूल्हा न जले। इस दशा में गोदावरी का यह स्नेहरहित बर्ताव उन्हें बहुत अनुचित मालूम होता।

गोदावरी की दृष्टि इतनी स्थूल न थी कि उसे पंडितजी के मन के भाव नज़र न आएँ। उनके मन में जो विचार पैदा होते, वे सब गोदावरी को उनके मुख पर अंकित से दिखाई पड़ते। यह जानकारी उसके हृदय में एक ओर गोमती के प्रति ईर्ष्या की प्रचंड अग्नि दहका देती, दूसरी ओर पंडित देवदत्त पर निठुरता और स्वार्थप्रियता का दोषारोपण कराती। फल यह हुआ कि मनोमालिन्य दिन-दिन बढ़ता ही गया।

5

गोदावरी ने धीरे-धीरे पंडितजी से गोमती की बातचीत करनी छोड़ दी, मानो उसके निकट गोमती घर में थी ही नहीं। न उसके खाने-पीने की वह सुधि लेती है, न कपड़े लत्ते की। एक बार कई दिनों तक उसे जलपान के लिए भी कुछ न मिला। पंडितजी आलसी जीव तो थे ही। वे इन सब अत्याचारों को देखा करते, पर अपने शांति-सागर में घोर उपद्रव मच जाने के भय से किसी से कुछ भी न कहते। तथापि, इस पिछले अन्याय ने उनकी महती सहन-शक्ति को भी मथ डाला। एक दिन उन्होंने गोदावरी से डरते-डरते कहा—"क्या आज कल घर में जलपान के लिए मिठाई-विठाई नहीं आती?"

गोदावरी ने क्रुद्ध होकर जवाब दिया—"तुम लाते ही नहीं तो आए कहाँ से! मेरे लिए कोई नौकर बैठा है?"

देवदत्त को गोदावरी के ये कठोर वचन तीर से लगे। आज तक गोदावरी ने उनसे ऐसी रोषपूर्ण बात कभी न की थी। वे बोले—"धीरे बोलो; झुँझलाने की तो मैंने कोई बात ही नहीं की।"

गोदावरी ने आँखें नीची करके कहा—"मुझे तो जैसे आता है, वैसे ही बोलती हूँ। दूसरों की-सी मधुर बोली कहाँ से लाऊँ?"

देवदत्त ने ज़रा गरम होकर कहा—"आज-कल मुझे तुम्हारे मिज़ाज का कुछ रंग ही नहीं मालूम होता। बात-बात पर तुम उलझती हो।"

गोदावरी का चेहरा क्रोधाग्नि से लाल हो गया। वह बैठी थी; खड़ी हो गई। होंठ उसके फड़कने लगे। वह बोली—"मेरी कोई बात अब तुमको क्यों अच्छी लगेगी? अब तो मैं सिर से पैर तक दोषों से भरी हूँ। अब और लोग तुम्हारे मन का काम करेंगे। मुझसे नहीं हो सकता। यह लो, संदूक की कुंजी। अपने रुपए-पैसे सँभाल लो। यह रोज़-रोज़ की झंझट मेरे मान की नहीं। जब तक निभा, निभाया। अब नहीं निभ सकता।"

पंडित देवदत्त मानो मूर्च्छित-से हो गए। जिस शांति-भंग का उन्हें भय था, उसने अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके उनके घर में प्रवेश किया। वे कुछ भी न बोल सके। इस समय उनके अधिक बोलने से बात बढ़ जाने का भय था। वे बाहर चले आए और सोचने लगे कि मैंने गोदावरी के साथ कौन-सा अनुचित व्यवहार किया है। उनके ध्यान में न आया कि गोदावरी के हाथ से निकलकर घर का प्रबंध कैसे हो सकेगा। इस थोड़ी-सी आमदनी में वह न जाने किस प्रकार काम चलाती थी। क्या-क्या उपाय वह करती थी। अब न जाने, नारायण कैसे पार लगावेंगे। उसे मनाना पड़ेगा। और हो ही क्या सकता है? गोमती भला क्या कर सकती है? सारा बोझ मेरे ही सिर पड़ेगा। मानेगी तो, पर मुश्किल से।

परंतु पंडितजी की ये शुभकामनाएँ निष्फल हुईं। संदूक़ की वह कुंजी विषैली नागिन की तरह वहीं आँगन में ज्यों की त्यों, तीन दिन तक पड़ी रही। किसी को उसके निकट जाने का साहस न हुआ।

चौथे दिन पंडितजी ने मानो जान पर खेल कर उस कुंजी को उठा लिया। उस समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो किसी ने उनके सिर पर पहाड़ उठा कर रख दिया। आलसी लोगों को अपने नियमित मार्ग से तिल-भर भी हटना बड़ा कठिन मालूम होता है। यद्यपि पंडितजी जानते थे कि मैं अपने दफ़्तर के कारण इस कार्य्य को सँभालने में असमर्थ हूँ, तथापि उनसे इतनी ढिठाई न हो सकी कि वह कुंजी वे गोमती को दे दें पर यह केवल दिखावा ही भर था। कुंजी उन्हीं के पास रहती थी; काम सब गोमती को करना पड़ता था। इस प्रकार गृहस्थी के शासन का अंतिम साधन भी गोदावरी के हाथ से निकल गया। गृहिणी के नाम के साथ जो मर्य्यादा और जो सम्मान है, वह भी गोदावरी के पास से उसी कुंजी के साथ चला गया। देखते-देखते घर की महरी और पड़ोस की स्त्रियों के बरताव में भी बहुत अंतर पड़ गया। गोदावरी अब पदच्युत रानी की तरह थी। उसका अधिकार अब केवल दूसरों की सहानुभूति पर ही रह गया था।

6

गृहस्थी के काम-काज में परिवर्तन होते ही गोदावरी के स्वभाव में भी शोकजनक परिवर्तन हो गया। ईर्ष्या मन में रहने वाली वस्तु नहीं। आठों पहर पास-पड़ोस के घरों

में यही चर्चा होने लगी—देखो तो दुनिया कैसी मतलब की है। बेचारी ने लड़-झगड़कर ब्याह कराया; जान-बूझकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। यहाँ तक कि अपने गहने, कपड़े तक उतार दिए, पर अब रोते-रोते आँचल भीगता है। सौत तो सौत ही है, पति ने भी उसे आँखों से गिरा दिया। बस, अब लौंडी की तरह घर में पड़ी-पड़ी पेट जिलाया करे। यह भी कोई जीना है।

गोदावरी ये करुणसूचक बातें सुनती। इससे उसकी ईर्ष्याग्नि और भी प्रबल होती जाती। उसे इतना न सूझता था कि मौखिक संवेदनाएँ अधिकांश उस मनोविकार से पैदा हुई हैं, जिससे मनुष्य को दूसरों की हानि और दुःख पर हँसने में विशेष आनंद आता है।

गोदावरी को जिस बात का पूर्ण विश्वास और पंडितजी को जिसका बड़ा भय था, वह न हुई। वह घर के काम-काज में कोई विघ्न-बाधा, कोई रुकावट न पड़ी। हाँ, अनुभव न होने के कारण पंडितजी का प्रबंध गोदावरी के प्रबंध जैसा अच्छा न था। कुछ ख़र्च ज़्यादा पड़ जाता था पर काम भली प्रकार चल जाता था। हाँ, गोदावरी को गोमती के सभी काम दोषपूर्ण दिखाई देते थे। ईर्ष्या में अग्नि है, परंतु अग्नि का गुण उसमें नहीं। वह हृदय को फैलाने के बदले उसे और भी संकीर्ण कर देती है। अब घर में कुछ हानि हो जाने से गोदावरी को दुःख के बदले आनंद होता है। बरसात के दिन थे। कई दिन तक सूर्य्य-नारायण के दर्शन न हुए। संदूक में रक्खे हुए कपड़ों में फफूँदी लग गई। तेल के अचार बिगड़ गए। गोमती को उन्हें धूप में रखने की सुधि न रही। गोदावरी को यह सब देखकर रत्ती-भर भी दुःख न हुआ। हाँ, दो-चार जली-कटी सुनाने का अवसर उसे अवश्य मिल गया—"मालकिन बनना ही आता है कि मालकिन का काम करना भी।"

पंडित देवदत्त की प्रकृति में भी अब एक नया रंग नज़र आने लगा। जब तक गोदावरी अपनी कार्य्य-परायणता से घर का सारा बोझ सँभाले थी, तब तक उनको किसी चीज़ की कमी नहीं खली। यहाँ तक कि शाक-भाजी के लिए भी उन्हें बाज़ार नहीं जाना पड़ा, पर अब गोदावरी उन्हें दिन में कई बार बाज़ार दौड़ते देखती है। गृहस्थी का प्रबंध ठीक न रहने से बहुधा ज़रूरी चीज़ों के लिए उन्हें बाज़ार ऐन वक़्त पर जाना पड़ता है। गोदावरी यह कौतुक देखती और सुना-सुनाकर कहती—"यही महाराज हैं कि एक तिनका उठाने के लिए भी न उठते थे। अब देखती हूँ दिन में दस दफ़े बाज़ार में खड़े रहते हैं। कभी यह कहते अब मैं इन्हें नहीं सुनती कि मेरे लिखने-पढ़ने में हर्ज होगा।"

गोदावरी को इस बात का एक बार परिचय मिल चुका था कि पंडितजी बाज़ार-हाट के काम में कुशल नहीं हैं। इसीलिए जब उसे कपड़ों की ज़रूरत होती, तब वह अपने पड़ोस के एक बूढ़े लाला साहब से मँगवाया करती थी। पंडितजी को यह बात भूल-सी गई थी कि गोदावरी को साड़ियों की भी ज़रूरत पड़ती है। उनके सिर

से तो जितना बोझ कोई हटा दे, उतना ही अच्छा था। ख़ुद भी वे वही कपड़े पहनते थे जो गोदावरी मँगा कर उन्हें दे देती थी। पंडितजी को नए फ़ैशन और नए नमूनों से कोई प्रयोजन न था। पर, अब कपड़ों के लिए भी उन्हीं को बाज़ार जाना पड़ता है। एक बार गोमती के पास साड़ियाँ न थीं। पंडितजी बाज़ार गए तो एक बहुत अच्छा-सा जोड़ा उसके लिए ले आए। बज़ाज़ ने मनमाने दाम लिए। उधर सौदा लेने में पंडितजी ज़रा भी आगा-पीछा न करते थे। गोमती ने वह जोड़ा गोदावरी को दिखाया। गोदावरी ने देखा और मुँह फेरकर रुखाई से बोली–"भला, तुमने उन्हें कपड़े लाना तो सिखा दिया। मुझे तो सोलह वर्ष बीत गए। उनके हाथ का लाया हुआ कपड़ा मुझे स्वप्न में भी पहनना नसीब नहीं हुआ।"

ऐसी घटनाएँ गोदावरी की ईर्ष्याग्नि को और भी प्रज्चलित कर देती थीं। जब तक उसे यह विश्वास था कि पंडितजी स्वभाव ही से रूखे हैं, तब तक उसे संतोष था, परंतु अब उनकी ये नई-नई तरंगें देखकर उसे मालूम हुआ कि जिस प्रीति को मैं सैकड़ों यत्न करके भी न पा सकी उसे इस रमणी ने केवल अपने यौवन से जीत लिया। उसे अब निश्चय हुआ कि मैं जिसे सच्चा प्रेम समझ रही थी वह वास्तव में कपटपूर्ण था। वह निरा स्वार्थ था।

7

दैवयोग से इन्हीं दिनों गोमती बीमार पड़ी। उसे उठने-बैठने की भी शक्ति न रही। गोदावरी रसोई बनाने लगी, पर उसे इसका निश्चय नहीं कि गोमती वास्तव में बीमार है। उसे यही ख़याल था कि मुझ से खाना पकवाने के लिए ही दोनों प्राणियों ने यह स्वांग रचा है। पड़ोस की स्त्रियों से वह कहती कि लौंडी बनने में इतनी ही क़सर थी। वह भी अब पूरी हो गई।

पंडितजी को आजकल ख़ाना खाते वक़्त भागा-भाग सी पड़ जाती है। वे न जाने क्यों गोदावरी से एकांत में बातचीत करते डरते हैं। न मालूम कैसी कठोर और हृदय-विदारक बातें वह सुनाने लगे। इसीलिए ख़ाना खाते वक़्त वे डरते रहते थे, कहीं उस भयंकर समय का आगमन न हो जाए! गोदावरी अपने तीव्र नेत्रों से उनके मन का बैर-भाव ताड़ जाती थी, पर मन-ही-मन ऐंठकर रह जाती थी।

एक दिन उससे न रहा गया। वह बोली–"क्या मुझ से बोलने की भी मनाही कर दी गई है? देखती हूँ, कहीं तो रात-रात भर बातों का तार नहीं टूटता, पर मेरे सामने मुँह न खोलने की भी क़सम-सी खाई है। घर का रंग-ढंग तो देखते हो न? अब तो सब काम तुम्हारे इच्छानुसार चल रहा है न?"

पंडितजी ने सिर नीचा किए हुए उत्तर दिया–"उँह! जैसे चलता है, वैसे चलता हैं, अब उस फ़िक्र में क्या अपनी जान दे दूँ? जब तुम यही चाहती हो कि घर मिट्टी में मिल जाए, तब फिर मेरा क्या वश है।"

इस पर गोदावरी ने बड़े कठोर वचन कहे। बात बढ़ गई। पंडितजी चौके पर से उठ आए। गोदावरी ने क़सम दिलाकर उन्हें बिठाना चाहा, पर वे वहाँ क्षण-भर भी न रुके, तब उसने भी रसोई उठा दी। सारे घर को उपवास करना पड़ा।

गोमती में एक विचित्रता यह थी कि वह कड़ी-से-कड़ी बात सहन कर सकती थी, पर, भूख सहन करना उसके लिए बड़ा कठिन था। इसीलिए वह कोई व्रत भी न रखती थी। हाँ, कहने-सुनने से जन्माष्टमी रख लेती थी, पर आजकल बीमारी के कारण उसे और भी भूख लगती थी। जब उसने देखा कि दोपहर होने को आई और भोजन मिलने के कोई लक्षण नहीं, तब विवश होकर बाज़ार से मिठाई मँगवाई। संभव है, उसने गोदावरी को जलाने ही के लिए यह खेल खेला हो, क्योंकि कोई भी एक वक़्त ख़ाना न खाने से मर नहीं जाता। गोदावरी के सिर से पैर तक आग लग गई। उसने भी तुरंत मिठाइयाँ मँगवाईं। कई वर्ष के बाद आज उसने पेट भर मिठाइयाँ खाईं। ये सब ईर्ष्या के कौतुक हैं!

जो गोदावरी दोपहर के पहले मुँह में पानी न डालती थी, वही अब प्रातःकाल ही कुछ जल-पान किए बिना नहीं रह सकती। सिर में हमेशा मीठा तेल डालती थी; पर अब मीठे तेल से उसके सिर में पीड़ा होने लगी थी। पान खाने का उसे नया व्यसन लग गया। ईर्ष्या ने उसे नई-नवेली बहू बना दिया।

जन्माष्टमी का शुभ दिन आया। पंडितजी का स्वाभाविक आलस्य इन दो-तीन दिनों के लिए ग़ायब हो जाता था। वे बड़े उत्साह से झाँकी बनाने में लग जाते थे। गोदावरी यह व्रत बिना जल के रखती थी और पंडितजी तो कृष्ण के उपासक ही थे। अब उनके अनुरोध से गोमती ने भी निर्जल व्रत रखने का साहस किया, पर उसे बड़ा आश्चर्य आया जब महरी ने आकर उससे कहा—"बड़ी बहू निर्जल न रहेंगी, उनके लिए फलाहार मँगा दो।"

संध्या-समय गोदावरी ने मान-मंदिर जाने के लिए इक्के की फ़रमाइश की। गोमती को यह फ़रमाइश बुरी मालूम हुई। आज के दिन इक्कों का किराया बहुत बढ़ जाता था। मान-मंदिर कुछ दूर भी नहीं था। इससे वह चिढ़कर बोली—"व्यर्थ रुपया क्यों फेंका जाए? मंदिर कौन बड़ी दूर है। पाँव-पाँव क्यों नहीं चली जातीं? हुक्म चला देना तो सहज है। अखरता तो उसे है जो बैल की तरह कमाता है!"

तीन साल पहले गोमती ने इसी तरह की बातें गोदावरी के मुँह से सुनी थीं। आज गोदावरी को ही गोमती के मुँह से वैसी ही बातें सुननी पड़ीं। समय की गति!

इन दिनों गोदावरी बड़े उदासीन भाव से खाना बनाती थी। पंडितजी के पथ्यापथ्य के विषय में भी अब उसे पहले की सी चिंता न थी। एक दिन उसने महरी से कहा कि अंदाज़ से मसाले निकाल कर रख ले। मसाले दाल में पड़े तो दाल ज़रा अधिक तेज़ हो गई। मारे भय के पंडित जी से वह न खाई गई। अन्य आलसी मनुष्यों के सदृश चटपटी वस्तुएँ उन्हें भी बहुत प्रिय थीं, परंतु वे रोग से हारे हुए थे। गोमती

ने जब यह सुना तो भौंहे बढ़ाकर बोली—"क्या बुढ़ापे में ज़बान गज़ भर की हो गई है?"

कुछ इसी तरह के कटु वचन एक बार गोदावरी ने भी कहे थे। आज उसकी बारी सुनने की थी।

8

आज गोदावरी गंगा से गले मिलने आई है। तीन साल हुए वह वर और वधू को लेकर गंगा जी को पुष्प और दूध चढ़ाने गई थी। आज वह अपने प्राण समर्पण करने आई है। आज वह गंगा जी की आनंदमयी लहरों में विश्राम करना चाहती है।

गोदावरी को अब उस घर में एक-एक क्षण रहना दुस्सह हो गया था। जिस घर में बहू बन कर रही उसी में चेरी बन कर रहना उस जैसी सगर्वा स्त्री के लिए असंभव था।

अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठे देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है। उसे गंगाजी की शरण लेने के सिवा और कोई उपाय न सूझता था।

कई दिन हुए, उसके मुँह से बार-बार जान दे देने की धमकी सुन पंडितजी खिझला कर बोल उठे थे—"तुम किसी तरह मर भी तो जातीं।" गोदावरी उन विष-भरे शब्दों को अब तक न भूली थी। चुभने वाली बातें उसको कभी न भूलती थीं। आज गोमती ने भी वही बातें कहीं। यद्यपि उसने बहुत कुछ सहन करने के पीछे ये कठोर बातें कही थीं, तथापि गोदावरी को अपनी बातें तो भूल-सी गई थीं। केवल गोमती और पंडितजी के वाक्य उसके कानो में गूँज रहे थे। पंडित जी ने उसे डाँटा तक नहीं। मुझ पर ऐसा घोर अन्याय और वे मुँह तक न खोलें।

आज सब लोगों के सो जाने पर गोदावरी घर से बाहर निकली। आकाश में काली घटाएँ छाई हुई थीं। वर्षा की झड़ी लग रही थी। उसके नेत्रों से भी आँसू की धारा बह रही थी।

प्रेम का बंधन कितना कोमल है और कितना दृढ़ भी है! कोमल है अपमान के सामने; दृढ़ है वियोग के सामने। गोदावरी चौखट पर खड़ी घंटों रोती रही; कितनी ही पिछली बातें उसे याद आती थीं। हाँ! कभी यहाँ उसके लिए प्रेम भी था, मान भी था, जीवन का सुख भी था। शीघ्र ही पंडितजी के वे कठोर शब्द भी उसे याद आ गए। आँखों से फिर पानी की धारा बहने लगी। गोदावरी घर से चल खड़ी हुई।

इस समय यदि पंडित देवदत्त नंगे सिर, नंगे पाँव, पानी में भीगते, दौड़ते आते और गोदावरी के कंपित हाथों को पकड़कर अपने धड़कते हुए हृदय से उसे लगाकर

कहते—'प्रिये!' इससे अधिक और उनके मुँह से कुछ भी न निकलता, तो भी क्या गोदावरी अपने विचारों पर स्थिर रह सकती?

क्वार का महीना था। रात को गंगा की लहरों की गरज बड़ी भयानक मालूम होती थी। साथ ही जब बिजली तड़प जाती, तब उसकी उछलती हुई लहरें प्रकाश से उज्ज्वल हो जाती थीं, मानो प्रकाश उन्मत्त हाथी का रूप धारण करके किलोलें कर रहा था। जीवन-संग्राम का एक विशाल दृश्य आँखों के सामने आ रहा था।

गोदावरी के हृदय में भी इस समय विचार की अनेक लहरें बड़े वेग से उठतीं और आपस में टकरातीं, ऐंठती हुई लोप हो जाती थीं। कहाँ? अंधकार में।

क्या यह गरजने-उमड़ने वाली गंगा गोदावरी को शांति प्रदान कर सकती है? उसकी लहरों में सुधासम मधुर ध्वनि नहीं और न उनमें करुणा का विकास ही है। वह इस समय उद्दण्डता और निर्दयता की भीषण मूर्ति धारण किए हुए है।

गोदावरी किनारे बैठी क्या सोच रही थी, कौन कह सकता है? क्या अब भी उसे यह खटका नहीं लगा था कि पंडित देवदत्त आते न होंगे? प्रेम-बंधन कितना मज़बूत होता है!

उसी अंधकार में ईर्ष्या, निष्ठुरता और नैराश्य की सताई हुई वह अबला गंगा की गोद में गिर पड़ी! लहरें झपटीं और उसे निगल गईं!!!

9

सबेरा हुआ। गोदावरी घर में नहीं थी। उसकी चारपाई पर यह पत्र पड़ा हुआ था—

"स्वामी जी, संसार में सिवा आपके मेरा और कौन स्नेही था? मैंने अपना सर्वस्व आपके सुख की भेंट कर दिया। अब आपका सुख इसी में है कि मैं इस संसार से लोप हो जाऊँ। इसीलिए ये प्राण भी अब आपकी भेंट हैं। मुझसे जो कुछ अपराध हुए हों, क्षमा कीजिएगा। ईश्वर आपको सदा सुखी रखे।"पंडितजी इस पत्र को देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

गोमती रोने लगी पर क्या वे उसके विलाप के आँसू थे?

('सरस्वती' हिंदी मासिक पत्रिका, दिसंबर, 1915 से प्रस्तुत)
('सप्त-सरोज', हिंदी कहानी-संग्रह, 1917)
('मानसरोवर'-8, 1950)

परिशिष्ट

(क) प्रेमचंद की कहानियों की कालक्रमानुसार सूची
खंड एक : 1908-1915

(ख) कहानी-अनुक्रमणिका

(क) प्रेमचंद की कहानियों की कालक्रमानुसार सूची

खंड एक : 1908-1915

वर्ष : 1908

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रकाशन हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम	इश्के दुनिया और हुब्बे वतन	उर्दू	*ज़माना*, अप्रैल, 1908	*सोज़ेवतन*, 1961 *गुप्त-धन*-1, 1962	*सोज़ेवतन*, जून, 1908
2.	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	"	*सोज़ेवतन*, उर्दू कहानी संग्रह, जून, 1908	"	" "
3.	शेख़ मख़मूर	शेख़ मख़मूर	"	" "	"	" "
4.	यही मेरी मातृभूमि है	यही मेरा वतन है	"	" "	*प्रेम-प्रसून*, 1924 *मानसरोवर-6*, 1946 *सोज़ेवतन*, 1961 *गुप्त-धन*-1, 1962	" "
5.	शोक का पुरस्कार	सिला-ए-मातम	"	" "	*सोज़ेवतन*, 1961 *गुप्त-धन*-1, 1962	" "

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1910

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	पाप का अग्निकुंड	गुनाह का अगनकुंड ('आतिश कदा-ए-गुनाह' नाम से भी छपी)	उर्दू	*ज़माना*, मार्च, 1910 (लेखक का नाम छपा था-'अफ़साना-ए-कुहन')	*नव-निधि*, 1917; *मानसरोवर*-6, 1946	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914
2.	शाप	सैरेदरवेश	”	*ज़माना*, अप्रैल-जुलाई, 1910	*प्रेम-प्रसून*, 1924; *मानसरोवर*-6, 1946	*सैरेदरवेश*, 1914; *सोज़ेवतन व सैरेदरवेश*, 1929
3.	शिकार	शिकार	”	*ज़माना*, जून, 1910	*हंस*, जुलाई-अगस्त, 1931 *मानसरोवर*-1, 1936	चंदन, अक्टूबर, 1931; *आख़िरी तोहफ़ा*, मार्च, 1934
4.	रानी सारंधा	रानी सारंधा	”	*ज़माना*, अगस्त-सितंबर, 1910	*जैन हितैषी* पत्रिका, अगस्त, 1917 *नव-निधि*, 1917 *नवजीवन*, 1935 *मानसरोवर*-6, 1946	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914; *मेरे बेहतरीन अफ़साने*, 1933

अगले पृष्ठ पर जारी...

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
5.	नेकी	बेगर्ज़ मुहसिन	उर्दू	*अदीब*, सितंबर, 1910	*गुप्त-धन-1*, 1962	*प्रेम-पचीसी-1*, 1914; *देहात के अफ़साने*, 1939
6.	बड़े घर की बेटी	बड़े घर की बेटी	"	*ज़माना*, दिसंबर, 1910 (प्रेमचंद के नाम से प्रकाशित पहली कहानी)	*सप्त-सरोज*, जून, 1917; *प्रेम-द्वादशी*, 1926; *नारी जीवन की कहानियाँ*, 1938; *मानसरोवर-7*, 1947	*प्रेम-पचीसी-1*, 1914; *देहात के अफ़साने*, 1939

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1911

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	विक्रमादित्य का तेग़ा	विकरामादित्य का तेग़	उर्दू	*ज़माना*, जनवरी, 1911	*गुप्त-धन-1*, 1962	*प्रेम-पचीसी-1*, 1914
2.	करिश्मा-ए-इंतिकाम (अद्‌भुत प्रतिशोध)	करिश्मा-ए-इंतिकाम	”	*ज़माना*, फ़रवरी, 1911	*सारिका*, जुलाई-2, 1979; *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-1*, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियों*, 2005	-असंकलित-
3.	दोनों तरफ़ से	दोनों तरफ़ से	”	*ज़माना*, मार्च, 1911	*नया प्रतीक*, अक्टूबर, 1976; *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-1, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-

अगले पृष्ठ पर जारी...

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
4.	राजा हरदौल	राजा हरदौल	"	*ज़माना*, अप्रैल, 1911	*नव-निधि*, 1917; *मानसरोवर*-6, 1946	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914
5.	बड़ी बहन	बड़ी बहन	"	*अदीब*, जुलाई, 1911	*कादंबिनी*, जुलाई, 1980 *प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-1, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-
6.	आख़िरी मंज़िल	मंज़िलेमक़्सूद	उर्दू	*ज़माना*, अग.-सित., 1911	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
7.	ख़ौफ़ेरुसवाई (बदनामी का डर)	ख़ौफ़ेरुसवाई	"	*अदीब*, सितंबर, 1911	*प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-1, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-
8.	ग़रीब की हाय	आहेबेकस	"	*ज़माना*, अक्टूबर, 1911	*प्रेम-पूर्णिमा*, 1918; *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914; *देहात के अफ़साने*, 1939

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1912

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	क़हानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	आल्हा	आल्हा	उर्दू	*ज़माना*, जनवरी, 1912	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914
2.	ममता	मामता	"	*ज़माना*, फ़रवरी, 1912	*नव-निधि*, 1917; *सप्त-सुमन*, 1930; *मानसरोवर*-5, 1946	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914
3.	नसीहतों का दफ़्तर	आलिम बेअमल	"	*ज़माना*, मई-जून, 1912	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914
4.	कैफ़रे कर्दार (कर्म-दंड)	कैफ़रे कर्दार	"	*अदीब*, जुलाई, 1912	*प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-1, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-
5.	मनावन	मनावन	"	*ज़माना*, जुलाई, 1912	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
6.	धोखे की टट्टी	धोखे की टट्टी	"	*अदीब*, नवंबर, 1911	*प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*-1, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-
7.	राजहठ	राजहठ	"	*ज़माना*, दिसंबर, 1912	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-1, 1914

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1913

क्रम	*कहानी का हिंदी शीर्षक*	*कहानी का उर्दू शीर्षक*	*प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू*	*प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक*	*प्रथम संकलन हिंदी*	*प्रथम संकलन उर्दू*
1.	त्रिया चरित्र	तिरिया चरित्तर	उर्दू	*ज़माना*, जनवरी, 1913	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
2.	अमृत	मौत और ज़िंदगी ('अमरित' शीर्षक से भी प्रकाशित)	"	*ज़माना*, मार्च, 1913	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
3.	अमावस्या की रात्रि	अमावस की रात	"	*ज़माना*, अप्रैल, 1913	*नव-निधि*, 1917 *मानसरोवर*-6, 1946	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
4.	सगे लैला (लैला का कुत्ता)	सगे लैला	"	*अदीब*, अप्रैल, 1913	*प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य*, 1988 *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ*, 2005	-असंकलित-
5.	धर्मसंकट	निगाहेनाज़	"	*ज़माना*, मई, 1913	*प्रेम-पूर्णिमा*, 1918 *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920
6.	शंखनाद	बांगेसहर	"	*हमदर्द*, जून, 1913	*प्रभा*, फ़रवरी, 1915 *प्रेम-पूर्णिमा*, 1918 *मानसरोवर*-7, 1947	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920
7.	मिलाप	मिलाप	"	*ज़माना*, जून, 1913	*गुप्त-धन*-1, 1962	*ख़ाकेपरवाना*, 1928

अगले पृष्ठ पर जारी...

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
8.	आबेहयात (सुधा रस)	आबेहयात	"	हमदर्द, जून, 1913 सुबहे उम्मीद, मार्च, 1920	सारिका, 1-15 अक्टू., 1986 प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य, 1988 प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ, 2005	-असंकलित-
9.	दारू-ए-तल्ख़ (कड़वी सचाई)	दारू-ए-तल्ख़	"	हमदर्द, 17 जुलाई, 1913	प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य, 1988 प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ, 2005	-असंकलित-
10.	अँधेर	अंधेर	"	ज़माना, जुलाई, 1913	गुप्त-धन-1, 1962	प्रेम-पचीसी-2, 1918 देहात के अफ़साने, 1939
11.	सिर्फ़ एक आवाज़	सिर्फ़ एक आवाज़	"	ज़माना, अग.-सित., 1913	गुप्त-धन-1, 1962	प्रेम-पचीसी-2, 1918
12.	बाँका ज़मींदार	बाँका ज़मींदार	"	ज़माना, अक्टूबर, 1913	गुप्त-धन-1, 1962	प्रेम-पचीसी-2, 1918 देहात के अफ़साने, 1939
13.	नमक का दारोग़ा	नमक का दारोग़ा	"	हमदर्द, अक्टूबर, 1913	सप्त-सरोज, 1917 मानसरोवर-8, 1950	प्रेम-पचीसी-1, 1918

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1914

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	अनाथ लड़की	अनाथ लड़की	उर्दू	*ज़माना*, जून, 1914	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920
2.	ख़ून सफ़ेद	ख़ून सफ़ेद	"	*ज़माना*, जुलाई, 1914	*प्रेम-पूर्णिमा*, 1918 *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
3.	शिकारी राजकुमार	शिकारी राजकुमार	"	*ज़माना*, अगस्त, 1914	*प्रेम-पूर्णिमा*, 1918 *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
4.	-अप्रकाशित-	सौदा-ए-ख़ाम -अनुपलब्ध-	"	*हमदर्द*, अगस्त, 1914	-असंकलित-	-असंकलित-
5.	अपनी करनी	शामते आमाल ('ख़ाकेपरवाना' नाम से भी प्रकाशित)	"	*ज़माना*, सितंबर-अक्टूबर, 1914	*गुप्त-धन*-1, 1962	*ख़ाकेपरवाना*, 1928
6.	परीक्षा (हिंदी में प्रकाशित पहली कहानी)	हुस्ने इंतिख़ाब	हिंदी	*प्रताप*, अक्टूबर, 1914 (विजयदशमी अंक)	*सप्त-सरोज*, जून 1917 *मानसरोवर*-8, 1950 सा. *हिंदुस्तान*,11 फ़र., 1990	*अलअस्र*, दिसंबर, 1914 -असंकलित-
7.	पछतावा	पछतावा	उर्दू	*ज़माना*, नवंबर, 1914	*ज्ञान-शक्ति* पत्रिका, (तिथि अज्ञात), *नव-निधि*, 1917 *मानसरोवर*-6, 1946	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920 *देहात के अफ़साने*, 1939

अगले पृष्ठ पर जारी...

वर्ष : 1915

क्रम	कहानी का हिंदी शीर्षक	कहानी का उर्दू शीर्षक	प्रथम प्रका. हिंदी/उर्दू	प्रथम प्रकाशन पत्रिका/पुस्तक	प्रथम संकलन हिंदी	प्रथम संकलन उर्दू
1.	विस्मृति	मरहम	उर्दू	*ज़माना*, जन.-फर., 1915	*प्रेम पचीसी* हिंदी क.सं., 1923 *प्रेम-कुंज*, 1930 *मानसरोवर*-7, 1947	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
2.	ग़ैरत की कटार	ग़ैरत की कटारी	"	*ज़माना*, जुलाई, 1915	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
3.	कर्मों का फल	करमों का फल	"	*ख़तीब*, 7 अगस्त, 1915	*गुप्त-धन*-1, 1962	*प्रेम-पचीसी*-2, 1918
4.	बेटी का धन	बेटी का धन	"	*ज़माना*, नवंबर, 1915	*लक्ष्मी* (गया) अक्टूबर, 1918 *प्रेम-पूर्णिमा*, 1918 *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920 *देहात के अफ़साने*, 1939
5.	सौत ('गोदावरी की कहानी')	सौत	हिंदी	*सरस्वती*, दिसंबर, 1915	*सप्त-सरोज*, जून 1917 *मानसरोवर*-8, 1950	*प्रेम-बत्तीसी*-1, 1920

1908-15 की कुल कहानियाँ = 51
उपलब्ध = 50
अनुपलब्ध = 1

(ख) कहानी-अनुक्रमणिका

(यहाँ सभी छह खंडों में संकलित कहानियों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। इसमें कहानी के नाम के साथ उसका खंड, वर्ष तथा पृष्ठ संख्या दी गई है)

अ

अँधेर / 1 / 1913 / पृ. 412
अग्नि-समाधि / 4 / 1928 / पृ. 273
अधिकार-चिंता / 3 / 1922 / पृ. 85
अनाथ लड़की / 1 / 1914 / पृ. 443
अनिष्ट शंका / 2 / 1919 / पृ. 293
अनुभव / 4 / 1928 / पृ. 419
अपनी करनी / 1 / 1914 / पृ. 466
अपने फ़न का उस्ताद/ 2 / 1916 /पृ. 80
अमृत / 1 / 1913 / पृ. 355
अलग्योझा / 4 / 1928 / पृ. 489
अभिलाषा / 4 / 1928 / पृ. 413
अमावस्या की रात्रि / 1 / 1913 / पृ.362

आ

आँसुओं की होली / 4 / 1928 / पृ. 357
आख़िरी तोहफ़ा / 5 / 1931 / पृ. 390
आख़िरी मंजिल / 1 / 1911 / पृ. 245
आख़िरी हीला / 5 / 1931 / पृ. 355
आगा-पीछा / 4 / 1928 / पृ. 437
आत्म-संगीत / 4 / 1927 / पृ. 257
आत्माराम / 2 / 1920 / पृ. 317
आदर्श विरोध / 2 / 1921 / पृ. 442
आधार / 4 / 1926 / पृ. 167
आप-बीती / 3 / 1923 / पृ. 186
आबे-हयात (सुधा-रस)/ 1 / 1913/ पृ.399
आभूषण / 3 / 1923 / पृ. 194
आल्हा / 1 / 1912 / पृ. 275
आहुति / 5 / 1930 / पृ. 275

इ

इस्तीफ़ा / 4 / 1928 / पृ. 454

ई

ईदगाह / 6 / 1933 / पृ. 309
ईश्वरीय न्याय / 2 / 1917 / पृ. 138

उ

उद्धार / 3 / 1924 / पृ. 331
उन्माद / 5 / 1931 / पृ. 311
उपदेश / 2 / 1917 / पृ. 120

ए

एक आँच की कसर / 3 / 1924 / पृ. 315

ऐ

ऐक्ट्रेस / 4 / 1927 / पृ. 261

क

कजाकी / 4 / 1926 / पृ. 70
कप्तान साहब / 2 / 1917 / पृ. 186
कफ़न / 6 / 1935 / पृ. 563
करिश्मा-ए-इंतिकाम / 1 / 1911 / पृ.205
कर्मों का फल / 1 / 1915 / पृ. 518
कवच / 5 / 1929 / पृ. 157
कश्मीरी सेब / 6 / 1936 / पृ. 622
क़ातिल / 6 / 1933 / पृ. 343
क़ातिल की माँ / 6 / 1935 / पृ. 485
क़ानूनी कुमार / 5 / 1929 / पृ. 129
कामना-तरु / 4 / 1927 / पृ. 216
कायर / 6 / 1933 / पृ. 232
क्रिकेट मैच / 6 / 1937 / पृ. 634
कुत्सा / 6 / 1932 / पृ. 136
कुसुम / 6 / 1932 / पृ. 150
क़ैदी / 6 / 1933 / पृ. 299
क़ैफरे-कर्दार (कर्म-दंड)/1/1912 / पृ. 306
कोई दुःख न हो तो बकरी ख़रीद लो / 6 / 1935 / पृ. 492
कौशल / 3 / 1923 / पृ. 218
क्षमा / 3 / 1924 / पृ. 282

ख

खुचड़ / 5 / 1929 / पृ. 56
खुदाई फ़ौजदार / 6 / 1934 / पृ. 462
खुदी / 4 / 1928 / पृ. 463
ख़ून सफ़ेद / 1 / 1914 / पृ. 450
ख़ूनी / 3 / 1923 / पृ. 211
ख़ूने-हुर्मत (प्रतिष्ठा की हत्या) / 2 / 1919 / पृ. 299
खेल / 5 / 1931 / पृ. 380
ख़ौफ़े-रुसवाई (बदनामी का डर) / 1 / 1911 / पृ. 250

ग

ग़मी / 5 / 1929 / पृ. 126
ग़रीब की हाय / 1 / 1911 / पृ. 261
गिला / 6 / 1932 / पृ. 112
गुप्त-धन / 3 / 1922 / पृ. 89
गुरु-मंत्र / 4 / 1926 / पृ. 173
गुल्ली डंडा / 6 / 1933 / पृ. 250
गृह-दाह / 3 / 1923 / पृ. 171
गृह-नीति / 6 / 1935 / पृ. 526
ग़ैरत की कटार / 1 / 1915 / पृ. 512

घ

घमंड का पुतला / 2 / 1916 / पृ. 55
घर जमाई / 5 / 1929 / पृ. 147
घासवाली / 5 / 1929 / पृ. 167

च

चकमा / 3 / 1922 / पृ. 113
चमत्कार / 6 / 1932 / पृ. 100
चोरी / 3 / 1925 / पृ. 474

ज

जादू / 6 / 1934 / पृ. 398
जिहाद / 5 / 1929 / पृ. 138
जीवन का शाप / 6 / 1935 / पृ. 515
जुगनू की चमक / 2 / 1916 / पृ. 62
जुरमाना / 6 / 1937 / पृ. 627
जुलूस / 5 / 1930 / पृ. 208

Accn No:004281

जेल / 5 / 1931 / पृ. 346
ज्योति / 6 / 1933 / पृ. 289
ज्वालामुखी / 2 / 1917 / पृ. 109

झ

झाँकी / 6 / 1932 / पृ. 141

ठ

ठाकुर का कुआँ / 6 / 1932 / पृ. 147

ड

डामुल का क़ैदी / 6 / 1932 / पृ. 166
डिक्री के रुपए / 3 / 1925 / पृ. 391
डिमांस्ट्रेशन / 5 / 1931 / पृ. 372

ढ

ढपोरसंख / 5 / 1931 / पृ. 328

त

तग़ादा / 6 / 1932 / पृ. 93
तथ्य / 6 / 1935 / पृ. 537
ताँगेवाले की बड़ / 4 / 1926 / पृ. 117
तावान / 5 / 1931 / पृ. 402
तिरसूल / 5 / 1930 / पृ. 285
तेंतर / 3 / 1924 / पृ. 382
त्यागी का प्रेम / 2 / 1921 / पृ. 461
त्रिया-चरित्र / 1 / 1913 / पृ. 341

द

दंड / 3 / 1924 / पृ. 489
दफ़्तरी / 2 / 1919 / पृ. 308
दरवाज़ा / 2 / 1917 / पृ. 93
दारोग़ाजी / 4 / 1928 / पृ. 394
दारू-ए-तल्ख़ (कड़वी सचाई) / 1 / 1913 / पृ. 408
दिल की रानी / 6 / 1933 / पृ. 321
दीक्षा [illegible]
दुनिया [illegible] 1908 / पृ. 70
दुराशा / 3 / 1922 / पृ. 96
दुर्गा का मंदिर / 2 / 1917 / पृ. 176
दुस्साहस / 2 / 1921 / पृ. 434
दूध का दाम / 6 / 1934 / पृ. 416
दूसरी शादी / 5 / 1931 / पृ. 408
देवी / 5 / 1930 / पृ. 297
देवी / 6 / 1935 / पृ. 502
दो क़ब्रें / 5 / 1930 / पृ. 179
दोनों तरफ़ से / 1 / 1911 / पृ. 212
दो बहनें / 6 / 1936 / पृ. 596
दो बैलों की कथा / 5 / 1931 / पृ. 424
दो भाई / 2 / 1916 / पृ. 33
दो सखियाँ / 4 / 1928 / पृ. 289

ध

धर्म-संकट / 1 / 1913 / पृ. 380
धिक्कार / 3 / 1925 / पृ. 404
धिक्कार / 5 / 1930 / पृ. 193
धोखा / 2 / 1916 / पृ. 72
धोखे की टट्टी / 1 / 1912 / पृ. 322

न

नबी का नीति-निर्वाह / 3 / 1924 / पृ. 246
नमक का दरोग़ा / 1 / 1913 / पृ. 433
नया विवाह / 6 / 1932 / पृ. 123
नरक का मार्ग / 3 / 1925 / पृ. 411
नशा / 6 / 1934 / पृ. 385
नसीहतों का दफ़्तर / 1 / 1912 / पृ. 298
नाग-पूजा / 3 / 1922 / पृ. 77
नादान दोस्त / 4 / 1928 / पृ. 484

निमंत्रण / 4 / 1926 / पृ. 128
निर्वासन / 3 / 1924 / पृ. 289
नेकी / 1 / 1910 / पृ. 169
नेउर / 6 / 1933 / पृ. 242
नैराश्य / 3 / 1924 / पृ. 306
नैराश्य लीला / 3 / 1923 / पृ. 147

प

पंच-परमेश्वर / 2 / 1916 / पृ. 45
पंडित मोटेराम की डायरी / 6 / 1934 / पृ. 425
पछतावा / 1 / 1914 / पृ. 480
पत्नी से पति / 5 / 1930 / पृ. 226
परीक्षा / 1 / 1914 / पृ. 475
परीक्षा / 3 / 1923 / पृ. 129
पर्वत-यात्रा / 5 / 1929 / पृ. 87
पशु से मनुष्य / 2 / 1920 / पृ. 325
पाप का अग्निकुंड/ 1 / 1910 / पृ.107
पिसनहारी का कुआँ/ 4/1928/ पृ.364
पुत्र-प्रेम / 2 / 1920 / पृ. 354
पूर्व-संस्कार / 3 / 1922 / पृ. 119
पूस की रात / 5 / 1930 / पृ. 247
पैपुजी / 6 / 1935 / पृ. 546
प्रतिज्ञा / 2 / 1920 / पृ. 340
प्रायश्चित्त / 5 / 1929 / पृ. 45
प्रारब्ध / 2 / 1921 / पृ. 407
प्रेम का उदय / 5 / 1929 / पृ. 115
प्रेम की होली / 5 / 1929 / पृ. 65
प्रेम-सूत्र / 4 / 1926 / पृ. 81
प्रेरणा / 4 / 1928 / पृ. 474

फ

फ़ातिहा / 5 / 1929 / पृ. 70

ब

बंद दरवाज़ा / 5 / 1930 / पृ. 299
बड़ी बहन / 1 / 1911 / पृ. 236
बड़े घर की बेटी / 1 / 1910 / पृ. 177
बड़े भाई साहब / 6 / 1934 / पृ. 454
बड़े बाबू / 4 / 1927 / पृ. 193
बलिदान / 2 / 1918 / पृ. 217
बहिष्कार / 4 / 1926 / पृ. 154
बाँका ज़मींदार / 1 / 1913 / पृ. 425
बाँसुरी / 2 / 1920 / पृ. 324
बाबाजी का भोग / 4 / 1926 / पृ. 189
बारात / 6 / 1933 / पृ. 353
बालक / 6 / 1933 / पृ. 281
बासी भात में खुदा का साझा / 6 / 1934 / पृ. 447
बीमार बहिन / 6 / 1932 / पृ. 140
बूढ़ी काकी / 2 / 1920 / पृ. 360
बेटी का धन / 1 / 1915 / पृ. 524
बेटों वाली विधवा / 6 / 1932 / पृ. 186
बोध / 2 / 1918 / पृ. 253
बोहनी / 4 / 1928 / पृ. 408
बैंक का दिवाला / 2 / 1919 / पृ. 269
बौड़म / 3 / 1923 / पृ. 165
ब्रह्म का स्वाँग / 2 / 1920 / पृ. 347

भ

भाड़े का टट्टू / 3 / 1925 / पृ. 454
भूत / 3 / 1924 / पृ. 320

म

मंत्र / 4 / 1926 / पृ. 57
मंत्र / 4 / 1928 / पृ. 340
मंदिर / 4 / 1927 / पृ. 226
मंदिर और मस्जिद/ 3/1925 / पृ. 424
मनावन / 1 / 1912 / पृ. 313
मनुष्य का परम धर्म /2/1920/पृ. 335

मनोवृत्ति / 6 / 1934 / पृ. 392
ममता / 1 / 1912 / पृ. 286
मर्यादा की वेदी / 2 / 1917 / पृ. 95
महातीर्थ / 2 / 1917 / पृ. 166
माँ / 5 / 1929 / पृ. 100
माँगे की घड़ी / 4 / 1927 / पृ. 243
माता का हृदय / 3 / 1925 / पृ. 466
मिलाप / 1 / 1913 / पृ. 393
मिस पद्मा / 6 / 1936 / पृ. 573
मुक्ति-धन / 3 / 1924 / पृ. 273
मुक्ति-मार्ग / 3 / 1924 / पृ. 264
मुफ़्त का यश / 6 / 1934 / पृ. 440
मुबारक बीमारी / 2 / 1920 / पृ. 378
मूठ / 3 / 1922 / पृ. 37
मैकू / 5 / 1930 / पृ. 268
मोटर के छींटे / 6 / 1936 / पृ. 579
मोटेरामजी शास्त्री / 4 /1928/ पृ. 283
मोटेरामजी शास्त्री का नैराश्य / 4 / 1928 / पृ. 351
मृतक भोज / 6 / 1932 / पृ. 69
मृत्यु के पीछे / 2 / 1920 / पृ. 368

य

यह भी नशा वह भी नशा / 6 / 1937 / पृ. 631
यही मेरी मातृ-भूमि है / 1 / 1908 / पृ. 90

र

रंगीले बाबू / 6 / 1933 / पृ. 225
रसिक संपादक / 6 / 1933 / पृ. 275
रहस्य / 6 / 1936 / पृ. 609
राजहठ / 1 / 1912 / पृ. 330
राजा हरदौल / 1 / 1911 / पृ. 225
राज्य-भक्त / 3 / 1923 / पृ. 132
रानी सारंधा / 1 / 1910 / पृ. 154
रामलीला / 4 / 1926 / पृ. 122
राष्ट्र का सेवक / 5 / 1930 / पृ. 284
रियासत का दीवान/6/1934 / पृ. 401
रोशनी / 6 / 1932 / पृ. 203
रूहे-हयात (जीवन की प्राण-शक्ति) / 2 / 1921 / पृ. 394

ल

लांछन / 4 / 1926 / पृ. 94
लांछन / 5 / 1931 / पृ. 361
लॉटरी / 6 / 1935 / पृ. 550
लाग-डाट / 2 / 1921 / पृ. 455
लाल-फ़ीता / 2 / 1921 / पृ. 416
लेखक / 5 / 1931 / पृ. 435
लैला / 4 / 1926 / पृ. 41
लोकमत का सम्मान/3 /1922 / पृ. 106

व

वज्रपात / 3 / 1924 / पृ. 256
वफ़ा का खंजर / 2 / 1918 / पृ. 242
वफ़ा की देवी / 6 / 1933 / पृ. 359
वासना की कड़ियाँ / 2 /1918/पृ. 232
विक्रमादित्य का तेग़ा /1/ 1911/ पृ.187
विचित्र होली / 2 / 1921 / पृ. 402
विजय / 2 / 1918 / पृ. 195
विद्रोही / 4 / 1928 / पृ. 426
विध्वंस / 2 / 1921 / पृ. 450
विनोद / 3 / 1925 / पृ. 360
विमाता / 2 / 1920 / पृ. 288
वियोग और मिलाप /2/1917/ पृ. 255
विषम समस्या / 2 / 1921 / पृ. 389
विश्वास / 3 / 1925 / पृ. 434

विस्मृति / 1 / 1915 / पृ. 493
वेश्या / 6 / 1933 / पृ. 257
वैर का अंत / 3 / 1923 / पृ. 158
वैराग्य / 6 / 1933 / पृ. 338

श

शंखनाद / 1 / 1913 / पृ. 387
शतरंज के खिलाड़ी / 3 / 1924 / पृ. 351
शराब की दुकान / 5 / 1930 / पृ. 253
शांति / 2 / 1918 / पृ. 205
शांति / 4 / 1926 / पृ. 176
शादी की वजह / 4 / 1927 / पृ. 202
शाप / 1 / 1910 / पृ. 116
शिकार / 1 / 1910 / पृ. 143
शिकारी राजकुमार / 1/ 1914 / पृ. 459
शुद्धि / 4 / 1928 / पृ. 468
शूद्रा / 3 / 1924 / पृ. 500
शेख़ मख़मूर / 1 / 1908 / पृ. 77
शोक का पुरस्कार / 1 / 1908 / पृ. 96

स

संपादक मोटेरामजी शास्त्री / 4 / 1928 / पृ. 401
सगे-लैला (लैला का कुत्ता) / 1 / 1913 / पृ. 370
सचाई का उपहार / 2 / 1918 / पृ. 260
सज्जनता का दंड / 2 / 1916 / पृ. 39
सती / 4 / 1927 / पृ. 205
सती / 6 / 1932 / पृ. 85
सत्याग्रह / 3 / 1923 / पृ. 222
सद्गति / 5 / 1923 / पृ. 301
सभ्यता का रहस्य / 3 / 1925/पृ. 418
समर-यात्रा / 5 / 1930 / पृ. 236
सवा सेर गेहूँ / 3 / 1924 / पृ. 376
सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम / 1 / 1908 / पृ. 61
सिर्फ़ एक आवाज़ / 1 / 1913 / पृ. 418
सुजान भगत / 4 / 1927 / पृ. 233
सुभागी / 5 / 1929 / पृ. 218
सुहाग की साड़ी / 3 / 1922 / पृ. 50
सेवा-मार्ग / 2 / 1918 / पृ. 225
सैलानी बंदर / 3 / 1924 / पृ. 237
सोहाग का शव / 4 / 1928 / पृ. 374
सौत / 1 / 1915 / पृ. 532
सौत / 5 / 1931 / पृ. 445
सौभाग्य के कोड़े / 3 / 1924 / पृ. 295
स्त्री और पुरुष / 3 / 1925 / पृ. 448
स्मृति का पुजारी / 6 / 1932 / पृ. 211
स्वत्व-रक्षा / 3 / 1922 / पृ. 72
स्वप्न / 5 / 1930 / पृ. 272
स्वर्ग की देवी / 3 / 1925 / पृ. 481
स्वाँग / 6 / 1935 / पृ. 475
स्वामिनी / 5 / 1931 / पृ. 410

ह

हार की जीत / 3 / 1922 / पृ. 58
हिंसा परमो धर्मः / 4 / 1926 / पृ. 146
होली का उपहार / 5 / 1931 / पृ. 384
होली की छुट्टी / 6 / 1936 / पृ. 583

IGNCA ... CENTRE

H281
Sh. Stories M-> Dev
KAM.

प्रस्तुत रचनावली के संपादक **डॉ. कमल किशोर गोयनका** (1938) की ख्याति प्रेमचंद के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान के लिए पूर्णतया समर्पित व्यक्तित्व के रूप में है। प्रेमचंद पर केंद्रित आपकी लगभग दो दर्जन मौलिक-संपादित कृतियों में शामिल हैं—*प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प-विधान* (1974), *प्रेमचंद - कुछ संस्मरण* (1980), *प्रेमचंद* (1980), *प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी* (1980), *प्रेमचंद : अध्ययन की नयी दिशाएँ* (1981), *रंगभूमि : नए आयाम* (1981), प्रेमचंद विश्वकोश (दो खंडों में, 1981), *प्रेमचंद : चित्रात्मक जीवनी* (1986), *प्रेमचंद का अप्राप्त साहित्य* (दो खंडों में, 1988), *प्रेमचंद की उर्दू-हिंदी कहानियाँ* (1990), *प्रेमचंद रचना-संचयन* (1994), *प्रेमचंद के नाम पत्र* (2002), *प्रेमचंद : देशप्रेम की कहानियाँ* (2002), *प्रेमचंद : बालसाहित्य समग्र* (2002), *प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ* (2005) तथा *प्रेमचंद : पत्रकोश* (2007)। अन्य लेखकों और विषयों पर भी आपकी डेढ़ दर्जन से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हैं, जिनमें प्रमुख हैं—*अभिमन्यु अनत : एक बातचीत, जगदीश चतुर्वेदी : विवादास्पद रचनाकार, जिज्ञासाएँ मेरी : समाधान बच्चन के, लघुकथा का व्याकरण* और *गाँधी : पत्रकारिता के प्रतिमान*।

विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से सक्रिय संबद्ध रहे डॉ. गोयनका दिल्ली विश्वविद्यालय के अंतर्गत डॉ. जाकिर हुसैन स्नातकोत्तर (सांध्य) महाविद्यालय के हिंदी विभाग से सेवानिवृत्त उपाचार्य हैं। आपने प्रेमचंद के साहित्य पर पी-एच. डी. एवं डी. लिट. की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। आपको भारतीय भाषा परिषद (कोलकाता), हिंदी अकादमी (दिल्ली), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान (लखनऊ), केंद्रीय हिंदी संस्थान (आगरा) और हिंदी प्रचारिणी सभा (मॉरिशस) के पुरस्कारों सहित अनेक पुरस्कार-सम्मान प्राप्त हुए हैं।

प्रेमचंद : 1907

आवरण : जे. एम. एस. रावत

ISBN 978-81-260-2942-6

साहित्य अकादेमी

मूल्य : 300 रुपये

(छह खंडों के सेट का मूल्य : 1500 रुपये)